सर्वोत्तम मित्र

और

आलोचकों में सबसे सजीव

अपने पुत्र डॉम को

प्रस्तावना

यह पुस्तक जवाहरलाल नेहरू को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि में उपस्थित करती है, और इस प्रकार मूलरूप से राजनैतिक जीवनी है। यह नेहरू को भारतीय दृष्टि में भी प्रक्षेपित करती है, और ऐसा करने में उनके व्यक्तित्व और उनकी राजनीति की विवादास्पद प्रावस्थाओं की व्याख्या करती है और उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है।

यद्यपि मैंने प्रधान मंत्री के चरित्र के विभिन्न पक्षों पर बहुत लोगों से चर्चा की है लेकिन जिन परिणामों पर मैं पहुँचा हूँ वे परिणाम और उनके कार्यों की व्याख्या निश्चितरूप से मेरी है। पांडुलिपि कई मित्रों ने पढ़ी है और उस पर टिप्पणी और आलोचना के लिए मैं उन सब का आभारी हूँ। अमूल्य सहायता की संदर्भ पुस्तक **महात्मा** के लेखक डी० जी० तेंदुलकर, डोनाल्ड टामस, वी० वी० कुलकर्णी, महेंद्र देसाई और शॉन मैंडी का विशेषरूप से कृतज्ञ हूँ। मैं वी०कृष्णास्वामी को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अनेक अमूल्य सुझाव देते हुए प्रसन्नता और धैर्य के साथ पूरी पांडुलिपि टाइप की। प्रधान मंत्री के हैरो के निवास और हैरो के संबंध में तरह तरह के क़िस्सों के विवरण के लिए मैं बंबई के भूतपूर्व गवर्नर और स्वयं हैरो के पुराने विद्यार्थी राजा महाराज सिंह का कृतज्ञ हूँ।

फ्रैंक मोरेस

सूची

१

"भाग्य के साथ मिलन"

यह अगस्त १४, १९४७ की रात की बात है।

ज्योंही नगाड़ों और शंखों की ध्वनि ने आधी रात के घंटे की सूचना दी, भारत विदेशी शासन से स्वतंत्रता की ओर बढ़ा।

नगरों में घरों के आगे और सार्वजनिक भवनों पर बत्तियाँ टिमटिमाईं, सड़कों और चौराहों पर उत्सव में मगन रंग-रंग की भीड़ें रंग और प्रकाश के इन्द्रधनुषी प्रवाह में उल्लसित अठखेलियाँ कर रही थीं।

गाँवों में भी रोशनी और चहल पहल थी। पहाड़ियों और टीलों पर और देहातों में बड़े-बड़े वृक्षों के पास रोशनियाँ चमक रही थीं।

उस रात दिल्ली में संसद भवन को जानेवाले रास्तों पर भीड़ के कंधे छिले जा रहे थे। लाल और सफ़ेद खंभों के घेरे में जनता की विधान सभा राजनीतिक शक्ति को हस्तान्तरित करने का अन्तिम दृश्य देखने को एकत्र हुई थी।

भवन के भीतर का दृश्य चित्र विचित्र किन्तु शान्त और गंभीर था। अधिकतर सदस्य गंभीर सफ़ेद खादी पहने थे, किन्तु बीच-बीच में भड़कीली पगड़ी पक्षियों की प्रदर्शनी में मोर की तरह चमक रही थी। जनता की गैलरियों में स्त्रियों की साड़ियाँ अनेक इन्द्रधनुषों-सी लग रही थीं। उनके रंग साटन की झलक और रेशम की सरसराहट से और भी भड़कीले हो उठते थे।

घड़ी की सुइयाँ धीरे-धीरे आधी रात की ओर बढ़ीं और सभाभवन पर सन्नाटा छा गया।

अध्यक्ष के सामने की पंक्ति से हल्की पीली अचकन और शुभ्र धवल खादी की टोपी पहने हुए एक व्यक्ति उठकर खड़ा हुआ। फ़ोटोग्राफ़रों के फ़्लैश बल्बों की सहसा चमक में प्रकाशित भवन में इस व्यक्ति का चेहरा तनाव से भरा दिखा। इसकी आँखों के नीचे झाँइयाँ थीं। तराशे हुए चेहरे पर थकान के चिह्न थे। वह बुझा हुआ और क्लान्त लगता था। उसके बटनहोल में लगा चुनौती देता लाल गुलाब तक थोड़ा झुक गया था।

उसने ज्योंही बोलना शुरू किया उसका चेहरा बदल गया। थकान की रेखाएँ गायब हो गयीं। पहले धीमी और खनकती हुई आवाज़ ज़ोरदार होकर यकायक लोचदार और कँपकँपी हो गयी। जवाहरलाल नेहरू बोल रहे थे।

"बरसों पहले हमने भाग्य के साथ मिलने की प्रतिज्ञा की थी, और अब वक्त आ रहा है जब हम अपना वायदा पूरा करेंगे, पूरे तौर से और भरपूर नहीं, लेकिन बहुत कुछ वास्तविकता के साथ।" आरंभ के वाक्य ने एक निश्चित स्वर छेड़ा, क्योंकि भारत विभाजन की पीड़ा में प्रवेश करनेवाला था। लेकिन भारत स्वतंत्र भी होनेवाला था।

"आधी रात के घंटे के साथ," नेहरू ने कहना जारी रखा, "जबकि संसार सो रहा है, भारत जीवन और स्वाधीनता की ओर जागेगा। एक क्षण आता है, जो इतिहास में कभी ही आता है, जब हम पुराने से नये की ओर बढ़ते हैं, जब एक युग समाप्त होता है, और जब बहुत दिनों तक दबाई हुई राष्ट्र की आत्मा बोल उठती है। यह उचित ही है कि इस पवित्र अवसर पर हम भारत की और उसके निवासियों और उससे भी बड़ी मानवता की सेवा का संकल्प लें।"

वह रुके।

"वह भविष्य," उन्होंने संचेत किया, और उनकी आवाज़ गंभीर और अद्भुत रूप से शोकमग्न हो गयीं, "आराम और बेफ़िक्री का नहीं है, लेकिन बराबर उद्योग करने का है ताकि हम उन वायदों को पूरा कर सकें जो हमने अक्सर किये हैं और एक हम आज करेंगे। भारत की सेवा के अर्थ होते हैं उन लाखों लोगों की सेवा जो कि कष्ट सह रहे हैं। इसके अर्थ हैं ग़रीबी और अज्ञान और रोग और अवसर की असमानता को समाप्त करना।"

नेहरू ने जब अपने गुरु के बहुत से वाक्यांशों में से एक का उद्धरण दिया तो महात्माजी का सन्दर्भ आ गया : "हमारी पीढ़ी के सबसे महान् व्यक्ति की कामना रही है कि प्रत्येक आँख का प्रत्येक आँसू पोंछा जाय। यह हमारी सामर्थ्य के बाहर हो सकता है, लेकिन जबतक आँसू और कष्ट हैं, तब तक हमारा काम पूरा नहीं होगा।"

उन्होंने एक प्रार्थना के साथ अपना वक्तव्य समाप्त किया। वे बोले, "जिस भारत की जनता के हम प्रतिनिधि हैं उससे हमारी अपील है कि वह विश्वास और निश्चय के साथ इस साहसिक काम में हमारे साथ आए। यह ओछी और विध्वंसात्मक आलोचना का अवसर नहीं है, औरों की बुराई और दोपारोपण का समय नहीं है। हमें उस स्वाधीन भारत की ऊँचे आदर्शों की इमारत खड़ी करना है जिसमें उसकी सारी सन्तान रह सकें।"

यह भाषण अवसर के उपयुक्त था जिसे स्वाभाविक वक्ता न होते हुए भी जवाहरलाल नेहरू ने अब तक के दिये सारे भाषणों में सबसे महान् भाषण दिया था। स्वतंत्रता के अधिकार-पत्र से कहीं अधिक यह विश्वास और आस्था का पावन पत्र था।

* * *

नेहरू के लिए स्वतंत्रता के अर्थ पुराने मार्ग के अन्त से कहीं कुछ अधिक होते थे। इसके अर्थ नवीन का आरंभ था। उस रात उनके पीछे श्रम, दुःख और विजय की मंज़िलों के साथ अतीत की लम्बी कहानी फैली हुई थी। लेकिन स्पष्ट रूप से भविष्य का दृश्य भी सामने था। स्वतंत्रता ही लक्ष्य नहीं था, वह तो लक्ष्य का साधन थी।

उस लक्ष्य की ओर उन्होंने और भारत, दोनों ने एक लम्बा और कठिन सफ़र किया था। जब स्वतंत्रता मिली तो नेहरू अट्ठावन के थे। आरंभ की गठन के वर्ष बहुत पहले बीत चुके थे और आगे नई समस्याएँ और संकट थे।

इन अट्ठावन सालों में लगभग सत्ताईस साल राजनीतिक काम और संघर्ष में लग गए थे। दस वर्ष से ऊपर जेल में बीते थे। नेहरू पहली बार १९२१ के दिसम्बर में जेल गए थे। अपने १०४१ दिन के अन्तिम और सबसे लम्बे कारावास से वे १५ जून १९४५ को निकले, स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री होने के दो वर्ष से कुछ ही पहले। इस बीच वे सात बार जेल गए।

किन्तु इकतीस के होने तक वे भारतीय किसानों के सम्पर्क में नहीं आए। यह भी एक विचित्र विडम्बना है कि ब्रिटिश सरकार यह सम्पर्क लाने के लिए उत्तरदायी थी। इस ग़लत ख़याल से कि १९१९ के संक्षिप्त अफ़ग़ान युद्ध के बाद उन कुछ अफ़ग़ान राजदूतों से, जो शान्ति के समझौते के लिए भारत में थे, वे कुछ मेल-जोल का प्रयत्न करें, इसलिए नेहरू पर मसूरी छोड़ने का आदेश जारी किया गया। वहाँ वे अपनी माता और पत्नी के साथ आराम कर रहे थे। तब कोई और तुरत का काम न होने के कारण से वे अपने नगर इलाहाबाद से लगभग दो सौ किसानों के साथ देहात गए।

अपनी जीवनी में वे लिखते हैं कि तब तक उनका दृष्टिकोण "पूरी तौर से मध्यम-वर्गीय" था। "मैं बिलकुल अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ किसानों के सम्पर्क में डाल दिया गया।" देर-सबेर यह मिलना तो अनिवार्य था, लेकिन वह जिस ढंग से स्थापित हुआ, वह दिलचस्प है। १९२० का साल नेहरू के राजनीतिक जीवन में निर्णयात्मक मोड़ का है। देहातों में जाने के पहले उन्हें यह अनुमान भी नहीं था कि कृपक वर्ग क्या होता है और भारत के लिए वह क्या अर्थ रखते हैं। वह लिखते हैं, "तब से मेरे दिमाग़ में सदा यह नंगी भूखी जनता ही भारत की तस्वीर रही है।"

उसके पहले के इकतीस वर्षों में से पहले पन्द्रह वर्ष इकलौता बेटा—ग्यारह वर्ष तक धनी और कुलीन घराने का इकलौता बच्चा—रहने में बीते। नेहरू का अन्तर्मुखी स्वभाव, गुमसुम रहने की प्रकृति जो प्रायः उन पर छा जाती है, और उनके अलग रहने की तीव्र भावना, उनके बचपन के अकेलेपन के कारण पैदा हुई। कारावास ने इसे और तीव्र कर दिया।

यह परिवार काश्मीरी ब्राह्मणों का था जिनके पुरखे अठारहवीं सदी के आरंभ में श्रीनगर की पहाड़ी घाटी से हिन्दुस्तान के मैदानों में आए। नेहरू के दबंग और झगड़ालू पिता मोतीलाल बहुत सफल वकील थे। बेटा बहुत कुछ अपने पिता के रोब में पला। उसकी माता उसका बहुत दुलार करती थीं।

पिता के अतिरिक्त उसके जीवन पर दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव गांधीजी का था। कुछ समय बाद दोनों नेहरू और गांधीजी का त्रिगुट व्यंग्य से पिता, पुत्र और पवित्र प्रेत के नाम से ज्ञात था।

नेहरू महात्माजी से पहले-पहल लखनऊ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर १९१६ के बड़े दिन पर मिले थे। इंग्लैंड में स्कूल और कालेज में सात साल रहने के बाद उन्हें लौटे चार साल हो गए थे। तब जवाहरलाल सत्ताईस के थे। गांधीजी उनसे बीस वर्ष बड़े थे।

लगता है कि दोनों में से किसी ने एक दूसरे पर तत्काल प्रभाव नहीं डाला। **मेरे सत्य के अनुभव** नामक गांधीजी की आत्मकथा में, जो कि जेल में १९२२ और १९२४ के बीच बोल कर लिखाई गई थी, और १९२५ में प्रकाशित हुई, जवाहरलाल का एक भी सन्दर्भ नहीं है, लेकिन उसमें उनके पिता मोतीलाल का उल्लेख है। अपनी आत्म कहानी में, गांधीजी से अपनी पहली मुलाक़ात का उल्लेख करते हुए नेहरू लिखते हैं: "हम सब दक्षिणी अफ्रीका में उनके वीरतापूर्ण संघर्ष के प्रशंसक थे, किन्तु हम में से बहुतेरे नवयुवकों को वे बहुत ही दूर और भिन्न और अराजनीतिक लगते थे।

हम दोनों की तुलना कर सकते हैं। नेहरू योरोपियन पोशाक पहना करते थे और उनके रंग-ढंग कुछ सचेष्ट और घमंडी थे। यह हैरो और कैम्ब्रिज का असर था। वह अनुभवहीन और दबंग थे। उन सालों के बारे में वे स्वयं उल्लेख करते हैं, "मैं थोड़ा घमंडी था, जबकि मुझमें कुछ खास बात नहीं थी।"

मोटी सूती धोती और लम्बे कोट और अपनी देसी काठियावाड़ी पगड़ी पहने—अपनी प्रसिद्ध लुंगी उन्होंने १९२१ में पहनी थी—उन्हें नेहरू भी उतने ही दूर और भिन्न लगे होंगे। आदमियों के अच्छे पारखी होने से, शायद उन्होंने इस नवयुवक के चिड़चिड़ेपन के पीछे उसका प्रयोजन समझा होगा। कुलीनता गहरी आँखों से घूरती थी लेकिन उनमें सहअनुभूति थी।

महात्माजी के बहुत कुछ भाषण नेहरू को मध्ययुगीन और पुनरुत्थानवादी लगते थे। वह स्वीकार करते हैं कि समझने के लिए गांधी बहुत कठिन व्यक्ति थे। "कभी-कभी उनकी भाषा औसत आधुनिक व्यक्ति की समझ के बाहर होती थी।" किन्तु स्वाभाविक प्रवृत्ति से नेहरू ने अपने से बुजुर्ग में ऐसा नेता समझ लिया जो रंग-ढंग में उदार प्रकृति का होने पर भी निश्चय और उद्देश्य में दृढ़ता से प्रेरित था। वह नई भाषा बोलता और नए अस्त्रों का प्रयोग करता। उसका कर्म में आग्रह था। उसका कहना था कि अन्याय से विरोध ही नहीं किन्तु उसका प्रतिरोध भी जागेगा। और इस प्रतिरोध को अहिंसात्मक ही रहना होगा।

किन्तु प्रारंभ के इस साथ में बड़े नेहरू ही गांधीजी के अधिक निकट थे।

गांधीजी और नेहरू के पिता मोतीलाल से अधिक भिन्न और कोई दो व्यक्ति न हो सकते थे। फिर भी वे केवल राजनीतिक साथियों की तरह ही काम नहीं करते थे, किन्तु दोनों व्यक्तियों ने जवाहरलाल पर अलग-अलग और एक साथ अपनी छाप छोड़ी। अपनी आत्मकहानी में नेहरू ने सुझाया है कि मोतीलाल गांधीजी के प्रति मानव के नाते खिंचे। बात ऐसी ही थी। किन्तु यह बहुत कुछ संभव है कि प्रारंभिक खिंचाव

जिससे पिता गांधीजी के प्रभाव क्षेत्र में आए वह यह तथ्य था कि उनका बेटा उसमें चला गया था।

मोतीलाल न नम्र या उदार थे, किन्तु स्वभावत: स्वेच्छाचारी थे। वह प्रबल पसन्द और नापसन्द के व्यक्ति थे, अपने मत के आग्रही, गर्वीले, संघर्षशील, जिनमें जीवन और अच्छे रहन-सहन के लिए प्रबल इच्छा थी। अपनी भरी जवानी में उन्होंने दिल खोल कर खर्च किया। प्रकृति ने उन पर अपनी भरपूर कृपा की थी। वह बहुत ही सुरूप थे और उनका व्यक्तित्व बड़ा सुन्दर था और जब मन की मौज होती तो अत्यधिक विनम्र और मोहक हो जाते थे। उनकी चाल ढाल और उनके गर्वीले सिर के झुकाव में कुछ रोमन लोगों का सा था।

मोतीलाल का मिजाज उग्र और भड़कीला था, लेकिन उनकी हँसी उनके घर में तूफ़ान की तरह फैल जाती। वह मेज़ के सिरे पर बैठते। उन्हें साथ उठना-बैठना पसन्द था और प्राय: हर रोज़ शाम को मित्रमंडली उनके घर पर जमा होती। शराब ऐसे चलती जैसे बातें चलती हों। बचपन में जवाहरलाल ने एक बार अपने पिता को क्लैरेट शराब पीते देखा। उसके लाल रंग से घबराकर वे अपनी माँ के पास दौड़े-दौड़े गए और बताया कि पिता खून पी रहे हैं।

गांधीजी में विलासप्रिय कुछ भी नहीं था। वे दिन जब वे पश्चिमी पोशाक पहनते थे, वायलिन सीखने की कोशिश करते थे और बालरूम के नाच के लिए बड़ी मेहनत करते थे, अब बहुत पीछे छूट गए थे। वे नये साधारण वर्ग के अर्थ में नई भाषा बोलते थे। यह साधारण वर्ग सामान्य भारतीय था जिसे उन्होंने ग़रीब किसान के रूप में देहात में और शहर की गन्दी बस्ती में मज़दूर के रूप में देखा था। पहनाव और बोलचाल में गांधीजी असाधारण रूप से किसान लगते थे। उनमें किसान का धैर्य, उसकी दयालुता, उनकी विनोद प्रियता, हँसी में चिढ़ाने की उनकी मनोवृत्ति, सबसे अधिक उनकी दुनियादारी की समझ थी। उनकी आवाज़ अनैच्छिक श्रोता के हृदय में घुरघुराती हुई प्रवेश कर जाती थी। उनमें न झुकनेवाले उत्साह का वह गुण था जिसने पिता और पुत्र, दोनों नेहरुओं को आकृष्ट किया।

मोतीलाल को सन्तों से कोई काम न था। गांधीजी के लेखों के संग्रह Thought currents (विचारधाराएँ) नामक पुस्तिका की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा था, "मैंने सन्तों और अतिमानवों के विषय में सुना था, लेकिन उनसे मिलने का कभी सौभाग्य नहीं मिला, और उनके वास्तविक अस्तित्व के बारे में अविश्वास मानना ही होगा। मैं आदमियों और चीज़ों में साहस के साथ विश्वास करता हूँ।" इसका निष्कर्ष यह है कि वे गांधीजी का सन्त की तरह नहीं किन्तु मनुष्य की तरह आदर और सम्मान करते थे।

मोतीलाल राजनीतिज्ञों से घृणा किया करते थे। वे समझते थे कि जो लोग राजनीति में लगते थे वे जीवन में असफल रहते थे। वे अंग्रेज़ों और उनके ढंगों के प्रशंसक थे और जीवन में बहुत पहले उन्होंने पश्चिमी रंग-ढंग अपना लिए थे। उनका विचार था कि

किसी देश को उसकी योग्यता के अनुसार राजनीतिज्ञ मिल जाते हैं, और जब तक गांधीजी नहीं आए और उनका बेटा उनके जादू में न आ गया, भारत के राजनीतिज्ञों के वर्ग ने उन्हें बिलकुल ही प्रभावित न किया।

गांधीजी की जिस ख़ूबी ने उन्हें और उनके बेटे को प्रभावित किया वह उनका कर्म में आग्रह था। महात्माजी के आने तक भारत में कुछ विशेष लोगों को छोड़ कर ऐसे राजनीतिज्ञ भरे पड़े थे जो बातें ही बातें करते थे और कुछ नहीं करते थे। कांग्रेस में यह ख़ास तौर पर था जहाँ कि राष्ट्रीयता ऐसे आरामतलब राजनीतिज्ञों तक सीमित थी जो बड़े लम्बे-लम्बे भाषण किया करते थे और प्रस्ताव पास करने में बढ़े-चढ़े रहते। ऊँघना और ऊँचा स्वर साथ-साथ चलते।

गांधीजी की कर्म में आस्था से जहाँ मानव मोतीलाल आकृष्ट हुए थे वहीं वकील रूप में सिद्ध अविकार के प्रति चुनौती क्षण भर के लिए उन्हें हटाती भी थी। शिक्षा और स्वभाव से बड़े नेहरू विधान के माननेवाले थे और उनका दिमाग़ क़ानून का विरोध करने के लिए जल्दी अपने को तैयार नहीं कर पाया। जब गांधीजी ने अपने अनुयायियों को "अन्यायपूर्ण क़ानूनों" को तोड़ कर जेल जाने के लिए कहा तो वे घबरा उठे, और उन्होंने ग़ुस्से से पूछा कि इससे सरकार पर कैसा दबाव डालना महात्माजी ने सोचा है।

उनके मन में सबसे अधिक ख़याल अपने तेज़ बेटे का था। यह गर्वीला पुराना रईस जवाहरलाल के जेल जाने को बहुत अधिक नापसन्द करता था। उसके परिवार में यह बात कभी नहीं हुई थी। अपने निजी सोने के कमरे के फ़र्श पर छिप कर सोने से उन्होंने यह जानने की कोशिश की कि जेल का जीवन कैसा होगा। अन्त में जवाहरलाल की तरह मोतीलाल ने भी महात्माजी के विचारों को अपने परम्परागत सिद्धान्तों के चौखटे में तर्क वितर्क कर भर लिया।

गांधीजी के आने के पहले ही मोतीलाल उन कट्टर उदार राजनीतिज्ञों से अलग हट रहे थे, जिनके साथ वे पहले थे। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से अपने को संबद्ध करनेवाली थियासफ़िस्ट नेता डा० एनीबेसेन्ट की जून १९१७ में गिरफ़्तारी ने इन्हें होमरूल लीग में सम्मिलित होने को प्रेरित किया। डा० बेसेन्ट ने अपनी गिरफ़्तारी के लगभग नौ महीने पहले इसकी स्थापना की थी। उस समय के भारत के ब्रिटिश सेक्रेटरी आफ़ स्टेट मि० एडविन मांटेग्यू की डायरी में डा० बेसेन्ट की गिरफ़्तारी पर मनोरंजक उल्लेख है: "मुझे शिव विशेष रूप से पसन्द हैं, जिन्होंने अपनी पत्नी को बावन टुकड़ों में काट कर पाया कि उनके बावन पत्नियाँ हैं। वास्तव में यही हुआ जबकि भारत सरकार ने श्रीमती बेसेन्ट को गिरफ्तार किया।"

किन्तु इस बात में सन्देह है कि अप्रैल १९१९ में सत्याग्रह दिवस* के बाद

---

* गांधीजी के निर्देश से यह दिवस रौलटबिल के विरोध में मनाया गया था। बिल के अनुसार क़ानूनन मुक़दमा चलाये बिना गिरफ़्तारी का विधान था। सत्याग्रह दिवस में सारे कामकाज और दूकानें आदि बन्द करने का आह्वान था।

दमन न होता तो बड़े नेहरू अपने को कांग्रेस आन्दोलन में झोंक देते। दंगों और गोलीबाज़ी के तांडव का अन्त जलियाँवाला बाग़ के क़त्लेआम में हुआ, जहाँ जेनरल डायर ने निश्शस्त्र भारतीयों पर अन्धाधुंध गोलियों की बौछार की। उसकी ही स्वीकारोक्ति के अनुसार १६०५ चक्र गोलियाँ चलाई गई जब तक कि उसका गोला बारूद लगभग समाप्त न हो गया। अधिकारी अनुमान के अनुसार ३७९ व्यक्ति मारे गए और कम-से-कम १२०० घायल हुए। इस अत्याचार और इसके बाद के दूसरे भयानक काण्डों के कारण मोतीलाल के गर्व को चोट लगी। इन काण्डों में रेंग कर चलने की कुख्यात आज्ञा भी है जिसके अनुसार प्रत्येक भारतीय को अमृतसर की उस गली में पेट के बल रेंग कर चलना पड़ता था जहाँ एक अंग्रेज़ औरत पर पहले एक भीड़ ने हमला किया था। तब भी उन्होंने अपने मन में अपने काम को यह तर्क देकर उचित ठहराया कि ब्रिटिश शासन के अधीन भारत में कोई संविधान और न्याय का कोई भी वास्तविक शासन नहीं है। इसलिए उसका विरोध उचित है।

नेहरू अपने पिता और गांधीजी के बीच के सम्बन्ध का वर्णन अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी के संयोग के रूप में करते हैं। मोतीलाल अतिशय बहिर्मुखी थे। गांधीजी यद्यपि स्वभावतः अन्तर्मुखी थे, किन्तु बहुतेरे अन्तर्मुखी लोगों से इस बात में भिन्न थे कि वे औरों के भले का भी अपनी ही तरह ख़याल रखते थे।

दोनों व्यक्तियों के स्वभाव में बहुत कुछ स्वेच्छाचारिता थी। गांधीजी के बारे में नेहरू लिखते हैं, "अपनी सारी विनम्रता के पीछे, यही लगता था कि कोई व्यक्ति बन्द दरवाज़े से बातें कर रहा है।" यह ताज्जुब की बात नहीं है। गांधीजी की तरह जो लोग प्रथम सिद्धान्तों की बातें करते हैं, प्रायः वेदवाक्य बोलने वालों की तरह होते हैं, क्योंकि उन्हें प्रथम सिद्धान्तों का छोड़ देना नैतिक कायरता और धोखा देना होगा।

पिता और पुत्र के विचारों में एक विचित्र अन्तर्विरोध चलता था। पुत्र के विचारों पर पिता को चिन्ता और साहसहीन आश्चर्य होता। जवाहरलाल के साथ राजनीति में क़दम मिलाकर चलने में मोतीलाल की पृष्ठभूमि आड़े आती। उनके लिए गांधीवादी राजनीति में आने के अर्थ उनके पिछले पेशे और व्यक्तिगत जीवन से तीव्र अलगाव था। इसके अर्थ होते थे ख़र्चीली रुचियों को छोड़ देना और जीवन स्तर का नीचा करना। साठ बरस की उम्र में आदमी अपनी राय या आदत कम ही बदलता है।

जवाहरलाल लिखते हैं कि जब उनके वकील के प्रशिक्षित मन ने पूरी तरह से हर चीज़ को समझ लिया, तभी उन्होंने गांधीजी के आन्दोलन में योग दिया। इस बात में वे ग़लती पर हैं। जवाहरलाल के प्रति पुत्रोचित आकर्षण के बिना यह सन्देहात्मक है कि मोतीलाल महात्माजी का अनुसरण करते। उनका समर्पण महात्माजी के लिए उतना नहीं था जितना अपने पुत्र के लिए। जवाहरलाल की भाँति उनमें विचारों की तीव्रता के साथ संवेदना की तीव्रता थी। इन दोनों के बीच की विभाजन भूमि मद्धिम है। और एक दूसरे के बीच टटोलने में अपने को धोखा देना उतना ही आसान है जितना अनजाने दूसरे को

ग़लत रास्ते पर चला देना। मोतीलाल शायद अपने बेटे को यह विश्वास दिलाना चाहते कि विश्वास ने न कि आवेग ने उनके निश्चय को प्रभावित किया था। उन्हें यह मालूम न हो कि उनका बेटा उनका कैसा व्यवहार करना पसन्द करता है, इस बात के लिए वह बेटे को बहुत ही अच्छी तरह जानते थे।

संस्थापित व्यवस्था को चुनौती देने के बारे में नेहरू में मोतीलाल का सा कोई स्वाभाविक विवेक नहीं था। गांधीजी के समान उन्होंने भारत का दर्शन किसान की आँखों की मूक वेदना में किया था। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में रद्दोबदल के बिना स्वतंत्रता अर्थहीन थी। किन्तु नेहरू की परिवर्तन की धारणा महात्माजी के विचारों से बहुत भिन्न थी।

उनको लगता था कि राजनीतिक और आर्थिक लक्ष्यों को समझने में गांधीजी बहुत अस्पष्ट थे। यद्यपि उनकी विचार प्रक्रिया बुनियादी, यहाँ तक कि प्रारंभिक थी, महात्माजी की समस्याओं की समझ व्यावहारिक थी। वे भविष्य की ओर ध्यान देने में राज़ी न होते और प्रत्येक समस्या पर उसी प्रकार ध्यान देते जिस तरह वह उठ खड़ी होती। राजनीतिक रूप से भारत के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की माँग करने के पहले, और कांग्रेस पार्टी द्वारा स्वाधीनता का लक्ष्य ग्रहण करने के बाद भी वे इस उद्देश्य की स्पष्ट व्याख्या करने को तैयार नहीं थे। आर्थिक पक्ष में वे और अधिक अस्पष्ट लगते। मशीनों और आधुनिक सभ्यता पर महात्माजी के विचारों से नेहरू चिढ़ते थे। सविनय अवज्ञा आंदोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक रूप पर उनके अक्सर ज़ोर देने को वे नापसन्द करते थे। धर्म का राजनीति से क्या सम्बन्ध है? गांधीजी के विचार में निजी सम्पत्ति एक ट्रस्ट (न्यास) के रूप में है। इस विचार को नेहरू आर्थिक पाखंड मानते थे। वे एडमंड बर्क पर टॉम पेन की आलोचना का उल्लेख करते हैं: "वह परों पर तो दया प्रदर्शित करता है और मरती हुई चिड़िया को भूल जाता है।" नेहरू मरते पक्षी के विषय में गांधीजी को दोष-मुक्त कर देते हैं। वह चिढ़कर कहते हैं, "लेकिन परों के लिए इतना आग्रह क्यों है?"

ग़रीबी और कष्ट-सहन की गांधीजी की प्रशंसा भी उन्हें खतरनाक क़िस्म का आदर्श-वाद और अधिक स्वार्थी और लोभी लोगों को पुरानी व्यवस्था बनाये रहने के लिए प्रोत्साहन लगा। यद्यपि कुछ लोगों को वैराग्य का जीवन ठीक लगे, लेकिन सामाजिक आदर्श के रूप में जवाहरलाल को उसमें कोई विशिष्ट गुण नहीं दिखाई दिया। जन समुदाय के विषय में इस प्रकार की धारणा सामूहिक आत्मपीड़न था।

महात्माजी की राजनीतिक आस्था का मुख्य सहारा अहिंसा पर भी नेहरू अपने गुरु से मतभेद रखते थे। वे अहिंसा के नैतिक और सदाचारी तत्वों की सराहना करते थे लेकिन राजनीतिक विश्वास के रूप में वे उसको पूर्ण रूप से कभी न मान सके। परिणामों के द्वारा परखने पर वह कभी धर्म न हो सका, केवल नीति और प्रणाली ही रहा। अगर नेहरू ने अहिंसा को राजनीतिक अस्त्र माना तो इसलिए नहीं कि वह उसे वेदवाक्य मानते थे, लेकिन उन्होंने उसे व्याप्त परिस्थितियों में भारत के लिए केवल सही नीति के तौर पर माना।

आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर स्वभाव के अनुसार भी उनके रुख में दोनों आदमियों के बीच एक खाई थी। लेकिन सामान्य उद्देश्य के लिए दोनों ने खाई को पाट लिया। नेहरू ने जिन कारणों से महात्माजी का अनुसरण किया, वे अपने आप में अनिरुद्ध और अस्पष्ट होने पर भी उनकी विशिष्टता के विरोधाभास का सुराग देते हैं। ऐसे भी क्षण थे जबकि वे उलझन में पड़ जाते थे कि मार्ग निदेशन सही है या नहीं। कभी-कभी वे श्रान्त और उत्साहहीन हो जाते। लेकिन सदैव अन्त में महात्माजी उन्हें चुम्बक की तरह खींच लेते।

जवाहरलाल को जिस बात ने सबसे अधिक प्रभावित किया वह यह था कि गुलामी का धब्बा मिटाने में गांधीजी डर का धब्बा भी मिटाये दे रहे हैं। नेहरू ने सदैव साहस की सराहना की है। विद्रोही गांधी ने उन्हें आकृष्ट किया। महात्माजी ने कहा था कि साहस चरित्र की दृढ़ नींव है। साहस के बिना न नैतिकता, न धर्म और न प्रेम रहता है। कायरता छुतही बीमारी है। इसी बात का उनके पहले की महान् आत्माओं ने उपदेश दिया था : "भय मृत्यु है, विश्वास जीवन है।"

इस गुण का दूसरों में संचार करने की भी गांधीजी में प्रतिभा थी। उन्होंने भारत को दिखा दिया कि डर को किस तरह दूर किया जाय। उन्होंने भारत के लोगों को, विशेष रूप से जनता को, गर्व और रीढ़ का एक नया अर्थ दिया। उन्होंने उनको तनकर चलना सिखाया। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ने अपने लोगों के दिल और दिमाग़ के अन्दर बिना भूल चूक देखने में समर्थ किया।

चरित्र की विशिष्टता के अनुसार नेहरू ने महात्माजी के उन विचारों पर तर्क-वितर्क किया जिन्हें वे न मान सके। यह ध्यान देने योग्य है कि बहुत बातों में उनका मन उनकी आत्मा को समझा लेता है। इस तरह से यद्यपि वे अहिंसा के सिद्धान्त को पूरी तौर पर न मान सके, उन्होंने उसे भारतीय परिस्थितियों के लिए सही नीति मान लिया। नेहरू तर्क करते हैं, "एक उचित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उचित साधन होना ही चाहिए।" यह सदाचार का अच्छा सिद्धान्त ही नहीं लगा अपितु स्वस्थ क्रियात्मत राजनीति लगी, क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं रहते वे लक्ष्य प्राप्ति में असफल होते हैं और नई कठिनाइयाँ और समस्याएँ खड़ी कर देते हैं।

बड़ी-बड़ी बातों के अनुसरण और उनमें आस्था के लिए नेहरू अपने कुछ बहुत ही प्रिय विश्वासों को पृष्ठभूमि में रखने को तैयार हैं। लेकिन फिर, चारित्रिक विशिष्टता के अनुरूप वे उनका त्याग नहीं कर देते हैं। चंचलता और अस्थिरता के रूप में नेहरू के चरित के समान कुछ ही चरित कम उपयुक्त होंगे। नेहरू को अगर किसी चीज़ का पता था तो अपने दिमाग़ का।

बरसों तक उन्होंने सोचा, पढ़ा और मनन किया है और ज़्यादातर बातों पर वे निश्चित परिणामों पर पहुँचे हैं। वास्तव में उनके कार्य, लेख और भाषण, उनके प्रधान मंत्री होने के बहुत पहले ही भविष्य को स्पष्ट रूप से रख देते हैं।

यद्यपि कभी-कभी नेहरू ने अपने निजी विचारों को गांधीजी के विचारों के अधीन रखा, फिर भी राष्ट्रीय आन्दोलन की मात्रा और दिशा पर उनका प्रभाव बहुत अधिक और निर्णयात्मक रहा। यह उनका ही प्रभाव था जिससे कांग्रेस पार्टी ने पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य बनाया। इसके प्रकाश में यह व्यंग्यपूर्ण लग सकता है कि यह भी उनकी निर्णयात्मक आवाज़ थी जिसने स्वतंत्रता के बाद भारत को राष्ट्रमंडल में रखा, लेकिन वह गणतंत्र की हैसियत से। गांधीजी से भिन्न, जोकि एक-एक क़दम चलना अच्छा समझते थे, नेहरू सदैव अन्तिम लक्ष्य को स्पष्ट करने के लिए चिन्तातुर रहते, चाहे वह लक्ष्य राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक हो। १९३१ में कांग्रेस के कराची अधिवेशन में उन्होंने आर्थिक नीति पर एक प्रस्ताव पेश किया जो पहले पहल मुख्य उद्योगों और जनसेवाओं के राष्ट्रीयकरण की सिफ़ारिश करता था। इसके पहले १९२७ में मद्रास में उन्होंने अपने को एक रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स के साथ सम्बद्ध किया। यह कान्फ्रेंस अभी बनी ही थी, क्योंकि उस अवसर पर इसका अधिवेशन पहली और अन्तिम बार हुआ था। १९२९ की गर्मियों में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, बम्बई में एकत्र होकर संयुक्त प्रान्त* कांग्रेस कमेटी के अनुरोध पर आर्थिक कार्यक्रम को समाजवादी ढंग पर चलाने का प्रस्ताव रखा। इस कार्यक्रम को जिसकी प्रस्तावना में समाजवादी आदर्श की रूपरेखा थी, केन्द्रीय समिति ने स्वीकार कर लिया, लेकिन विस्तृत कार्यक्रम पर विचार करना स्थगित रहा। इस प्रकार कांग्रेस ने समाजवाद का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया, यद्यपि नेहरू बड़े खेद के साथ स्वीकार करते हैं कि "अधिकांश सदस्यों ने शायद इस बात का अनुभव नहीं किया कि वे कर क्या रहे हैं।"

नेहरू ने भारतीय शिक्षित युवकों को गांधी और गांधीवाद को तर्कसंगत करने से अधिक बहुत कुछ किया। यद्यपि अधिकतम समस्याओं के विषय में उनकी समझ उनके नेता से मूलतः भिन्न थी, फिर भी वे महात्माजी के पूर्ण पूरक बने। गांधीजी साध्य से अधिक साधन के विषय में चिन्तित थे, विशिष्ट समस्याओं में उन्हें दूरगत लक्ष्य से अधिक चिन्ता रहती। उनके साधन ही प्रायः साध्य होते, इस प्रकार एक प्रणाली, अहिंसा, उनका धार्मिक कर्तव्य बन गई। अधिकतम समस्याओं की महात्माजी की समझ बौद्धिक से अधिक उनके अन्तःकरण की प्रेरणा थी। वे अपने मस्तिष्क से अधिक अपनी आत्मा से प्रेरित होते। गांधीजी कहा करते, यह सही है, इसलिए यह तर्कसम्मत है। दूसरी ओर नेहरू कहते : यह चीज़ तर्कसंगत है, इसलिए यह सही होगी ही।

यदि गांधीजी ने भारत को अपने विषय में सचेत किया तो नेहरू ने भारतीयों को औरों के विषय में जानकार बनाया। १९२६ के मार्च में, तेरह बरस के बाद, नेहरू फिर योरप गए और विदेशों में एक वर्ष नौ महीने रह कर १९२७ के दिसम्बर में भारत लौटे। इस यात्रा ने उनके राजनीतिक चिन्तन पर बहुत ही प्रभाव डाला और उसके बाद

---

* उत्तर-प्रदेश के नाम से विख्यात संयुक्त प्रान्त वह राज्य था जिसके नेहरू निवासी थे।

का भाव। वे बहुतेरे साम्यवादियों को भोंडा और अनावश्यक रूप से झगड़ालू समझते थे।

नेहरू स्मरण करते हैं कि यद्यपि साम्यवादियों के प्रति उनमें सदिच्छा का अभाव कांग्रेस की विचारधारा को प्रभावित किया। योरप से नेहरू इस बेचैनी को लेकर लौटे कि राष्ट्रीयता ही काफी नहीं है। पहले-पहल उनमें यह विश्वास जगा कि भारत के स्वाधीनता के संघर्ष का यदि सार्वभौम महत्व होना है तो उसे देश के बाहर होनेवाले अनेक शक्तिपूर्ण आन्दोलनों से संबंधित होना होगा। उसे संसार की प्रगति की विशाल धारा का एक भाग बनना होगा।

वे अपने देशवासियों की राजनीतिक दृष्टि को विस्तृत करने में लग गए। उनका तर्क था कि जब तक भारत संसार के घटनाचक्र के विस्तृत संदर्भ में शिक्षित और अपने संघर्ष को देखने को तैयार नहीं होता, उसकी अपनी प्रगति एकदेशीय और उसका दृष्टिकोण सीमित होगा। यहाँ उन्होंने उस आत्मपरकता को संशोधित किया जो गांधीवादी-दर्शन प्रोत्साहित करता था। अब तक की अन्तर्मुखी राष्ट्रीयता के साथ-साथ उन्होंने भारत के वस्तुपरक दृष्टिकोण को विकसित करने में सहायता की और उसे आसपास के पड़ोसियों और अधिक दूरस्थ देश और लोगों के विषय में जागरूक बनाया। वे भारत को बहिर्मुखी बनाने में सहायक हुए।

योरप की इसी यात्रा में नेहरू निश्चित रूप से समाजवाद के प्रभाव में आए और उससे कांग्रेस की नीतियों को इस लक्ष्य की ओर मोड़ना चाहा। यद्यपि उनके विदेश प्रवास का अधिकांश पत्नी के स्वास्थ्य के कारण स्विजरलैंड में बीता, उन्होंने फ्रांस, इंग्लैंड और जर्मनी की यात्रा भी की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से उन्होंने १९२७ की फरवरी में ब्रुसेल्स में परिदमित राष्ट्र के लोगों की कांग्रेस में भाग लिया। ब्रुसेलस कांग्रेस ने साम्राज्यवाद विरोधी लीग की स्थापना की। बाद में, नवम्बर में, अपने पिता, पत्नी और छोटी बहिन कृष्णा*के साथ नेहरू सोवियत की दसवीं वर्षगाँठ के उत्सव में मास्को गए। वे मास्को में लगभग चार दिन रहे। सोवियत राजधानी को नेहरू की यह पहली यात्रा थी।

अपनी आत्म कहानी में वे स्वीकार करते हैं कि तब वे "साम्यवाद की बारीकियों के बारे में" अधिक नहीं जानते थे। यह किसी सिद्धान्त से लगे रहने के कारण नहीं था, और उस समय उससे उनका परिचय सतही बातों तक सीमित रहा। लेकिन बहुत से विचारशील भारतीयों की तरह वे सोवियत रूस की प्रगति से और दस बरस के थोड़े समय में जो उसने क्रांतिकारी औद्योगिक परिवर्तन कर दिया था, उससे प्रभावित हुए। दूसरी ओर साम्यवाद के कुछ रूपों को वे बड़ी तीव्रता से नापसन्द करते थे—जैसे कि विरोधियों का निर्मम दमन, अनावश्यक हिंसा और सर्वव्यापी सरकारी प्रभाव

---

* अब श्रीमती राजा हठीसिंह।

न था, लेकिन साम्राज्यवाद विरोधी लीग की समिति की गोष्ठियों की छोटी-छोटी वहसों में वे अपने को अधिकतर ऐंग्लो-अमेरिकन सदस्यों की ओर पाते थे। "कम-से-कम तरीक़ों में" उन्हें उनके और अपने दृष्टिकोण में समानता लगी, और दोनों मिलकर साम्यवादियों के वड़ी-वड़ी वातों भरे लम्बे चौड़े उन प्रस्तावों पर आपत्ति करते जो प्रायः घोषणा-पत्र-से लगते।

नेहरू की समझ में मार्क्सवाद का आकर्षण उसकी वैज्ञानिक पकड़ है। उसके सिद्धान्त और दर्शन ने उन्हें उत्तेजित किया। "मुझे इतिहास में नए अर्थ मिले।" किन्तु यद्यपि वे मार्क्स की वैज्ञानिक पकड़ से जोश में तो आये, लेकिन मार्क्स और लेनिन की सिखाई हर चीज़ को स्वीकार करने को नेहरू तैयार न थे। मुक्त वायु और प्रजातंत्रीय विचार और शिक्षा से प्रभावित उनका दिमाग़ अनमनशील आदर्शवादों के प्रति वहुत अधिक सतर्क था। किसी भी तरह गांधीवाद और व्यक्ति पर उससे पड़े प्रभाव से और मार्क्सवाद और राज्य पर उसके प्रभाव में समझौता असंभव था। योजना तो होगी ही, लेकिन भारत में प्रजातंत्र और स्वाधीनता के लिए ही योजना हो सकेगी। यही नेहरू उपलव्ध करना चाहते हैं। उनका सुनहरा लक्ष्य आर्थिक सुरक्षा और स्वतंत्रता का राज्य है। इसी वात में वह साम्यवाद के आदर्श से भिन्न है जो केवल आर्थिक सुरक्षा की गारंटी देता है।

स्पष्टतः, महात्माजी के जीवनकाल में भी, नेहरू का अपने देश की राजनीतिक विचारधारा पर उससे अधिक निर्णयात्मक प्रभाव रहा जितना कि सामान्यतः माना जाता है। अधिकांश में गांधीजी सावन चुना करते, लेकिन यह नेहरू होते जो प्रारंभिक रूप से लक्ष्य की व्याख्या करते। वार-वार उन्होंने कांग्रेस के कामों में विचारों की पुष्ठता के अभाव पर खेद प्रगट किया।

१९२७ के दिसम्वर तक, अपनी योरप की यात्रा से लौटने तक अधिकतम समस्याओं पर वह अपना दिमाग़ ठीक कर चुके थे। उस वक्त के वाद से उन्होंने अपने देशवासियों को अपने नियोजित मार्ग पर चलाने की चेष्टा की।

१९२७ से १९४७ तक वीस वर्षों में जव कि स्वाधीनता आई, नेहरू उस सिद्धान्त का प्रचार करते रहे जो वहुत से कट्टर कांग्रेसी क्षेत्रों में मान्य नहीं था। वह इस वात का आग्रह करते रहे कि राष्ट्रीयता ही काफी नहीं है, और यह कि राजनीतिक रूप से पराधीन होते हुए भी भारत को अपना संघर्ष संसार के विकास और उसकी उथल पुथल के विस्तृत सन्दर्भ में देखना पड़ेगा। इसके परिणाम कांग्रेस में हिटलर और नाजीवाद की और मंचूरिया में जापान के आक्रमण की निन्दा में दिखाई पड़े। अवीसीनिया पर इटली के आक्रमण ने देश भर में विरोध-सभाओं और प्रदर्शनों को प्रेरित किया। १९३६ में जवकि नेहरू योरोप में थे, उन्होंने मुसोलिनी से मिलने का आग्रहपूर्ण निमंत्रण ऐसे वक्त ठुकरा दिया जवकि कुछ पश्चिमी नेता डूचे (मुसोलिनी) में वहुत उज्ज्वल गुणों को देखने को तैयार थे। गणतंत्रीय स्पेन के प्रति भारत में वहुत अधिक सहानुभूति थी। चेकोस्लोवाकिया के प्रति विश्वासघात वड़ी अचंभे की वात मानी गयी।

उनके ही अनेक साथी नेहरू की दूसरे देशों की इस प्रत्यक्ष परेशानी पर हँसते थे जबकि उनका अपना देश बन्धन में पड़ा था। घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि नेहरू का दृष्टिकोण दूरदेशी और समझदारी का था। भारत के अन्दर अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का वातावरण स्वाधीनता की कामना के साथ विकसित हुआ। जब भारत स्वाधीन हुआ तो उसके नेता और उसकी जनता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर काम करने और सहयोग के लिए तैयार थे।

अतः अपने देश की राजनीतिक और आर्थिक विचारधारा पर नेहरू का प्रभाव बहुत रहा है। अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर वह निर्णयात्मक रहा है। एक तरह से उन्होंने अपने निजी विचारों को कार्यरूप में परिणत करने का वातावरण तैयार किया, क्योंकि उनके विचार अपने भारतीय समसामयिक लोगों से सदैव आगे रहते, और स्वाधीनता से उन्हें अपने विचारों को क्रियात्मक रूप देने की अनुपम स्थिति मिली। चीज़ों को धैर्यपूर्वक और उन्हें समग्र रूप में देखने की उनकी प्रकृति ने बहुत लाभ दिया।

नेहरू ने गांधीजी की तुलना में अधिक स्पष्ट रूप से देखा कि भारत में मध्यवर्गीय बौद्धिक अधिक क्रान्तिकारी शक्ति है। किसानों और मजदूरों के संदर्भ में भारत की व्याख्या कर गांधीजी ने साथ ही साथ कांग्रेस पार्टी और राष्ट्रीय संघर्ष की नींव विस्तृत कर दी। नेहरू इस बुनियादी समझ से सहमत थे। किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन को उनका अपना विशिष्ट प्रतिदान है कि गांधीवाद को बौद्धिक समीकरण पर लाकर और उसे मूल रूप से समझा कर देश के क्रांतिकारी मध्यवर्गी या बुद्धिजीवियों को उसकी ज़ोरदार हिमायत के लिए खींचा। गांधीजी के बिना भी अन्ततः भारत स्वाधीनता प्राप्त कर लेता, किन्तु दूसरे तरीक़ों से। यह संदेहजनक है कि नेहरू के बिना गांधीजी उस शिक्षित मध्यम वर्ग को खींच सकते जो भारत में ब्रिटेन के प्रशासनिक ढाँचे की रीढ़ था। राज के प्रति उसकी वफादारी के ढहने का अर्थ राज का ही ढहना था।

जब तक गांधीजी जीवित रहे तब तक अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नेहरू को समझौता करना पड़ता रहा। इससे बहुत लोग यह समझ बैठे कि जवाहरलाल के अपना दिमाग़ नहीं है और वे आसानी से राय बदल सकते है या समझाए जा सकते हैं। फ़ेबियस की तरह सच बात तो यह है कि वे कुछ देर के साथ जीतने की चेष्टा करते हैं। उनमें स्त्रैणता की एक झलक थी जिसके विषय में उनके पिता निर्दोष हैं और जो जब-तब चिड़चिड़ेपन में प्रकट होती है। लेकिन अपने पिता की तरह, उनमें निर्ममता का बीज भी है जो पिछले सात वर्षों में अधिकाधिक प्रत्यक्ष और ज़ोरदार हो गया है। आज वे एक धृष्ट और चतुर नेता हैं।

नेहरू के विषय में इतिहास और जल्दबाज़ी का महत्व है। वे बहुत कम समय में बहुत कुछ करने के खयाल से हमेशा दबे रहते हैं। अगस्त १९४७ की रात से यह भावना बढ़ गयी है। उस समय वे भारत के भाग्य से मिलन के बारे में बोले। लेकिन भारत की स्वाधीनता की ड्योढ़ी पर खड़े होकर उनका भी भाग्य से मिलन का समय था।

२

लड़कपन

हिमालय के बीच में काश्मीर की सुन्दर भूमि है। "विद्वत्ता, ऊँचे भवन, केसर, बर्फीला पानी और अंगूर : वस्तुएँ जो स्वर्ग में भी दुष्प्राप्य हैं यहाँ सामान्य हैं।" ऐसा राजतरंगिणी के लेखक ने लिखा है। यह पुस्तक काश्मीर की संपन्नता के और बहुत पहले का संस्कृत इतिहास है।

१५८८ में, सोलहवीं शती के बाद के काल में, भारत के महान् सम्राट् अकबर ने काश्मीर को अपने शासन में सम्मिलित किया। इसके पहले हिन्दू और बौद्ध राजाओं ने इस देश पर १२९४ के लगभग तक शासन किया जब कि यह मुसलमानों के हाथ चला गया। मुग़ल सम्राटों में मनचला धर्म-संस्कारहीन किन्तु संवेदनशील अकबर का प्यारा बेटा और उत्तराधिकारी जहाँगीर इस पहाड़ी प्रदेश की ओर प्रबलता से खिचा। जहाँगीर प्रकृति का प्रेमी था, और काश्मीरी चिड़ियों और फूलों, उसकी हरी भरी घाटियों और पहाड़ों और घाटियों और ग्लेशियर (हिमनद) की शानदार पृष्ठभूमि के साथ नदियों ने उसे मोह लिया। उसने अपनी आत्मकथा में लिखा, "जहाँ जहाँ आँख पहुँचती है, हरियाली और बहता पानी है। लाल गुलाब, बनफ्शा और नरगिस अपने आप उगते हैं : मैदानों में हर तरह के फूल हैं और हर तरह की सुगंधि भरी जड़ी-बूटियाँ हैं, जिनकी गिनती नहीं की जा सकती।

नेहरू के पुरखे इस जादू के देश से आए। वे बहुसंख्यक काश्मीरी हिन्दुओं के समान सम्मानित पंडित उपाधिधारी ब्राह्मण थे, जिसके अर्थ विद्वान् होते हैं। इस कुल का असली नाम नेहरू नहीं, किन्तु कौल था।

जहाँगीर के पोते सम्राट् औरंगज़ेब की मृत्यु के लगभग नौ वर्ष बाद, १७१६ के आसपास एक संस्कृत और फ़ारसी के विद्वान् राज कौल शायद फर्रुखसियर के बुलावे पर शाही राजधानी दिल्ली चले आये। अपनी काश्मीर यात्रा में फर्रुखसियर उनकी विद्वत्ता से आकर्षित हुआ था। राज कौल को जागीर और नहर के किनारे मकान मिला था, और नहर के किनारे रहने के संयोग से नेहरू के नाम की उत्पत्ति है। बहुत दिनों तक यह कुटुम्ब कौल-नेहरू के नाम से विख्यात था। बाद में कौल छूट गया।

विद्वान् होने पर भी नेहरू के पूर्वज अधिकतर सरकारी नौकरी में रहे। उनके परदादे पंडित लक्ष्मीनारायण नेहरू वकील थे, और इस हैसियत से मुमूर्षु मुग़ल साम्राज्य के दरबार की छाया रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी के वकील थे। उनके पितामह पंडित गंगाधर

नेहरू दिल्ली के शहर कोतवाल थे। यह १८५७ के भारत विद्रोह से कुछ पहले की बात है। एक पुराने चित्र में अधिकांश काश्मीरियों की तरह गोरे गंगाधर लाल दाढ़ी और चिन्तनशील नीली आँखों सहित चित्रित हैं। चौंतीस वर्ष की आयु में १८६१ में उनका देहान्त हुआ।

१८५८ के आस पास नेहरू परिवार विद्रोह के बाद की गड़बड़ में दिल्ली से भागनेवाले कारवाँ के साथ हो गया और पड़ोस के नगर आगरा चला गया जहाँ सुप्रसिद्ध ताजमहल है। वहाँ ६ मई १८६१ को गंगाधर के सबसे छोटे बेटे, नेहरू के पिता मोतीलाल का जन्म हुआ। उनके जन्म से तीन महीने पहले गंगाधर की मृत्यु हो चुकी थी और मोतीलाल पितृविहीन हुए। विचित्र संयोग से वे उसी दिन, मास और वर्ष में उत्पन्न हुए जब कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर हुए थे। वर्षों बाद इस संयोग का उल्लेख करते हुए नेहरू ने कहा था कि गांधी और मोतीलाल के सिवा टैगोर का "मुझ पर बहुत अधिक प्रभाव था।" यह उन्होंने स्वीकार किया कि उन पर प्रमुख प्रभाव उनके पिता और गांधीजी का है। "मैं टैगोर के सम्पर्क में बाद के वर्षों में आया जबकि मैं अपने पिता और गांधीजी द्वारा कमोबेश पक्का-सा बना दिया गया था।" नेहरू ने स्पष्ट किया, "फिर भी, रवीन्द्रनाथ का मुझ पर बहुत अधिक प्रभाव था।"

मोतीलाल के, उनसे बहुत बड़े बंसीधर और नन्दलाल, दो भाई थे। उनके पिता की मृत्यु पर बालक मोतीलाल उनकी ज़िम्मेदारी हो गया। उसके शीघ्र बाद ही सबसे बड़े भाई बंसीधर ने ब्रिटिश सरकार की नौकरी कर ली और न्याय विभाग के सदस्य की हैसियत से जगह-जगह स्थानान्तरित होते रहे। इस प्रकार मोतीलाल की देखभाल और पढ़ाई-लिखाई का भार उनके दूसरे भाई पर पड़ा। इनसे मोतीलाल का बहुत लगाव था।

कुछ समय के लिए नन्दलाल राजपूताना में खेतड़ी के राजा के राज्य के दीवान रहे। इसके बाद उन्होंने आगरे में वकालत की और जब वहाँ से हाईकोर्ट इलाहाबाद चला आया, वे भी वहीं चले आए। तब से इलाहाबाद नेहरू परिवार का नगर हो गया।

युवक मोतीलाल ज़िन्दादिल उत्साही लड़के थे जो परम्परागत पढ़ाई-लिखाई के बहुत आदी नहीं थे लेकिन स्वभावतः बुद्धिमान थे। लड़कपन में उनकी शिक्षा फ़ारसी अरबी तक सीमित रही लेकिन बाद में उन्होंने अंग्रेज़ी पढ़ी। कानपुर और इलाहाबाद में उन्होंने स्कूल और कालेज की पढ़ाई की यद्यपि वे स्नातक (ग्रेजुएट) कभी न हुए। यह ग़लती विचित्र ढंग की हुई, गोकि इस तरह की ग़लतियाँ होती ही रहती हैं। मोतीलाल अपनी पहली परीक्षा में बैठे लेकिन उन्होंने सोचा कि पर्चे खराब हुए हैं। इस पर उन्होंने बाक़ी की परीक्षा छोड़ देना तय किया और परीक्षा से भाग कर ताज देखने में समय बिताते रहे। वास्तव में उन्होंने पहला पर्चा काफ़ी अच्छा किया था।

इलाहाबाद में म्योर सेंट्रल कालेज में मोतीलाल ब्रिटिश प्रोफ़ेसरों के प्रभाव में आए जिन्हें उनकी बचपन की आज़ादी और पहल पसन्द थी। जवाहरलाल याद करते हैं कि बाद के वर्षों में भी किस प्रकार उनके पिता अपने कॉलेज के अंग्रेज़ प्रिंसिपल की स्नेह के

साथ याद किया करते थे। इनका एक पत्र उन्होंने बड़ी सावधानी से सुरक्षित रख छोड़ा था। इस समय से मोतीलाल की पश्चिमी चाल ढाल और पोशाक और अंग्रेजों के लिए सच्ची चाह और सराहना आरंभ होती है।

पेशे के चुनाव का सवाल उठने पर मोतीलाल ने अपने प्यारे भाई की राह पर चलने का निश्चय किया और वकील बन गए। वे हाईकोर्ट के वकील की परीक्षा में बैठे और स्वर्ण-पदक प्राप्त कर सर्वप्रथम आए। उन दिनों वकालत उन थोड़े से पेशों में थी जो भारतीयों के लिए सुलभ थे।

कानपुर की ज़िला कचहरी में तीन साल की अपरेंटिसी के बाद मोतीलाल इलाहाबाद की हाईकोर्ट में ऊँचे क्षेत्र में आए और उस केंद्र में वकालत में जम गए। इसी समय नन्दलाल का देहान्त हो गया। मोतीलाल के लिए, जो नन्दलाल के प्यार भरे संरक्षण में बढ़े थे, उनके भाई का सहसा देहान्त भारी आघात था। वे उन्हें बहुत प्यार करते थे। अपनी माता से अलग, जो दबंग व्यक्तित्व और अतीव इच्छाशक्ति की स्त्री थीं, जिनकी मानसिक दृढ़ता मोतीलाल ने विरासत में पाई थी, उनके जीवन में शायद ही और कोई व्यक्तिगत प्रभाव रहा हो।

अपने भाई के परिवार के भरण-पोषण का भार अब मोतीलाल पर आ पड़ा। वे काम में लग गए। विधिवेत्ता की हैसियत से वे न्यायशास्त्री की अपेक्षा वकील के रूप में अधिक सफल थे। विधि की छोटी-छोटी बारीकियों में पड़ने का उनमें धैर्य नहीं था लेकिन वे मुक़दमे की ज़रूरी बातों की पकड़ में फुर्तीले थे। उनका दिमाग़ तेज़ और चतुर था। स्वभाव से ही वे युयुत्सु थे। उन्हें झगड़े से अधिक और कुछ प्रिय न था और उनकी दबंग वकालत ने उनके व्यक्तित्व के ज़ोर का सहारा पाकर सफलता का मार्ग शीघ्र ही प्रशस्त किया।

उन दिनों उन्हें राजनीति के प्रति कोई आकर्षण नहीं था और उन दिनों के भारत में राजनीतिक कामना छोटी-छोटी शिकायतें दूर करने और स्थानीय शासन और प्रशासनिक सेवाओं में अधिकतर प्रतिनिधित्व तक सीमित थी। मोतीलाल चौबीस के थे जब पहली बार उस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन बम्बई में हुआ जिसमें बाद में उन्हें और उनके बेटे को प्रमुख कार्य करना था। कांग्रेस की स्थापना का श्रेय एक स्काट, अलन ऑक्टेवियन ह्यूम को था जो पहले भारतीय सिविल सर्विस के एक सदस्य थे। इस अधिवेशन में ह्यूम ने "तीन बार महिमामयी सम्राज्ञी को तीन नमस्कार" (थ्री टाइम्स थ्री चीयर्स फ़ार हर मैजेस्टी द क्वीन एम्प्रेस)" किया और प्रतिनिधियों ने उत्साहपूर्वक उनका साथ दिया। बाद में, १९२९ में, ठीक चौवालीस वर्ष बाद कांग्रेस पार्टी का अधिवेशन लाहौर में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में भारत का राजनीतिक ध्येय पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा करने के लिए हुआ।

उस समय भारत में कम आयु में ही विवाह हो जाता था। मोतीलाल का दो बार विवाह हुआ। वे बीस वर्ष की आयु के आसपास थे जब उन्होंने लाहौर में बसे एक काश्मीरी परिवार की लड़की से शादी की, लेकिन वह एक बेटे को जन्म देने के बाद ही

मर गई। लड़का भी माता की मृत्यु के बाद अधिक दिनों न जिया। मोतीलाल की दूसरी पत्नी स्वरूपरानी पन्द्रह वर्ष से कुछ ही बड़ी होंगी जब उन्होंने बहू बनकर नेहरू परिवार में प्रवेश किया। उनके पति उनसे सात वर्ष बड़े थे।

अपने पति की भाँति ही स्वरूपरानी अपने परिवार में सबसे छोटी थीं। वह परिवार भी नेहरुओं के परिवार से छोटे पद का लाहौर में बसे काश्मीरियों का परिवार था। उनके वंश की उपाधि ठुस्सू थी। वे मुश्किल से पाँच फ़ीट की नन्ही-सी, छोटी हड्डियों की सुदर्शना और अत्यन्त सुन्दर चीनी मिट्टी की मूर्ति सी थीं। उनके पुत्र ने उनके "आश्चर्यजनक ढंग से नन्हें और सुन्दर हाथ और पैरों" के बारे में लिखा है।

उनकी गुड़ियों-सी नज़ाकत के बावजूद स्वरूपरानी दृढ़ साहस और चरित्रवाली व्यक्ति थीं। भविष्य में उन्हें स्त्रीसुलभ यंत्रणा से अधिक भाग मिलना था। उस समय भी प्रसिद्धि और सम्पन्नता के मार्ग पर अच्छी तरह स्थापित व्यक्ति से विवाह करने पर उन्हें आराम, सुख, सुविधा के सांसारिक साधनों का कोई अभाव न था। तीस वर्ष तक स्वरूपरानी ने एक सम्पन्न परिवार की शान-शौकत और विलास को भोगा जबकि अपने पति के साथ उन्होंने स्वेच्छा से महात्माजी का अनुसरण करने के लिए अतीत को और उसके साथ की सारी चीज़ों को अलग कर दिया।

जब उन्होंने नेहरू परिवार में प्रवेश किया तो वह मोतीलाल, नन्दलाल के बेटों और बहुत से फुफेरे भाई बहिनों का अनोखे हिन्दू ढंग का संयुक्त परिवार था। यह सब एक घर में दृढ़ इच्छा शक्तिशाली मोतीलाल की माता के शासन में रहते थे। लगभग सोलह वर्ष की छोटी-सी बहू के लिए ऐसे परिवेश में अपने को खपाना आसान न था, विशेष रूप से जबकि वह घर की मालकिन नहीं थीं। मोतीलाल ने अनुरक्त पति के प्रेम और ध्यान की उन पर बौछार की लेकिन इसमें सन्देह है कि जब तक उन्होंने अपने ही घर पर राज्य नहीं किया, जो कुछ ही वर्षों बाद हुआ, तब तक स्वरूपरानी ने सोने के पिंजड़े में बन्द चिड़िया से भिन्न कुछ समझा हो।

मोतीलाल, जो उस समय भी सफल वकील थे, लेकिन बाद में उन्हें जिस अत्यधिक ऊँचाई तक पहुँचना था, तब इलाहाबाद की अधिक घनी बस्ती में एक गली में रहते थे। कहते हैं कि गली में घुसने की जगह भुतही थी। यहीं १४ नवम्बर १८८९ को जवाहर-लाल का जन्म हुआ और वहाँ वे तीन वर्ष तक रहे।

१८८९ में एक बीस वर्ष के भारतीय मोहनदास करमचन्द गांधी ने, जो लंदन में बैरिस्टरी का अध्ययन कर रहे थे, कार्डिनल मैनिंग के पास जाकर लंदन की गोदी के मज़दूरों की हड़ताल पर उनके रुख पर उन्हें बधाई दी। उसी साल बर्नर्ड शॉ ने अपने फ़ेबियन एसेज़ का प्रकाशन किया, और गुस्ताव ईफ़ेल ने अपने आलोचकों को पेरिस में ईफ़ेल टावर बना कर परास्त कर दिया। जापान को एक संविधान स्वीकृत हुआ और स्वेज़ नहर राष्ट्रों के प्रभाव से मुक्त की गई। एक होनेवाले डिक्टेटर जेनरल जॉर्ज बोलांगर फ्रांस से भागे। भारत में बम्बई में कांग्रेस पार्टी के चौथे अधिवेशन की अध्यक्षता

२

सर विलियन वेडरबर्न ने की। चार्ल्स ब्रैडलॉ नामक दूसरे अंग्रेज़ और पार्लमेंट के नास्तिक सदस्य ने उसमें भाषण दिया।

जवाहरलाल का लड़कपन अकेलेपन का था। यद्यपि घराना बच्चों से भरा हुआ था, वे सब उनसे बहुत अधिक बड़े थे। उन दिनों की तस्वीरों में वे उदास आँखों के बालक लगते हैं और काढ़े हुए तंग क़िस्म की पतलून और कोट और जड़ाऊ स्लीपर से लेकर नाविक की पोशाक और स्काट घाघरा तक पहने हैं।

सोलह वर्ष की उम्र तक, जब वे हैरो गए, जवाहरलाल किसी स्कूल में नहीं पढ़े। घर पर उन्हें कई अंग्रेज़ गवर्नेसों और एक प्राइवेट ट्यूटर द्वारा शिक्षा मिला करती थी। लेकिन इनमें से केवल एक ने बालक पर कोई छाप छोड़ी। यह एक पक्ष से आयरिश, थियासॅफिस्ट फर्डिनन्ड टी. ब्रुक्स नाम के थे। जवाहरलाल के अध्यापक के रूप में मोतीलाल से ब्रुक्स की सिफ़ारिश डा० एनी बेसेन्ट ने की थी। उनके पिता आयर्लैंड के निवासी, उनकी माता बेल्जियम की और वे दक्षिणी अमेरिका जानेवाले जहाज़ पर पैदा हुए थे। युवावस्था में ब्रुक्स भारतीय दर्शन की ओर आकर्षित हुए, उन्होंने संस्कृत पढ़ी और हिन्दुओं के महान् महाकाव्य महाभारत के प्रसिद्ध धार्मिक काव्य भगवद्‌गीता का अनुवाद किया। वे गहरी धर्मनिष्ठा के स्वभाव के उत्साही थियासॅफ़िस्ट थे और उनमें धार्मिक पुण्य भावना की दृढ़ झलक थी जो उनके छोटे विद्यार्थी की दृष्टि में मोतीलाल की प्रबल धर्म-निरपेक्षता से विचित्र रूप से प्रतिकूल रही होगी।

ग्यारह वर्ष के जवाहरलाल के अध्यापक बन कर जब ब्रुक्स आए तो वे लगभग छब्बीस वर्ष के थे। बाद में वे दुःखजनक परिस्थिति में मरे। जैसा वे समझते थे, उस सत्य से जिस प्रकार वे जुड़े थे, ब्रुक्स ने डा० बेसेंट का साथ तब छोड़ दिया जब उस महिला ने कृष्णमूर्ति को आनेवाला मसीहा घोषित किया। वे बहुत ही कठिन आय से जीवन बिता रहे थे कि उनका शव एक नदी में मिला जो ऐसी परिस्थिति में डूबा था कि मृत्यु का कारण रहस्य ही रहा।

ब्रुक्स ने जवाहरलाल में दो रुचियों का विकास किया, जो बनी रहीं—पढ़ने की रुचि और विज्ञान और उसके रहस्य में कुतूहल। अपनी धार्मिक अभिरुचि के अतिरिक्त वे बहुत ही सूक्ष्मग्राही चेतना, कल्पना और समझबूझ के व्यक्ति लगते थे। अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ने मिल कर एक छोटी-सी प्रयोगशाला बना ली थी। वहाँ पर जवाहरलाल ने पहले पहल आश्चर्य के उस चपल विक्षोभ का अनुभव किया जो अब भी उन्हें तब अचंभित कर देती है जब उनका सामना विज्ञान की बातों और वैज्ञानिकों से हो जाता है। यहाँ उन्होंने भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र के पहले पाठ पढ़े थे।

ब्रुक्स उनके साथ लगभग तीन साल रहे और इस अवधि में उन्होंने अपने छात्र की रुचि को अंग्रेज़ी साहित्य के लिए प्रोत्साहित किया। जवाहरलाल का पढ़ना यद्यपि विस्तृत रहा, लेकिन वह अव्यवस्थित और आकस्मिक था। उन्होंने स्कॉट, डिकेन्स, और थैकरे के बहुत से उपन्यास पढ़े थे। वे लेविस कैरोल और किपलिंग की जंगल बुक और किम

से आकृष्ट हुए। फ्रिजोफ़ नानसेन की उत्तरी ध्रुव का साहसपूर्ण यात्रा वर्णन **फ़ार्देस्ट नार्थ** ने उनकी कल्पना को स्फुरित किया और उन्होंने ऐन्थनी होप के **प्रिज़नर आव जेन्डा** के वीर नायक के पराक्रमपूर्ण कार्यों को साँस रोक कर पढ़ा। उन्हें मार्क ट्वेन और एच. जी. वेल्स और कोनन डॉयल की शेरलाक होम्स की कहानियों का परिचय मिला। उनके विचार में जेरोम के० जेरोम की कृति **थ्री मेन इन ए बोट** "हास्य की सर्वोत्कृष्ट कृति" थी।

लगता है कि दो अन्य पुस्तकों ने उनके तरुण मन पर विशेष छाप डाली और वे अपनी आत्मकहानी में उनका उल्लेख करते हैं। वे दु मारिये की **ट्रिल्बी** और **पीटर इबेटसन** थीं। अपने विशेष चुनाव का जवाहरलाल कोई कारण नहीं बताते, किन्तु यह संभव है कि बालक ने उस जीवन-दर्शन की उनमें पहली झलक देखी होगी जो उन्हें बाद में अपनाना था। **पीटर इबेटसन** में एक पात्र कहता है, "और मैं यह जानता हूँ कि जो व्यक्ति धरती पर अधिक बड़ा और अधिक उत्साहपूर्ण और संपूर्ण जीवन जीता है, वह सबके हित के लिए है। यही सारी बातों की नींव है।"

ब्रुक्स ने अपने छात्र में अंग्रेज़ी कविता का प्रेम भी विकसित किया और अन्य व्यस्तताओं में उन्हें आज इस रुचि में आनन्द लेने का बहुत कम समय बचता है लेकिन मन को थाम लेनेवाले और प्रेरणादायक वाक्यांशों का उनका प्रेम अभी तक है। इस संयोग से उनके स्वभाव की उदास वृत्ति की प्रबल झलक संभवतः और बढ़ गई।

देश के बँटवारे के समय १९४७ में जब हत्याएँ जोरों पर थीं तो एक परिचित व्यक्ति का कहना है कि उसने नेहरू से प्रसिद्ध हिंदी कवि मैथिली शरण गुप्त की एक पंक्ति कही थी: "मानव का इतिहास राक्षसोंका इतिहास है।" चिन्ता और दुःख से झुके हुए जवाहरलाल ने ठंडी साँस ली और धीमे से पंक्ति दुहराई।

इसी तरह की घटना एक भोज के समय की कही जाती है। भोज के बाद सितार का कार्यक्रम था और यह जानते हुए कि अतिथि का दिन बहुत थकावट का रहा है, आतिथेय ने सुझाया कि अतिथि विश्राम करने को चले जायँ।

नेहरू ने आपत्ति की, "नहीं, नहीं, मैंने बहुत दिनों से सितार नहीं सुना है।"

जैसी कि देश के कुछ भागों में प्रथा है, एक दूसरे अतिथि ने उत्तरी भारत के परम प्रसिद्ध रोमानी कवि ग़ालिब का उर्दू का एक शेर कहा: "इश्क ने ग़ालिब निकम्मा कर दिया। वरना हम भी आदमी थे काम के।"

नेहरू ने उदास स्वीकृति में सिर झुका कर धीरे से गुनगुनाया, "इश्क ने ग़ालिब..."।

लड़कपन में वे **डान क्विक्ज़ाट** में गुस्ताव डोर के चित्रों पर मोहित थे, किन्तु उनकी आँखों की परख कानों की तुलना में कम विश्वसनीय है। उनके कान उनकी आँखों से अधिक विश्वसनीय हैं और उन्हें संगीत और गायन कलाकार के बड़े चित्रपट और तूलिका से अधिक आकर्षित करते हैं। किन्तु वे आकाश और नक्षत्रों से, पर्वतों की महानता से और उषःकाल में नवजीवन को स्फुरित करने वाले प्रकृति के निस्पन्द आश्चर्य से मुग्ध ही नहीं, मत्त हो उठते हैं।

जवाहरलाल के एकमात्र भारतीय अध्यापक एक बुज़ुर्ग पंडितजी थे जो उन्हें हिन्दी और संस्कृत पढ़ाने के लिए नियुक्त किए गए थे। परिवार के एक पुराने मित्र को बच्चे की संस्कृत पुस्तकों में चार वेदों में से तीसरे सामवेद के सुन्दर छपे संस्करण की याद है। नेहरू स्वीकार करते हैं कि "बहुत वर्षों के प्रयत्न के बाद" उनका संस्कृत का ज्ञान प्रायः इतना थोड़ा था जितना कि बाद में हैरो में लैटिन का ज्ञान। उनकी हिन्दी प्रवाहमयी है लेकिन वह उनकी अंग्रेज़ी से कम कुशल है। संभवतः वे अंग्रेज़ी में सोचते हैं। अहमदनगर क़िले में अपने अन्तिम कारावास में नेहरू, प्रसिद्ध मुस्लिम धर्मगुरु जो अब भारत के शिक्षा-मंत्री हैं, मौलाना अबुल कलाम के साथ एक कमरे में थे। आज़ाद ने बताया कि नेहरू नींद में कैसे अंग्रेज़ी में बोलते हैं। आज़ाद ने लिखा है, "वे अंग्रेज़ी में बातें ही नहीं करते हैं बल्कि ख्वाब भी अंग्रेज़ी में देखते हैं।"

मोतीलाल जैसे-जैसे समृद्ध होते गए वैसे वैसे परिवार का रहन-सहन ऊँचा होता गया। जब जवाहरलाल तीन वर्ष के थे तो पिता ने पुराने नगर की भुतही गली के घर से उठकर इलाहाबाद के अपेक्षाकृत नए भाग में जाने का निर्णय किया जहाँ उन्होंने मुख्य रूप से योरोपियन लोगों से बसी जगह में एक बँगला किराए पर लिया। यहाँ जवाहरलाल दस वर्ष की आयु तक रहे जब कि मोतीलाल आनन्द भवन नाम से विख्यात एक नए मकान में चले गए जो उन्होंने अपने लिए खरीद लिया था।

चारों ओर बरामदों से घिरे अनियमित आकार के आनन्द भवन के आगे काफी ज़मीन थी और इलाहाबाद में अपने ढंग का पहला तैरने के लिए एक हौज़ था। इसमें जवाहरलाल ने तैरना सीखा। उन्हें याद है कि नए मकान में उठ कर जाने पर वे मज़दूरों को मकान पर और उसकी सजावट पर पिता का बताया काम करते देखा करते। खुदाई और मकान बनाने के काम को वह बच्चों की तरह मुग्ध रूप से देखा करते।

बाद में राष्ट्र को दान किया और स्वराज्य भवन नाम दिया आनन्द भवन एक प्रसिद्ध पावन स्थल पर है, जहाँ कुछ परंपराओं के अनुसार अपने चौदह वर्ष के वनवास से लौटने पर राम अपने सौतेले भाई भरत से मिले थे। समीप ही भारद्वाज आश्रम है जहाँ कि पुराणों के अनुसार रामायण के लेखक ऋषि वाल्मीकि कभी रहा करते थे। प्राचीन प्रयाग, इलाहाबाद का नगर भी पावन भूमि पर स्थित है। यहीं स्वर्ग से आनेवाली गंगा, यमुना और पुराणों में उक्त अन्तः सलिला सरस्वती से मिलती हैं। इन तीनों नदियों के संगम स्थल, त्रिवेणी पर भारत भर के तीर्थयात्री वर्ष में एक बार माघ मेला के लिए और प्रति बारह वर्ष पर महाकुंभ मेला के लिए एकत्र होते हैं। कुंभ मेला एक बड़ा भारी धार्मिक मेला होता है जिसका आरंभ वैदिक काल* में हुआ था।

बचपन के इन आरंभिक वर्षों में जवाहरलाल ने अपना समय मुख्यतः अपने अंग्रेज़ी शिक्षकों और माता के बीच बिताया। उनके चचेरे भाई उनसे बहुत बड़े थे और यद्यपि

* ई० सन् १५०० और १००० वर्ष पूर्व।

वे उनकी बातों को अक्सर सुना करते, लेकिन वर्षों के अन्तर के कारण उनमें कोई सामीप्य या साथ न हुआ। कल्पना कीजिए कि नन्हा बालक आँखें फाड़े सुने और अपने तरुण बड़ों की बातें प्रायः न समझे। उनमें से कुछ बातें उनके अत्यधिक कल्पनाशील मस्तिष्क में रिस कर टिकी रहीं।

इनमें से अधिकतर बातें योरोपियन और योरेशियन लोगों के भारतीयों के प्रति अहंकारी और अपमानजनक व्यवहार के सम्बन्ध की रहतीं। जवाहरलाल ने योरोपियन लोगों के लिए सुरक्षित रेल के डिब्बों के बारे में सुना, जिनमें कि गाड़ी में कितनी भी भीड़ हो, लेकिन भारतीय घुस नहीं सकते थे। उन्होंने सर्वसाधारण बगीचों में बेंचों और कुर्सियों पर इसी तरह के लेबलों की बात सुनी। कभी-कभी इन झगड़ों में उनका कोई न कोई भाई उलझ जाता। जवाहरलाल उल्लेख करते हैं कि इन बातों ने किस तरह उनमें अपने देश के विदेशी शासकों के प्रति तीव्र विरोध भावना उत्पन्न कर दी। साथ-ही-साथ उन्हें याद नहीं कि किसी अंग्रेज से व्यक्तिगत वैरभावना रही हो। उनके अपने ही शिक्षक और गवर्नेस अंग्रेज़ थे और उनके पिता का द्वार अंग्रेज़ मित्रों के लिए खुला रहता। वे स्वीकार करते हैं, "अपने हृदय में मैं अंग्रेज़ की सराहना करता था।"

अपने बाप का उन्होंने कम ही निरीक्षण किया, और बहुत कुछ दूर से। बीच-बीच में मोतीलाल अपने बेटे के साथ खेलने को वक्त निकाल लेते और क्रिकेट और टेनिस में दौड़ाते। कभी-कभी बाप बेटे पतंगबाज़ी के मज़े लेते। संयोग से एक शाम को जब मोतीलाल अपने दोस्तों के साथ बैठे बातें कर रहे और पी रहे थे, बालक पर्दे के पीछे से बातों और हँसी के प्रवाह को समझने की कोशिश में झाँका। वह अपने पिता से, उनकी ज़ोरदार बातों से, उनकी ऊँची गूँजनेवाली हँसी से, उनकी जीवन्तता, बल और आकर्षण से बहुत प्रभावित हुआ। उसने उन्हें चतुर और साहसपूर्ण समझा। छिप कर सुननेवाला बीच-बीच में देखा गया और इन अवसरों पर उनके पिता उन्हें कमरे में लाकर अपने घुटनों पर बिठाते। जवाहरलाल स्वीकार करते हैं कि इन अवसरों पर वे कुछ त्रस्त हो जाते।

बहुत वर्षों बाद नेहरू को याद पड़ा, "मैं तरह-तरह के मिश्रित परिवेश में बढ़ा।"

वे अपने पिता की सराहना करते थे तो वह उनसे कुछ ज़्यादा ही डरते थे। मोतीलाल में आकर्षण और विनोदभावना थी, लेकिन उनका मिज़ाज बड़ा खौफ़नाक था। जवाहरलाल लिखते हैं, "बाद के दिनों में भी मुझे ध्यान नहीं आता कि मुझे उनके मुक़ाबले में कोई मिला हो"। मोतीलाल की प्रवृत्ति में शक्तिशाली पिता या घर का मालिक बहुत प्रत्यक्ष था। स्वभाव से ही दबंग होने से उनका नौकरों के प्रति व्यवहार में कुछ जागीरदार का सा झुकाव था। किसी घरेलू ग़लती से ग़ुस्से में भरे होने पर उन्हें मेज़ पर से उठने का और उसी वक्त वहीं पर अपने ही हाथों अभागे व्यक्ति को पीटने का कोई ख़याल न रहता। परिवार के एक नौजवान मित्र जो कैम्ब्रिज से ताज़े लौटे थे आनन्द भवन में नाश्ते की मेज़ पर की एक घटना का वर्णन करते हैं। वे इस प्रसंग को "भद्दा और अक्षम्य" बताते हैं।

नौकरों के प्रति पिता के रुख ने जवाहरलाल पर निस्सन्देह प्रभाव डाला। लड़के का डर विरोधभावना से भरा था और विवश नौकरों के लिए कम-से-कम उनकी प्रवृत्तिजन्य सहानुभूति इन प्रारंभिक वर्षों में पाई जाती है।

एक अवसर पर जवाहरलाल को ही अपने पिता के गुस्से का शिकार होना पड़ा। वे लगभग छः वरस के होंगे कि एक दिन घूमते हुए अपने पिता के लिखने-पढ़ने के कमरे में उनकी मेज़ पर उन्हें दो फाउंटेनपेन दिखाई पड़े। उन्होंने मन में सोचा कि एक साथ एक आदमी के लिए दो ज़रूरी नहीं हैं। उन्होंने एक उठा लिया। जब गुम हुई चीज़ का पता चला तो वे अपने पिता के गुस्से के कारण अपराध स्वीकार करने में बहुत डर गए। लेकिन खोया क़लम उनके पास से निकला और उनके पिता ने उनकी अच्छी मरम्मत की। "अपने अपमान, संताप और व्यथा से प्रायः अंधा होकर मैं अपनी माता के पास भागा, और कई दिनों तक तरह-तरह के मरहम और लेप मेरे दर्द भरे और काँपते शरीर पर लगते रहे।"

बचपन के उन दिनों में जवाहरलाल का झुकाव अपनी माता की ओर था। वह उन पर निछावर थीं और उनके अत्यधिक विवेक रहित स्नेह को जानते हुए बालक ने, उसके कथनानुसार, उन पर थोड़ा शासन करने का प्रयत्न किया। वे उसकी विश्वास-भाजन थीं और उनसे उसने अपने कुछ स्वप्न, निराशाएँ और कामनाएँ व्यक्त कीं। अकेलेपन ने उसकी कल्पना को तीव्र किया। वह आकाशीय ग्रहों के स्वप्न देखा करता और बिना किसी सामग्री के अकेले स्वाधीनतापूर्वक हवा में ऊँचे बहुत दूरी तक उड़ने की कल्पना करता। यह पलायनवादी कल्पना बाद के वर्षों में उनके दिमाग़ में छाई रही। वह लिखते हैं, "यह स्वप्न मेरे जीवन में प्रायः ही आता रहा और कभी-कभी वह स्पष्ट और वास्तविक था और एक विशाल दृश्य में गाँव का दृश्य मेरे नीचे लगा।"

जैसा कि उनकी आयु के भारतीय बच्चे करते हैं जवाहरलाल ने अपनी माता और नन्दलाल की विधवा, अपनी चाची, से भारतीय पुराणों की और लोककथा की बहुत पुरानी कहानियाँ सुनी थीं। उनकी माता ने उन्हें प्राचीनतम संस्कृत महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण के चरितनायक राम के पराक्रम की गाथाएँ सुनाईं। उनसे ही उन्होंने महाभारत की कहानी सुनी जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त राज्य के लिए कौरवों और पांडवों का युद्ध है। इस "हस्तिनापुर" नामक राज्य के खंडहर दिल्ली से उत्तर पूर्व साठ मील के लगभग गंगा के किनारे क्षीण रूप में दिखाई पड़ते हैं।

बालक के दूसरे विश्वास भाजन मुंशी मुबारक अली थे। यह बुज़ुर्ग से दिखाई देनेवाले मुस्लिम घर का सारा ही काम-काज करते थे। साथीविहीन बालक प्रायः ही बूढ़े के साथ का भूखा रहता और उनसे चिपक कर अलिफ़लैला की कहानियाँ और १८५७ के भारतीय विद्रोह की बातें सुना करता। मुबारक अली का परिवार विद्रोह में नष्ट हो गया था। उसमें कुछ ब्रिटिश सिपाहियों ने उनकी माँ की आँखों के आगे उनके पिता को फाँसी पर लटका दिया था, और बालक अपने बूढ़े मित्र के झुर्रीदार चेहरे, सफ़ेद बाल और दाढ़ी को

देख कर उन्हें मानव बुद्धि का संकलन समझता था। वर्षो बाद जवाहरलाल ने लिखा, "उनकी याद मेरे लिए प्रिय और बहुमूल्य वस्तु के समान है।"

नेहरू के स्वभाव का ही एक हिस्सा चिन्तनशील उदासी, इसी अकेले लड़कपन मे कल्पना की जा सकती है। घर पर अपनी उम्र के साथी के अभाव में उन्होंने अपनी ही प्रेरणा से अपनी माता और अपनी चाची और मुबारक अली से सहानुभूति देनेवाले बुजुर्गो का साथ तलाश कर लिया। वे अकेले ही पड़ गये और इस अकेलेपन ने उनकी चिन्तनशील शक्ति और कल्पना को तीव्र कर दिया। अलग-अलग अकेले और निश्चित रूप से रहने का भाव उनके काल्पनिक आकाश के शून्य में बहुत ऊँचे उड़ने के उनके स्वप्न में प्रत्यावर्तित होता है। लेकिन इस उड़ान में धरती कभी नहीं छूटी।

यद्यपि जवाहरलाल का अपने पिता से कम ही संपर्क रहा, और वे उनसे डरते रहे किन्तु उनके प्रति उनका सम्मान और स्नेह सदा ही दृढ़ बना रहा। अपनी ओर से मोतीलाल अपने बेटे को बहुत ही प्यार करते थे, यद्यपि माँ की तरह वे उसका उस तरह प्रदर्शन नहीं करते थे। वे काम में डूबे रहते थे और जवाहरलाल की शिक्षा ऐसी बात थी जो उन्हें लगता कि कुशल शिक्षकों के हाथों ही छोड़ देना ठीक था। माता का स्वास्थ्य कभी अच्छा नहीं रहा। बेटे के जन्म के बाद मे वे निरन्तर कई रोगों का शिकार रहीं और उनका स्वास्थ्य खराब रहा। रोगी माँ और बाद में रोगी पत्नी के साथ जीवन बिताने का नेहरू पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उन्होंने अच्छे स्वास्थ्य का मूल्य समझा। चुस्त रहना उनके लिए एक प्रकार से आस्था बन गई।

मोतीलाल का मर्दाना दबंगपन जवाहरलाल के मन की स्त्रैण झलक को भाया। स्त्रियों के प्रति, विशेष कर अपने घर की स्त्रियों के प्रति पिता का रुख मनोरंजक उपेक्षा का था। वे परिवार के छोटे मोटे झगड़ों को औरतों की बेवकूफी कह कर खत्म कर देते थे। वे विशेष रूप से अधिक धार्मिक न थे और धर्म को ज़रा मज़ाक के ढंग से औरतों की बातें कह कर लेने के पक्ष में थे।

नेहरू ने एक बार कहा था, "मेरे पिता ठीक-ठीक धार्मिक व्यक्ति नहीं थे, लेकिन चूँकि उनका हिन्दू धर्म में पालन-पोषण हुआ था, इसलिए वे उसका सम्मान करते थे।"

धर्म के विषय में जवाहरलाल के विचार धुँधले थे, और उनके शिक्षक ब्रुक्स को, दृढ़ निश्चय के थियासफिस्ट होने के कारण, अपने छात्र पर अपने मत का प्रभाव डालने में विशेष कठिनाई न हुई। मैडम ब्लवैट्स्की की रचनाओं से परिचय करा कर और इस मत के अधिक गूढ़ पक्षों पर वादविवाद द्वारा उन्होंने उसमें थियासफ़ी में रुचि डाल दी। उस समय तेरह वर्ष के जवाहरलाल मुग्ध हो गए थे। उन्होंने थियासफिकल सोसायटी में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया।

जब मैडम ब्लवैट्स्की भारत में थीं उस समय मोतीलाल थियासफिकल सोसायटी के सदस्य थे और उनके ही द्वारा दीक्षित किए गए थे। १८७८ में न्यूयार्क में इस संभ्रमशील व्यक्तित्व द्वारा संस्थापित सोसायटी १८८२ में भारत में मद्रास को स्थानान्तरित

कर दी गई। ब्रैडला और बर्नार्ड शॉ की मित्र डा० एनीबेसेंट के आगमन से थियासफ़ी ने भारतीय नागरिक बुद्धिजीवी को आकर्षित करना आरंभ कर दिया। यह वर्ग इसके हिन्दू और बौद्ध धर्मग्रन्थों के उल्लेख से आकर्षित और मुग्ध था। अपने काल की शायद सबसे महान् स्वाभाविक वक्ता एनीबेसेंट बहुत व्यापक रूप से लोकप्रिय थीं और इलाहाबाद में उनके कुछ भाषण सुनकर जवाहरलाल विह्वल हो उठे थे। सोसायटी में सम्मिलित होने के लिए उन्होंने पिता की अनुमति माँगी और जब मोतीलाल ने रुचि से अधिक विनोद प्रदर्शित करते हुए हँस कर स्वीकार कर लिया तो वे क्षुब्ध हुए। मोतीलाल ने खुद सोसायटी में शामिल होने के थोड़े ही समय बाद थियासफ़ी से अपना संपर्क बन्द कर दिया था।

जवाहरलाल के दीक्षा उत्सव की श्रीमती बेसेंट ने अध्यक्षता की। उसके थोड़े ही समय बाद तेरह वर्ष के बालक ने बनारस में थियासफ़िकल कन्वेन्शन में भाग लिया जहाँ उसने दढ़ियल कर्नल कनेरी ओलकॉट को देखा। अपने पिता की ही भाँति थियासफ़ी में उनकी भी रुचि अल्पकालीन ही रही। इससे ब्रुक्स परिवार से जल्दी ही विदा हो गये, किन्तु जब तक यह आध्यात्मिक ज्वर उन पर चढ़ा रहा तब तक, जैसा कि वे बाद में याद करते हैं, वे पवित्रता के पीतमंडल में विचरण करते रहे। यह महत्वपूर्ण है कि थियासफ़ी में उनकी रुचि इसलिए नहीं कम हुई कि उन्होंने उसके सिद्धान्तों में कुछ खराबी देखी हो, किन्तु इसलिए कि इस आन्दोलन से संयुक्त बहुत से लोग उन्हें असंभाव्य, अवास्तविक संसार में रहनेवाले और मिथ्याभिमान से अपने को श्रेष्ठ माननेवाले लगे।

दो वर्ष पहले जब जवाहरलाल ग्यारह के थे तो उनके माता-पिता को एक पुत्री का जन्मलाभ हुआ। उस समय उनके पिता इंग्लैंड गए हुए थे और बरामदे में उत्सुकता से बैठे हुए बालक को नवागन्तुक का पता डाक्टर से लगा। कुछ दुस्वभाव के उस व्यक्ति ने यह उल्लेख कर कुछ अपना विनोद किया कि बहन के आगमन से भाई को अधिक परेशान न होना चाहिए। अगर बेटा होता तो पिता की सम्पत्ति में भागीदार होता। जवाहरलाल को इससे विनोद नहीं हुआ। लेकिन वे शिशु बहन के मिलने के विचार से प्रफुल्लित हुए। उसका नाम स्वरूप रखा गया और वह बड़ी होकर प्रसिद्ध विजय लक्ष्मी* पंडित हुई।

अपने अंग्रेज़ मित्रों के विस्तृत घेरे के कारण मोतीलाल सदैव ब्रिटिश पब्लिक स्कूलों में पढ़े लोगों से प्रभावित रहे। उन्होंने अपने बेटे को ऐसे ही एक स्कूल में भेजने का निश्चय किया और सौभाग्य से हैरो में एक स्थान खाली मिल गया। उस समय जवाहर लाल सोलह के थे। यह उम्र ब्रिटिश पब्लिक स्कूल में पढ़ने जानेवालों की सामान्य आयु से कुछ ही अधिक थी।

एक साल पहले एक ऐसी घटना घटी थी जिसने भारत के शिक्षित मध्यवर्ग का ध्यान खींच लिया था और एशिया की राष्ट्रीयता पर गंभीर प्रभाव डालने वाली थी। यह

---

* विवाह के समय काश्मीरी बंधुओं का नया नामकरण होता है।

१९०४–१९०५ का रूसी-जापानी युद्ध था। अपनी बेटी इन्दिरा के नाम एक पत्र* में नेहरू लिखते हैं : "बीसवीं शताब्दी के आरंभ में एक घटना घटी जिसका बड़ा प्रभाव एशिया के दिमाग़ पर पड़ा। यह जापान द्वारा ज़ारशाही रूस की पराजय थी......मुझे अच्छी तरह याद है कि जब जापानी विजय के समाचार आते थे तो मैं कितना जोश में भर जाता था। तब मैं तुम्हारी उम्र का था।" बेटी के नाम अपने एक बाद के पत्र× में वे जापानी विजय को "एशिया की बहुत ही उत्साह वर्धक चीज़" के रूप में उल्लेख करते हैं।

जवाहरलाल ने इसके पहले शायद एक ही युद्ध को और समझा था और वह १८९९ और १९०२ के बीच का बोअर युद्ध था जिसमें उनकी सहानुभूति बोअर लोगों के साथ थी। संभवतः यह भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उनकी दबी हुई भावना का प्रत्यावर्तन हो। पहले पहल उन्होंने समाचारों का अनुसरण करने के प्रयत्न में उत्सुकता पूर्वक समाचार पत्र पढ़े। रूस-जापान संघर्ष ने उनकी अभिरुचि को अधिक उत्कटता से उभाड़ा, क्योंकि एक योरोपीय शक्ति के संघर्ष में लगा जापान एशिया का प्रतीक था। उन्होंने जापान के सम्बन्ध की कई पुस्तकें ख़रीदीं और उस विशिष्ट साहित्यिक लफ़्कादियो हियर्न के बनावटी गद्य का आनन्द लिया। युद्ध ने उनकी कल्पना को उत्तेजित किया। उन्होंने अपने को लफ़्कादियो हियर्न के वीर योद्धा की भाँति हाथ में तलवार लेकर अपने देश की स्वाधीनता के लिए लड़ने का स्वप्न देखा।

१९०५ की मई में जवाहरलाल अपने माता पिता और चार बरस की बहिन सरूप के साथ जहाज़ से इंग्लैंड गए। डोवर और लंदन के बीच रेलगाड़ी में उन्होंने एक समाचार पत्र खोला और त्सूशिया में रूसी बेड़े पर ऐडमिरल तोगो की निर्णयात्मक विजय पढ़ी। वे उल्लेख करते हैं, "मैं बहुत अधिक प्रसन्न था।" यह भाव था जिसमें उन्होंने इंगलैंड के अपने जीवन में प्रवेश किया।

---

* ता० नवम्बर २२, १९३२, अक्टूबर १९३० और अगस्त १९३३ के बीच विभिन्न जेलों से नेहरू ने अपनी बेटी को क्रमबद्ध पत्र लिखे थे। बीच-बीच में जेल जाने के कारण उन्हें बेटी की शिक्षा की देखभाल का कम ही अवसर मिला और इन पत्रों का उद्देश्य विश्व के इतिहास के बारे में कुछ बताना था। देखिए Glimpses of World History ले० जवाहरलाल नेहरू (प्रका० लिंड्से ड्रमंड, लंदन, १९३९)

× ता० ७ दिसम्बर १९३२

३

हैरो और कैम्ब्रिज

१९०५ में इंग्लैंड एडवर्ड युग की भड़कीली उमंगों में था। उस साल के दिसम्बर में सर हेनरी कैम्पबेल-बैनरमन के नेतृत्व में एक उदार शासन ने पदभार ग्रहण किया। जर्मनी पहले से ही ब्रिटेन के साथ शस्त्रीकरण की होड़ में लगा हुआ था और प्रथम विश्व-युद्ध नौ वर्ष बाद था। इसी समय के लगभग स्त्रियों के मतदान के हामियों—सफ़ैजेट्स—ने स्त्रियों के मतदान के लिए अपना सामरिक अभियान आरंभ किया। एक नया खिलौना, मोटर गाड़ी, आ गयी थी, और प्रति घंटा बीस मील चल कर फैशनेबुल लोग बातें करते "इन तेज़, अग्रगामी और उन्मादपूर्ण दिनों...हवा में भागना अवश्य ही उल्लासप्रद है।"

समाज ने अपना स्वर रूखे, सजीव और चचा के ढंग के सातवें एडवर्ड से ग्रहण किया। तथाकथित उच्च वर्ग के लिए यह दशक विस्तृत और ऐश्वर्यशाली जीवन और महान् आतिथेयी महिलाओं और प्रसिद्ध सुन्दरियों की चमक-दमक से शासित संसार का था। गले में लपेटने के रोएँदार बोआ और मुड़ी पट्टियों वाले रफ़ल स्त्रियों के फैशन की महत्व-पूर्ण चीज़ें थीं। नीचे चौड़े घाघरे क्रिनोलीन और कमर के ऊपरी भाग को फुलाने वाले बसॅल विक्टोरिया युग के इंग्लैंड की महिलाओं के सज्जा कक्ष में मर चुके थे और स्त्रियों के उभार और उतार "सीधे अग्र भाग के कॉर्सेट" पर आकर टिक गये थे। स्त्रियों की आकृतियाँ डाना गिब्सन के चित्रों के ढंग की फूली हुई होतीं।

मर्दाने फ़ैशन भी बदल रहे थे। चिकने चमकीले "टॉपर" की जगह साफ्ट हैट शीघ्र ही आनेवाले थे, और "बोलर" ने विक्टोरिया युग के "स्टोव पाइप" की जगह ले ली थी। "बोटर्स" अथवा तिनके के हैटों का चलन था। विशिष्ट लोग देर तक चलनेवाली बहुमूल्य दावतों में एक घोड़े वाली ब्रूम गाड़ी में जाते, और लंदन की सड़कों पर भाप से चलनेवाली बसें, किराए की हैन्सम से लेकर तरह-तरह की सवारियां चलतीं। यह युग आराम और संपन्नता का था, अपने दिखावे में कुछ भोंडा, जहाँ कि "ऊँचे" और "नीचे" वर्ग के लोग अपने-अपने ढंग पर सन्तोषपूर्वक चलते रहते।

जवाहरलाल ने १९०५ के बड़े दिन के सत्र में हैरो में प्रवेश लिया और १९०७ के ग्रीष्म सत्र के अन्त में उसे छोड़ दिया। उस समय वे इंग्लिश पब्लिक स्कूल में अधिकांश प्रवेश लेने वालों से तीन वर्ष बड़े थे। लंदन से क़रीब दस मील दूरी पर हैरो स्कूल १५७२ में एलिजाबेथ प्रथम के राज्य काल में पड़ोस के एक जागीरदार जान लियोन द्वारा स्थापित एक प्राचीन संस्थान है। आरंभ में यह हैरो के गाँव के विद्यार्थियों तक सीमित था किन्तु

१६६० के आसपास यह "विदेशियों" अर्थात् दूसरे गाँवों के विद्यार्थियों को जो अपनी शिक्षा का शुल्क देते थे, लेने लगा। धीरे-धीरे "विदेशी" शब्द का अर्थ उदार और विस्तृत होता गया।

जब जवाहरलाल ने उसमें प्रवेश किया उस समय हैरो में चार या पाँच भारतीय लड़के थे। उनमें से एक भारतीय राजा बड़ोदा के गायकवाड़ का पुत्र था। वह बहुत उत्कट क्रिकेट का खिलाड़ी जवाहरलाल से बहुत अधिक वरिष्ट था और उनके आने के बाद ही छोड़कर चला आया। उस समय के युवराज और वर्तमान कपूरथला के महाराज दूसरे थे, और जवाहरलाल उल्लेख करते हैं कि ब्रिटिश साथियों द्वारा चिढ़ाए और परेशान किए जाने पर यह राजकुमार किस प्रकार बढ़ बढ़ कर यह बताते थे कि अगर उन्होंने कभी कपूरथला में क़दम रखा तो वह उनका क्या कर डालेंगे। उनके ब्रिटिश समसाभयिकों में सबसे प्रसिद्ध को दूसरे विश्व युद्ध में प्रसिद्धि मिलना थी। आज वे फ़ील्ड मार्शल टयूनिन के लार्ड अलेक्ज़ेंडर हैं। विंडसर के डयूक के मित्र और जिन्हें राजाओं और राजकुमारों के मार्गदर्शक और दार्शनिक बनना बदा था, वे सर वाल्टर मांक्टन भी इस समय हैरो में थे। अलेक्ज़ेंडर और मांक्टन दोनों ही नेहरू से वरिष्ट थे और दोनों में से किसी को अपने भारतीय समसामयिक की स्पष्ट स्मृति नहीं है।

अपरिचित लोगों में पड़ कर जवाहरलाल को पहले तो अकेलापन लगने लगा और घर की याद सताने लगी। अंग्रेज़ी पब्लिक स्कूलों के ढंग पर हैरो बहुत से निवास के "हाउज़ों" में बँटा हुआ है और इनमें से सबसे बड़े, हेडमास्टर के हाउज़, में नेहरू रखे गये। हेडमास्टर रेवरेंड जोज़ेफ़ वुड डी० डी० मिलनसार, जनप्रिय और अच्छे विद्वान् थे। अपने पूर्ववर्ती रेवरेंड जे० ई० सी० वेलडन जो कभी कलकत्ता के विशप थे, उनसे भिन्न वुड कठोर अनुशासक न थे। नेहरू का "हाउज़" यद्यपि नाम के लिए हेडमास्टर के अधीन था, किन्तु वास्तव में हाउज़ मास्टर रेवरेंड एडगर स्टागडन के निकट अधिकार में था। यह स्वयं हैरो के पुराने विद्यार्थी थे और बाद में हैरो के विकार (पादरी) थे। वुड की ही भाँति स्टागडन प्रसन्नचित्त, दयालु व्यक्तित्व के थे जिन्हें विद्यार्थी बहुत मानते थे।

वाटरलू का युद्ध इटन के खेल के मैदानों में जीता गया होगा लेकिन हैरो ने भी अपने हिस्से के प्रसिद्ध सैनिक और नेता उत्पन्न किए हैं। इन प्रधान मंत्रियों में पील, पामर्सटन, बाल्डविन और विन्स्टन चर्चिल के नाम हैं। एक विडम्बना से जिसका आनन्द उसके पिता बहुत अधिक उठाते, एक अन्य हैरो के पुराने विद्यार्थी को प्रधान मंत्री होना बदा था—स्वाधीन भारत का प्रथम प्रधानमंत्री।

हैरो में जवाहरलाल के बहुत थोड़े कागज पत्र हैं। अपनी ही स्वीकृति के अनुसार यद्यपि उन्होंने अपने को थोड़े ही समय में परिवेश के अनुकूल बना लिया था, किन्तु वे कभी भी "पूरे ढंग से अनुकूल न हो पाए" थे। यह प्रयत्न के अभाव में नहीं था। अधिकतम पब्लिक स्कूलों की तरह, हैरो में क्रिकेट और फ़ुटबाल स्वास्थ्य के आधार पर छूटे लड़कों के सिवा सबको अनिवार्य रहते हैं। जवाहरलाल खेलों से जी नहीं चुराते थे और उन्होंने

अपने हिस्से का काम किया था। वे हैरो स्कूल कोर के लिए उत्सुक थे। इसमें वे सम्मिलित हुए और एक फोटोग्राफ़ में वे वर्दी में वहुत पतले और तने दिखाई पड़ते हैं। उनका लड़कों-सा चेहरा सैनिक के शैको टोप में कुछ तनाव भरा है। उनके हाउज़ मास्टर जो कोर की कमान के अफ़सर थे जवाहरलाल की "सैनिक के रूप में काफ़ी अच्छी योग्यताओं" की वात करते हैं।

स्टाग्डन यह भी उल्लेख करते हैं कि जव कई प्रतिस्पर्धियों में हैरो ने निशानेवाज़ी की शील्ड जीती तो जीतनेवाले दल को लानेवाली गाड़ी के घोड़े खोल दिए गए और उसे हैरो पहाड़ी पर स्कूल के वहुत से लड़के खींच कर लाए। उनमें नेहरू और भावी लॉर्ड अलेक्ज़ेंडर थे।

नेहरू के स्कूल छोड़ने के लगभग पैंतीस वर्ष वाद स्टाग्डन ने अपने छोटे छात्र के विषय में निम्नलिखित मूल्यांकन दिया : "मैं उन दिनों हेडमास्टर डा० वुड का हाउज़ मास्टर था और नेहरू हाउज़ में थे—वहुत अच्छे, शान्त और शिष्ट वालक। वह प्रदर्शन के स्वभाव वाले नहीं थे लेकिन यह लगता था कि उनमें चरित्र का वहुत वल है। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने जिन वहुत-से लड़कों या मास्टरों के साथ काम किया उन्हें वताया हो कि उनकी राय क्या थी। वह अच्छा काम करते थे और उन्होंने कभी ही (प्रायः कभी नहीं) कष्ट दिया हो।

यह एक वुद्धिमत्ता और समझदारी का विचार है। उस समय ही नेहरू के स्वभाव में अलग रहने और वहुत कुछ चुप रहने की प्रवृत्ति थी। उसी तरह उनके चरित्र का अन्तर्निहित वल भी था। इस अलग रहने की प्रवृत्ति का एक भाग उनके और उनके साथियों की मानसिक दरार में देखा जा सकता है जो उनकी आयु और कक्षा के अंग्रेज़ी लड़कों की तरह प्रमुखतः खेलों में रुचि रखते थे। अपने पिता के नाम एक पत्र में जवाहरलाल शिकायत करते हैं कि किस तरह से अधिकांश अंग्रेज़ साथी नीरस हैं। किन्तु वे अहंकारी नहीं थे। वात केवल इतनी थी कि उनकी रुचियाँ साथियों की रुचियों से विस्तृत थीं। वे उनसे अधिक पुस्तकें और समाचार पत्र पढ़ा करते थे, और सामान्य ज्ञान में वे उनसे आगे थे। जव उनकी कक्षा के अध्यापक ने अपने छात्रों से ब्रिटेन में नई उदारवादी सरकार के सदस्यों के नाम पूछे तो अध्यापक को वड़ा आश्चर्य हुआ कि भारतीय वालक ही अकेला था जिसने इस विषय की सारी सूचना दी। उसने कैम्पवेल वैनरमन मंत्रिमंडल के लगभग सारे सदस्यों के नाम वताए।

विज्ञान के लिए जवाहरलाल का उत्साह, जिसे ब्रुक्स ने पाला पोसा था, वना रहा। हवाई जहाज़ में उड़ना उस समय अपनी शिशु अवस्था में था और उसकी प्रगति ने उन्हें उत्तेजित किया। १९०५ में विल्वर और ऑरविल नामक राइट वन्धुओं ने चवालीस उड़ानें कीं, जिनमें सवसे लम्वी उड़ान में वे आध घंटे हवा में रहे और २४½ मील की यात्रा की। उसके वाद के वर्ष में अल्वर्टो सान्तोस-डुमान्त इक्कीस सेकंड में अपनी ही वनाई एक मशीन में २५० गज़ उड़ा। जवाहरलाल ने इन अग्रगामी प्रयत्नों की अत्यन्त रुचि के

साथ खबर रखी। हवा के अपने पृथक्त्व और क्षेत्र के साथ वेग ने जवाहरलाल को सदैव मुग्ध किया और यह उनके प्रिय स्वप्न में प्रतिबिम्बित होता है। उन्होंने भविष्यवाणी करते हुए अपने पिता को लिखा कि वे जल्दी ही सप्ताहान्त यात्रा के लिए उनके पास हवाई जहाज से आने में समर्थ होंगे।

हैरो मौज में पड़ी बाहरी दुनिया में व्याप्त पक्षपात और पूर्वाग्रह को प्रतिबिम्बित करता था। जवाहरलाल के हाउज़ के मिला कर स्कूल में थोड़े से यहूदी थे और बालक ने सेमेटिक विरोधी भावना को गुप्त रूप से प्रचलित पाया। यद्यपि इस सम्बन्ध में उनकी अपनी कोई राय न थी, वे इस बात को मानते हैं कि परिवेश का उनपर "यह सोचने के लिए कि यह भावना रखना उचित बात है" काफ़ी प्रभाव हुआ। उनके परिवेश के आवश्यक अंग, दिखावटी शिष्टाचार के विचार, ने क्षण भर के लिए उनके सामाजिक न्याय विचार के प्रकृतिगत भाव पर विजय प्राप्त की। वह तेज़ी से बढ़ रहे थे, लेकिन बाद के वर्षों की सामाजिक आत्मा का अभी विकास होना था।

कुछ बातों में अपरिपक्व होने पर भी जवाहरलाल को जल्दी ही यह लगने लगा कि वे हैरो में ज़रूरत से ज्यादा रह गए हैं। वे उस जगह को चाहने लगे थे, लेकिन बौद्धिक संयम और बन्दीपन के भाव ने उन्हें थोड़ा परेशान कर दिया। शायद यह भी हो कि अपने देश के रंग, गति और चंचल पवन के प्रति प्राणवन्त भारतीय बालक को इंग्लैण्ड के धूमिल आकाश ने उदास कर दिया हो। हैरो यद्यपि खुले मैदान में है और वहाँ सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक के भवन हैं लेकिन वहाँ हवा बौद्धिक रूप से ढकी हुई है। कम-से-कम तरुण नेहरू को यही लगा।

वे विश्वविद्यालय के विस्तृत संसार के लिए आकुल थे। जी० एम० ट्रेवेल्यान की तीन खंडों की गैरीबाल्दी और इतालवी स्वाधीनता के लिए उसके संघर्ष की एक पुस्तक ने उनकी इस भावना को तीव्र कर दिया था। यह पुस्तक जवाहरलाल ने स्कूल में अच्छे काम के पुरस्कार स्वरूप पाई थी। उसकी कहानी में जवाहरलाल ऐसे दत्तचित हो गए कि उन्होंने अन्य दोनों खंड प्राप्त किए और गैरीबाल्दी गाथा को सावधानी से पढ़ा। जहाँ तक उनके देश का सम्बन्ध था उससे तभी राजनीतिक रूप से सचेतमन उन्होंने इटली की भारत से तुलना की। उन्होंने सोचा कि भारत इस तरह का संघर्ष क्यों न करे? इटली और ग्रीस की भूमध्य सागरीय संस्कृति ने ब्रिटेन के उच्च वर्ग को बहुत काल से आकर्षित किया है। बाइरन क्या हैरो का विद्यार्थी नहीं था?

यह देखना रुचिकर है कि भारत और इटली की यह तुलना किस प्रकार उनके मन में उठ खड़ी हुई और उनकी स्मृति में बनी रही। वर्षों बाद अपनी आत्मकहानी* में नेहरू इस विषय पर लौटे। राजनीतिक विभाजन पर लिखते हुए और उसकी तुलना भारत से करते हुए उन्होंने उल्लेख किया है कि अनेकता होते हुए भी एकता है ही। वे

---

* अप्रैल १९३६ में प्रकाशन।

बनारस में रोम का प्रतिरूप देखते हैं। राजनीतिक रूप से जब इटली औंधा पड़ा हुआ था उसका सांस्कृतिक जीवन योरोप की नसों में बहता रहता था। उन्होंने मन ही मन सोचा कि इसी तरह भारत का सांस्कृतिक जीवन एशिया की धमनियों में प्रवाहित हुआ है।

रूस-जापान युद्ध से जागृत उनकी एशियाई चेतनता से जवाहरलाल ने उत्सुकता से भारत की राजनीतिक गतिविधियों की खबर रखी और उसके बाद यह भारत और बाहर की घटनाओं से प्रभावित हुई। एशिया के शिक्षित वर्गों को लगा कि योरोप संसार में अपनी प्रधानता की स्थिति खोता जा रहा है, क्योंकि बोअर युद्ध यद्यपि ब्रिटेन के पक्ष में समाप्त हुआ किन्तु उससे ब्रिटिश सैनिक बल उसके पक्ष में अच्छा न रहा; तुर्कों ने ग्रीस वासियों को हटा दिया और निकट पूर्व से ईसाइयों के क़त्लेआम के समाचार मिले। जारशाही रूस के घुस आने से भयभीत भारत के ब्रिटिश शासकों ने रूसियों की शक्ति को चढ़ा चढ़ा दिया और जब जापानियों ने उस देश पर एक के बाद एक जोरदार विजय प्राप्त की तो उनकी गूँज एशिया भर में सुनाई पड़ी।

भारत में इन बाहरी घटनाओं ने देश के विभिन्न भागों में हिंसा के कार्यों के साथ एक अस्पष्ट-सी बेचैनी की भावना उत्पन्न कर दी। कैम्पबेल-बैनरमन की उदारपंथी सरकार के ब्रिटेन में अधिकार ग्रहण करने के दो महीने पहले एक नये वाइसराय, लार्ड मिंटो, जो पहले कनाडा के गवर्नर-जेनरल थे, भारत आये। लार्ड मार्ले भारत के सेक्रेटरी आफ़ स्टेट आपस में मिलकर देश के लिए प्रतिनिधि सरकार की एक चौकन्नी प्रगति बनाने बैठे। भारत या भारतीयों के लिए पार्लमिंट के ढंग का या प्रजातंत्रीय शासन देने का कोई प्रश्न न था।

भारत के समाचारों के लिए अंग्रेजी अखबारों को पढ़ते हुए जवाहरलाल ने इन घटनाओं को निकटता से समझा। उनमें के विवरण बहुत थोड़े और अपूर्ण होते, लेकिन यह प्रगट करने के लिए काफी सूचना देनेवाले होते कि देश में एक नयी राजनीतिक उथल-पुथल चल रही है। १८५७ के महान विद्रोह के बाद यह पहली थी। आतंकवाद के अतिरिक्त नए अस्त्र का प्रयोग आरंभ हो गया था—ब्रिटिश सामान का बहिष्कार जिसके साथ स्वदेशी अथवा देश की बनी चीजों को प्रोत्साहन देना था। जवाहरलाल ने लिखा, "इस सबने मुझे बहुत अधिक उत्तेजित कर दिया लेकिन हैरो में एक भी जीव ऐसा नहीं था जिससे मैं इसके बारे में बात कर सकता।" छुट्टियों में कभी-कभी वे दूसरे भारतीय मित्रों से और विद्यार्थियों से मिलते और जोश के साथ देश की घटनाओं पर काफी आवेश से चर्चा करते।

भारत में प्राण-संचार हो चला था। १९०४ से, जब कि बंगाल के विभाजन* का

---

* बंगाल का विभाजन १९०५ में हुआ। ढाका राजधानी के साथ पूर्वी क्षेत्र अलग कर दिया गया। भीषण विरोध होने पर विभाजन १९११ में उलट दिया गया जब पूर्वी बंगाल फिर कलकत्ता के अधीन आ गया। १९४७ में भारत विभाजन से बंगाल का विभाजन कमोबेश १९०५ के विभाजन के आधार पर ही हुआ।

प्रश्न उठा, राष्ट्रीयता ने अधिक उग्र रूप लिया। तब तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नरम नीतियों का बाल गंगाधर तिलक-सा प्रबल विरोधी मिल चुका था। उन्होंने १९०७ में उस संस्था पर अधिकार पाने का असफल प्रयत्न किया था। कट्टर ब्राह्मण तिलक, उग्र राष्ट्रीयतावादी थे। वे पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र के निवासी थे जो कि बंगाल और पंजाब के साथ नई राजनीतिक जागृति की जन्मभूमि था। प्रबल वक्ता होने के साथ ही तिलक की लेखनी भी तेज़ थी और उनके संस्थापित मराठी समाचार-पत्र केसरी के पृष्ठ अपने सीधे और तीखे गद्य के कारण व्यापक रूप से पढ़े जाते थे। वे गांधीजी से बहुत पहले राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय थे और उन्होंने राजद्रोह को उभाड़ने के कथित एक लेख के लिए १८९७* में अपने पहले कारावास को भुगता।

बंगाल के विभाजन-विरोधी आन्दोलन ने तिलक को नए सिरे से प्रयत्न के लिए उत्तेजित किया। वे शान्त प्रकार के दर्शन शास्त्रों में विश्वास रखने वालों में नहीं थे और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष निरन्तर आन्दोलन के सिद्धान्त का प्रचार करते रहते जिसमें आवश्यक हो तो हिंसा का भी सहारा लिया जाए। राजनीति के हित में उन्होंने धर्म से काम लिया और बुद्धि के देवता और विघ्न नाशक गणपति के वार्षिक उत्सव को पुनरुज्जीवित किया। महाराष्ट्र के लोग हिन्दू देवताओं में गणपति को अधिक मानते हैं। "त्रिनेत्र, नीलकंठ, शान्त" रक्षक और विनाशकर्ता भगवान् शिव की रणरंगिनी रूप में प्रसिद्ध काली के सम्प्रदाय और तांत्रिक रिवाज को पुनः प्रतिष्ठित कर बंगाल ने अनुकरण द्वारा उन्हें प्रसन्न किया। बंगाल में आन्दोलन का नेतृत्व ललित वक्ता विपिन चन्द्र पाल और कैम्ब्रिज में शिक्षा प्राप्त एक युवक अरविन्द घोष ने किया। बाद में अरविन्द घोष राजनीतिक से अवकाश ग्रहण कर पांडिचेरी में योगी बन कर आश्रम में रहने लगे।

तिलक के बहुतेरे अनुयायियों की भांति बंगाल विभाजन के विरोधी लोग हिंसा के उपयोग में संकोच करने वाले नहीं थे। नेहरू के हैरो जाने के कुछ ही बाद, १९०८ में, स्थानीय ब्रिटिश मैजिस्ट्रेट के लिए लाए गए बम से संयोगवश मुजफ्फरपुर में दो अंग्रेज महिलाओं की हत्या के बाद बंगाल में मानिकतल्ला में बम का कारखाना खोज निकाला गया। उसके बाद मानिकतल्ला षडयन्त्र का मुकदमा आरंभ हुआ जिससे देशव्यापी दिलचस्पी और उत्तेजना पैदा हो गई। इस मुक़दमे पर अपनी टीका टिप्पणी के कारण तिलक को छः वर्ष के कारावास का दंड मिला।

बंगाल, और तिलक की अपनी भूमि महाराष्ट्र के अतिरिक्त पंजाब में अशान्ति थी। यहाँ यद्यपि शिकायतें राजनीतिक से अधिक भूमि संबंधी थीं, किन्तु वे राजनीतिक प्रदर्शन और दंगों के रूप में प्रगट हुई। इनमें दो स्थानीय नेता आगे थे—लाला लाजपतराय जो जनता में "शेरे पंजाब" के नाम से प्रसिद्ध थे, और सरदार अजीत सिंह। दोनों ही को ब्रिटिश सरकार ने देश निकाला दे दिया।

* उन्हें अठारह महीने के कठिन कारावास का दंड दिया गया था।

इन घटनाओं को आवेगपूर्ण अभिरुचि और उत्साह से समझते हुए जवाहरलाल को हैरो की दुनिया सहसा बहुत छोटी लगी। किन्तु जब उन्होंने हैरो छोड़ा तो वे रोने लगे। यद्यपि वे उसके वातावरण से पूरी तौर से हिले-मिले नहीं थे, जवाहरलाल वहाँ की परम्पराओं और समागम से प्रभावित हो गए थे, और यहाँ भी प्रभाव भावना पूर्ण था। उनके हाउज़ मास्टर रेवरेंड एड्गर स्टाग्डन लिखते हैं, "मैं जानता हूँ कि वे हैरो स्कूल के गीत बहुत विशेष रूप से पसन्द करते थे।" वे अवश्य पसन्द करते थे। आज भी आनन्द भवन के पुस्तकालय में उनके हैरो स्कूल के गीतों की मुड़े पन्नों की किताब है। नेहरू के प्रिय गीतों में पब्लिक स्कूल के छोटे दर्जे के बच्चों का फैग गीत "जेरी, यू डफ़र ऐंड डंस"[1] और "व्हेन ग्रैंड पापाज़ ग्रैंड पापा वाज़ इन द लोअर लोअर फ़र्स्ट"[2] हैं जिन्हें वे अपने भतीजों, भतीजियों और नातियों के साथ जोश से गाते हैं। १९५२ में जब वे राष्ट्रमंडल सम्मेलन में लंदन में थे तो नेहरू हैरो के पुराने छात्रों के भोज में सम्मिलित हुए और स्कूल का गीत "फ़ोर्टी ईयर्स आन" हैरो के एक अन्य पुराने विद्यार्थी और प्रधान मंत्री भी, विंस्टन चर्चिल के साथ गाने में नटखट लड़कों सी खुशी दिखाई। चर्चिल की युद्धकालीन सरकार ने जब नेहरू को अपने अन्तिम और सबसे लम्बी अवधि के कारावास के लिए जेल भेजा था, तबसे दस वर्ष बीत चुके थे।

जब उन्होंने यह कुछ उदास गीत मिल कर गाया होगा तो कौन जाने दोनों प्रधान मंत्रियों के विचारों में क्या उथल-पुथल हो रही होगी?

"चालीस वर्ष बीत गये, दिन पर दिन उम्र बढ़ रही है,
साँस फूलने लगी है स्मृति क्षीण होने लगी
टाँगों में कमज़ोरी आ गयी और कंधे दुखने लगे
इस खयाल से क्या फायदा कि हम कभी तगड़े थे?'

अक्टूबर १९०७ में नेहरू ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज गए। उस समय वे अठारह के हो रहे थे। दुबले पतले सुन्दर काले बालों वाले युवक, समझदार आँखों वाले, ब्रिटिश पब्लिक स्कूल के लड़के की तरह सावधानी से बनाए उच्चारण से अंग्रेज़ी बोलते।

उन दिनों कैम्ब्रिज प्रकृति विज्ञान, अर्थ शास्त्र और दर्शन शास्त्र की शिक्षा में विशेषता रखता था। कैवेंडिश प्रयोग शाला में विख्यात भौतिक विज्ञान शास्त्री सर जे. जे. टाम्सन गैसों के द्वारा विद्युत संचालन, इलेक्ट्रान के प्रचार और राशि के निर्धारण और धन किरणों के विश्लेषण में अपने युग प्रवर्त्तक अन्वेषण में मग्न थे। विज्ञान के प्रति आकर्षण के कारण नेहरू ने प्रकृति विज्ञान का आसन चुना। उनके विषय थे रसायन शास्त्र, भूगर्भ विज्ञान और वनस्पति विज्ञान। किन्तु उनकी रुचियाँ विस्तृत थीं और स्वभावतः कुतूहलपूर्ण होने से उनका मन विस्तृत दिगन्त में भटकता था। राजनीति और अर्थ शास्त्र ने उन्हें आकर्षित किया और वे इतिहास और साहित्य की ओर सदा खिंचे रहे। यद्यपि अनियमित ढंग से ही, किन्तु उनका अध्ययन व्यापक था।

---

१ ऐ बुद्धू और मूर्ख जेरी। २ जब दादा के दादा सबसे नीचे के पहले दर्जे में थे।

नेहरू ने जो तीन वर्ष कैम्ब्रिज में बिताये वे योरोप में एक मनोरंजक बौद्धिक विक्षोभ से मेल खाते थे जब कि विश्व धुंधली छाया से विश्व युद्ध के अन्धकार की ओर बढ़ रहा था। वर्गसाँ की फट पड़ने की प्रवृत्ति हो रही थी और समीप ही एच. जी. वेल्स और बर्नार्ड शॉ पुराने सामाजिक और आर्थिक मूल्यों को चुनौती दे रहे थे। शॉ की **मेजर बार्बारा** १९०५ में प्रकाशित हुई, उसी साल वेल्स की **ए मार्डन यूटोपिया** प्रकाशित हुई, और कैम्ब्रिज में शॉ की बुद्धि और उक्ति चातुर्य उनकी प्रसिद्ध प्रस्तावनाओं से अधीरता से चुने जाते थे। इन्हीं उफान के वर्षों में आइन्सटीन ने अपना विशेष सापेक्षता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। १९०८ में टॉमस हार्डी ने अपनी रचना **डाइनैस्ट्स** पूरी की और इसी के लगभग पाब्लो पिकासो नामक एक स्पेन निवासी ने क्यूबिज़म (घन-वाद) स्थापित किया। फ्रायड ने पिछली शताब्दी के समाप्त होने के कुछ ही पहले मनोचिकित्सा का अपना पहला लेख प्रकाशित किया। नई शताब्दी के पहले दशक के अन्त में उनका **मनोविश्लेषण** नामक अध्ययन प्रकाश में आया।

नए अनुभवों की ओर टटोल कर बढ़ते हुए स्नातक पूर्व (अंडर ग्रेजुएट) विद्यार्थियों के वादविवाद में यौन और नैतिकता बहुत रहते हैं। नेहरू अपने साथियों से यौन विषय की चर्चा सैद्धान्तिक दृष्टि कोण से और इसी लिए बहुत ऊँचे दृष्टिकोण से किया करते। वे ब्लाक और क्राफ्ट एबिंग के, हैवलाक एलिस और ओटो वीनिजर के नामों को बघारा करते। उन की बातचीत का ढंग ऊँचा रहता। उनमें से कुछ को ही यौन संबंधी अनुभव रहता, और निश्चित रूप से नेहरू को तो नहीं था। वे स्वीकार करते हैं कि यौन विषय के प्रति उनकी पहुँच झेंपू की सी थी, और उस समय और कैम्ब्रिज छोड़ने के बहुत बाद तक काल्पनिक रही। इस विषय में उनमें धार्मिक रुकावटें नहीं थीं और उनके मन में यौन विषय का सम्बन्ध पाप से नहीं था। किन्तु उनकी स्वाभाविक लज्जालुता और विश्वासहीनता ने उन्हें अनुभव प्राप्त करने से रोका।

दो लेखक जिन्होंने उनकी राजनीतिक और आर्थिक विचार धारा को बहुत कुछ ढाला वे थे लोवेस डिकिन्सन और मेरेडिथ टाउनसेंड। टाउनसेंड की **एशिया ऐंड योरोप** ने उनके चित्त पर विशेष रूप से प्रभाव डाला और उनके राजनीतिक विचार के ढंग को प्रभावित किया। उनकी एशिया के प्रति सचेतनता बौद्धिक आधार और नींव की तलाश कर ही रही थी। कविता के प्रति उनकी रुचि जारी रही और कुछ घटनाएँ तो तीव्रतर हो गई। स्विनबर्न का १९०९ के वसन्त में देहावसान हुआ जिसके कुछ सप्ताह बाद जार्ज मेरेडिथ का हुआ। नेहरू की प्रिय कविता में स्विनबर्न का लिरिक (गीतात्मक) पद है और वे स्विनबर्न की "रोंडेल" की आरंभिक पंक्तियाँ पिछली स्मृतियों के साथ पढ़ते हैं:

अपने जन्म के इतने वर्षों बाद
देवताओं ने हमारे साथ क्या किया? मेरे साथ क्या किया?
मेरे प्रेम के साथ क्या किया? उन्होंने मुझे भाग्य और भय दिखाए,

कठोर स्रोत और समुद्र से भी खारे फुहारे
दुःख का ध्रुवतारा, और आनन्द जो परिवर्तित होता रहा ।
इन अनेक वर्षों में ।

आडेन, मेज़फील्ड, वाल्टर डि ला मेयर, स्पेंडर, इलियट और ईट्स उन कवियों में हैं जिनकी पुस्तकें उनके आनन्द भवन के पुस्तकालय को सुशोभित करती हैं ।

यह कल्पना करना भ्रामक होगा कि नेहरू अपने काल के बौद्धिक विकास पर पढ़ते और गंभीरता पूर्वक सोचते थे । वे स्वीकार करते हैं कि उसमें उनकी रुचि छिछली थी और यद्यपि उनका मन इनमें से कुछ की अभिव्यक्ति पर चंचल हो जाता था, वे सतह से नीचे घुसने के लिए उत्तेजित या मग्न नहीं होते थे । कला और बौद्धिक रचनात्मकता की समीर उनके इर्द-गिर्द चलती रहती थीं और उन्हें सूँघ कर वे उनका क्षणिक आनन्द ले लिया करते थे । हैरो होते हुए कैम्ब्रिज आकर वे अपने भारतीय सम-सामयिक लोगों के वातावरण और पृष्ठभूमि से बहुत अधिक भिन्न वातावरण और पृष्ठभूमि में रहने लगे । आस्कर वाइल्ड और वाल्टर पीटर का कुछ ललित कला-प्रेम का भाव उनके समय के विश्वविद्यालय के जीवन में आ घुसा था । जीवन के प्रति अधिक वास्तविक ढंग में लगे अधिकांश दूसरे भारतीय विद्यार्थी इस व्यापक प्रभाव से मुक्त थे । लेकिन कल्पना और चेतना के अपने आकर्षण से सौन्दर्य शास्त्र ने जवाहरलाल को चुम्बक की तरह खींचा । सदैव उदार, उनके पिता ने उन्हें अच्छा पैसा दिया जिसे नेहरू के उस काल की आवश्यकता से अक्सर अधिक था जिसे बाद में उन्होंने अपने जीवन का "आनंद-कारी" काल अभिहित किया था । वे काम में और खेलों में और मनोरंजन में डूबा शान्त, सरल जीवन बिता रहे थे । केवल एकमात्र चीज जो प्रायः उनके मन पर छाई रहती थी, वह भारत में राजनीतिक संघर्ष था जिसे उन्होंने समझते रहना जारी रखा ।

उनके भारतीय समसामयिकों में कुछ लोग थे जो राष्ट्रीय आन्दोलन में उनके सहयोग में आने वाले थे । उनमें से एक जतीन्द्र मोहन सेन गुप्त थे जो उनसे वरिष्ठ थे और जिन्होंने जवाहरलाल के पहुँचने के तुरत बाद कैम्ब्रिज छोड़ दिया । सेन गुप्त को बंगाल की राजनीति में प्रमुख रहना था । अन्य लोगों में बिहार के सैयद महमूद थे जो अब नेहरू के मंत्रिमंडल में हैं, तसद्दुक अहमद खाँ शेरवानी उनके ही प्रान्त में थे, और सईफुद्दीन किचलू थे जिन्होंने स्वाधीनता के आने के बाद कांग्रेस छोड़ी, कम्यूनिस्टों के साथ मेलजोल बढ़ाया और वे स्तालिन शान्ति-पुरस्कार पाने वाले प्रथम भारतीय थे ।

लन्दन में एक अन्य भारतीय परिचित जो बाद में प्रिय मित्र और सहयोगी होने को थे वे, अब मद्रास के गवर्नर, श्रीप्रकाश थे । प्रकाश नेहरू के विश्वविद्यालय छोड़ने के एक वर्ष बाद कैम्ब्रिज गए और उनसे पहली मुलाक़ात दिसम्बर १९११ में एक पारस्परिक मित्र के घर लन्दन में हुई । उन्हें याद है कि किस प्रकार धवल पश्चिमी पोशाक पहने नेहरू ने बैठक में प्रवेश किया और आग के सामने खड़े रह कर कई प्रकार के विषयों पर कुछ विस्तार से चर्चा की । प्रत्यक्षतः वे अपने आतिथेय और आतिथेय की पत्नी से अच्छी

तरह परिचित थे क्योंकि कुछ समय बाद यह कह कर कि वे भूखे हैं, उन्होंने कुछ खाने को माँगा। खाना आया और अपेक्षाकृत देर से, जब कि बसें और "ट्यूब्स" (भूगर्भ रेलें) बन्द हो गई थीं और टैक्सी मिलना कठिन था। प्रकाश के साथ नेहरू रात में निकल पड़े। प्रकाश समीप ही रहते थे, लेकिन जवाहरलाल का निवास काफी दूर था।

प्रकाश ने पूछा, "आप घर कैसे जायेंगे?"

नेहरू ने तुरत उत्तर दिया, "मेरे लिए परेशान न हों। मैं अपनी रक्षा खुद कर सकता हूँ।" और वे रात में ओझल हो गए।

प्रकाश बताते हैं कि जवाब का यही ढंग तब था, जो वे आज भी देंगे—"क्योंकि उनमें कुछ बदला नहीं है।"

नेहरू के स्वभाव का एक दूसरा पक्ष भी था। यदि वे परिचितों से चुप अथवा संक्षिप्त रहना चाहते थे, तो वे निकट-मित्रों के साथ-खुशी से चहकते और अपने भावों को प्रदर्शित भी कर सकते थे। इनमें से एक, प्रसिद्ध सीमा प्रदेश के गांधी खान अब्दुल ग़फ्फार खाँ के भाई, डा० खान साहब तब सेंट टामस अस्पताल लन्दन में विद्यार्थी थे। "जब मैं लंदन में था तब मुश्किल से कोई दिन बीतता होगा जब हम न मिलते हों", यह नेहरू ने बहुत वर्षों बाद लिखा। दूसरे मित्र स्मरण करते हैं कि किस प्रकार खुशी की ज़्यादती म कभी-कभी नेहरू डा० खान साहब के कंधों पर उचकते थे जबकि डा० साहब अपने पेशे के फ्रास्ट कोट के किनारे पकड़ कर खुशी से कमरे भर में नाचते।

मित्रता की प्रसन्नता और सचेतन रहने का, अन्तर्मुखी और खुशी के उत्साह का यह संयोग आज भी जीवित है। नेहरू अपने नातियों के साथ स्कूल के बच्चों की तरह खिलवाड़ करते हैं, कभी-कभी अपनी कार बंगले के रास्ते पर रोक कर उनकी तीन पहिए की साइकिल पर बैठ कर प्रधान मंत्री के बगीचे में आनन्द से उसे चलाते फिरते हैं। निकट मित्रों और सम्बन्धियों के साथ विनत और कोमल तक हो सकते हैं। किन्तु बर्फ की भाँति अपने में ही सीमित रहने के उनके क्षण रहते हैं। उस समय उनके मन के पर्दे पड़े रहते हैं और खिड़कियाँ बन्द रहती हैं।

कैम्ब्रिज या लन्दन में नेहरू अन्य भारतीय छात्रों से अलग नहीं रहते थे, किन्तु यह संभव है कि वे जिस भाषा में बात करते उसे उनमें से अधिकांश या तो आसानी से समझते न हों या उससे सहमत न हों। उनके संकोची स्वभाव और संवेदनशीलता से वे अभिमानी लगते। उनकी सीधी किन्तु प्रायः आकस्मिक बातचीत मित्र बनाने या लोगों पर प्रभाव डालने वाली नहीं समझी जाती थी। उन्होंने विश्वविद्यालय के जीवन पर या सही तौर पर अपने समय के कैम्ब्रिज में अध्ययन करने वाले सौ के लगभग भारतीयों पर कोई छाप नहीं छोड़ी। बाद के वर्षों में कुछ को ही उनसे मिलने तक की याद रही। कैम्ब्रिज में भारतीय विद्यार्थियों का ही मजलिस नाम से प्रसिद्ध अपना समाज था जिसमें नेहरू प्रायः जाया करते। इस समाज का अधिवेशन सप्ताह में हुआ करता जब कोई वाद-

विवाद होता। यह प्रायः ही भारत से संबंधित राजनीतिक विषय पर होता। जवाहर लाल का संकोची स्वभाव और अलग रहने की प्रवृत्ति उन्हें अक्सर बोलने से रोकती और लोगों में भाषण करने के अवसर उनके कम ही और अरसे बाद होते। मजलिस में वाद-विवाद का तर्ज़-तरीक़ा यूनिवर्सिटी यूनियन के ढंग पर रहता और इससे नेहरू चिढ़ते। उन्हें वाद-विवाद के विषय से भी उतनी ही रुचि रहती। उन्हें लगा कि असली चीज़ को रूप से कम महत्व दिया जाता। इसी तरह के संकोच ने उन्हें अपने कालेज की "मैगपाई ऐंड द स्टम्प" नाम की वाद-विवाद की सभा में भाग लेने से हतोत्साहित किया। यहाँ एक नियम था कि पूरे सत्र तक जो सदस्य न भाषण करे उसे अर्थदंड देना होगा। नेहरू ने प्रायः अर्थदंड ही दिया।

कैम्ब्रिज में बहुत से भारतीय अतिथि आते जिनमें कुछ राजनीतिक प्रसिद्धि के व्यक्ति भी रहते। उनमें से गर्म और उथल-पुथल करने वाला भाषण देने वाले बंगाल के नेता विपिनचन्द्र पाल थे। रानी विक्टोरिया से ग्लैड्स्टन के बोलने की तरह वे भी श्रोता मंडली से, चाहे वह एक ही हो, बात करने के ऐसे आदी थे मानो वह जनता की सभा हो। पाल लगभग एक दर्जन भारतीय विद्यार्थियों के आगे एक छोटे से कमरे में बोले। उनका भाषण गरजने और गूंजने लगा। जवाहर लाल कहते है, "शोर की आवाज़ इतनी भयंकर थी कि मैं यह न समझ सका कि वे कह क्या रहे हैं।"

वे पंजाब के नेता लाला लाजपतराय से अधिक प्रभावित थे, जो पाल से कम असंयमित ढंग से बोले। उन्होंने गोपाल कृष्ण गोखले का भाषण भी सुना। वे उच्च योग्यता और तीक्ष्ण बुद्धि के नेता थे और जो नरम दलीय होने के नाते तिलक के बायवी चरमवाद के सिद्धान्त के प्रबल विरोधी थे। सतर्क दूरन्देश राजनीतिक गोखले दुर्भाग्यवश शीघ्र ही दिवंगत हो गए। उनका देहान्त फरवरी १९१५ में उन्चास वर्ष की आयु में हुआ।

भारत में १९०७ के वर्ष ने एक राजनीतिक पुनर्जागरण के दर्शन किए थे। उस वर्ष कांग्रेस पार्टी के सूरत के वार्षिक अधिवेशन में तिलक ने नरमदल वालों की प्रधानता को चुनौती दी लेकिन असफल रहे। वे कांग्रेस से अलग हो गए लेकिन १९१६ में फिर सम्मिलित हुए। नेहरू के पिता मोतीलाल सूरत में उपस्थित थे जबकि कांग्रेस का अधिवेशन गड़बड़ी में भंग हो गया। चरमवादियों का समर्थन न करते हुए भी वे काम करने वाले व्यक्ति के नाते तिलक की सराहना करते थे चाहे उनकी कुछ कार्यविधियाँ कितनी ही भटकी हुई क्यों न लगती हों। १९०८ में तिलक के कारावास ने उन्हें छः वर्ष के लिए निष्क्रिय कर दिया, किन्तु भारत बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब के तीन क्षेत्रों में सक्रिय रहा। बंगाल में विख्यात स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्र नाथ दत्त के सम्पादकत्व में **युगान्तर** के पृष्ठों में हिंसा का खुल्लमखुल्ला प्रचार होता था। दत्त को लम्बी अवधि का कारावास मिला। उनके अतिरिक्त एक अन्य प्रभावशाली व्यक्ति अरविन्द घोष थे जिनकी साहित्यिक प्रतिभा राजनीतिक सूझ-बूझ और दार्शनिक विचार की क्षमता से सुशोभित थी। अरविन्द ने अपने विचारों का प्रचार शक्तिशाली पत्र **वन्दे मातरम्** के पृष्ठों द्वारा

किया। १९०६ और १९१० के बीच उन पर तीन बार मुक़दमा चला और १९०८ में उन्हें लगभग एक वर्ष का कारादंड मिला। १९१० में ब्रिटिश सरकार ने उनके विरुद्ध तीसरा अभियोग चलाया किन्तु अरविन्द ने इसके पहले ही फ्रांसीसी उपनिवेश पांडिचेरी में शरण ले ली थी, जहाँ उन्होंने योगी और विरागी का जीवन बिताने के लिए राजनीति को त्याग दिया। १९५० में वहाँ के अपने स्थापित प्रसिद्ध आश्रम में उनका देहान्त हो गया।

जवाहरलाल की आयु बीस थी जब १९१० में प्रकृति विज्ञान में सेकंड क्लास आनर्स डिग्री पाकर उन्होंने कैम्ब्रिज छोड़ा। इस प्रकार से स्कूल और कालेज में उनके अध्ययन का क्रम औसत और अविशिष्ट रहा। विश्वविद्यालय में उनके विज्ञान के चुनाव ने उनके मन के स्वभाव को प्रभावित किया और उन्हें एक प्रकार का बौद्धिक सन्तुलन दिया, क्योंकि बीसवीं सदी के प्रारंभ में विज्ञान निश्चित और स्थिर था। किन्तु उनमें विशेषज्ञ के एक दिशा में चलने का अभाव था। उनकी रुचियाँ चारों ओर बिखरी हुई थीं जिसके परिणाम स्वरुप उनमें बोलने के ढीले ढाले, यहाँ तक कि अव्यवस्थित ढंग के साथ-साथ विचार की याथातथ्यता थी। किसी विषय के भीतर न देख कर उसके चारों ओर देखने की-सी प्रकृति जारी है।

रूस-जापान के युद्ध से कैम्ब्रिज में उनमें जो राष्ट्रीयता का स्फुरण हुआ था उसे भारत में बड़ी घटनाओं से एक आवेगपूर्ण विकास मिला। लेकिन बिलकुल साफ तौर पर उनके जिस प्रकार के भी राजनीतिक विश्वास थे, उन्हें अब तक कोई दृढ़ आधार न मिला था और बाद के ब्रिटिश के साथ असहयोग के सिद्धान्त का उनकी विचारधारा से कोई मेल न खाता था। अपने पिता के साथ सलाह मशविरा में भारतीय सिविल सर्विस में सम्मिलित होने के विचार के साथ उन्होंने कुछ समय खिलवाड़ किया, किन्तु यह प्रस्ताव शीघ्र ही पिता के पेशे के पक्ष में त्याग दिया गया। यह निश्चित हुआ कि वे वकील बनें। इस बात के चुनाव में दो विचार थे। जवाहर लाल बीस के थे और भारतीय सिविल सर्विस की प्रतियोगिता की परीक्षा की न्यूनतम सीमा बाईस थी। इस प्रकार उन्हें इंगलैण्ड में तीन वर्ष और प्रतीक्षा करना पड़ेगी, क्योंकि सफल होने पर सीखने के लिए एक वर्ष और लगता—और उनका परिवार अभी ही घर से उनकी अनुपस्थिति पर असन्तुष्ट था। इसके सिवा भारतीय जनसेवक होने के नाते उन्हें इलाहाबाद से दूर विभिन्न स्थानों पर रखा जाता, और यह प्यार करने वाले पिता और दुलार करने वाली माता के मनोभाव के लिए अनुकूल बात न थी।

इस के अनुसार जवाहरलाल कैम्ब्रिज से लन्दन गए जहाँ इनर टेम्पुल में दावतें* खाते हुए और परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते हुए वे दो वर्ष—जैसा कि वे लिखते हैं "बिना प्रतिष्ठा या कलंक के" रहे। वे अस्पष्ट रूप से चंचल थे और एक समय हैरो के कुछ पुराने दोस्तों

---

* प्रतिसत्र में कुछ दावतें खाने का रिवाज लंदन में विधि (बर) की परीक्षा के लिए बाध्यता है।

के साथ आनन्द मनाने और मुक़ाबला करने की पार्टियों में उन्हें एक निकास मिला। उस समय अच्छे रहन-सहन की अपने पिता की कुछ रुचि मिली। लंदन में रहते समय उन्हें फ़ैशनेबुल रेस्तराओं में जाना और पारखी की तरह अच्छे चुनाव से अपने लिए मदिरा चुनना पसन्द था। उन्हें मित्रों के साथ शैम्पेन के अद्धे ख़ाली करना अच्छा लगता। उन्होंने मदिरा की रुचि तो पा ली किन्तु उसकी आदत कभी न डाली। शारीरिक उबाल का यह समय कुछ अंश में तो मानसिक बेचैनी का था जिसने उन्हें अनिश्चित और असंतुष्ट कर दिया था। किन्तु अपनी सबसे अधिक ऊँचाई पर भी यह क्षणिक अवस्था ही थी।

अन्यत्र उनके लिए बहुत आकर्षण थे। समाजवाद में अपनी रुचि के प्रारंभ को नेहरू अपने कैम्ब्रिज के दिनों से जोड़ते हैं जब शॉ और वेब के फ़ेबियनवाद ने उन्हें आकर्षित किया। किन्तु वे स्वीकार करतेहैं कि उनकी रुचि उसके अध्ययन तक ही थी। वे बर्ट्रेंड रसेल और जॉन मेनार्ड कीन की बौद्धिक सजीवता से भी आकर्षित थे। विश्वविद्यालय का अपना पाठ्यक्रम, यद्यपि अर्थशास्त्रीय न होकर वैज्ञानिक होने पर भी उन्होंने कीन्स के कई भाषण सुने। उन्होंने यह अभिरुचि लंदन में बनाए रखी। लन्दन में फ़ेबियन लोग सक्रिय थे और बाद में शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के सिद्धान्त के प्रवर्तक व्यक्ति को प्रगति की अनिवार्यता के सिद्धान्त का अपना आकर्षण था। वह समाजवाद के विचारों में रुचि रखता था किन्तु किसी भी प्रकार उनसे आक्रान्त नहीं था। १९१० की गर्मियों में जवाहरलाल आयरलैण्ड गये जहाँ सिन फिन आन्दोलन के आरंभ ने उन्हें आकृष्ट किया। उन दिनों बहुतेरे भारतीयों को आयरलैण्ड वैसा ही प्रभावोत्पादक और आदर्श का प्रेरक था जैसा कि गैरीबाल्दी और मेज़िनी का इटली। इंगलैण्ड में स्त्रियों के लिए मतदान का आन्दोलन पूरे ज़ोर पर था और जवाहरलाल की अभिरुचि इस युयुत्सु स्त्रीत्व पर उत्तेजित हो गई।

१९१२ की गर्मी में उन्होंने अपनी परीक्षा पूरी की और बैरिस्टर बन गए। सात वर्ष से अधिक के इंगलैण्ड के प्रवास में वे दो बार घर आए और अपने परिवार के साथ इलाहाबाद में और मसूरी के पहाड़ पर समय बिताया। कैम्ब्रिज में रहते उनके दूसरी बहन कृष्णा हुई जिसका जन्म नवम्बर १९०७ में हुआ। इसके पहले एक और भाई हुआ था लेकिन शैशव में ही जाता रहा।

इन वर्षों ने जवाहर लाल में बहुत परिवर्तन कर दिए। घर से दूर रह कर उन्होंने अपने सूने लड़कपन को स्वतंत्र किन्तु बहुत अधिक सूने अस्तित्व से बदल लिया था। यदि इससे उनकी स्वतंत्रता की भावना तीव्र हो गई थी तो उसने उनके अन्तर्मुखी स्वभाव को और तीक्ष्ण कर दिया था। अभी तक उनका सामाजिक,, राजनीतिक या बौद्धिक, कोई निर्णीत आधार नहीं था। वे एक धुँधले अर्ध जगत् में रह रहे थे, न तो पूर्व में न पश्चिम में, न भारत में न इंगलैण्ड में। भारत के कथात्मक अतीत, उसकी पौराणिक कहानियाँ उपाख्यान जो भी वे जानते थे उसका अधिकांश उन्होंने लड़कपन में अपनी माँ और चाची और मुंशी मुबारक अली के समान अपने वयस्क मित्रों से सीखा था।

इस के ऊपर पश्चिमी शिक्षा का साँचा रख दिया गया था, पहले घर पर और बाद में विदेश में हैरो, कैम्ब्रिज और लन्दन में। वर्षों बाद उन्होंने लिखा, "मैं पूर्व और पश्चिम का अजीब मेल बन गया हूँ, कहीं भी बेमेल, और घर पर तो कहीं का भी नहीं।" और उन्होंने आध्यात्मिक अकेलेपन पर ध्यान दिया जो उसमें "न केवल सार्वजनिक कार्यों में किन्तु जीवन में ही" उनसे उत्पन्न हो गई थी।

जैसा कि उन्होंने एक बार टी० एस० इलियट को "एक कटा व्यक्ति" कहा था, नेहरू मानसिक रूप से नहीं किन्तु भावात्मक और मनोवैज्ञानिक रूप से कटे व्यक्ति हैं। यह उन्हें एक प्रकार का द्विमुखी रूप प्रदान करता है और उनके व्यक्तित्व में अन्तर्विरोध को स्पष्ट करता है। यहाँ पर बाद के दिनों का एक क़िस्सा है।

भारतीय विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक ने इलाहाबाद में कहा, "अगर आप मेरे यहाँ आएँ तो मैं आपसे विचार करने में प्रयत्नशील कुछ तेज विद्यार्थियों के दल से मिलाने का इन्तज़ाम कर सकता हूँ।"

नेहरू उस बरामदे में आए, जहाँ वे खड़े थे।

"जी हाँ," सहसा प्राध्यापक के आगे रुक कर और उनका हाथ थाम कर वे बोले, "लेकिन मेरे अन्दर के दलों के बारे में क्या होगा?"

इस मूलहीनता से बेचैनी का अंकुर फूटा, विशेषतः भारत में निर्वासन के रूप में लौटने के उनके प्रारंभिक वर्षों की बेचैनी का। उन्होंने दुःख से कहा, "पश्चिम में मैं एक अजनबी और विदेशी हूँ, मैं वहाँ का हो नहीं सकता। लेकिन अपने ही देश में भी कभी-कभी मुझे निर्वासन का सा भाव लगता है।"

वे साहसिक और खोज की मनोवृत्ति लेकर इंगलैण्ड गए थे। लेकिन वे स्वदेश भारत की खोज, के लिए लौटे। यह महत्वहीन नहीं है कि बहुत वर्ष बाद उनके एक ग्रंथ का नाम भारत की खोज (Discovery of India) था।

४

उमड़ता हुआ तूफान

१९१२ में भारत के ऊपर थकान और जड़ता की एक धुंध छाई हुई थी। तिलक जेल में थे, और १९०७ में सूरत के तूफानी अधिवेशन के बाद उनके कांग्रेस से अलग होने के बाद से नरम दल के लोग मार्ले मिंटो सुधारों के अनुसार काम करने में ब्रिटिश सरकार का साथ देने को राजी होने से प्रभुत्व में थे। १९०९ के मार्ले मिंटो सुधारों ने केंद्र में एक शाही विधान सभा की स्थापना की थी, जिसमें अधिकारियों का बहुमत रहता और जिसने एक भारतीय को देवताओं के देवता वाइसराय की अन्तरंग सभा में प्रवेश करने की स्वीकृति दी। प्रान्तों में प्रान्तीय काउंसिलों के नाम से विख्यात स्थानीय व्यवस्थापिका सभाओं में भारतीय सदस्यों का बहुमत था, किन्तु ब्रिटिश गवर्नर की अन्तरंग समितियों को हटाने का अधिकार नहीं था। यह समितियाँ किसी भी व्यवस्था के निर्णय से अछूती थीं। सुधारों ने हिन्दू और मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को भी लागू कर दिया, जिससे दोनों संप्रदायों के बीच राजनीतिक बिलगाव और स्पर्द्धा बढ़ गई। यह सुधार एक ऐसा तरीका था जिसका तर्कसिद्ध प्रतिफल लगभग चालीस वर्ष बाद पाकिस्तान के रूप में हुआ।

बंगाल भी, जहाँ कि विभाजन-विरोधी आन्दोलन ने राजनीतिक भावना निम्न मध्य वर्ग और कुछ हद तक जनता में पहले पहल उभाड़ दी थी, मौन था। ब्रिटिश सरकार ने १९११ में विभाजन समाप्त कर दिया था जिससे बंगाल की एकता और शान्ति पुनः स्थापित कर दी थी। छः वर्ष पहले मुस्लिम लीग की स्थापना ने कांग्रेस के लिए जो प्रमुखतः हिन्दू-प्रधान थी, एक समभार उत्पन्न कर दिया था। मुस्लिम लीग को अधिकारियों ने सक्रिय रूप से प्रोत्साहित किया। मार्ले मिंटो सुधार में माने गए हिन्दू मुस्लिम के पृथक् सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की स्वीकृति ने राज के विरुद्ध संयुक्त हिन्दू मुस्लिम मोर्चे की संभावनाओं को निर्बल कर दिया। ब्रिटिश शासन ने विभाजित कर शासन करने के रोमन सिद्धान्त से शासन क़ायम रखा।

इस प्रकार राजनीति नरम दलवालों तक सीमित रही, जो पद के लिए धक्कामुक्की करने में व्यस्त थे। १९१२ के दिसंबर में इंगलैण्ड से लौटने के शीघ्र बाद ही नेहरू ने बिहार के बाँकीपुर में कांग्रेस अधिवेशन में पहले पहल भाग लिया। खुद लाउंज सूट पहने हुए उन्हें यह देख कर परेशानी हुई कि उनके साथी बहुत से प्रतिनिधि मार्निंग कोट और काफी चुस्त पतलूनें पहनकर अधिवेशन में आए हैं। उन्हें वह अधिवेशन राजनीतिक

सभा में अधिक सामाजिक लगा। इस पर उनका मत "बहुत कुछ अंग्रेजी जानने वाले उच्च वर्ग का धन्धा" था।

इस बनावटी सूखे वातावरण में बेचैन अनिश्चित नेहरू को लगा कि भारत का राजनीतिक संसार अवास्तविक है। इंगलैण्ड में रहते हुए उन्होंने इसे हलचल और उत्साह, संशय, त्याग, उद्योग और जोश के रूप में समझा था। यहाँ तो सब कुछ बिलकुल उल्टा था, न केवल फीका किन्तु अत्यन्त साधारण। पोशाकों में अतिशय सुसज्जित राजनीतिज्ञों के हवा में बकबक करने का दृश्य ज़रा हास्यास्पद होता अगर उसके उद्देश्य इतने अशान्ति के कारण न होते। नेहरू में इस अप्रत्याशित स्थिति ने खीझ की पुरानी भावना उत्पन्न कर दी।

एक बार नयेपन की ताज़गी दूर होते ही कचहरियों का जीवन भी उतना ही फीका साबित हुआ। वकालत के पेशे में कुछ कठिन गुणों की आवश्यकता होती है—ऐसा दिमाग जो वसीयत या गिरवी की उलझनों में बौद्धिक उत्तेजना पाये, जो "एक अंडे के ऊपर एक ख़याल में मरने या जूझने को" तैयार हो और न्यायकर्ता के पूर्वाग्रह से मर्माहत न होकर अपरिमित श्रम, संयम, अश्लथ कार्यप्रणाली, और धैर्य से पूर्ण हो। किसी काम में निपुणता रचनात्मकता से भिन्न चीज़ है, यह कलाकार के गुणों से सम्पन्न नेहरू ने शीघ्र ही अनुभव कर लिया। वे मुक़दमे के लिए तैयार किए मसौदे पर बोलते चले जाने वाले लोगों में न थे, और अपने पक्ष में मिलने वाले निर्णय की संभावना यद्यपि संतोष देने वाली थी लेकिन बहुत प्रोत्साहित करने वाली न थी। वह काम तो करना चाहते थे लेकिन मात्र उसकी उपलब्धि के लिए नहीं। उनमें वकील की प्रकृति का अभाव था, और उनका मन वकालत की वृत्ति की आवृत्ति और कार्यक्रम में लगने वाला नहीं था। उनका स्वाद बिगड़ गया। सूक्ष्म और अवास्तविक चीज़ें, विचारों की उत्तेजना के सिवा, नेहरू को शायद ही कभी रुचिकर लगी हों, विचारों की उत्तेजना अवश्य उन्हें उलझाती है, और विधि की सूक्ष्म और अस्पृश्य बारीकियाँ उन्हें एक अंश तक उत्साह भंग करनेवाली लगीं।

साथी वकीलों का साथ नेहरू के अपने पिता की तरह विशेष अनुकूल या स्वस्थ नहीं लगा। उन्हें लगा कि कानून की बकवास के बाहर उनकी बातचीत फीकी, उबानेवाली और रूखी रहती। उनका बौद्धिक क्षितिज विचित्र रूप से सीमित लगा, और उनकी रुचियों की चौहद्दी अच्छी तरह ठीक ढंग से बने वसीयतनामे की तरह निशान लगी और खुल कर वर्णन की हुई सी लगीं। वे एक साँचे या नमूने के मुताबिक थीं और वह साँचा स्वादहीन-फीका था। नेहरू ने अपनी बौद्धिक अकड़ को कभी छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। वे लगभग चौबीस के थे और पेशे और राजनीतिक—दोनों ही रूप से उन्हें आगे अँधेरा-सा लगा। सदा की तरह उन्हें निष्क्रियता पर झुंझलाहट आई।

घर पर जीवन मन के प्रतिकूल न था, और अपने पिता से वे सजीवता देने वाले, यद्यपि प्रायः झगड़ने वाले साथी के रूप में प्रसन्न होते थे। वे राजनीति में सदा एक दूसरे

से सहमत न रहते। मोतीलाल के विचार अपने बेटे के विचार से अधिक नरम रहते। थोड़े ही वर्ष पहले, कैम्ब्रिज से आने के बाद राजनीति पर अपने पिता के सुचिन्तित नरम विचारों पर चिढ़ कर जवाहरलाल ने उन्हें व्यंग्य पूर्वक संकेत दिया था कि निस्सन्देह ब्रिटिश सरकार उनके विचारों से प्रसन्न है। पिता के प्रति पुत्र की इस परोक्ष उद्दंडता के प्रदर्शन से मोतीलाल कुपित हो उठे। अपने प्रचंड क्रोध में आकर उन्होंने बेटे को घर-बुझा लेने की बात उठाई। सौभाग्य से सुबुद्धि काम आई।

कांग्रेस की व्यर्थता से अलग होकर पहले नेहरू किसी नरम संगठन के प्रति आकर्षित हुए। यह १९०५ में पूना में गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा स्थापित सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसायटी थी। गोखले ने उसे प्रसिद्ध सोसायटी आफ़ जीसस के आदर्श पर स्थापित किया था और उसके सदस्यों से ग़रीबी, अच्छे काम और आज्ञानुवर्ती रहने की प्रतिज्ञा ली थी। नेहरू ने कैम्ब्रिज में गोखले का भाषण सुना था। तिलक के आक्रमणशील, ढंगों के प्रति अधिक प्रवृत्त होने से यद्यपि वे गोखले के नरम विचारों से सहमत नहीं थे फिर भी वे उनकी ईमानदारी और समर्पण की सेवा की भावना से प्रभावित थे। १९०७ में तिलक के कांग्रेस से अलग हो जाने से उस संस्था में गोखले का प्रभाव प्रत्यक्ष ही बढ़ गया था। नेहरू ने उन्हें दिसम्बर १९१२ में बाँकीपुर कांग्रेस अधिवेशन में फिर देखा और नरम नेता में गोखले की निष्ठा और राजनीति और सार्वजनिक कार्यों में उनके ढंग के कारण सम्मान और भी दृढ़ हो गया। यहाँ कम-से-कम एक आदमी था जो कितना ही नरम क्यों न हो, कुछ काम तो कर रहा था। सोसायटी को जीवन समर्पण करने वाली सेवा और त्याग की भावना ने जवाहरलाल की सराहना तो प्राप्त की लेकिन न उस समय और न बाद में ही उन्होंने उसमें सम्मिलित होने का विचार किया था। शायद उन्हें बचपन में थियासफी में मग्न होने का ध्यान था। अच्छे कार्यों और पीत पवित्रता का प्रभामंडल उनके लिए नहीं था।

इसी समय के लगभग गांधी का नाम नेहरू की जानकारी में आया। नवम्बर १९१३ में लगभग २५०० भारतीय गिरमिटिया मज़दूरों का नेतृत्व करते हुए गांधी ने, दक्षिण अफ्रीका की सरकार के मज़दूरों पर लगे वार्षिक कर को हटाने की प्रतिज्ञा पूरी न करने के विरोध में, नेटाल से ट्रांसवाल में पदयात्रा की थी। भारत ने अनुपम अस्त्र सत्याग्रह के बारे में भी सुना था, जिसके शाब्दिक अर्थ सत्य का आग्रह होता है किन्तु जिसका अभिप्राय अहिंसक प्रतिरोध बन गया। गांधी जी ने इसका प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में १९०७ के ज़माने में किया था लेकिन १९१३ में इसने आश्चर्यजनक विजय प्राप्त की। नए तरीक़े की संभावनाओं से आकर्षित हैरान होकर नेहरू इस विचार से उच्छ्वसित हो उठे "कि ग़रीब पददलित अज्ञान श्रमिकों का एक समुदाय और अपने देश से दूर पड़े छोटे दूकानदारों का दल यह वीरतापूर्ण ढंग अपनाए।" कार्य की प्रेरणा ने उन्हें सदा उत्तेजित और सजीव किया।

प्रथम विश्व युद्ध की प्रस्तावना रूप बाल्कन युद्धों का भारत पर भी असर हुआ।

१९११ में इटली के तुर्की और उसके अधिकार क्षेत्र के त्रिपोली, साइरेनिका और डोडिकनीज़ द्वीपों पर अकारण आक्रमण ने भारत में भी भावनाओं को उत्तेजित किया। भारत में तुर्की को पूर्वी राज्य माना जाता था। भारतीय मुसलमानों में क्रोध भावना विशेष रूप से तीव्र थी। वे तुर्की के सुल्तान को इस्लाम का प्रमुख अथवा खलीफ़ा मानते थे। १९१२-१३ के बाल्कन युद्ध ने, जिसमें ग्रीस, सर्बिया, मान्टीनीग्रो और बल्गारिया तुर्की के विरुद्ध एकजुट थे, इस भावना को अधिक तीव्र कर दिया और रेडक्रिसेंट मिशन नाम से डाक्टरों का एक दल घायलों की सहायता के लिए तुर्की भेजा गया। इस दल के एक डाक्टर मु० अ० अन्सारी, जिनसे जवाहरलाल १९०५ में लंदन में मिले थे, राष्ट्रीय आन्दोलन में निकट रूप से सहयोगी बनने को थे।

१९१४ के अगस्त में जब प्रथम विश्व युद्ध आरंभ हुआ तो भारत में सहानुभूति विभाजित थी। राजनीतिक रूप से सचेतन लोगों में मित्रों के लिए कम उत्साह था, और जर्मनी के पक्ष में तुर्की के हो जाने पर तो यह और भी मन्द हो गया। राजे ब्रिटिश के साथ हो गए और अल्प मध्य वर्ग के लोगों में जबानी समर्थन का कुछ दिखावा था। जब कि कैसर के जर्मनी के बारे में कुछ ही लोगों को भ्रम रहा होगा, पढ़े लिखे भारतीयों ने आमतौर से ब्रिटिश शासकों के नीचा देखने में उसकी ही खुशी में खुशी मनाई। नेहरू इस बात को स्वीकार करते हैं कि उन्होंने युद्ध को मिश्रित भावना से देखा। उनकी सहानुभूति यदि किसी के साथ थी तो वह फ्रांस के साथ थी। उसकी संस्कृति की वह बड़ी सराहना करते थे। रूस-जापान युद्ध के समय की ही तरह जवाहरलाल और उनके पिता आक्रमणों के क्रम को दैनिक समाचार पत्रों से समझते और उस पर तीव्रता से वाद-विवाद करते।

युद्ध बहुत कुछ दूर ही लगता था, और मेसोपोटामिया का जब तक पतन नहीं हुआ तब तक युद्ध का प्रभाव इस देश में अनुभव न हुआ। मेसोपोटामिया के लिए भारत में ब्रिटिश अधिकारियों ने विशेष उत्तरदायित्व ले रखा था। तब, और कुछ नहीं तो लोगों की राय पक्की हो गई। ज़बर्दस्ती "भरती करने वालों की टोली" का उपयोग करने की कहानियाँ, विशेष रूप से पंजाब में सुनी जाती थीं, जहाँ सेना और मज़दूर सेना में ज़बर्दस्ती भरती की जाती थी। दस लाख के लगभग भारतीय स्वेच्छापूर्वक या ज़बर्दस्ती फ़ौज में भेजे गए। समाचारों पर रोक के साथ भारत रक्षा क़ानून सम्मिलित था जिसमें संक्षिप्त गिरफ्तारी और मुक़दमा ने खतरे की अफ़वाहें और बेचैनी पैदा कर दी।

इस बनावटी शान्त वातावरण में राष्ट्रीय चेतना फिर पनप उठी। छः वर्ष के कारावास के बाद १७ जून १९१४ को तिलक छोड़ दिए गए। उन्होंने कहा, "मुझे रिप वान विंकल*"–सा लग रहा है।" जेल में रहते हुए गीता पर उन्होंने एक भाष्य तैयार किया।

---

* अंग्रेज़ी साहित्य में एक चरित्र जो बहुत लम्बी अवधि तक सोता रहा।

गीता में हिन्दुओं के सबसे अधिक प्रिय देवता कृष्ण अपने भक्त अर्जुन को दार्शनिक सिद्धांत समझाते हैं। तिलक ने विशिष्ट रूप से इनकी कर्म के सूत्रों के रूप में व्याख्या की जिससे एक धार्मिक विषय को राजनीतिक रूप देते हुए वार्तालाप का रूपक बना दिया। ग्रन्थ का प्रकाशन १९१५ के मध्य हुआ और उसकी खूब बिक्री हुई। इसके पहले गोखले और तिलक जैसे व्यक्तियों के रूप में कांग्रेस के नरम और चरम पंथियों को मिलाने का प्रयत्न असफल हो चुका था। १९ फरवरी १९१५ को गोखले का देहांत हो गया और उनके देहावसान से नरम दल वालों का प्रभाव कमजोर पड़ गया। अपनी मृत्यु के समय उन्होंने बुदबुदाया, "जीवन का यह पक्ष मेरे लिए अच्छा रहा। अब समय आ गया है कि मैं चला जाऊँ और दूसरा पक्ष देखूँ।"

दक्षिण अफ्रीका से लौटते समय इंग्लैंड में तीन महीने रुकने के बाद गांधीजी ९ जनवरी १९१५ को भारत आए। अप्रैल १८९३ में भारत से जाने के बाद १९०१ और १९०२ के बीच एक वर्ष रहने और इसके पहले १८९६ में थोड़े समय रुकने के सिवा वे स्वदेश नहीं आए थे। गोखले की सलाह पर उन्होंने सक्रिय राजनीति से एक वर्ष अलग रहने का निश्चय किया और इस अवधि का प्रयोग देश का दौरा करने में किया। भारत तब निश्चल था।

१९१६ तक राजनीति का यह युद्ध-विराम भंग नहीं हुआ था। बंगाल और पंजाब के सिवा जहाँ हिंसा के छिटपुट कामों का बुरी तरह दमन किया गया था, भारत राजनीतिक रूप से शान्त था, युद्ध प्रयत्नों के सक्रिय असहयोग नाम की कोई चीज़ नहीं थी। इस समय पर जवाहरलाल को खुद भी नई संगठित भारत रक्षा सेना में सम्मिलित होने के लिए प्रार्थी होने में कुछ बेढंगा नहीं लगा, लेकिन इस निश्चय को राजनीतिक घटनाओं ने व्यर्थ कर दिया। गांधीजी जब लन्दन में थे तो उन्होंने कुछ भारतीयों की ओर से अधिकारियों को बिना किसी शर्त के सहायता देने का वचन दिया था, और जवाहरलाल की माता की तरह उनकी पत्नी कस्तूरबा सिपाहियों के लिए कपड़े बुनने और सीने और अन्य सुविधाओं में व्यस्त थीं। ३ जून १९१५, को राजा के जन्मदिवस के उपलक्ष में गांधीजी को "ब्रिटिश साम्राज्य की सेवा के लिए" ब्रिटिश सम्मान क़ैसरे-हिन्द पदक की घोषणा की गई। असहयोग के दिन अभी भी पाँच वर्ष दूर थे।

नेहरू इन घटनाओं के बेचैन दर्शक रहे। इस काल में वे सीधे-सादे देशभक्त थे, उनकी राष्ट्रीयता उनके विश्वविद्यालय काल के अस्पष्ट समाजवाद को डुबाए रही थी। अभी तक वे लज्जालु, अलग-अलग रहनेवाले, गर्वयुक्त और सूक्ष्म भाव के थे। जनता में भाषण देने से वे डरते थे, और इंग्लैण्ड से लौटने के तीन वर्ष बाद, १९१५ तक, वे मंच पर चढ़ कर भाषण देने के लिए राज़ी न किए जा सके। एक नए क़ानून पर आक्रमण करते हुए, जिसने अख़बारों पर रोक लगा रखी थी, जब वे बोले तो उस समय थोड़े अधिक ही संकोच में घबरा गए जब उनके पिता के एक वकील मित्र ने सार्वजनिक रूप से उन्हें मंच पर ही आलिंगन कर लिया और चूम लिया। नेहरू ने उस खूनी क़ानून में एक

विशेष अर्थ पड़े, क्योंकि उन दिनों राजनीति अधिकतर भाषण तक ही सीमित थी और एक नया रँगरूट तैयार हो गया।

दो मुख्य सम्प्रदायों के, अल्प समय के लिए ही, मिलने के कारण १९१६ का साल आधुनिक भारत के राजनीतिक इतिहास में एक सीमा-चिह्न है। युद्ध कभी जनप्रिय नहीं रहा, विशेषतः मुसलमानों के लिए जो तुर्की से लड़ने के विचार का विरोध करते थे। १९१५ में मुस्लिम लीग के अध्यक्ष मौलाना मजहरुल हक ने कहा, "यह पीड़ाजनक है कि हमारे खलीफ़ा की सरकार हमारे शहंशाह के साथ जंग करे।" १९१५ में मुस्लिम लीग और और कांग्रेस ने एक ही समय अपने वार्षिक अधिवेशन बम्बई में किए। अनवर पाशा के नेतृत्व में तरुण तुर्क आन्दोलन ने इसके पहले भारतीय मुसलमानों का ध्यान आकर्षित किया था और हिन्दू-मुस्लिम एकता के आधार पर भारतीय राष्ट्रीयता की जोरों पर माँग की जा रही थी। इस काम को दूसरों के सिवा आज भारत के शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और अब मृत मोहम्मद और शौकत-अली बन्धु कर रहे थे। १८८८ में मक्का में उत्पन्न आज़ाद की लेखनी जोरदार थी और उनका पत्र अल हिलाल उर्दू भाषी संसार में व्यापक रूप से पढ़ा जाता था। अली बन्धु और आज़ाद जल्दी ही लड़ाई के दिनों में पकड़ लिए गए।

इन घटनाओं से मुसलमानों के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन आ गया जो दिसम्बर १९१६ में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में प्रकट हुआ। इस अधिवेशन में कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने लखनऊ इक़रारनामे के नाम से विख्यात एक समझौता किया। इस इक़रारनामे की शुरुआत उस वर्ष पहले ही इलाहाबाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक मीटिंग में हुई थी जो जवाहरलाल के पिता मोतीलाल के निवास-स्थान पर हुई थी। कांग्रेस ने जबकि मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त को अंगीकार कर लिया था, लीग ने मुसलमानों के साधारण और पृथक् चुनाव दोनों ही में मत देने के अधिकार का त्याग कर दिया था। मोतीलाल ने बहुत पहले से यह अनुभव कर लिया था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के बिना राजनीतिक प्रगति कठिन है। उनके लिए यह समझौता भविष्य के लिए मंगल-सूचक था।

जवाहरलाल के लिए भी दोनों प्रमुख संप्रदायों में मित्रता प्रसन्नता की बात थी। राजनीति में धार्मिक प्रभाव के विचार के वे सदा प्रबल विरोधी रहे। यहाँ तक कि तिलक की उत्कट राष्ट्रीयता जहाँ उनको आकर्षित करती थी, उसके साथ ही साथ गहरी धार्मिक उत्प्रेरणा के कारण उन्हें दूर भी करती रही। नेहरू को लगा कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति प्रतिक्रियावादी है।

एक युद्धप्रिय राष्ट्रीयतावादी, तिलक,कम-से-कम १९१६ तक युद्धप्रिय हिन्दू भी थे। दिसम्बर १९१५ में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के एक समय होने वाले बम्बई अधिवेशनों के हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव के आरंभ को प्रगट किया। कोई दस महीने बाद यह सद्भाव दृढ़ हो गया जब पाकिस्तान के संस्थापक बनने वाले, लेकिन उस समय प्रबल राष्ट्रीयता-

वादी, मोहम्मद अली जिन्ना उस वर्ष के दिसम्बर अधिवेशन के मुस्लिम लीग के निर्वाचित सभापति थे। तिलक ने अहमदाबाद कान्फ्रेंस में भाग लिया जिससे दूसरी खाई पटने की अभिव्यक्ति हुई—वह जो १९०७ से कांग्रेस के नरम और चरम पंथियों के बीच चली आ रही थी। इस कान्फ्रेंस में महाराष्ट्र के नेता ने भी संवैधानिक सुधारों की योजना की पुष्टि कर दी जो कांग्रेस और लीग के बीच तय हुए थे। इस योजना में मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन के हिन्दू-मुस्लिम समझौते को मिलाते हुए प्रांतीय और केंद्रीय संसदों में चुने हुए प्रतिनिधियों के बहुमत की माँग की। इसके साथ ही भारत के लिए "साम्राज्य में एक बराबरी के हिस्सेदार आत्मशासित राज्य" के उपयुक्त हैसियत की माँग थी।

लखनऊ कांग्रेस में ही नेहरू पहले-पहल गांधीजी से मिले। दक्षिणी अफ्रीका में गांधीजी के काम ने उनके देशवासियों की कल्पना और सराहना को प्रेरित कर दिया था। लेकिन अभी तक वे अपने देश में अधिकतर अज्ञात राजनीतिक व्यक्ति थे। पिछले साल बम्बई कांग्रेस अधिवेशन में वे किसी कमेटी में चुने जाने में असफल रहे थे और अध्यक्ष द्वारा मनोनीत हुए थे। एक ज़िक्र किया जाता है कि लखनऊ में जब एक मीटिंग के लिए जमा कुछ महत्वपूर्ण प्रतिनिधियों द्वारा दखल किए कमरे में वे घुसे और उनमें से अधिकांश ने उन्हें नहीं पहचाना। मोटी धोती और सर पर ऊँची बँधी हुई काठियावाडी पगड़ी के साथ लम्बा कोट पहने उनका छोटा दुबला आकार उन अच्छे खासे कपड़े पहने, बढ़िया जूते पहने भव्य पुरुषों में अवश्य ही बेडौल लगा होगा।

व्यवहार कुशलता में चतुर और संगठन में सूझबूझ रखनेवाले तिलक ने होशियारी से अपना समय और भूमि चुनी। अप्रैल १९१६ में उन्होंने भारत में पहली होमरूल लीग स्थापित की जिसका अनुकरण थियासफी की नेता श्रीमती एनी बेसेंट ने किया और जो अब भारतीय राजनीति में निमज्जित थीं। तिलक के संगठन से अलग रखने के लिए उन्होंने अखिल भारतीय होमरूल लीग नाम के संगठन की उसी वर्ष मद्रास में स्थापना की, और तिलक की ही भाँति उसमें बहुत से अनुयायी आये। उन्होंने घोषणा की, "भारत की राजभक्ति का मूल्य भारत की स्वाधीनता है।"

जवाहरलाल दोनों लीगों में सम्मिलित हुए लेकिन उन्होंने श्रीमती बेसेन्ट की लीग के लिए विशेष रूप से काम किया। तिलक के साथ इस उनहत्तर वर्ष की अपराजेय आइरिश स्त्री ने भारतीय राजनीति को पुनर्जीवन के लिए सक्रिय किया। १९०७ में वे थियासफिकल सोसायटी की अध्यक्ष चुनी जा चुकी थीं। उन्होंने ही फ़र्डिनंड ब्रुक्स की जवाहरलाल के शिक्षक के रूप में सिफ़ारिश की थी और बचपन में ही उनके वक्तृत्व के जादू ने जवाहरलाल को प्रभावित किया था और जो बढ़कर आदमी हो जाने पर भी रह गया था। किन्तु दोनों लीगों में से कोई भी सर्वसाधारण में प्रवेश न कर पाई। उन्होंने प्रायः मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों को ही आकर्षित किया।

बहुत दिनों बाद नेहरू ने उल्लेख किया, "बचपन में श्रीमती बेसेंट का मुझ पर बहुत

शक्तिशाली प्रभाव था, और बाद भी जब मैंने राजनीतिक जीवन में प्रवेश किया उनका प्रभाव जारी था।"

किन्तु यह बाद के गांधीजी के प्रभाव को न दबा सका, वास्तव में वही छाया रहा।

श्रीमती बेसेंट ही एकमात्र स्त्री नहीं थीं जिनके वक्तृत्व ने नेहरू को प्रभावित किया। उन्होंने कवयित्री और राजनीतिक और कांग्रेस की अध्यक्ष बननेवाली प्रथम भारतीय स्त्री सरोजिनी नायडू के गीतमय वक्तृत्व को उतना ही प्रेरक पाया। स्पष्टत: उनकी देश भक्ति की दृढ़ भावनात्मक जड़ें थीं।

युद्धकाल में आयरलैण्ड की घटनाओं से अधिक कुछ ही घटनाओं ने भारत को उत्तेजित किया। आयरलैण्ड की यात्रा में विद्यार्थी के रूप में जवाहरलाल ने सिनफ़िन के पहले धुंधले आरंभ को दिलचस्पी से देखा था जिसे आर्थर ग्रिफ़िथ ने १९०० में शुरू किया था। अब १९१६ के ईस्टर विद्रोह ने उनके दिल और दिमाग़ को हिला दिया। वे अभियुक्त के कठघरे से दिए हुए रॉबर्ट केसमेंट के भाषण से प्रेरित हुए और उस अविजित उत्साह पर मुग्ध थे जिससे वह प्राणवन्त था। यह सही है कि ईस्टर विद्रोह इन ईमानदारी की असफलताओं में एक और असफलता थी।

"लेकिन", नेहरू की जिज्ञासा थी, "क्या यह सच्चा साहस नहीं था जो प्राय: निश्चित असफलता की हँसी उड़ाता है और संसार को घोषित करता है कि कोई भी भौतिक शक्ति एक राष्ट्र की अविजित आत्मा को कुचल नहीं सकती है।"

भारत के अन्दर घटनाओं ने उसी अपराजेय ढंग की ओर इशारा किया, यद्यपि कम नाटकीयता से। गांधी अपने सत्याग्रह के प्रथम देशी प्रयोग को चालू कर रहे थे। १९१७ के शुरू में उत्तर बिहार में चम्पारण के अत्याचारग्रस्त निलहों के उद्देश्य ने गांधीजी को हिमालय की तराई में खींचा। यहाँ उन्हें ब्रिटिश राज का सहारा प्राप्त नील के ब्रिटिश ज़मींदारों का निर्मम विरोध मिला। उन्हें चम्पारण छोड़ने की आज्ञा मिली लेकिन उन्होंने जब तक नील के मज़दूरों की शिकायत के संबंध में उनकी जाँच न पूरी हो जाय तब तक ऐसा करने से इन्कार कर दिया, और तब उन्हें कचहरी में हाज़िर होने का समन मिला। गांधीजी ने आज्ञा का पालन किया और अभियुक्त के रूप में उनकी वक्तृता के दृढ़, गौरवपूर्ण लहजे ने सरकार को ऐसा घबरा दिया कि उच्चतर अधिकारियों ने उनके विरुद्ध मुक़दमा तुरत उठा लेने की आज्ञा दी। इसके अतिरिक्त उन्हें जाँच जारी रखने दिया गया, और सरकार ने शर्मिंदा होकर स्वयं एक अधिकारिक जाँच-आयोग नियुक्त किया जिसके साथ गांधीजी को सहयोगी के रूप में लिया गया। उसकी रिपोर्ट के कारण चम्पारण-खेती-ऐक्ट बना जिससे नील के मज़दूरों की शिकायतें बहुत कुछ दूर हो गई। बाद में जैसा कि गांधीजी ने समझाया वह "सविनय आज्ञाभंग या अवज्ञा का पहला पाठ" था। जुलाई १९१८ में गांधी जी ने पश्चिमी भारत में गुजरात के खेड़ा ज़िले में एक अन्य विजय प्राप्त की। यहाँ किसानों ने अपनी शिकायतों को ठोस रूप से दूर होने के पहले चार महीने का अहिंसात्मक संघर्ष छेड़ा।

इन दोनों क़िस्सों में किसी में भी आयरलैण्ड के दुःख पूर्ण संघर्ष की सी नाटकीयता का प्रबल आकर्षण नहीं है। लेकिन राजनीतिक समर में असामान्य अस्त्र के प्रयोग ने भारत में आयरलैण्ड के सिनफिन आन्दोलन के हिंसात्मक उपायों से अधिक सफल परिणाम पैदा कर दिए। भारत में बहुत से लोग सोचने पर विवश हो गए।

इस बीच देश में घटनाओं के लगातार बढ़ने की गूँज नेहरू घराने में हुई, जहाँ कि उत्साहपूर्ण और साहसी पुत्र दुलार करने वाले पिता के शान्त, निर्मम तर्क के आगे स्थित था। अपने पुत्र के उद्वेगपूर्ण स्वभाव से अवगत मोतीलाल को यह भय आतंकित किए रहता था कि जवाहरलाल आतंकवादी ढर्रे पर चले जाएँगे। वे जानते थे कि यह रास्ता अनिवार्यतः कारावास या फाँसी की ओर ले जाता है। अपने मन में बड़े नेहरू अपने बेटे की प्रबल राष्ट्रीयता और अपने उदार अधिक गंभीर ढंग के बीच रस्साकशी में जूझ रहे थे। स्वभाव से और अनुभव से वे चरमपंथी ढंगों से दूर हटते थे। वकील की हैसियत से उनका स्वभाव ठंडे तौर पर, प्रायः निर्मम ढंग से पूर्वाधारित तथ्य से परिणाम तक बहस करने का था। अन्त में पिता के हृदय ने वकील के दिमाग़ पर विजय प्राप्त की; लेकिन जो कुछ उनके बेटे को बाद में करना था, मोतीलाल ने मन को समझा लिया जिसे उनकी तर्कबुद्धि सरलतापूर्वक स्वीकार न करती।

जून १९१७ में श्रीमती बेसेन्ट के कारावास से निर्णयात्मक स्थिति आ पहुँची। होमरूल की आवाज़ को निरुत्साहित करने के बजाय इस काम ने जन-साधारण की माँग को तीव्र कर दिया और बहुत से नरम दलवालों को इस आन्दोलन से अपने को संबद्ध करने को प्रेरित किया। उनमें मोतीलाल भी थे, जो सदा श्रीमती बेसेन्ट का बहुत सम्मान और आदर किया करते थे। वे होमरूल लीग में सम्मिलित हो गए और कुछ समय बाद इलाहाबाद में उसके अध्यक्ष हो गए। देश भर में राष्ट्रीयता की लहर बह चली।

मित्र राष्ट्रों के लिए युद्ध बुरा चल रहा था और अधिकांशतः डाक्टरी और रसद की व्यवस्था के भंग हो जाने से मेसोपोटामिया के मोर्चे पर मुसीबत आ गई। इन व्यवस्थाओं की ज़िम्मेदारी भारत में ब्रिटिश अधिकारियों ने ले रखी थी। उस समय भारत के सेक्रेटरी आफ स्टेट मि० चेम्बरलेन* ने त्यागपत्र दे दिया और उनके स्थान पर मि० एडविन मांटेग्यू आए, जिन्होंने बिना समय खोए अन्य संवैधानिक सुधारों को जारी करने को ब्रिटिश सरकार के इरादों की घोषणा कर दी। समझौते की इस नीति के रूप में श्रीमती बेसेंट सितंबर में मुक्त कर दी गई।

सरकार से अधिक से अधिक रियायतें लेने में केंद्रित होकर राजनीतिक आन्दोलन ने रचनात्मक रूप ले लिया। अक्टूबर में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और मुस्लिम लीग ने इलाहाबाद में संयुक्त सभा की और उसी वर्ष बाद में इन दोनों का प्रतिनिधित्व करने वाला शिष्टमंडल वाइसराय लार्ड चेम्सफ़ोर्ड और मि० मांटेग्यू से मिला जो स्थिति का निरीक्षण करने स्वयं भारत आए थे। मोटे तौर पर कांग्रेस-लीग की माँग खज़ानेपर

* बाद में लोकानोंख्याति के सर आस्टेन चेम्बरलेन।

संसदीय अधिकार और कार्य-समिति पर नियंत्रण थी। तिलक ने कहा, "किसी भी संकट या संघर्ष में सन्तुष्ट और स्वशासित भारत साम्राज्य का सबसे निश्चित और बड़ा बल है।" न तो कांग्रेस और न लीग ने स्वशासित भारत ने संयुक्त ब्रिटिश साम्राज्य में कोई असाधारणता देखी।

जुलाई १९१८ में प्रकाशित मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रस्तावों* द्वारा स्वीकृत असली सुधार इन माँगों से बहुत पीछे रहे, क्योंकि यद्यपि दो केंद्रीय संसदों, असेम्बली और काउंसिल आफ़ स्टेट में चुने प्रतिनिधियों का बहुमत था, प्रत्येक में अधिकारियों का एक शक्तिशाली दल था और वाइसराय को ऐसे किसी क़ानून को अस्वीकार करने का सर्वोपरि अधिकार था जिसे वे अवांछित समझते। प्रान्तों में व्यापक मताधिकार पर चुनी हुई व्यवस्थापिका सभाएँ स्थापित हुई और दोहरा-शासन नाम से विख्यात अवरोध और सन्तुलन की प्रणाली का प्रान्तों के शासनतंत्र में आरंभ हुआ जिससे अर्थ और विधि और व्यवस्था जैसे "सुरक्षित" विषय पूर्णरूप से गवर्नर और उनके सभासदों का उत्तरदायित्व रहे जब कि कुछ "स्थानान्तरित" नामक विषय मंत्रियों को दिए गए जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे।

सुधारों को अपर्याप्त घोषित करने में कांग्रेस और लीग दोनों ही सम्मिलित हो गए। पहले तो गांधीजी इस योजना के समर्थन में प्रवृत्त थे, लेकिन बाद में उन्होंने उसे "सफ़ेदी की हुई समाधि" नाम दिया। गोखले की मृत्यु के एक वर्ष बाद, १९१६ से, जब कि तिलक कांग्रेस में लौट आए, नरम दल वालों का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता गया। अगस्त १९१८ में अलगाव निश्चित हो गया जब सुधारों पर विचार विमर्श करने के लिए बम्बई में बुलाई गई कांग्रेस की एक विशेष सभा में कुछ प्रमुख नरम दलवाले अनुपस्थित रहे। इन भिन्न मतवालों ने,जिन्होंने मांटेग्यू चेम्सफोर्ड प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और उन्हें कार्यान्वित करने को राज़ी हो गए, अपने को एक अलग दल में संगठित किया, जो बाद में नेशनल लिबरल फ़ेडरेशन नाम से प्रकाश में आया।

इस बीच तुर्की के विरुद्ध युद्ध के विरोध ने मुसलमानों को प्रतिकूल कर दिया था। वे ख़लीफा और जज़ीरतुल अरब (अरब द्वीपों) के सम्बन्ध में आशंकित थे। इन द्वीपों में पवित्र नगर मक्का और मदीना थे। हिन्दू मुस्लिम समझौता इस क्षोभ और अशान्ति के कारण दृढ़ रहा।

बढ़ते हुए राजनीतिक विक्षोभ की ख़बरों से अशान्त होकर भारत सरकार ने १९१७ में मि० जस्टिस रौलट की अध्यक्षता में राजद्रोह के प्रश्न और अपराधपूर्ण षड्यन्त्रों के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए एक समिति की स्थापना की। एक बेढंगे सान्निध्य से इसकी रिपोर्ट मांटेग्यू चेम्सफ़ोर्ड प्रस्तावों के प्रगट होने के शीघ्र बाद ही प्रकाशित हुई और भारतीय मत इसके सुस्पष्ट दण्ड प्रस्तावों को सुधार योजना में सम्मिलित अस्पष्ट और प्रयोगात्मक प्रस्तावों के प्रतिकूल तुलना करने में मुस्तैद था। रौलट कमेटी के

* यह दिसंबर १९१९ में पास किए गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट में सम्मिलित कर लिए गए थे।

यह प्रस्ताव कि कुछ अविसूचित क्षेत्रों में जज राजनीतिक मामलों का बिना जूरी के निर्णय करें और प्रान्तीय सरकारों को नज़रबन्दी के अधिकार दिए जाएँ, शीघ्र ही दोनों बिलों में सम्मिलित कर लिए गए। इनमें से एक तो भारत रक्षा अधिनियम की समाप्ति की स्थिति में काम चलाने के लिए अल्पकालीन प्रस्ताव था, और दूसरा स्थायी ढंग का था; और अन्य सज़ाओं में राजद्रोहात्मक पर्चे का "उसे प्रचारित करने या प्रकाशित करने के इरादे से" अपने पास रखना ही कारावास के संक्षिप्त रूप से दंडनीय था।

युद्ध छेड़ने के लिए यह प्रमुख बातें थीं और समर में उत्साह से सम्मिलित हुआ गया। रौलेट बिल का मूल पाठ युद्ध की समाप्ति के लगभग तीन महीने बाद १९१९ में प्रकाशित हुआ। यद्यपि युद्ध से व्यापार को खूब लाभ हुआ, जिसमें भारतीय पूँजीपतियों को भी कुछ हिस्सा मिला, किन्तु उससे चीज़ों के दाम चढ़ गए और कुछ समय बाद ही मन्दी आई जिसके कारण सफ़ेदपोश कार्यकर्त्ताओं में बेरोज़गारी फैली। इस प्रकार साधारण स्थिति को अशान्त करने में अर्थ और राजनीति का षड्यंत्र बन गया।

काले क़ानून के रूप में निन्दित रौलट बिल गांधीजी को राजनीतिक मंच के बीचोबीच ले आया। नरम दल से अलग होकर उग्र राष्ट्रीयता की ओर बढ़ने की प्रगति को उन्होंने पूरा किया। लेकिन पिता और पुत्र अब भी बराबर नहीं चल रहे थे और जवाहरलाल अब भी प्रतिबन्ध तुड़ा रहे थे।

मांटेग्यू चेम्सफ़ोर्ड सुधारों के विषय में मोतीलाल की प्रारंभ की प्रतिक्रिया गांधीजी के प्रथम विचारों से भिन्न नहीं थी। यह सुधार शायद और अच्छी स्थिति के लिए आगे बढ़ाने वाले सिद्ध हों। जवाहरलाल का मत अपने पिता की सावधानी की आशावादिता नहीं था। किन्तु गांधीजी की तरह बाद में वे उनमें "सफ़ेदी की हुई समाधि" देखने को प्रेरित हुए। रौलट बिलों ने मोतीलाल की वकील प्रकृति को क्षुब्ध किया और उन्हें लगा कि वे संवैधानिक औचित्य के सारे विचारों का अतिक्रमण करते हैं। वे "न्यायहीन न्याय" थे।

कांग्रेस के सदस्यों ने पूछा, "हम क्या कर सकते हैं?"

"क्या कर सकते हैं?" गांधीजी बोले, "जैसे ही बिल क़ानून बनें हम सत्याग्रह करें।"

किन्तु अन्तिम क़दम उठाने के पहले गांधीजी ने इन घृणित क़ानूनों को वापस लेने की प्रार्थना की। लार्ड चेम्सफ़ोर्ड ने इन्कार कर दिया। इस अवसर पर गांधीजी बहुत अधिक बीमार थे। लेकिन वे सत्याग्रह सभा के संगठन में लग गए। इस सभा के सदस्य रौलट अधिनियम की अवज्ञा करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध थे कि यदि वह उनपर लागू हो तो खुल्लम-खुल्ला, जानबूझ कर जेल जायँ।

इस अनोखे ढंग के बारे में मोतीलाल और जवाहरलाल की प्रतिक्रियाएँ बहुत अधिक भिन्न थीं। छोटे नेहरू के लिए इसमें "आखिरकार इस उलझन से निकलने की एक राह तो है, संघर्ष की एक प्रणाली जो सीधी, खुली और संभवतः प्रभावशाली है।" मोतीलाल किसी भी तरह ऐसे उत्साहपूर्ण न थे, वास्तव में इस जेल जाने की प्यास के बिलकुल विरुद्ध

थे जिसमें निश्चित रूप से उनका पुत्र लपेट में आ जाय। उन्होंने तुरत गांधीजी को इलाहाबाद आने का आदेश दिया। गांधीजी और बड़े नेहरू में क्या बातचीत हुई उसका अनुमान लगाया जा सकता है, लेकिन उसका परिणाम यह हुआ कि गांधीजी ने जवाहरलाल को जल्दी में कुछ न करने की सलाह दी।

अपने विशेष ढंग पर गांधीजी ने पुत्र के पितृस्नेह और महात्मा के राजनीतिक उपदेश के प्रति आस्था—दोनों के प्रति प्रार्थना की।

उन्होंने जवाहरलाल को सलाह दी, "अपने पिता को अधिक मत ठेलो, उन्हें दुःख न दो।"

वास्तव में वे नेहरू को सलाह दे रहे थे "आहिस्ता चलो।"

उस समय के लिए तो मोतीलाल की बात रह गई, लेकिन बहुत दिनों के लिए नहीं।

रौलट बिलों को क़ानून* बनाने के वायसराय के आग्रह का सामना पड़ जाने से गांधीजी ने देश से सब काम रोक कर एक दिन की हड़ताल या शोक दिवस मनाने को कहा। शुरू में ३० मार्च सत्याग्रह दिवस निश्चित हुआ था, किन्तु बाद में यह तारीख ६ अप्रैल कर दी गई। यह पहला अवसर था कि भारत की जनता से देशव्यापी पैमाने पर राष्ट्रीय प्रदर्शन करने को कहा गया था, कि और यह गांधीजी की लोगों के मन की अन्तर्दृष्टि की खूबी है कि उन्होंने समझ लिया कि कितनी प्रबलता से उसका प्रतीकात्मक महत्व उन्हें मालूम पड़ेगा।

अपने प्रान्त में दिवस को सफल बनाने के लिए जवाहरलाल ने कठिन श्रम किया। लेकिन न केवल संयुक्त प्रांत बल्कि देश की प्रतिक्रिया कांग्रेस या सरकार के अनुमानों से बहुत ही अधिक थी। न केवल शहरों और क़स्बों में किन्तु दूर-दूर तक गाँवों में भारत जीवन की एक बड़ी भारी लहर की तरह उठ खड़ा हुआ और ज्यों-ज्यों लहरियाँ जमा होकर लहर बनीं और लहरें निर्मम ज्वार की लहर बनकर किनारे की ओर बढ़ने लगीं तो दिल्ली के कैन्यूटों को डर लगा। विदेशी शासकों का युगों पुराना भय—अज्ञात भय—उन पर छा गया।

एक विचित्र संयोग से सत्याग्रह दिवस को ३० मार्च से ६ अप्रैल को बदल देने की सूचना का तार दिल्ली कांग्रेस के संघटनकर्त्ताओं को समय से नहीं मिला और इसलिए दिल्ली में दिवस ३० मार्च को मनाया गया। दिल्ली की प्रतिक्रिया भविष्य की सूचक थी। इस प्राचीन नगर के सबसे पुराने भाग, प्रसिद्ध चाँदनी चौक में हिन्दू और मुसलमानों ने अपने शासकों के अत्याचार के विरुद्ध एक साथ मिलकर विरोध प्रकट किया। प्रत्येक व्यापार केन्द्र बन्द था और जामा मस्जिद में, जहाँ कभी सम्राट् औरंगज़ेब ने अपने मुसलमान भाइयों के साथ प्रार्थना की थी, एक हिन्दू नेता, स्वामी श्रद्धानन्द ने, संन्यासी के गेरुआ वस्त्र पहन कर विशाल मुस्लिम जनता के समक्ष भाषण दिया। इस प्रकार का दृश्य अभूतपूर्व था। स्थानीय ब्रिटिश अधिकारियों ने लक्ष्य प्राप्ति के लिए एकता के

* विचित्र विडम्बना से अधिनियम का एक मामले में भी उपयोग नहीं हुआ।

इस प्रदर्शन से घबरा कर सभाओं और जुलूसों को बल प्रयोग से भंग करने का निश्चय किया। इसके अनुसार सेना और पुलिस बुलाई गई और गोलियाँ चलीं जिसके परिणाम-स्वरूप कुछ लोग मारे गए।

६ अप्रैल को आधिकारिक सत्याग्रह दिवस के रोज़ निहत्थे प्रदर्शनकारियों पर सेना और पुलिस द्वारा कई नगरों और क़स्बों में गोलियाँ चलाई गईं। पंजाब में—विशेष रूप से अमृतसर और लाहौर में—भीड़ ने प्रत्याक्रमण किया और अग्निकांड, दंगे और योरोपियन लोगों पर आक्रमण हुए। बंबई से दिल्ली जाते हुए गांधीजी ८ अप्रैल को गिरफ़्तार कर लिए गए और यद्यपि वे फिर बंबई ले आए गए और १० अप्रैल को छोड़ दिए गए, उनकी गिरफ्तारी के समाचार ने बंबई और अहमदाबाद में और गड़बड़ी पैदा कर दीं।

१५ अप्रैल को पंजाब में सैनिक शासन की घोषणा की गई और आतंक के उस शासन पर एक पर्दा पड़ गया जिसका आरंभ अधिकारियों ने किया था और जिसका अन्त जेनरल डायर* की आज्ञा से जलियाँवाला बाग़ के हत्याकांड में हुआ। अपने भद्देपन में अपमान-जनक तरह-तरह के अपमान पंजाब के अभागे लोगों पर छाए गए और इनका अन्त तब हुआ जब ९ जून को सैनिक शासन उठा लिया गया। पंजाब के अत्याचारों की पूरी नृशंसता जब प्रगट हुई तो भारत भर में क्रोध और घृणा के भाव बहुत तीव्र हो गए, भारत-ब्रिटिश सम्बन्ध उस खराब अवस्था को पहुँच गए जिसको १८५७ के विद्रोह के बाद कभी न पहुँचे थे, और लन्दन में व्हाइट हाल को विवश होकर एक जाँच कमेटी क़ायम करनी पड़ी जिसमें लार्ड हंटर की अध्यक्षता में चार ब्रिटिश और चार भारतीय सदस्य थे। कमेटी ने दो रिपोर्टें पेश कीं जो जातीय आधार पर विभक्त थीं, लेकिन दोनों रिपोर्टों ने जेनरल डायर की तीव्र आलोचना की थी, उसे बाद में सेना से अवकाश प्राप्त करा दिया गया। फिर भी, यह तथ्य कि उसके कार्य की इंग्लैंड में एक वर्ग ने सराहना की, उससे जातिगत विरोध किसी प्रकार कम न हुआ—वास्तव में कहा जाता है कि उसे "इंग्लैंड की महिलाओं" की ओर से एक सोने की तलवार भेंट की गई।

मोतीलाल पर इन घटनाओं का निर्णयात्मक प्रभाव हुआ। इसके बाद से उनका राजनैतिक भाग्य गांधीजी और जवाहरलाल के साथ जुड़ गया; और यद्यपि बाद में उन्हें दोनों से कुछ नीतियों पर मतभेद का अवसर आया, वे अपने अन्तिम काल, ६ फरवरी १९३१, तक अनमनीय और संघर्षशील राष्ट्रीयतावादी रहे। किन्तु यह निश्चित लगता है कि ऐसे ऊँचे देशभक्ति के उत्साह से पूर्ण पुत्र होने के संयोग के बिना वे अधिक नरम और

---

* आधिकारिक अनुमान के अनुसार ३७९ भारतीयों की हत्या हुई, जिनमें ८७ ग्रामीण थे और कम से कम १२०० घायल हुए। अपने ही कथनानुसार डायर ने अपने सैनिकों से १६०५ चक्र गोलियाँ उस भीड़ पर चलवाईं जो सभा के लिए एकत्र हुई थी। यह गोलियाँ तब तक चलाई गईं जब तक मेरा गोला बारूद प्रायः समाप्त नहीं हो गया।

शान्त राजनीति में लगे रहते। यद्यपि स्वभाव से वे झगड़ालू थे, उनका मन आसानी से जनसाधारण के दृष्टिकोण से मेल नहीं खा पाता। बाद में जवाहरलाल को जनसाधारण के रूप में देखकर वे सामान्य लक्ष्य के प्रति सहानुभूति रखने में समर्थ हुए, उसे अपने पुत्र के रूप में आदर्श मान सके और उससे अपने मन में उठते तर्क-वितर्क का समाधान कर सके।

सब लोगों के लिए सब कुछ बनने की गांधीजी की क्षमता ने अपने सजीव उदाहरण द्वारा मोतीलाल पर प्रभाव डाला।

जैसा जवाहरलाल ने प्रायः ही कहा गांधीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जो सबको साथ लिए रहे। "वे सब लोगों की आस्था का एक अंश और साथ ही अपने में अपनी ही अनुशासन-वृत्ति भी रखते थे।"

खुद गर्वीले और उग्र स्वभाव के मोतीलाल महात्माजी की दृढ़ और अनमनीय समझ का सम्मान करते थे, किन्तु साथ ही उन्होंने लक्ष्य किया था कि इस आदमी में कोई व्यक्तिगत उग्रता नहीं है। यहाँ एक अभिनव और विशिष्ट व्यक्ति था जिसकी बातों और काम में महानता की छाप है। वे महान् ही नहीं प्रभावशाली भी थे। लगता था कि वे "काम पूरा करने में" समर्थ हैं।

यदि पंजाब की घटनाओं ने पिता और पुत्र को राजनीतिक रूप से निकट स्थापित किया, उन्होंने जवाहरलाल को पहली बार गांधीजी के निकट राजनीतिक संपर्क में भी रखा। सैनिक शासन समाप्त होने के साथ कांग्रेस ने सहायता और जाँच का काम आरंभ किया, सहायता का कार्य स्वामी श्रद्धानन्द और एक अन्य नेता, पंडित मदनमोहन मालवीय को सौंपा गया। वे बनारस में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में सक्रिय रूप से सम्मिलित थे। जाँच मुख्यतः मोतीलाल और बंगाल के नेता देशबन्धु दास के निदेश के अधीन थी। देशबन्धु चित्तरंजन दास ने बाद में जवाहरलाल और उनके पिता के साथ सन्निकट रूप से काम किया। गांधीजी ने, जिन्हें अक्टूबर के उत्तरार्ध में पंजाब में प्रवेश करने की अनुमति मिली थी, इन कार्यवाहियों में काफ़ी दिलचस्पी ली।

दास की सहायता के लिए नियुक्त छोटे नेहरू उनके प्रति बहुत आकर्षित हुए। कलकत्ते के समृद्ध वकील दास यद्यपि स्वभाव से भावुक थे किन्तु ऊँचे दर्जे की समझ और क़ानूनी तीक्ष्ण बुद्धि के साथ राजनीतिक वास्तविकतावादी थे। इन गुणों से बाद में मोतीलाल ने उन्हें अपना मूल्यवान सलाहकार और मित्र माना। दास के साथ जवाहरलाल यथार्थतः जलियाँवाला बाग़ प्रायः गए। जैसा कि एक ब्रिटिश प्रेक्षक ने वर्णन किया है यह "एक बड़े भारी धँसे तैरने के तालाब की तरह है जिसकी दीवारें खड़ी हैं, "ज़मीन का क्षेत्र सिवा एक नीची दीवार के ऊँचे मकानों से घिरा है। इस गड्ढे में जमा निहत्थी भीड़ पर डायर को लगा कि वह अपना गोला बारूद समाप्त करने पर विवश है। जवाहरलाल ने कितनी ही क्रूर घटनाओं के खूनी विवरण सुने और उस गली में भी गए जहाँ भारतीयों को एक अंग्रेज औरत पर आक्रमण करने के बदले में पेट के बल रेंग कर चलना पड़ता था।

अपनी आत्मकहानी में वे वर्णन करते हैं कि १९१९ साल के अन्त में अमृतसर से दिल्ली को रात की गाड़ी से यात्रा करते हुए उन्हें किस प्रकार रात भर एक लाल मुँह के ब्रिटिश जेनरल ने जागे रखा। वह अपने ब्रिटिश साथियों को ऊँचे आलंकारिक स्वर में बता रहा था कि उसने अमृतसर में एक भीड़ के साथ कैसा व्यवहार किया। यह जलियाँवाला कांड पर प्रसन्न डायर था। नेहरू लिखते हैं कि सवेरे जेनरल दिल्ली में "चमकदार गुलाबी धारियों का पैजामा और ड्रेसिंग गाउन पहने" उतरा।

गांधीजी ने कांग्रेस की जाँच में अत्यन्त रुचि ली और जवाहरलाल ने उन्हें बहुत कुछ देखा। गांधीजी ने जो कुछ कहा उसमें अधिकांश से वे हैरान थे। गांधीजी की बातें उनकी अपनी समझ से बहुत भिन्न थीं और कमेटी के लिए उनके कुछ प्रस्ताव अनोखे लगे। किन्तु अपनी बात पर धीमे से किन्तु दृढ़तापूर्वक और निष्ठा के साथ बहस करने का गांधी जी का स्वभाव था। सामान्यतः उनकी बात ही रहती और नेहरू ने यह ध्यान दिया कि सामान्यतः वे सही सिद्ध भी होते। महात्माजी से अभी तक पूर्ण रूप से प्रभावित या विश्वस्त न होते हुए उनमें उनकी राजनीतिक अन्तर्दृष्टि के लिए अनिच्छापूर्वक एक आदर उत्पन्न हुआ।

यही पहला अवसर था जब मोतीलाल को गांधीजी के निकट सहयोग में काम करने और उनके मानसिक ढंग और कामों को ध्यान से देखने का संयोग हुआ। जवाहरलाल की तरह वे महात्माजी के मन की अभिव्यक्ति से प्रायः हैरान हो जाते थे लेकिन अपने बेटे की भाँति वे यह देखते ही थे कि परिणाम सामान्यतः प्रभावपूर्ण होते थे।

जवाहरलाल ने पहले ही गांधीजी को अधिक ऊँची भूमि पर देख लिया था। उन्होंने उनमें एक नई क्रान्तिकारी शक्ति को कार्यान्वित होते पाया। उन्होंने विचार किया कि गांधीजी सदा भारत की जनता के मन की बात सोचते रहते हैं। वे जनसाधारण में से हैं और उनके लिए हित के लिए काम करते रहते हैं।

गांधीजी क़रीब-क़रीब अदृश्य रूप से ही राजनीतिक कार्य के आरंभ पर छा गए थे और दिसंबर १९१९ में अमृतसर कांग्रेस में, जिसकी मोतीलाल ने अध्यक्षता की, वे सबकी दृष्टि के केन्द्र थे, न कि तिलक, यद्यपि वे भी उपस्थित थे। पहली बार महात्मा गांधी की जय की पुकार सुनाई पड़ी। यह तिलक की अन्तिम कान्फ्रेंस थी क्योंकि वे दूसरे वर्ष अगस्त में चल बसे। इस कांग्रेस में अंशतः नरमदल वालों की अनुपस्थिति से जिन्होंने अमृतसर की कार्यवाही में भाग लेने के मोतीलाल के निमंत्रण पर भी कलकत्ते में अपनी ही कान्फ्रेंस, लिबरल्स (नरमदलीय) के नाम से, करना अच्छा समझा। जवाहरलाल ने अनुमानतः एक नए जोश को देखा। इन नरम दलवालों की आँखें उन सुधारों की ओर लगी हुई थीं जिनकी घोषणा २४ दिसम्बर को हुई। किन्तु अमृतसर में, जनता पर आधारित, एक नया उत्साह उमड़ रहा था।

अमृतसर में अली बन्धु जेल से छूट कर आए, और यह दोनों साहसी नेता तुरत कांग्रेस में सम्मिलित हो गए। खिलाफ़त के भविष्य पर मुसलमानों की आशंकाएँ सेवर्स की संधि के कारण सही थीं। इसमें खलीफ़ा के राजनैतिक अधिकार कम कर दिए गए थे।

गांधीजी ने खिलाफ़त को अपना ही कर्तव्य बना लिया था और ऐसा करने से उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस के निकट कर लिया था।

जवाहरलाल एक से अधिक बार महात्माजी के साथ खिलाफ़त के नेताओं से मुलाक़ात में गए, और यद्यपि उनके काम के अनोखे ढंग को वे हमेशा नहीं समझते थे, फिर भी उनकी सराहना करने लगे। उन्हें लगा कि गांधी यद्यपि धीरे-धीरे बोलते, लेकिन तानाशाह की तरह बोलते। वे "हीरे की तरह कठोर और तराशे" होते। वे तीखे, दृढ़ संकल्प थे और अपने मन को समझते थे। इस काल में गांधीजी अपने अहिंसा और असहयोग के विचारों के प्रचार में लगे थे, इनसे मिल कर ही सत्याग्रह का आधार बनता है। उन्होंने इन विचारों के लिए कांग्रेस और खिलाफ़त, दोनों ही के नेताओं से सहायता माँगी। "असहयोग" शब्द उनके मन में असल में नवंबर १९१९ में इन नेताओं की संयुक्त सभा में दिल्ली में उठा।

खिलाफ़त के लिए नेहरू गांधीजी के उत्साह में पूरी तरह साथ न थे। अपने उद्देश्य में यह राजनीतिक से अधिक धार्मिक था यद्यपि आरंभ में यह खलीफ़ा के राजनीतिक अधिकारों से संबंधित था, किन्तु यह मुस्लिम आंदोलन, अपने सहायक हिन्दुओं की तरह अपरिवर्तनवादी और कट्टरपन के कुछ तत्वों से अलग नहीं था। किन्तु गांधीजी के विचारों में ऐसे आन्दोलन में कुछ भी प्रगतिविरोधी नहीं था जिससे मुस्लिम जनता पर प्रभाव पड़ता हो और जो वास्तविक अन्याय को दूर करने के लिए किया गया हो। उन्हें लगा कि यह हिन्दू-मुस्लिम एकता की एक प्रभावपूर्ण ध्वजा है।

२८ मई १९२० को खिलाफ़त कमेटी ने बम्बई में सम्मेलन कर गांधीजी के असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार किया। इसके पहले, मार्च में, पंजाब के अत्याचारों पर कांग्रेस की रिपोर्ट के प्रकाशन ने देश भर में तीव्र भावनाओं को उभाड़ दिया था, और यह निश्चय किया गया था कि अमृतसर की घटनाओं की यादगार में ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाय। अपनी सुविचारित तटस्थता से उन्होंने लोगों से "फांसी को प्रति दिन का मामूली काम समझने" को कहा। कभी-कभी वे ऐसी ही बातें शान्तिपूर्ण तटस्थता से कह सकते थे।

बनारस में ३० मई को एकत्रित होकर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने गांधीजी के असहयोग के कार्यक्रम को सितम्बर में कलकत्ता में बुलाए गए विशेष अधिवेशन में विचारार्थ निश्चय किया। ९ जून को खिलाफ़त कमेटी की सभा इलाहाबाद में हुई और उसने अपने समर्थन को पुनः दुहराया, और २८ जुलाई को यद्यपि कांग्रेस ने आधिकारिक रूप से अभी तक इस प्रस्ताव पर विचार नहीं किया था अथवा उसे स्वीकार नहीं किया था, गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन आरंभ करने की तिथि पहली अगस्त निश्चित कर दी।

उस दिन बम्बई में तिलक का देहान्त हो गया। अपनी मृत्युशैया से उन्होंने कहा "जब तक स्वराज्य नहीं प्राप्त होता, भारत की उन्नति नहीं होगी। यह हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।" संयोग से जवाहरलाल उसी दिन गांधीजी के साथ बंबई आए।

वे उनके साथ सिंध प्रान्त का दौरा कर रहे थे। दोनों शव के विशाल जुलूस के साथ सम्मिलित हो गए। वह जुलूस समुद्र के किनारे चौपाटी की रेत पर समाप्त हुआ जहाँ चन्दन की चिता पर तिलक की अंत्येष्टि हुई।

गांधीजी ने लिखा, "मेरा सबसे मजबूत सहारा चला गया।" स्पष्टतः महात्माजी को अनुभव हुआ कि वे देश के नेता हैं, क्योंकि अभी तक तिलक ने ही उनकी राजनैतिक श्रेष्ठता को चुनौती दी थी।

५

भारत की खोज

अपनी पत्नी की मृत्यु के दो वर्ष बाद, १९३८ के लगभग जॉन गुन्थर को लिखे अपने एक पत्र में नेहरू कहते हैं, "मेरा ख़याल है कि मेरे जीवन में मेरे पिता और गांधीजी के प्रमुख व्यक्तिगत प्रभाव रहे हैं। लेकिन बाहर के प्रभावों का मुझ पर असर नहीं होता। मुझमें प्रभावित होने से अवरोध की प्रवृत्ति है। फिर भी प्रभाव धीरे-धीरे और अवचेतन रूप से काम करते रहते हैं। मेरी पत्नी ने अनेक रीति से, यद्यपि बिना किसी अहंभाव के मुझे बहुत अधिक प्रभावित किया है।"

दिल्ली में मार्च १९१६ में वसन्त पंचमी को उनका विवाह हुआ था। यह दिन कला और विज्ञान की, वाणी और विद्या की देवी सरस्वती को समर्पित है और वसन्त के आगमन का सूचक है। उस समय नेहरू की दुलहिन कमला सत्रह के लगभग थीं। वे कौल* नाम के काश्मीरी परिवार की थीं, जो दिल्ली में बस गया था। कमला लम्बी पतली स्वाभाविक सन्तुलन की थीं और उनमें कौमार्य की सुकुमारता की छवि थी जो बाद में वर्षों की थकान और तनाव से भी दूर न हुई। उनमें बहुत कुछ अपने पति का चरित्र और स्वभाव था।

जवाहरलाल की ही भाँति वे सूक्ष्मग्राही और गर्वीली, सहसा निर्णय लेने वाली, मनमानी, उत्साही, पसन्द नापसन्द में जल्दबाज़ थीं। जिन लोगों को वे नापसन्द करती थीं उनसे वे बहुत ही स्पष्ट निर्ममता से अलग रहती थीं। लेकिन मित्रों और अन्तरंग लोगों के साथ वे उत्साहपूर्ण और प्रसन्न भी रहती थीं। जवाहरलाल के समान कमला को कोई नियमित शिक्षा नहीं मिली थी और वे कृत्रिमताहीन थीं, यद्यपि किसी माने में चतुरता-विहीन नहीं थीं। उनकी बहुत निश्चित सम्मतियाँ थीं और वे उन्हें प्रकट करना पसन्द करती थीं। उनके चरित्र में बच्चों के से गुण ने उनमें कृत्रिमता के अभाव को बढ़ा दिया था और इससे कभी-कभी उनकी लंबी बातचीत घबरा देनेवाली होती। यह प्रेम-विवाह नहीं, किन्तु तय किया हुआ संबंध था। एक ज़िक्र है कि कमला के स्वस्थ सौन्दर्य ने एक दावत में जवाहरलाल की माता को ऐसा मोहित किया कि उन्होंने उसे अपनी पुत्रवधू बनाने का निश्चय किया।

---

* यह नाम धारण किया गया था, परिवार का असली नाम अटल था।

१९१६ में राष्ट्रीयता की लहर ने नेहरू परिवार को आप्लावित नहीं किया था। कम-से-कम चार वरस तक और मोतीलाल अपने खर्चीले ढंग के जीवन क्रम को सुरक्षित रख पाए। नौकरों, मोटर गाड़ियों, कुत्तों और और सब तरह के उन चमकदार पदार्थों से आवृत्त जिन्हें धन द्वारा ख़रीदा जा सकता है, वे महल के से मकान में रहते थे। घर फ़ारस के क़ालीनों, चाँदी के वर्तन, ड्रेसडेन के चीनी और वेनेशियन शीशे के सामान से भरा था। अस्तवल में घोड़े और वच्चों के लिए टट्टू थे। मेहमानों की क़तार आनन्द-भवन में वरावर आती जाती रहती। मोतीलाल की मेज़वानी शाही थी।

नेहरू का विवाह राजनीतिक प्रवाह के एक युग से मेल खा गया जिसका प्रतिविंव उनके अपने मन के संशय और प्रवृत्ति पर पड़ा। १९२१ में जब वे पहले-पहल जेल गए, तब तक यह मानसिक संघर्ष और अन्तर्विरोध अंशतः साफ नहीं हो पाए। कुछ संशय रह ही गए, किन्तु विदेशी शासन के सक्रिय प्रतिरोध की मूल समस्या का निर्णय हो गया।

कमला के लिए वे पाँच वर्ष सूने थे। जो घटनाएँ उन्हें उत्प्रेरित करतीं उन्हें नाटकीयता देने और उन्हें अपने ही ढंग से त्रिआयामों में प्रक्षेपित करने के नेहरू के स्वभाव ने उनके अपने निकट परिवेश को भुला दिया। एक वार जगा देने पर उनका मन पंख लगा कर वैसे ही उड़ता जैसे उनके प्रिय स्वप्न में बिना किसी सहारे के उनका शरीर हवा में उड़ता। उस समय में युवावस्था की बिना सोची असावधानता में उन्होंने सारे सामानसहित आनन्द भवन को अपनी पत्नी सहित भुला दिया। वाद के वर्षों में उन्हें इस पर बहुत अधिक खेद हुआ और अपराध-ग्रंथि का अनुजीवन अपने पत्नी के लिखित सन्दर्भ में स्पष्ट है। फरवरी १९३६ में पत्नी की मृत्यु के वाद उन्होंने लिखा, "उसने मुझे वल दिया। लेकिन उसने अवश्य कष्ट पाया होगा और थोड़ा उपेक्षित भी अनुभव किया होगा। इस भूले हुए से संयोगजनित भाव से उसके प्रति क्रूरता कहीं अच्छी होती।"

दोनों ही तेज़ दिमाग़ और हठी होने से उन शुरू के दिनों में आसानी से झगड़ वैठते थे। शिक्षा और समाज की भिन्न पृष्ठ भूमि के कारण उन्हें एक दूसरे के प्रति समझौता करना कठिन लगा, और कमला में कृत्रिम संस्कृति का अभाव धैर्यहीन जवाहरलाल को भारतीय राजनीति की न केवल वारीकियाँ वल्कि उनकी सीधी अभिव्यक्ति की समझ और पकड़ भी एक असमर्थता लगी। केवल वाद में उन्हें उसमें एक रूप के दर्शन हुए, जिसे वह प्रिय मानती थीं और वह था एक राजनीतिक साथी और संगी का रूप। दुर्भाग्यवश उसकी वाद की वीमारी इस इच्छा को और तीव्र ही कर सकी होगी और उसकी नैराश्य भावना को और बढ़ा सकी होगी। इस दिशा में उसके पति उसकी तुलना रवीन्द्र-नाथ ठाकुर के नाटक चित्रा की चित्रा से करते हैं: "मैं चित्रा हूँ। पूजा करने योग्य देवी नहीं, और न पतिंगे सी कोई सबकी दया का उपेक्षणीय पात्र। यदि तुम आपद् और साहस के पथ पर मुझे साथ रखना स्वीकार करते हो, यदि महान् कर्तव्यों में मुझे साथ में भाग लेने दो, तव तुम्हें मेरे वास्तविक रूप का भान होगा।" किन्तु जवाहरलाल उसकी इस कामना को १९३० के प्रारंभिक महीनों में ही समझ पाए।

नवम्बर १९१७ में, उनके विवाह के इक्कीस महीने बाद उनकी पुत्री और एकमात्र सन्तान प्रियदर्शिनी इन्दिरा* का जन्म हुआ। अपनी पहली सन्तान के जन्म से ही जवाहरलाल की माता का स्वास्थ्य ख़राब रहता था और एक दुखद समानता से उनकी पत्नी को भी वैसे ही भाग्य का सामना करना पड़ा। बीमारियों के क्रम ने उनके वैवाहिक जीवन के अधिकांश में अशक्त रखा और तपेदिक के आक्रमण ने उनका अन्त शीघ्र कर दिया। रोगी माता और पत्नी के संयोग ने नेहरू को शारीरिक स्वास्थ्य और उसकी कुशलता के मूल्य के प्रति अत्यन्त सचेत बना दिया। इसी से रोगी के प्रति उनकी चिन्ता के कारण का पता लगता है। उनकी बहन कृष्णा लिखती हैं: "जवाहर आदर्श परिचारक हैं। अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में उनकी समझ और मृदुलता का अन्त नहीं और उनका धैर्य असीम है।"

१९२० के बाद के अर्द्धांश में मोतीलाल ने कुछ अंश में इस लिए कि अपने बेटे पर चौकसी की नज़र रखें अपने राजनीतिक भाग्य को जब महात्माजी के साथ छोड़ दिया, तो नेहरू घराने का रूप ही बदल गया। पहले क़दम के तौर पर मोतीलाल ने अपार वकालत छोड़ दी, और आय में तीव्र मन्दी आने के कारण ने उनके ऊँचे जीवनस्तर में सुधार के लिए विवश किया। रातोंरात उन्होंने घोड़ा और गाड़ी बेच दी, अपने नौकरों की विशाल सेना को कम कर दिया, और हर दिशा में ख़र्च में कटौती कर दी। साटन और रेशम छोड़कर घर की स्त्रियों ने खादी की साड़ियाँ और मोटे कपड़े पहनना शुरू कर दिया।

इस सहसा रूपान्तर से जिस व्यक्ति पर सबसे कम प्रभाव पड़ा वे जवाहरलाल थे, क्योंकि, यद्यपि वे जीवन भर समृद्ध परिस्थितियों में पाले गए थे, किन्तु कभी उनके दास न बने और उन्हें आसानी से छोड़ सकते थे। उनके मन और शरीर की लोच से न केवल उनकी शारीरिक अनुकूलता किन्तु उनका विलक्षण परिश्रम भी समझ में आता है। वे परिवेश से अछूते रह सकते हैं, किन्तु विचारों से नहीं, और गांधीवाद ने उनमें एक नए रसायन का नशा भर दिया। स्वयं व्यक्तिवादी होने पर भी वे जनता में वर्गों से अधिक हिलामिला अनुभव करते हैं।

एक कांग्रेसी साथी ने दुःख प्रगट किया, "आप इतने अकेले रहते हैं! मेरा तो विश्वास है कि आपका एक भी सच्चा दोस्त नहीं है।"

लगा कि जवाहरलाल का मन कहीं दूर है। वे बड़े धीरे से और प्रयत्नपूर्वक बोले, "मैं अपने मन की बात जनता के सामने रखना चाहता हूँ।"

उन्हें इस बात का पता संयोग से ही लगा, और इस संयोग से उनका दृष्टिकोण बहुत बातों में मूल रूप से परिवर्तित हो गया। मई १९२० में जब उनकी माता और पत्नी बीमार थीं, उन्होंने उन्हें मसूरी के पहाड़ पर आराम के लिए ले जाने का निश्चय किया। उनके पिता ने तब तक अपनी वकालत नहीं छोड़ी थी और वे एक ज़रूरी मुक़दमे

* अब श्रीमती फ़ीरोज गांधी।

में व्यस्त थे। जिस होटल में नेहरू परिवार टिका था, उसमें शाह अमानुल्ला के १९१९ के संक्षिप्त युद्ध के बाद ब्रिटिश से शान्ति के लिए अफ़ग़ान प्रतिनिधिमंडल के सदस्य ठहरे थे। उनमें कोई रुचि न रहने के कारण जवाहरलाल उनसे कभी न मिले थे। किन्तु कुछ गूढ़ और उलझन भरे कारण से ब्रिटिश अधिकारियों को भय हुआ कि वे शायद मिलें और उनसे यह वचन चाहा कि वे उनसे कोई भी सम्बन्ध न रखेंगे।

जवाहरलाल ने इस बात को बिलकुल बेतुका समझा और इन्कार कर दिया।

इस पर उन्हें वहाँ से निर्वासन की आज्ञा मिली जिससे उन्हें चौबीस घंटे के अन्दर वह ज़िला छोड़ देना आवश्यक था और उन्होंने छोड़ दिया। बाद में उनके पिता के बीच में पड़ने से वह आज्ञा रद्द कर दी गई और एक पखवारे के बाद मोतीलाल के साथ जवाहरलाल मसूरी लौट आए। प्राय: पहले दृश्य जिसने होटल में उनका अभिवादन किया वह था अफ़ग़ान प्रतिनिधिमंडल के सदस्यों में से एक की गोद में उनकी शिशु पुत्री इंदिरा थी। उन लोगों ने पत्रों में इस चर्चा को पढ़ा था और उससे अनुरक्त होकर उन्होंने जवाहर-लाल की माता को प्रतिदिन एक टोकरी फल भेजना प्रारंभ कर दिया।

इलाहाबाद में इस बीच के पखवारे में जवाहरलाल ने इलाहाबाद के लिए किसानों के एक धावे की बात सुनी और यमुना के किनारे उनके पड़ाव पर जाने का निश्चय किया। वहाँ बाबा रामचन्द्र नामक व्यक्ति के नेतृत्व में लगभग दो-सौ किसान जमा थे। उन्होंने अत्याचारी तालुक़दारों से छुटकारा दिलाने की नेहरू से प्रार्थना की। यह तालुक़दार भारी लगान लगाने के सिवा उन पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे। उन्होंने उनसे आग्रह किया कि गाँव चल कर वे अपने आप हालात को देखें।

नेहरू पहले तो जाने को राज़ी न थे लेकिन अन्त में उनकी प्रार्थनाओं से तैयार हो गए। कुछ साथियों को लेकर वे किसानों के साथ उनके गाँव गए और उनके साथ तीन दिन रहे। उन्होंने लिखा है, "उस यात्रा ने मेरी आँखें खोल दीं।" इसके पहले वे कभी गाँव में नहीं ठहरे थे और चिथड़े पहने, भूखे और दुर्बल, भुखमरी के शिकार किसानों की मूक वेदना का एक नया और व्यथापूर्ण अनुभव था। उन्होंने उन पर होने वाले अत्याचारों और अपमानों, ज़मींदारों के कारकुनों की क्रूरताओं, क़र्ज़ देनेवाले महाजनों के लोभ, उन पर पड़नेवाली ठोकरों और मार, खेत और टूटी फूटी मड़ैयों से बेदख़ल करने की कहानियाँ उन्हें सुनाईं।

यह दुनिया नेहरू के लिए बिलकुल नई थी। उनकी कहानियों से वे व्याकुल हो गए और क्रोध में भर गए। जिस बात ने उनको प्रभावित किया वह उन लोगों का नेहरू और उनके साथियों में चमत्कार करके उनका भाग्य सुधारने का विश्वास था। जब यह लोग बोलते थे तो उन लोगों के दुखी थके चेहरे उत्साह से तप उठते और उनकी आँखें आशा से चमक उठतीं।

नेहरू ने लिखा है:

उनके दुःख और उमड़ती हुई कृतज्ञता को देख कर मैं लज्जा और खेद से भर गया, लज्जा अपने आराम से चलते सुविधा भरे जीवन और शहर की ओछी राजनीति पर थी,

जिसने भारत के अधनंगे बेटे-बेटियों के विशाल जनसमुदाय की उपेक्षा की, और खेद भारत की गिरावट और अत्यधिक गरीबी पर था। भारत का एक नया चित्र मेरे आगे उभरता लगा—नंगा, भूखा, कुचला और अत्यन्त करुण। और अचानक आए हुए हम लोगों में उनके विश्वास ने मुझ में एक नया उत्तरदायित्व भर दिया जिससे मैं भीत हो उठा।

तब से नेहरू भारत को बहुत अधिक अत्याचार पीड़ित किसानों के रूप में देखते। इन सीधे सादे लोगों के सरल विश्वास की स्मृति, भारत के भुला दिए गए नर-नारी उनके मन को परेशान करते रहे। वे बार-बार गाँवों को गए, अपने प्रान्त के गाँवों में थोड़े समय के लिए जाते, किसानों से बातें करते, उनके कष्टों को सुनते और अपना भाग्य स्वयं सुधारने के निश्चय को उनमें भरने की चेष्टा करते। इस काम में उन्हें पता चला कि भाषण-मंच का उनका संकोच दूर हो गया है। उन्हें पता चला कि वे किसानों से बिना किसी आत्म-चेतना के भाव के बातें कर सकते हैं और सीधे बात करने में उनसे अपने मन और हृदय की बात बता सकते हैं।

किसानों से मिलने की अपनी यात्राओं में वे कुछ उन ज़िलों में होकर गए जो कभी प्राचीन अयोध्या के राज्य के भाग थे जहाँ पुराणों के अनुसार रामायण के चरितनायक और सूर्यवंशी राम राज्य करते थे। नेहरू ने देखा कि अपढ़ किसान स्मृति की किसी प्रक्रिया से रामायण के पदों को सुना सकते हैं और उनके जीवन राम और सीता के चरित्रों से प्रभावित हैं। "सीता-राम" की ध्वनि गाँव-गाँव में गूंज कर सैकड़ों किसानों को सभा या किसी और सामुदायिक प्रयोजन के लिए उसी प्रकार ले आती जैसे नगाड़ों की ध्वनि अफ्रीका के जंगलों में संदेश पहुँचाती है। नेहरू मुग्ध हो उठे। वे भारत की खोज की प्रक्रिया में लगे थे।

गाँवों में उनके प्रायः जाते रहने से किसानों में हिम्मत बढ़ी जिससे अत्याचार का विरोध करने में उन्हें सहारा मिला। उन्होंने उन्हें संगठित रहने और एक होकर काम करने, उस डर को दूर करने को सिखाया जो उन्हें ज़मींदार के गुस्से के आगे झुकाए रहता है।

इसी समय के आस-पास गांधीजी अपने साप्ताहिक पत्र यंग इंडिया के पृष्ठों में अपने त्याग-धर्म का उपदेश दे रहे थे। १६ जून १९२० को उन्होंने लिखा: "कोई देश कष्ट की अग्नि में बिना तपे कभी उठा नहीं है। माता कष्ट उठाती है कि उसका बच्चा जीवित रहे। गेहूँ के उगाने में शर्त यह है कि बीज मिट जाय। जीवन मृत्यु से उत्पन्न होता है। क्या भारत इस सनातन नियम को पूरा किए बिना अपनी गुलामी से अलग हो सकेगा?"

नेहरू ने देहातों की यात्रा में पाया कि महात्माजी का सन्देश गाँवों में फैल गया है जो अहिंसक असहयोग के नए मंत्र से जाग उठे हैं। किसान की चाल में लचक आ गयी थी और उनकी आँखों में नई आशा का प्रकाश था। उनमें से अगर किसी ने स्वराज का राजनीतिक अर्थ समझा भी था तो बहुत ही कम लोगों ने समझा था। इस बात को तो वे समझ गए थे कि उनके अपने ही प्रयत्नों और संगठित बल से देश की राजनीतिक स्वतंत्रता

के अर्थ उनके लिए आर्थिक बेहतरी हो सकती है। उनको देख कर नेहरू ने गांधीवादी समझ के बुनियादी तर्क का अनुभव किया।

उन्होंने सोचा, "वे जनता को अपने साथ ले रहे हैं, केवल कुछ लोगों का मत परिवर्तन नहीं कर रहे हैं।"

किसानों की ख़ास कुटेव मुक़दमेबाजी ने उन्हें महाजनों का शिकार बना दिया था। नेहरू ने अपने अन्य कांग्रेसी सहकर्मियों के साथ किसानों को यह समझाने का प्रयत्न किया कि वे कचहरी से अलग अपनी पंचायतों के द्वारा अपने झगड़े तै कर लें। इसका बड़ा अच्छा प्रभाव हुआ और मुक़दमेबाज़ी बहुत कम हो गई। इससे किसानों में बल और विश्वास बढ़ा। कांग्रेस के अहिंसा धर्म ने उन्हें बहुत कुछ हिंसात्मक तरीक़ों से रोका।

अपने गाँव के दौरे में नेहरू के साथ पुलिस के अधिकारी सदैव रहा करते थे जिन्हें उनकी गतिविधि पर नज़र रखने का आदेश रहता। उनमें सभी को तो गाँवों की या दोपहर की धूप में पैदल चलने की आदत नहीं थी। उनसे तेज़ चलने में जवाहरलाल को कुछ शरारती मज़ा आता और वे खुशी में भरकर एक अफ़सर का क़िस्सा सुनाते हैं, "लखनऊ का ज़रा ज़नाने क़िस्म का जवान" पेटेंट लेदर के पंप जूते पहने उनके क़दमों के पीछे लग रहा था और बराबर चलने में असमर्थ होकर रास्ते में गिर पड़ा।

इकट्ठा काम करने के नए तरीक़े के विश्वास में भरकर किसानों ने कम-से-कम एक बार उसका प्रयोग स्थानीय अधिकारियों के विरुद्ध किया। १९२० के शरद् में सैकड़ों कचहरी के अहाते में और जिले की जेल के इर्द गिर्द जमा हो गए जहाँ कुछ किसान नेता किसी छोटे-मोटे अपराध के लिए पकड़े गए थे, और इस दृश्य ने अधिकारियों को ऐसा घबरा दिया कि नियम पालन के लिए मुक़दमे के बाद गिरफ़्तार किसानों का मुक़दमा बर्ख़ास्त कर दिया गया और वे छोड़ दिए गए।

किसानों ने इसमें एक कार्यकारण देखा और उसका उन्होंने फिर प्रयोग किया। लेकिन इस बार अधिकारी झुकने की प्रवृत्ति में न थे, और पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाई और कुछ मारे गए। पहली घटना के समय नेहरू कलकत्ता गए हुए थे, लेकिन इस बार पास ही थे। वे घटनास्थल की ओर भागे जो एक नदी के किनारे पर था। लेकिन सेना ने उन्हें पुल पर रोक दिया। जब वे वहाँ रुके खड़े थे तो उन्होंने गोली-बारी की आवाज़ सुनी और उसके थोड़ी ही देर बाद लगभग दो हज़ार डरे और बौखलाए किसानों ने उन्हें घेर लिया। नेहरू ने व्याख्यान द्वारा उनके डर और उत्तेजना को दूर करने की कोशिश की और इसमें वे सफल हुए। उनका व्याख्यान सुनकर किसान शान्तिपूर्वक अपने घरों को चले गए।

लेकिन ग्रामीण भारत में बेचैनी का भाव फैला हुआ था और उसके साथ अधिकारियों के दमन का राज्य आया। किसानों पर गोली चलाने की अन्य घटनाएँ १९२० के अन्त के महीनों में हुई और नए साल के आरंभ में एक क़िस्सा हो गया जिसमें नेहरू फिर लपेट में आ गए। अज्ञान और आस्थावान किसानों के एक दल से एक ज़मींदार के नौकरों ने

कहा कि महात्मा गांधीने एक प्रतिस्पर्द्धी ज़मींदार की जायदाद को लूटने को कहा है। वे इसके लिए तैयार होकर महात्मा गांधी की जय के नारे लगाते चल खड़े हुए।

यह ख़बर सुन कर नेहरू बौखला उठे। उन्होंने स्थानीय किसानों की एक सभा बुलाई। उनका भाषण सुनने के लिए लगभग छः हज़ार किसान एकत्रित हुए। उन्होंने उनकी भर्त्सना की और कहा कि आन्दोलन को जो उन्होंने बदनाम किया है उससे शर्म के मारे उनका सिर झुक जाना चाहिए। उन्होंने अपराधी लोगों से माँग की कि वे हाथ उठा कर अपने पापों को जनता के सामने स्वीकार करें। बहुसंख्यक पुलिस अफ़सरों के सामने लगभग दो दर्जन हाथ उठ गए।

एक बार ग़ुस्सा ठंढा पड़ जाने पर नेहरू समझ गए कि इसके अर्थ क्या होते हैं। किसान भी समझ गए। जिन लोगों ने अपराध स्वीकार कर लिए थे वे एक दिन के लिए भी आज़ाद नहीं रह सकते थे, और उनकी गिरफ्तारियों के बाद और भी सैकड़ों होंगी। किसानों से अकेले में बात कर नेहरू इन सरल लोगों के सीधेपन से बहुत प्रभावित हुए जो अपने पड़ोसियों में विश्वास करते थे और उनसे जो कुछ कहा गया उसको मान लेते। लेकिन अब तो वक्त निकल गया था। ज़िले भर में लगभग एक हज़ार गिरफ्तारियाँ हुई और बहुतों को बदला लेने के भाव से लम्बी सज़ाएँ हुई। नेहरू ने लिखा है, "जब मैं बाद के वर्षों में जेल गया तो उनमें से कुछ लड़कों और जवान आदमियों से मिला जो अपनी युवावस्था जेल में बिता रहे थे।"

लेकिन किसानों के कष्ट और त्याग बेकार नहीं गए, क्योंकि ब्रिटिश अधिकारियों ने इस ग्रामीण अशान्ति के चिह्न से चिन्तित होकर किसानों की हालत सुधारने के लिए लगान क़ानून को जारी करने की जल्दी की। विस्तृत रूप से प्रभावित अवध के ज़िले में किसान को मौरूसी हक़ मिला, यद्यपि व्यावहारिक रूप से इसका निर्वाह संभव न था। धीरे-धीरे आर्थिक और राजनीतिक विचार जनता तक पहुँच रहे थे।

इस नए अनुभव-क्रम में नेहरू को एक खोज हाथ लगी। उन्होंने अनुभव किया कि जनता का उन पर ओजवर्द्धक औषधि का सा प्रभाव होता है। जब वे जनता में अपना बल और मानसिक विक्षोभ उड़ेलते हैं तो वह बदले में उन्हें नया बल और स्फूर्ति, स्नायु-तन्तु और पेशी देती है। पारस्परिक आदर और सम्मान पर आधारित विचारों और काम का एक संबंध उनमें और इन भूखे अत्याचार पीड़ित लोगों में स्थापित हो गया था। इससे ही भारतीय जनता पर नेहरू के असाधारण प्रभाव की बात समझ में आती है जो महात्माजी के प्रभाव से ढंग में तो भिन्न है लेकिन व्यापक प्रायः समान ही है।

नेहरू सहित किसी भी भारतीय नेता ने भारतीय जनता को इतनी तीक्ष्णता से और सहजता से नहीं समझा जितना महात्माजी ने। गांधीजी से भिन्न, नेहरू ने जनता के साथ पहनावे स्वभाव और रहन सहन के ढंग में अपने को एकात्म नहीं किया। वे तपस्या के लिए तपस्या में कोई गुण नहीं देखते और ग़रीबी को आदर्श मान कर चलने के विचार से वे घृणा करते हैं। उन्होंने बार बार कहा है, "मैं ग़रीबी से नफ़रत करता हूँ।"

फिर भी गांधीजी की तरह उनका हृदय गाँवों में बसता है, शहरों में नहीं। "भीड़ के मनोविज्ञान, शहर की जनता और किसानों में अन्तर को थोड़ा समझने" के आरंभ के विषय में वे लिखते हैं, "और मुझे लगा कि धूल और असुविधा में लोगों के बड़े जमाव के धक्के और ढकेलने में ज्यादा अच्छा लगता, यद्यपि उनकी अनुशासनहीनता से मैं अक्सर चिढ़ जाता था।" गांधीजी की तरह वे जनसाधारण के स्तर पर नहीं उतरे थे। जैसा कि वे उल्लेख करते हैं, उन्होंने अपना 'अलग मानसिक अड्डा' बना रखा था लेकिन गांधीजी की तरह नेहरू मानव सम्बन्धों में सामाजिक न्याय और शिष्टता की कामना से ओतप्रोत हैं। गांधीजी की तरह वे राजनीतिक के बाहरी खोल के भीतर सच्ची मानवता का केन्द्र छिपाए हुए हैं।

गांधीजी और नेहरू को एक गुण जनता से अप्रतिहत रूप से बाँधे हुए है। दोनों ही, यद्यपि भिन्न मात्राओं में, आत्मत्याग की भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो उन लोगों का प्रतीक है जिन्होंने ऐसे धन को तुच्छ माना है, जो आकर्षित तो करता है किन्तु बन्धन नहीं बनता। किसानों के मन में उन भारतीयों के प्रति सनातन रूप से आदर है जिन्होंने अपने देशवासियों के हित में सांसारिक वैभव का त्याग कर दिया है।

इस अद्भुत बात के विश्लेषण में नेहरू स्वयं असाधारण रूप से विनीत हैं। वे स्वीकार करते हैं, "बहुत बातों में मैं काफी घमंडी हूँ, लेकिन इन सामान्य लोगों की भीड़ में घमंड का कोई सवाल ही नहीं उठ सकता है। उनमें कोई दिखावट नहीं, हम मध्यवर्ग वालों में बहुतों की तरह जो अपने को उनसे अच्छा समझते हैं, उनमें कोई फूहड़पन नहीं है। व्यक्तिगत रूप से वे अरुचिकर, मंद अवश्य थे, लेकिन सामूहिक रूप से वे अपार करुणा और सर्वदा-सन्निकट संकट की भावना उत्पन्न करते थे।"

विनम्रता का वह भाव नेहरू के मन में चक्कर काटता रहता है और उससे कुछ लोगों को उनमें एक ऐसा सुधारवादी दिखाई देता है जो प्रजातंत्रीय ढंग के लिए बहुत चिन्तित न हो। भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का परिमाण बड़े से बड़े अहंभावी नेता को संभ्रमित और शुद्ध कर देगा। अगर वे इतिहास की भावना और जल्दबाज़ी से ग्रस्त हैं तो वह उन्हीं समस्याएँ के कारण जो उनके सामने हैं और जिस अन्तर्विरोध का वे प्रतिनिधित्व करते हैं। लोगों की भीड़ में रह कर जीवन बिताने का भाग्य लेकर वे सबसे अकेले लोगों में से हैं। फिर भी जनता उनमें जीवन जागृत करती है और वे भीड़ को व्यक्तिहीन इकाई के रूप में नहीं किन्तु जीवित और सचेतन व्यक्तियों के मिले-जुले समूह के रूप में देख कर उस अन्तर्विरोध का समाधान करते हैं।

नेहरू में नेता के बहुत से गुण हैं लेकिन उनमें एक बड़ी देन का अभाव है—कुछ काम को किसी और के हवाले कर उसके विकेंद्रीकरण की योग्यता का। वे सब काम खुद करना चाहते हैं। उनका चुपचाप रहना और दूसरों पर अविश्वास उन्हें लोगों का बुरा निर्णायक बनाता है, और जबकि जनता से अपने को बिना अलगाव अपने को हीन

सहायकों से घिरा रखते हैं। किसी समस्या का सामना होने पर वे इस बात का आग्रह करते हैं कि रोग दूर किया जाय, उसके लक्षण नहीं। लेकिन वे अपने में ही निदान करने वाले चिकित्सक, शल्यवैद्य और परिचारक के काम मिलाना चाहते हैं।

केंद्रीकरण की यही प्रवृत्ति दिमाग़ की नहीं बल्कि तरीक़े की यह आदत, कुछ लोगों को भारत के प्रधान मंत्री नेहरू में एक तानाशाही विशेषता देखने को प्रवृत्त करती है। बहुत से कामों का एक व्यक्ति में केंद्रीकरण अनिवार्य रूप से अधिकार के केंद्रीकरण को जन्म देता है, सीज़र के उपाख्यान की बढ़ती को जन्म देता है जो क्रम से ऐसे देश में प्रजा-तांत्रिक परंपरा का निर्माण करने में बाधक होता है जो लम्बे अरसे से विदेशी शासन का अभ्यस्त रह कर अधिकारियों की ओर नज़र लगाए रहा हो। लेकिन नेहरू में आवेग मूल प्रेरक-शक्ति होने से विनम्रता के भाव से तानाशाही का किसी सुविचारित इच्छा की अपेक्षा अधिक बल प्राप्त करता है। वे यह अनुभव करते हैं कि प्रजातांत्रिक प्रक्रियाएं निरकुंश शासन से कुछ अधिक धीमे होती हैं। "लेकिन," वे सचेत करते हैं "राष्ट्र में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन चीज़ को ठोस बनाने में वक्त लेता है। आप उसे लाद नहीं सकते।" किन्तु शायद एक व्यक्ति उसकी धीमी या तेज़ गति का निर्णय कर सकता है और उसे प्रभावित कर सकता है।

उनके बौद्धिक रईसाना ढंग में कुछ रूखापन नहीं है, यद्यपि चिढ़ जाने पर वे ज़बान के तर्रार हो सकते हैं। भारत के एक अंग्रेज़ मित्र होरेस अलेक्ज़ेंडर, जो क्वेकर भी हैं, अपने ढंग के दो ज़िक्र सुनाते हैं।

बर्मिघम की एक यात्रा में नेहरू अलेक्ज़ेंडर के साथ ठहरे थे जब सुप्रसिद्ध ब्रिटिश उपन्यास लेखिका नाओमी मिचिसन आईं। नेहरू से परिचय कराने पर वे अविलम्ब फ़र्श पर पलथी मार कर बैठ गईं।

कुछ चिढ़ कर नेहरू ने पूछा, "इस अजीब ढंग के क्या मतलब ?"

मिचिसन ने उत्तर दिया, "यही उचित लगा।"

नेहरू को विनोद नहीं लगा।

दूसरी ओर वे असाधारण रूप से प्रसन्न रह सकते थे, विशेष रूप से पादरियों जैसे व्यक्तियों के साथ जिनके साथ उनके कोई दृढ़ सम्बन्ध या समानता नहीं है। अलेक्ज़ेंडर एक डच पादरी के बारे में लिखते हैं जो "अब योरोप के गिरजा के सबसे प्रसिद्ध नेताओं में से है", जो नेहरू से पूरी तौर पर आकृष्ट हो गए थे।

उन्होंने अलेक्ज़ेंडर से कहा, "यह ठीक ऐसे ढंग का व्यक्ति है जो विचारों, अनुरक्ति, आज के युवकों के आदर्श को वश में कर सकता है, जो पीड़ित लोगों की निःस्वार्थ सेवा करनेवाला व्यक्ति है।"

यह बहुत ही अजीब है कि नेहरू ने कैंटरबरी के पूर्व आर्च बिशप, स्वर्गीय डा० लैंग में एक भिन्न ही प्रतिक्रिया उत्पन्न की, यद्यपि वह वैसी ही मनोनुकूल थी। डा० लैंग विंडसर के ड्यूक के गद्दी छोड़ने में प्रमुख रूप से प्रसिद्ध थे।

उनसे मिलने के बाद हिज़ ग्रेस (आर्च विशप) बोले, "आः हा ! कैसा आनन्द-प्रद और मनोहर व्यक्ति है। कौन कल्पना कर सकता है कि यह महाद्वीप को हिला सकता है ?"

बीस वर्ष की संधि-वेला में नेहरू को कल्पना नहीं थी कि वे महाद्वीप को हिला देंगे। शहरों को छोड़ कर गाँवों में जाने की गांधीजी की पुकार ने जवाहरलाल के सिवा और सैंकड़ों को देहातों की ओर भेजा। नेहरू की तरह वे भी भारत की खोज शुरू कर रहे थे। लेकिन किसी पर आघात ऐसा सीधा और ज़ोरदार नहीं पड़ा या उनमें काम की प्रेरणा ऐसी प्रबल न थी ।

अपने बेटे को निकट से देखते हुए मोतीलाल इन परिवर्तनों के प्रति संवेदनशील थे। पहले ही उन्होंने उन्हें जल्दबाज़ी में कुछ करने से रोका था जबकि गांधीजी की सत्याग्रह सभाओं के संगठन से जेल जानेवालों की बाढ़ का डर हुआ था। लेकिन अब जलियाँवाला बाग़ की घटनाओं ने उन पर विजय पाई और पंजाब में जो कुछ हुआ उसने उनकी देशभक्ति और गर्व दोनों को हिला दिया। उन्होंने नरम दल वालों का साथ छोड़ दिया था और दिसंबर १९१९ में अमृतसर कांग्रेस में उनकी अध्यक्षता ने उस संबंध विच्छेद पर मुहर लगा कर उसे प्रतीकात्मक रूप दे दिया ।

किन्तु अब भी इन्हें अपने बेटे को जेल जाने के ख़याल से समझौता करना मुश्किल लगा, और अपने लिए भी गांधीवादी राजनीति में कूद पड़ने के अर्थ अतीत से तीव्र अलगाव था। १ अगस्त १९२० को तिलक की मृत्यु असहयोग आन्दोलन के आरंभ के दिन से मेल खा गई। उसी दिन गांधीजी ने वायसराय, लार्ड चेम्सफ़ोर्ड के नाम एक पत्र में क़ैसरे हिन्द स्वर्ण पदक और जुलू युद्ध पदक के साथ अपने ब्रिटिश सम्मान और उपाधियाँ लौटा दीं ।

गांधीजी के असहयोग के कार्यक्रम पर विचार करने के लिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन सितंबर १९२० के प्रथम सप्ताह के लिए निर्धारित था। ११ अगस्त को गांधीजी ने अपने अहिंसा के सिद्धान्त की विवेचना और व्याख्या करते हुए यंग इंडिया में अपना प्रसिद्ध लेख लिखा था :

> मेरा विश्वास है कि जहाँ कायरता और हिंसा में चुनाव करना हो तो मैं हिंसा की सलाह दूंगा...कि अपने सम्मान की रक्षा करने के लिए भारत हथियारों का सहारा ले, बजाय इसके कि वह कायरतापूर्ण ढंग से अपने असम्मान का एक लाचार दर्शक हो जाय या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से बहुत ही अधिक श्रेष्ठ है, दंड देने से क्षमा कर देना अधिक मर्दानगी है। क्षमा सिपाही का भूषण है। लेकिन संयम तभी क्षमा होता है जब दंड देने की सामर्थ्य हो, जब वह किसी विवश जीव का बहाना हो तो उसके कोई अर्थ नहीं होते। जब चूहा अपने टुकड़े करवा डाले तो वह बिल्ली को क्षमा नहीं करता......शारीरिक सामर्थ्य से बल नहीं मिलता। वह तो अजेय

इच्छाशक्ति से आता है.....अहिंसा हमारी तरह के जीवों का नियम है जबकि हिंसा पशु का। पशु में आत्मा सोई पड़ी रहती है और वह शारीरिक बल के सिवा और कोई नियम नहीं जानता। मानव की प्रतिष्ठा उसे किसी ऊँचे आत्मबल के नियम का आज्ञापालन चाहती है। अपनी गत्यात्मक दशा में अहिंसा के अर्थ जानबूझ कर कष्ट सहना है। इसके अर्थ दुष्कर्म करनेवाले के आगे झुकना नहीं है, किन्तु इसके अर्थ होते हैं अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण आत्मा को लगा दे। इस नियम के अधीन कार्य करते हुए एक व्यक्ति के लिए भी यह संभव है कि अपने सम्मान, धर्म, आत्मा की रक्षा में एक अन्यायी साम्राज्य की सारी शक्ति को ललकारे और साम्राज्य के पतन या उसके सुधार की नींव डाले।

भारत को स्वतंत्रता की प्राप्ति में सत्ताईस वर्ष बीतना था। इस लेख में गांधीजी ने वह स्वर फूंके जिसकी पुकार पर इन महत्वपूर्ण वर्षों में उनके लाखों देशवासी आए।

जैसे-जैसे अगस्त बीतता गया और सितम्बर नज़दीक आया, गांधीजी ने अहिंसा के विद्रोह के सन्देश का प्रचार करते हुए देश का दौरा किया। १० अगस्त १९२० को मित्र देशों ने खलीफा के धार्मिक अधिकार कम करते हुए तुर्की पर सेवर्स की संधि लादी। इससे भारतीय मुसलमान क्रुद्ध हो गए और उन्होंने चमत्कारिक अली बन्धु, मुहम्मद और शौकत, के नेतृत्व में गांधीजी के साथ एक लक्ष्य बना लिया। अपने दौरों में महात्मा जी अली बन्धुओं के साथ थे और हिन्दू और मुसलमानों के बीच एकता हिन्दू मुसलमान की जय के जनप्रिय नारे से घोषित हुई। असहयोग के दो कार्यक्रम थे भारत की स्वाधीनता और खिलाफ़त* की भूलों का सुधार।

अमरीका में वर्षों देश निर्वासन में बिता कर हाल ही में लौटे हुए लाला लाजपतराय ने कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षता की। लगभग ग्यारह वर्ष पहले जब लार्ड मिंटो वायसराय थे, तब पंजाब में एक आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए वे भारत से निर्वासित कर दिए गए थे। इसके कारण उन्हें शेरे-पंजाब की उपाधि से पुकारा जाता था। यद्यपि अभी तक वे उग्र राष्ट्रीयता के समर्थक समझे जाते थे, वे असहयोग कार्यक्रम के विरुद्ध थे। इसे वे अवास्तविक और असंभाव्य मानते थे।

इसमें उनका समर्थन बंगाल के देशबंधु दास, श्रीमती एनी बेसेंट और मुहम्मद अली जिन्ना के साथ काफी पुराने नेताओं ने किया और जिन्होंने कांग्रेस के नागपुर में हुए दूसरे अधिवेशन के बाद इस संस्था से अपना संबंध विच्छेद कर लिया। मांटेग्यू चेम्सफ़ोर्ड सुधारों से स्थापित नई व्यवस्थापिका सभाओं के बहिष्कार के दास विशेष रूप से विरोधी थे।

मोतीलाल ने, जिन्होंने इस बात की चिन्ता में बहुत दिन बिताए थे, अन्त में महात्मा

---

* इस्लाम के प्रमुख की हैसियत से तुर्की के सुल्तान की धार्मिक उपाधि खलीफ़ा थी। खिलाफ़त के अर्थ सुल्तान का आधिपत्य होता है।

जी के अनुगमन का निश्चय किया। इस निश्चय के अर्थ पिछले व्यक्तिगत और राजनीतिक जीवन से पूर्ण विच्छेद था। लेकिन इससे वे अपने पुत्र के साथ क़दम मिला कर चलने में समर्थ हुए। असहयोग के सिद्धान्तों के अनुरूप उन्हें अपार धन देने वाली वकालत छोड़नी पड़ी, विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार करना पड़ा, अपने वहुत से ब्रिटिश मित्रों से दूर होना पड़ा और अपनी छोटी वेटी कृष्णा को उस ब्रिटिश स्कूल से हटा लेना पड़ा जहाँ वह पढ़ रही थी। उसे घर पर पढ़ाने के लिए शिक्षकों का प्रवंध करना पड़ा।

नेहरू स्वीकार करते हैं, "गांधीजी से मैं एक दम परास्त हो गया, किन्तु पिता के साथ वात भिन्न थी। वे मेरी तरह कूद नहीं सकते थे। यह प्रक्रिया समयव्यापी, यहाँ तक कि कष्टप्रद थी। पिता किसी की इच्छा के आगे झुकनेवाले नहीं थे। लेकिन एक वार किसी वात के समझ में आ जाने और निश्चय कर लेने पर वे कभी वदलते नहीं थे।"

देश में व्याप्त नई भावना कलकत्ता अधिवेशन में प्रतिभासित हुई, जहाँ पहली वार अधिकतर निम्न मध्यम वर्ग से आए और अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी के प्रयोग की ओर उन्मुख खादीधारी सदस्यों की प्रधानता दिखाई दी। एक नया संकल्प और उत्साह दिखाई पड़ता था। कांग्रेस का आधार विस्तृत हो रहा था। कांग्रेस की राजनीति में गांधी-युग का आरंभ हो चुका था।

इस प्रकार देश धीरे-धीरे लेकिन सामूहिक रूप में असहयोग की ओर वढ़ा। कलकत्ता ने गांधीजी का कार्यक्रम ग्रहण कर लिया किन्तु अन्तिम अधिकारिक स्वीकृति केवल दिसम्वर में नागपुर में वार्षिक अधिवेशन में दी गई। कलकत्ता में गांधीजी ने वचन दिया, "अगर मेरी योजना के लिए काफी समर्थन मिले तो हम एक वर्ष में स्वराज़ प्राप्त कर सकते हैं।"

कलकत्ता और नागपुर के अधिवेशनों के वीच गांधीजी देश के एक और विस्तृत दौरे पर निकल पड़े। उन्हें लगा कि न केवल जन साधारण किन्तु विशिष्ट वर्ग के लोगों का भी एक अच्छा भाग उनके संदेश और उनके आह्वान का समर्थक है। नई व्यवस्थापिका सभाओं के चुनावों का वहिष्कार, जो नववंर में हुए थे, विशेषतः सफल था और किसी एक अकेले तत्व से अधिक कांग्रेस के पुराने नेता महात्माजी के अनुयायी वन गए। प्रायः दो-तिहाई मतदाता अलग रहे। इलाहावाद के समीप एक छोटे क़स्वे के चुनाव के अपने अनुभवों का सम्वाद देते हुए **दि टाइम्स** लन्दन के सुप्रसिद्ध ब्रिटिश पत्रकार, सर वैलेंटाइन किरोल ने लिखा, "कोई ऐसी वात नहीं दिखाई पड़ती थी कि यह आधुनिक भारत के इतिहास में स्मरणीय दिवस था जो उसके निवासियों को आत्मशासन की महान् कला में दीक्षित कर रहा हो।...सवेरे के आठ वजे से वारह वजे के वाद तक पूरे दिन में एक भी मतदाता नहीं आया।"

२६ दिसम्वर को दक्षिण भारत के एक नेता श्री विजय राघवाचार्य की अध्यक्षता में नागपुर में कांग्रेस हुई। आरंभ में मुहम्मद अली जिन्ना द्वारा समर्थित देशवन्धु चित्त-रंजन दास ने कई वातों में असहयोग के कार्यक्रम का विरोध किया, विशेषतः कचहरियों

के बहिष्कार की माँग पर। किन्तु बहुत बड़ी बहुसंख्या ने गांधीजी का पक्ष लिया और थोड़े छोटे-मोटे संशोधनों के साथ मूल नागपुर प्रस्ताव साधारण अधिवेशन में पेश किया गया और पारित हो गया। वास्तव में देशबन्धु चित्तरंजन दास ने प्रस्ताव का समर्थन किया।

नेहरू ने लिखा, "हम में से बहुत लोग जो कांग्रेस के कार्यक्रम में लगे थे १९२१ में एक तरह के नशे में रहते थे। हम लोग उत्तेजना और आशा और खुशी के उत्साह से भरे रहते थे। हमें ऐसे व्यक्ति के आनन्द का अनुभव होता था जो सद्उद्देश्य में लगा हो।" पुराने संशय और भय गायब हो चुके थे। हवा में आशा फिर से व्याप्त थी। वर्ड्सवर्थ के साथ ही नेहरू को लगता :

उस उषःकाल में जीवित रहना परम सुख था,
किन्तु युवा रहना तो स्वर्ग ही था।

वे इकतीस के थे, और नए अनुभव के आश्चर्य और उत्तेजना, जिनकी समाप्ति वास्तविक उपलब्धि में हो, उनकी खोज में व्यस्त मन पर छा गए थे। १९२१ में लार्ड चेम्सफोर्ड के स्थान पर लार्ड रीडिंग आए। वे बड़ी ख्याति लेकर आए, क्योंकि वे संयुक्त राज्य (अमरीका) में राजदूत के पद पर और ब्रिटेन में प्रधान न्यायाधीश के पद पर सफलतापूर्वक कार्य कर चुके थे। शिष्ट और विनीत, सौम्य, व्यवहार कुशल, वे साधन सम्पन्न और तीव्र बुद्धि व्यक्ति थे, लेकिन उनमें महान् शासक का प्रमुख गुण न था। रीडिंग निर्णय लेने में अक्षम थे।

नए वायसराय के निमंत्रण पर गांधीजी मई के मध्य रीडिंग से शिमला में मिले, किन्तु उनकी बातचीत सद्भावनापूर्ण और स्पष्ट होने पर भी निर्णयात्मक न थी। छः बार बातचीत हुई, जिसमें कुल मिलाकर तेरह घंटे लगे और जो सेवर्स की संधि से लेकर स्वराज की व्याख्या तक थी। अपने पुत्र (वर्तमान लार्ड रीडिंग) के नाम एक पत्र में वायसराय ने लिखा : "हमारी बातचीत सबसे अधिक साफ थी; वे (गांधीजी) विशिष्ट व्यवहारयुक्त बहुत अधिक विनम्र थे......हमने जिन विभिन्न विषयों पर वार्ता की उनमें वे हर तरह अपनी बात पर क़ायम रहे।"

किन्तु भारत-ब्रिटिश सम्बन्ध बिगड़ रहे थे और दोनों ओर से आसन्न शक्ति प्रदर्शन की चर्चा थी। नई कल्पना और आदर्श से उत्प्रेरित भारतवासियों का नैतिक बल ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, ब्रिटिश अधिकारियों का धैर्य, जैसा लार्ड रीडिंग ने उस वर्ष बाद में स्वीकार किया, "हैरान और परेशान" होकर छूटने लगा। बच्चों की तरह वे अँधेरे में—अज्ञात अँधेरे में—चलने में डरते थे और बच्चों की तरह वे तरह-तरह की अभागी भयावह आकृतियों की कल्पना करते। अज्ञात का पुराना भय उन पर छाया हुआ था। दमन आरंभ हो गया।

१९२१ के इस निर्णयात्मक वर्ष के अधिकांश में संयुक्त प्रान्त के गाँवों का दौरा करते

हुए नेहरू ने ग्रामीण क्षेत्रों में तब तक काम किया, जब तक कि "एक्सेलसियर" के बालक की तरह एक विचित्र चिह्न—असहयोग का झंडा लिए, उनमें से अधिकांश में न हो आए। एक बार फिर किसानों के कष्ट और दुःखों में समभागी होते हुए उन्होंने उनके धैर्य और श्रम पर आश्चर्य किया और चिन्ता में लीन हो गए। हलों में बिना किसी विरोध के जुते हुए उनके ही बैलों की तरह वे चुपचाप श्रम करते रहते हैं। वे भारत के प्रतीक हैं क्योंकि वे भारत ही हैं—विनीत, शान्त, धैर्यवान, दृढ़, अपनी आँखों में प्रतिदानहीन श्रम की वेदना लिए हुए।

नेहरू उनके और समीप आए। और अमरीकी कवि एडविन मार्खम की "द मैन विद द हो" (कुदाली लिए मनुष्य) में उन्होंने अपने ही देशवासियों के कष्ट प्रत्यावर्तित देखे। वे उस कविता को प्रायः उद्धृत किया करते थे :

शताब्दियों के भार से वह झुका है,
अपनी कुदाली पर और धरती पर देखता है,
युगों की रिक्तता अपने चेहरे पर,
और अपनी पीठ पर संसार का बोझ।

....

इस त्रासद आकार से कष्ट भोगे युग देखते हैं;
काल का दुःख उस दुखते हुए झुकाव में
इस त्रासद आकार से मानवता दुखित,
लुटी, अपवित्र हुई और अधिकारच्युत
विश्व के न्यायकर्ताओं के आगे कलपती है,
एक विरोध जो कि भविष्यवाणी भी है।

भविष्यवक्ता से समृद्ध भारत विरोध में उठ रहा था।

६

जेल में

पूरे १९२१ भर देश विक्षोभ में था। कांग्रेस के अन्य नेताओं के साथ गांधीजी ने अपने अहिंसा के सन्देश का प्रचार करते हुए देश का दौरा किया। उनका आग्रह था कि स्वराज का रहस्य रचनात्मक कार्यों में है। गांधीजी ने कहा कि चर्खे के द्वारा भारत स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है और वे चर्खा-धर्म के प्रचार में लग गए जो भारतीयों की आँखों में शीघ्र ही देशभक्ति का और ब्रिटिश अधिकारियों के लिए राजद्रोह का प्रतीक बन गया। गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का भी आग्रह किया और अस्पृश्यता का अभिशाप दूर कर हिन्दुत्व को पवित्र करने को कहा। उन्होंने कहा, "मैं अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म पर सबसे बड़ा कलंक मानता हूँ।"

नेहरू ने अधिकतर देहातों में काम किया और ग्रामीण क्षेत्रों के निरन्तर भ्रमण ने उन्हें समूह के मन की तीव्र अन्तर्दृष्टि और उसके मनोविज्ञान की समझ दी। वे भीड़ में, विशेष रूप से किसानों की भीड़ में बड़े आराम से रहा करते। उनसे वे बिना किसी आत्मचेतना के सरलतापूर्वक बातें कर सकते। शहराती बैठक में या शहर के मंच पर वे इस आत्मचेतना से त्रस्त रहते। वे उनके विश्वास और उत्साह को संक्रामक समझते और उसके बदले में उन्होंने उनमें स्वराज का अर्थ और उसका सन्देश भरने की चेष्टा की। स्वतंत्रता अमृत की तरह स्वर्ग से नहीं टपकेगी। वह केवल लोगों के अनुशासित संकल्प से प्राप्त होगी और अहिंसात्मक असहयोग अनुशासन की कठोर पाठशाला है।

वे महात्माजी की ओर अधिकाधिक आकर्षित होते गए। उन्हें महात्माजी की बर्फ-सी शान्तवृत्ति में दबी एक आग का अनुभव हुआ और वे यद्यपि भगवद्गीता के अध्यात्म से आकर्षित नहीं थे लेकिन उसके श्लोकों को पढ़ना चाहते थे। गीता महात्माजी के आश्रम में रोज़ पढ़ी जाती थी। उसमें निर्देश है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए—"जो फल की चिन्ता किए बिना कर्म करता है, वह योगी है।" इस प्रकार अदभुत रूप से कर्म में प्रवृत्त और दृढ़ निश्चय गांधीजी के मानसिक सन्तुलन की सराहना करते थे और उस पर ईर्ष्या करते थे।

महात्माजी के इर्द-गिर्द कुछ चीज़ें ऐसी थीं जिन्हें वे नहीं समझ पाते थे, कुछ ऐसी चीज़ें थीं जिनसे वे सहमत नहीं थे। नेहरू को लगा कि गांधीजी के राजनीतिक उपदेशों

में एक पुनरुत्थानवादी झलक है जो उनको कभी-कभी धार्मिक सीमा को छूती धर्म भावना का सा ही उत्साह दे देती है। हिन्दू धर्म और इस्लाम को इतना महत्व क्यों दिया जाय? अचेतन रूप से ही सही मौलवियों और स्वामियों को राजनीति में पवित्रता और प्रार्थना की गन्ध मिलाने को क्यों प्रोत्साहन दिया जाय? गांधीजी के बार-बार स्वर्ण युग की तरह रामराज्य की ओर भारत को लौटने की बात से नेहरू परेशान हो जाते थे। किन्तु गांधीजी के देहावसान के वर्षों बाद तर्क-वितर्क की विशिष्ट मन की लहर में नेहरू ने महात्माजी के रामराज्य की व्याख्या "एक प्रकार के कल्याण-प्रद राज्य" से की। उस समय किसी तरुण व्यक्ति को प्रगति भविष्य के गर्भ में लगती। पिछली बातों को भूल जाना चाहिए।

लेकिन यह सब धुन की और विचित्रताओं की बातें थीं, और प्राय: आपस में गांधीजी की चर्चा करते हुए नेहरू और उनके सहकर्मी अपने को इस मज़ाकिया निश्चय से समझा लेते कि जब स्वराज आएगा तब उनकी इन सनकों को प्रोत्साहन नहीं दिया जायगा। अभी इन्हें बर्दाश्त कर लिया जाय। किन्तु नेहरू स्वीकार करते हैं कि "बचपन से लेकर किसी और समय की अपेक्षा १९२१ में मेरे मन के संस्कार धार्मिकता के अधिक समीप आ गए थे। फिर भी मैं बहुत ज़्यादा समीप नहीं आया था।" अहिंसक असहयोग के नैतिक और आचार पक्ष ने नेहरू को आकर्षित किया जो गांधीजी के इस आग्रह से भी प्रभावित थे कि अच्छे उद्देश्यों के साधन भी अच्छे होना चाहिए। गांधीजी में भारत के लोगों के मन और हृदय में झाँक कर देखने और उन तक पहुँचने का विचित्र, प्राय: विलक्षण गुण था। उनके तरीक़े अजीब हों, उनके विचार चाहे थोड़े बासी हों, लेकिन उस व्यक्ति में एक बुनियादी बल और संकल्प था जो वह दूसरों तक पहुँचा सकता था।

नेहरू ने ध्यान से देखा कि "उनमें ऊबड़-खाबड़ किनारे या तेज़ कोने नहीं हैं, मामूली लोगों का फूहड़पन नहीं जिसमें दुर्भाग्यवश हमारा मध्यवर्ग बढ़ा-चढ़ा है। भीतरी शान्ति प्राप्त कर वह उसे दूसरों तक फैला रहे हैं और जीवन के टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर पक्के और साहसी क़दमों से बढ़ रहे हैं।" प्राय: सभी बातों में गांधीजी नेहरू के पिता मोतीलाल से विपरीत स्वभाव के थे। किन्तु शारीरिक रूप से और स्वभावत: बिलकुल दो सिरों पर होते हुए भी, दोनों में एक प्राकृतिक शाहानापन था। गांधीजी में विनम्रता का गौरव था। मोतीलाल के इर्द-गिर्द शेर का सा परिवेश था। इन दोनों प्रबल रूप से विपरीत व्यक्तियों में पड़ कर नेहरू दोनों से प्रभावित हुए, समस्त समस्याओं में अपने पिता की विवेकपूर्ण समझ से और जनसाधारण से तत्काल बल लेकर और उसे उनमें पहुँचाने के गांधीजी के स्वभाव से।

असहयोग आन्दोलन का ज़ोर ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों ब्रिटिश अधिकारियों ने छोटे पैमाने पर दमन शुरू कर दिया। कुछ कांग्रेसी नेताओं के विरुद्ध रोक की आज्ञाएँ जारी की गईं। उन्हें कुछ क्षेत्रों और जिलों में प्रवेश करने से मना कर दिया गया। बहुत दूर

उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त में, बाद में फ्रंटियर गांधी नाम से विख्यात होने वाले, लेकिन उस समय जो कांग्रेस के सदस्य नहीं थे, वे खान अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ कथित राजद्रोहपूर्ण कार्यों के लिए गिरफ़्तार कर लिए गए और तीन साल के कारादण्ड के लिए दंडित हुए।

गांधीजी ने इससे डरने से इनकार कर दिया। उन्होंने लोगों से धैर्य रखने और अहिंसा को सावधानी से मानने की प्रार्थना की। लेकिन इस जन आन्दोलन ने जो अशान्ति की भावना उत्पन्न कर दी थी, वह अनेक प्रकार के सामूहिक संघर्षों में और देश के विभिन्न भागों में कुछ अनुशासन के कामों में प्रतिबिंबित हुई। ब्रिटिश सरकार से सैकड़ों लोगों ने जो सम्मान प्राप्त किया था वह लौटा दिया। स्कूलों और कालेजों के हज़ारों विद्यार्थियों ने—जैसा कि घटनाओं से सिद्ध हुआ—बिना आदेश के उन सरकारी संस्थाओं को छोड़ दिया जिनमें वे पढ़ते थे। उनमें से कुछ थोड़े से ही उन कुछ राष्ट्रीय संस्थाओं में ले लिए गए जो इस के लिए जल्दी में संगठित की गई थीं। रवीन्द्र नाथ टाकुर उनमें थे जो देश के युवकों की शिक्षा में किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप का विरोध करते थे और उन्होंने असहयोग का निषेध और नाशवाद के दर्शन के रूप में उसका विरोध किया। कवि ने लिखा, "मेरी प्रार्थना है कि भारत संसार के सब लोगों का प्रतिनिधित्व करे। भारत के लिए एकता सत्य है और विभाजन बुराई। एकता वह है जो प्रत्येक चीज़ को समझे और उसका आलिंगन करे; इसलिए वह निषेध से प्राप्त नहीं हो सकती है।"

इन शक्तिशाली विरोधों के रहते हुए आन्दोलन ने गति और बल प्राप्त किया। जुलाई १९२१ में खादी को प्रचलित करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने सारे विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करने और हाथ की बुनाई और कताई की आवश्यकता पर जोर देने के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। शराब की दूकानों पर धरना दिया जाने लगा। जुलाई के अन्तिम दिन गांधीजी ने बंबई में विदेशी कपड़ों की सार्वजनिक होली की अध्यक्षता की। यह ऐसी चेष्टा थी जिसका भारत से सहानुभूति रखने वाले अंग्रेज़, गांधीजी और टैगोर के मित्र, सब लोगों में चार्ली ऐंड्रयूज़ नाम से विख्यात, स्वर्गीय रेवरेंड चार्ल्स फादर ऐंड्रयूज़ ने प्रबल विरोध किया :

> जब आप मौलिक रूप से महान् नैतिक दुर्गुणों, मद्यपान, नशाखोरी, अस्पृश्यता, जातिवर्ग आदि पर बहुत बड़े प्रहार कर रहे थे, और जब आप अत्यन्त आश्चर्य-जनक और सुचारु कोमलता से वेश्यावृत्ति के कुरूप दुर्गुण से भिड़े थे तो मैं बहुत ही आनन्दित था। लेकिन विदेशी कपड़ों की होली जलाना और लोगों से कहना कि इन्हें पहनना धार्मिक रूप से पाप है, किसी के देशवासी नर-नारियों, दूरदेश के बहन भाइयों के हाथों तैयार किए श्रेष्ठ कार्य को, यह कह कर आग में नष्ट कर देना कि उनको पहनना "अपवित्र" है—मैं नहीं बता सकता कि यह सब मुझे कितना भिन्न लगता है। क्या आप जानते हैं कि अब आपकी दी हुई खादी पहनते मुझे डर लगता है कि कहीं मैं दूसरे लोगों को पारसी की तरह यह न कहने लगूं "मैं तुझसे अधिक पवित्र हूँ।" पहले मुझे ऐसा कभी नहीं लगा।

यह एक भविष्य कथन की झिड़की थी क्योंकि जब स्वाधीनता मिली तो बाद में
यह "तुमसे अधिक पवित्र" का रुख नेहरू के ही प्रति लक्ष्य किया गया था। औद्योगीकरण
पर गांधीजी के विचारों से सहमत न होते हुए जवाहरलाल ने अनुभव किया कि कांग्रेस
को किसान जनता के संपर्क में रखने में खादी की तरह के कुटीर उद्योगों के विकास में,
कुछ आर्थिक महत्व के अतिरिक्त राजनीतिक लाभ भी है।"

गांधीजी ने पारसी होने के अभियोग से इनकार किया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा,
"स्वदेशी में पक्का विश्वास रखने वाले के लिए खादी पहनने में कोई पारसियों का सा
आत्मसंतोष नहीं रहना चाहिए। पारसी धर्म का संरक्षक होता है। स्वदेशी के दृष्टि-
कोण से खादी पहनने वाला उस व्यक्ति के समान है जो फेफड़ों का उपयोग करता है।
एक प्राकृतिक और अनिवार्य काम करना ही है चाहे और लोग उसे अशुद्ध भाव से करें
या उससे बिलकुल अलग रहें।" दूसरे शब्दों में गांधीजी यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर
रहे थे कि भारतीय लोगों के लिए खादी का प्रचार स्वाभाविक और आवश्यक दोनों
ही है।

सारे भारत ने नई स्थापित व्यवस्थापिकाओं में गंभीरतापूर्वक की हुई अवास्तविक
बहसों और प्रेयरी घास के मैदानों में लगी आग की तरह देश में फैले गांधीजी के जन आन्दो-
लन के अन्तर को दिलचस्पी के साथ देखा। कहीं-कहीं लपटें उग्ररूप से उठीं। अगस्त
में मोपला लोगों ने यह समझ कर कि ब्रिटिश राज समाप्त हो गया है मारकाट शुरू कर
दी। मोपले दक्षिण भारत में मलाबार में बस गये अरबरक्त मिश्रित लड़ाकू मुसलमान
संप्रदाय हैं। उनके प्रमुख लक्ष्य स्थानीय महाजन थे जो हिंदू थे। सरकार उपद्रव
को शान्त करने में सफल हुई। इन उपद्रवों से अनजाने ही हिन्दू-मुस्लिम एकता को
बड़ी क्षति पहुँची, यद्यपि उसका प्रभाव तत्काल दिखाई नहीं पड़ा। जब १९२४ में
मुस्तफ़ा कमाल ने स्वयं ख़िलाफ़त समाप्त कर दी और अपने आप "दुनिया में ख़ुदा
फरिश्ते" बने खलीफ़ा को तुर्की से निकाल बाहर किया तो खिलाफ़त आन्दोलन
पड़ा; और उसके साथ ही हिन्दू मुस्लिम संबंध ख़राब हो गए। लेकिन यह सब बाद
में हुआ।

इस बीच ब्रिटिश अधिकारियों में आशंका और भय के बढ़ते हुए लक्षण दिखाई पड़े।
१० मई को जवाहरलाल की बहन सरूप का विवाह इलाहाबाद के एक युवक बैरि-
स्टर रणजीत पंडित से हुआ, जो बाद में नेहरू के निकट-मित्र हो गए। वे संस्कृत के
विद्वान, असाधारण योग्यता के व्यक्ति, अनेक योरोपीय और भारतीय भाषाएँ
बोलनेवाले भाषाविद्, पूर्वीय और पश्चिमी संगीत दोनों में अतिशय रुचि रखने वाले और
कला के लिए रुचि और प्रतिभा से संपन्न थे। प्रसिद्ध हिन्दू राजा विक्रमादित्य के काल
निर्देश करने वाले ईसा से ५७ वर्ष पूर्व आरंभ होने वाले संवत् पंचांग से देख कर उनके
विवाह का दिन हिन्दू प्रथा के अनुसार एक शुभ दिन को निश्चित हुआ। स्थानीय ब्रिटिश
अधिकारियों में शीघ्र ही कानाफूसी शुरू हुई कि विवाह के दिन विद्रोह शुरू होगा। पूछ-

ताछ पर पता चला कि एक रुचिकर यद्यपि मनोरंजक संयोग से १० मई १८५७ के विद्रोह की. वर्षगांठ थी।

वर्ष भर कांग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारियाँ चलती रहीं। सितम्बर के शुरू में भारतीय सेना में राजद्रोह भड़काने के लिए अली बंधु गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें दो वर्ष की सख्त सजा दी गई। कुछ कथित राजद्रोहात्मक भाषणों के लिए नेहरू को गिरफ्तारी की धमकी दी गई लेकिन वर्ष के अन्त तक उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई। इस प्रबल विस्फोटक स्थिति में वेल्स के राजकुमार की जो अब विंडसर के ड्यूक हैं, भारत यात्रा की व्यवस्था हुई। भारतीय मन को ग़लत तरह से समझते हुए अधिकारियों ने समझा कि ब्रिटिश राजघराने के प्रति परम्परागत भक्ति से राजकुमार की उपस्थिति लोगों के मन को उत्तेजित करेगी और भारत और ब्रिटिश राजा के सम्बन्ध दृढ़ करेगी। इसमें उन्होंने भयानक भूल की।

इस बात पर जोर देते हुए कि इससे उसका मतलब ब्रिटिश राजघराने का अपमान करना नहीं है, कांग्रेस ने इस आधार पर कि अधिकारी उनकी उपस्थिति से राजनीतिक प्रयोजन के लिए लाभ उठा रहे हैं, राजकुमार की यात्रा से संबंधित सभी समारोहों का बहिष्कार करने की घोषणा की। १७ वीं नवम्बर को वेल्स के राजकुमार बम्बई में उतरे और उनके आगमन से तीन दिन तक तत्काल दंगों और अग्निकांड का तांडव शुरू हो गया। इन उपद्रवों में पुलिस के गोली चलाने से पचास से ऊपर लोग मारे गए और लगभग चार सौ घायल हुए।

गांधीजी ने कहा, "जो स्वराज मैंने पिछले दो दिनों देखा है उसने मेरी नाक में दुर्गन्ध भर दी है।

उन्होंने यह प्रतिज्ञा करते हुए प्रायश्चित स्वरूप अनशन आरंभ किया कि यह तभी भंग होगा जब शांति स्थापित होगी। इससे इच्छित प्रभाव हुआ और २२ वीं नवंबर को गांधीजी ने अपना अनशन तोड़ दिया। लेकिन सविनय अवज्ञा की भावना जागृत थी। व्यापारिक संस्थाओं और स्कूलों सहित जन-जीवन का संपूर्ण रूप से बन्द रहना वहाँ हुआ जहाँ-जहाँ वेल्स के राजकुमार गए। सूनी सड़कों ने उनका स्वागत किया। उनके सम्मान में किए गए समारोहों का बहिष्कार हुआ। अब तक सरकार व्यक्तिगत गिर-फ्तारियों से सन्तुष्ट थी, लेकिन अब घटनाक्रम से घबरा कर उसने सामूहिक गिरफ्तारियों का निश्चय किया। १९ वीं नवम्बर को कांग्रेस और खिलाफ़त के सारे संगठन ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिए गए और दिसंम्बर के आरंभ में वार्षिक कांग्रेस अधिवेशन के मनोनीत अध्यक्ष देशबन्धु दास अन्य बहुतेरे लोगों के साथ गिरफ्तार कर लिए गए। दास अपने देशवासियों के नाम एक प्रेरक संदेश छोड़ गए: "यह सारा का सारा भारत एक बड़ी जेल है। कांग्रेस का काम चलाते रहना होगा। मैं गिरफ्तार कर लिया जाता हूँ या छोड़ दिया जाता हूँ, इससे कुछ नहीं बनता। असल बात तो यह है कि मैं जीवित हूँ या मर गया हूँ।"

इसी तरह की सामूहिक गिरफ्तारियाँ पंजाव, विहार और नेहरू के निवास के राज्य संयुक्त प्रान्त में हुईं। वहाँ सभा के लिए इकट्ठे प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के लगभग पचपन सदस्य सब एक साथ गिरफ्तार कर लिए गए। इन घटनाओं के नाटक ने कांग्रेस के वाहर वहुतेरे लोगों को प्रभावित किया और जैसा कि नेहरू लिखते हैं, ऐसी भी घटनाएँ थीं कि यहाँ तक कि "सरकारी वावू लोग शाम को अपने दफ्तरों से लौटते हुए, इस धारा में वहकर अपने घर की वजाय जेल पहुँच गए।" अगर सरकार जेलें भरना चाहती तो हज़ारों उसके लिए तैयार थे।

काम से व्यस्त दिन भर के वाद छठी दिसम्बर की शाम को देर से आनन्द भवन आकर जवाहरलाल ने देखा कि पुलिस वहाँ की तलाशी ले रही है। वे लोग उनके पिता और उनकी गिरफ्तारी के वारंट लेकर आए थे। यद्यपि जवाहरलाल और मोतीलाल पर विभिन्न अपराध लगाए गए थे और दूसरे ही दिन विभिन्न कचहरियों में उनका मुक़दमा हुआ, लेकिन सज़ा एक ही थी—छः महीने की जेल। मोतीलाल का अपराध था कि वे कांग्रेस स्वयंसेवकों की गैरक़ानूनी संस्था के सदस्य थे। जवाहरलाल पर अभियोग था कि उन्होंने हड़ताल के नोटिस वाँटे। सही तौर पर उस समय के क़ानून में यह कोई अपराध न था। लेकिन अधिकारियों को इस वात का पता वाद में चला। उन्होंने उन्हें तीन महीने जेल में रहने के वाद छोड़ दिया।

मुक़दमे जल्दवाज़ी में किए गए थे। मोतीलाल का अपराध प्रमाणित करने के लिए उनके हस्ताक्षर किया हुआ कांग्रेस सदस्यता का फ़ार्म पेश करना ज़रूरी था। इस तरह का एक फ़ार्म पेश किया गया और चिथड़े पहने एक अपढ़ गवाह ने फार्म को उल्टा पकड़ कर गंभीरतापूर्वक शपथ ली कि दस्तख़त मोतीलाल के ही हैं। न तो मोतीलाल और न जवाहरलाल ही ने कोई वचाव पेश किया, क्योंकि यह कांग्रेस का नियम था कि कचहरियों का वहिष्कार करें। मोतीलाल के मुक़दमे के पूरे समय, उस समय चार वर्ष की इंदिरा, अपने दादा की गोद में वैठी रही। यह उसका कचहरी के कठघरे का पहला अनुभव था।

सजा मिलने पर मोतीलाल ने अपनी ओर से और अपने वेटे की ओर से जेल के वाहर के अपने साथियों को एक संदेश भेजा :

> आप लोगों के साथ रह कर अपनी पूरी योग्यता से आप की सेवा करने के वाद यह मेरा विशेष अधिकार है कि मैं अपने इकलौते पुत्र के साथ जेल जाकर मातृभूमि की सेवा करूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि हम शीघ्र ही स्वतंत्र व्यक्तियों की तरह मिलेंगे। विदाई में मुझे एक ही शब्द कहना है—अहिंसक असहयोग विना रुके जारी रखिए जव तक कि स्वराज न मिल जाए। हज़ारों लाखों स्वयंसेवक भरती कीजिए। भारत में स्थित स्वतंत्रता के एकमात्र मन्दिर—जेल—की तीर्थयात्रा की ओर चलना अटूट धारा में चलने दीजिए। जैसे जैसे दिन वीतते जायँ इस धारा की शक्ति और परिमाण वढ़ाते रहिए।

दिसम्बर १९२१ और जनवरी १९२२ के महीनों में लगभग ३०,००० लोग अपने राजनीतिक कार्यों के लिए गिरफ़्तार किए गए।

उन दिनों जेल अज्ञात स्थान था। लेकिन सामान्य वातावरण के तनाव में जैसे ही लोहे के फाटक बन्द हुए जवाहरलाल एक उत्तेजना की चुभन को स्वीकार करते हैं। शीघ्र ही जेल जाना स्वभाव हो गया था। उस क्षण तो नएपन ने एक उल्लास का भाव उत्पन्न कर दिया।

लखनऊ जेल, जहाँ नेहरू रखे गए थे, अधिकांशतः कई भारी-भारी बैरकों का था जहाँ बहुसंख्यक राजनैतिक क़ैदी रखे गए थे। मोतीलाल और जवाहरलाल एक पुराने बुनाई के शेड में रखे गए जो काफ़ी खुली जगह में बना था। जवाहरलाल के दो चचेरे भाइयों के साथ पिता और पुत्र इस बाड़े में बीस फ़ीट लम्बे सोलह फ़ीट चौड़े छोटे शेड में रहे।

इन लोगों के लिए जेल अगर नई चीज़ थी तो इतनी अधिक संख्या में राजनैतिक क़ैदी भी जेलवालों के लिए नई चीज़ थे। वे समझ नहीं पाए कि उनका क्या किया जाय—जेल के नियमों की पुस्तक में इस बारे में कुछ नहीं था। उन शुरू के दिनों में राजनैतिक क़ैदियों को किसी मात्रा में स्वतंत्रता थी। समाचार पत्रों की अनुमति थी और संबंधियों से भेंट उदारतापूर्वक स्वीकृत होती थी। बाद में रहन-सहन और गतिविधि परिसीमिति कर दिए गए। किन्तु यह शान्ति के दिन थे।

नेहरू अधिक समय बहस और बातचीत में बिताते थे। समाचारपत्रों से वे बाहर आन्दोलन की प्रगति का अनुमान लगा लेते। उन्होंने दिसम्बर के अन्त में अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन के विषय में पढ़ा, जिसकी अध्यक्षता प्रसिद्ध मुस्लिम नेता हकीम अजमल खाँ ने दास की अनुपस्थिति में की। दास जेल में थे। गांधीजी अब भी मुक्त थे। अहमदाबाद में कांग्रेस की सभा में पहली बार अपनी प्रसिद्ध लुंगी पहन कर—उसे उन्होंने सितम्बर में ग्रहण किया था—महात्माजी ने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें कहा गया कि "सारे सरकारी क़ानूनों और संविधानों की उग्र रूप से सविनय अवज्ञा की जाय, अहिंसा के लिए, सरकार के निषेध के रहते भारत भर में सर्वसाधारण की सभाओं को करना जारी रखा जाय, और सारे भारतवासियों को स्वयंसेवक सेना में भरती होकर शान्तिपूर्वक गिरफ़्तारी के लिए अपने को पेश किया जाय।'

गांधीजी ने साल भर में स्वराज प्राप्ति की अपनी प्रतिज्ञा को वापस नहीं लिया था। लेकिन उनके आन्दोलन ने एक बड़ी चीज़ पा ली थी। उसने लोगों के मन को पुरानी हथकड़ी-बेड़ियों से मुक्त कर दिया था।

जेल में जीवन शांतिपूर्वक चल रहा था। सवेरे जवाहरलाल अपने छोटे शेड को साफ़ करते और धोते और रोज़ की अपनी कताई करते। उन्हें अपने और अपने पिता के कपड़े धोने में अजीब आराम मालूम होता। कुछ दिनों के लिए पढ़े-लिखे राजनैतिक क़ैदियों ने अपने अशिक्षित साथियों के लाभ के लिए हिन्दी और उर्दू और दूसरे प्रारंभिक विषयों में

A.

कक्षा चलाई, लेकिन जब जेल के अधिकारियों ने विभिन्न बैरकों में आने जाने या संपर्क को रोक दिया तो यह समाप्त हो गए।

आनेवाले वर्षों में नेहरू बहुत-सी जेलों के भीतर की विभिन्न दशाओं को जान गए। जेल से दो लाभ हुए जिनका उल्लेख नेहरू आगामी वर्षों में प्रायः करते। इससे उन्हें आराम करने और लिखने का अवकाश ज़बर्दस्ती मिला। यद्यपि तुच्छ रुकावटों और जेल की दीवारों से पीड़ित होकर वे प्रायः दुखी हो जाते और चिढ़ जाते, लेकिन उन्होंने संकुचित घेरों से समझौता करना सीख लिया। उनके जेल के बहुतेरे साथियों ने उनके अद्भुत लचीलेपन, और मानसिक और शारीरिक कार्यों में उत्साह की साक्षी दी है। आजकल कांग्रेस से भिन्न मतावलम्बी और विचारों से सदा कृपालु न रहनेवाले आचार्य कृपालानी लिखते हैं, "उनकी तरह-तरह की रुचियाँ और जीवनी-शक्ति हमारे ऊपर थोपे सामुदायिक अस्तित्व के लिए शक्ति और मनोरंजन का स्रोत थीं।"

जेल में नेहरू सदैव बाग़बानी के प्रेम में रुचि लेते रहे। वे अपनी पाकशास्त्रीय प्रतिभा पर गर्व करते हैं, यद्यपि अफ़वाह यह है कि वह चाय बनाने और अंडे तलने से आगे नहीं जाती।

जेल के साथी की तरह लिखते हुए उनके विषय में तीखी बोली वाले कृपालानी ने लिखा, "वे लड़के की तरह हँस सकते हैं और जब उन पर ही न हो तो मज़ाक का आनन्द ले सकते हैं।"

जवाहरलाल में मज़ाक उड़ाने के लिए अतिशय स्त्रैण भावना है और भारत के प्रथम साधारण चुनाव में वे कम्यूनिस्ट व्यंग्य चित्रकार पर विशेष रूप से क्रुद्ध हो उठे थे जिसने उनके आकार को फूला हुआ रईस चित्रित करने के लिए बढ़ा दिया था।

बाहर की ही तरह जेल में नेहरू में व्यवस्था और सफ़ाई का बड़ा जोश था। बहुत कठोर नियम के अनुसार काम करते और आराम करते हुए वे अपने अनुशासन का भाव अपने साथियों पर भी लागू करना चाहते थे। दूसरी तरफ बीमार साथी के लिए कोई भी अधिक चिन्तित नहीं था, और जेल में रहते हुए नेहरू के बारे में ज्ञात था कि वे एक अस्वस्थ या रोगी सहकर्मी के पास रात भर बैठ कर उसकी परिचर्या करते थे।

उनकी बाद की जेल की एक अवधि में एक अंग्रेज़ क्वेकर मित्र, मुरियल लेस्टर उनसे मिले। उन्होंने उन्हें घबराए और उत्तेजित पाया और उनकी कोठरी के चारों ओर बर्रों का समूह भनभना रहा था।

उन्होंने पूछा, "यह आपको तंग नहीं करतीं?"

नेहरू ने अपनी लड़कों की-सी मुस्कुराहट से ऊपर ताका मानो किसी स्मृति ने उनका मनोरंजन किया हो।

उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ, पहले तो उन्होंने मुझे बहुत तंग किया। मैं उन्हें मारता रहा, लेकिन मारी हुई बर्रों की जगह लेने के लिए बराबर नई उड़ आती थीं। कई दिनों के इस युद्ध के बाद मैंने अहिंसा के प्रयोग का निश्चय किया। मैंने और अधिक हत्या न करने

की प्रतिज्ञा करते हुए और उन्हें कोठरी के अपने भाग—खिड़की में रहने को कहते हुए एक संधि की घोषणा की।" वे फिर मुस्कुराए। "यह सफल रहा। उसके बाद मुझे कोई परेशानी नहीं हुई।"

लखनऊ जेल में आहिस्ता आहिस्ता दिन बीतते गए।

अचानक १९२२ की फरवरी के बीच गांधीजी ने यकायक अपने सामूहिक सविनय अवज्ञा के आन्दोलन को स्थगित करने का निश्चय किया। वह कारण जिसने यह कार्यवाही करने को प्रेरित किया वह संयुक्त प्रान्त के गोरखपुर ज़िले के चौरी चौरा गाँव में सामूहिक हिंसा का उपद्रव था। एक जुलूस के बाद उन पर पुलिस के गोली चलाने से गाँव के बहुत से लोगों ने क्रुद्ध होकर स्थानीय थाने को घेर लिया जहाँ लगभग बाईस सिपाहियों ने आश्रय लिया था, और थाने के अन्दर के लोगों सहित उस मकान को जला डाला।

इस हत्याकांड से गांधीजी त्रस्त हो उठे। यद्यपि उस समय वे पश्चिमी भारत के बारदोली में सामूहिक सविनय अवज्ञा का स्थानीय आंदोलन आरंभ करनेवाले थे, किन्तु उन्होंने समस्त असहयोग आन्दोलन बन्द करने का आदेश दे दिया। उसके स्थान पर उन्होंने लोगों को कातने, मद्यनिषेध, समाज सुधार और शिक्षा के रचनात्मक कार्यक्रम का अनुगमन करने की सलाह दी।

जवाहरलाल और उनके पिता इस आकस्मिक निर्णय से परेशान हो उठे। चौरी-चौरा की घटना कितनी ही भयानक क्यों न हो, क्या प्रत्येक छिटपुट उपद्रव के मतलब स्वतंत्रता के संघर्ष को रोक देना होगा? इस प्रकार की घटनाओं का कौन ज़िम्मा ले सकता है? अगर अहिंसा ही अपने आप में लक्ष्य हो तो साधन रूप में वह सदा असफल रहेगी। इसके सिवा पहल सरकार के हाथ में रहेगी, जिसे सदा ही किसी भी अहिंसक आन्दोलन को वापस लेने के लिए काफी विवश करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की शक्ति रहेगी। मोतीलाल ने कहा कि हिमालय की तलहटी के एक नगर को रासकुमारी के किसी गाँव के अहिंसा न पालन करने के लिए क्यों सज़ा दी जाय?

इन तर्कों से गांधीजी अप्रभावित रहे। उन्होंने लिखा, "शत्रु को हमारे झुक जाने पर या तथाकथित पराजय पर आनन्द मनाने दो। कायरता और कमजोरी का आरोप अपनी प्रतिज्ञा से हटने या भगवान् के विरुद्ध पाप के अपराध से अच्छा है। संसार के सामने झूठा बनना अपने प्रति झूठे बनने से लाख बार अच्छा है।" २४ वीं फरवरी को जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सभा दिल्ली में हुई तो आन्दोलन वापस लेने के लिए गांधी जी पर चारों ओर से धावा बोल दिया गया। शान्तचित्त उन्होंने मोतीलाल और लाला लाजपत-राय की चिट्ठियाँ पढ़ कर सुनाईं। उस समय दोनों जेल में थे। उन्होंने उनके कार्य की निन्दा की थी। गांधीजी ने धीरे से किन्तु दृढ़ता से कहा कि जो जेल गए हैं वे बाहर वाले की हैसियत से मृत हैं और न तो दावा कर सकते हैं और न उनसे अपेक्षा की जा सकती है कि वे उन लोगों को सलाह दें जो बाहर हैं। यद्यपि अन्त में उन लोगों ने उनके काम

की पुष्टि की लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि कुल मिला कर वे उनके तर्कों से आश्वस्त नहीं हुए ।

इसके तुरत वाद जवाहरलाल इस तकनीकी आवार पर रिहा कर दिए गए कि उन्हें ग़लत ढंग से सज़ा हुई। उनकी माता और कमला के लिए और वहुत से आने वाले ज़वर्दस्ती के विछोहों में यह पहली वार की जेल थी। उन्होंने उनके साथ कुछ दिन आनन्द भवन में विताए और तव गांवीजी से उनके अहमदावाद के आश्रम में मिलने का निश्चय किया। नेहरू के आने के पहले शुक्रवार १० वीं मार्च की रात को गांवीजी गिरफ्तार कर स्थानीय सावरमती जेल ले आए गए। गांवीजी अपने साथ जेल में एक और लुंगी, दो कम्वल और पाँच कितावें ले गए, जिनमें एक प्रति सर्मन ऑन दि माउंट की थी जो कैलिफ़ोर्निया के स्कूल के कुछ वच्चों ने उन्हें भेजी थी।

नेहरू उनसे सावरमती में मिले। वाद में वे उनके मुक़दमे को देखने गए जो एक व्रिटिश न्यायावीश सर रॉवर्ट ब्रूमफ़ील्ड ने किया। उन्होंने महात्माजी के साथ वीरतापूर्ण, सम्मानजनक और सद्भाव का व्यवहार किया। उन्हें छः वर्ष की जेल हुई, वही अवधि जिसके लिए तेरह वर्ष पहले तिलक को सज़ा मिली थी।

अपराव स्वीकार करते हुए गांवीजी ने कहा था, "मेरा विश्वास है कि असहयोग के द्वारा उस अस्वाभाविक स्थिति से जिसमें भारत और इंग्लैंड हैं, निकलने का रास्ता दिखाकर मैंने भारत और इंग्लैंड दोनों ही की सेवा की है। मेरी राय में वुराई से असहयोग उतना ही कर्तव्य है जितना भलाई से सहयोग करना।"

उन्हें दंड देते हुए सर रॉवर्ट ब्रूमफ़ील्ड ने यह लिखा था :

क़ानून व्यक्तियों का सम्मान नहीं करता। किन्तु इस तथ्य की उपेक्षा करना असंभव है कि आप ऐसे किसी व्यक्ति से भिन्न श्रेणी में हैं जिसका मैंने मुक़दमा कभी किया है या कभी करूँगा। इस तथ्य की उपेक्षा करना असंभव है कि अपने लाखों देशवासियों की नज़र में आप महान् देश भक्त और महान् नेता हैं। जो लोग आप से राजनीति में मतभेद रखते हैं वे भी आपको महान् आदर्श और उच्चाशय और सावु जीवन...का व्यक्ति मानते हैं। भारत में शायद कुछ ही लोग हैं जो सच्चे हृदय से इस वात पर अफ़सोस न करते हों कि आपने किसी भी सरकार के लिए यह असंभव कर दिया है कि वह आपको स्वतंत्र छोड़ दे। लेकिन वात यह है ...मैं कहना चाहूँगा (सज़ा सुनाते हुए) कि भारत में घटनाक्रम सरकार के लिए यह संभव कर दे कि यह अवधि कम कर दे और आपको छोड़ दे, तो मुझसे अविक प्रसन्नता और किसी को न होगी।

नेहरू भावुकता से भरे लौट आए। वे न्यायावीश की विनयशीलता से उतने ही प्रभावित थे जितना कि गांवीजी के शान्त किन्तु अनमनीय साहस से। कवयित्री सरोजिनी नायडू ने भी मुक़दमा देखा था। उन्होंने उसे दूसरे भावों में देखा। उन्होंने लिखा :

मेरी कल्पना शताब्दियों से होती हुई एक भिन्न देश और भिन्न युग में पहुँच गई जब

इसी प्रकार का एक नाटक खेला गया था और एक अन्य दैवी और सज्जन गुरु एक इसी प्रकार के सत्य का इसी प्रकार के साहस से प्रचार करते हुए सूली पर चढ़ा दिया गया था। मुझे अब अनुभव हुआ कि नाँद में पले, नज़ारथ के विनीत ईसा का ही एकमात्र इतिहास इस भारतीय स्वतंत्रता के अजेय पुजारी का है जिसने मानवता को अपार भाव से प्यार किया है और उनके ही सुन्दर वाक्यांश का प्रयोग करते हुए "ग़रीब के मन से ग़रीबों के पास गया है।"

नेहरू के लिए स्वाधीनता के मुश्किल से पाँच सप्ताह रहे। अपने पिता और अपने बहुसंख्यक साथियों के जेल में रहते उन्हें बाहर बहुत ही दुःख अनुभव हुआ। नेताओं की विवशता की अनुपस्थिति से कांग्रेस की व्यवस्था बिगड़ गई थी और नेहरू ने कुछ हानि को ठीक करने का प्रयत्न किया। सविनय अवज्ञा के लिए जनता में विस्तृत उत्साह रहने पर भी, जनसाधारण को उसे स्वयं ही चला लेने की अब तक कम ही शिक्षा मिली थी, और नेताओं द्वारा सावधानी से निर्मित संगठन और अनुशासन उनके जेल में रहने से ग़ायब हो रहा था। इस बात का बहुत सच्चा खतरा था कि बुरे या प्रतिक्रियावादी लोग कांग्रेस में भरती हो जायँ और अपने मतलब के लिए संगठन पर अधिकार कर लें। इस बात से गांधीजी का सविनय अवज्ञा रोक देने का निश्चय बुद्धिमत्तापूर्ण, साहसी और समयोचित था।

उस समय जवाहरलाल ने इसको इस दृष्टिकोण से नहीं देखा था। लेकिन उन्होंने गांधीजी की आज्ञा पालन की। जेल से बाहर उन्होंने अपने को विशेष रूप से खादी के प्रचार और विदेशी कपड़े के बहिष्कार में लगाए रखा, जो महात्माजी के रचनात्मक कार्यक्रम में महत्वपूर्ण थे। ऐसा करने में वे अधिकारियों की नज़र में खटकने लगे। उन्हें पता चला कि यद्यपि इलाहाबाद के क़रीब क़रीब सभी कपड़े के व्यापारियों ने विदेशी कपड़ा विदेशों से न मँगाने या न खरीदने की प्रतिज्ञा कर ली है और इस काम के लिए एक संघ बना लिया है, उनमें से कुछ, विशेष रूप से बड़े व्यापारी, चोरी-छिपे ऐसा कर रहे हैं। कहने-सुनने से कोई विशेष परिणाम न निकला और हस्तक्षेप करने में संघ शक्तिहीन लगा। तब नेहरू ने निश्चय किया कि अपराध करने वालों की दूकानों के आगे धरना दिया जाय। यह कार्यवाही प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई लेकिन इसने सरकार को कुपित कर दिया। उसने जवाहरलाल और उनके कुछ साथियों की गिरफ्तारी के लिए वारंट जारी किए। उनके विरुद्ध अपराधपूर्ण डराने और ज़बर्दस्ती पैसे वसूल करने के आरोप थे। इसके अतिरिक्त नेहरू पर राजद्रोह का अभियोग था।

उन्होंने अपना बचाव नहीं किया लेकिन एक बयान दिया जो अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करने से अधिक जनता का नैतिक बल ऊँचा करने के लिए था। तीनों अभियोगों पर उन्हें साथ-साथ कुल मिला कर एक वर्ष नौ महीने की सज़ा मिली। अपने वक्तव्य के दौरान उन्होंने कहा, "प्रेम और भक्ति हृदय की चीज़ होती हैं। वे बाज़ार में खरीदी नहीं जा सकतीं, संगीन की नोक पर तो ज़बर्दस्ती और भी नहीं ली जा सकतीं। हम अपने देश और अपने विश्वास के लिए लड़ रहे हैं। मैं बहुत अधिक खुशी से और स्वेच्छा से जेल

जाऊँगा। जेल तो हम लोगों के लिए सचमुच स्वर्ग हो गया है, तीर्थयात्रा का पवित्र स्थान। मैं अपने सौभाग्य पर आश्चर्य करता हूँ। स्वतंत्रता के संग्राम में भारत की सेवा करना कहीं सम्मानजनक है। गांधीजी ऐसे नेता के अधीन और भी सौभाग्य की बात है। और प्रिय देश के लिए कष्ट सहना! एक भारतीय के लिए और कौन सी सौभाग्य की बात हो सकती है बशर्ते कि अपने शानदार सपने को पूरा करने के इरादे में मौत ही न हो?"

वे और सात बार जेल गए। अब छः हफ़्ते की आज़ादी के बाद वे फिर जेल वापस आ गए। उन्होंने देखा कि लखनऊ ज़िला जेल के अन्दर की हालत बहुत ज़्यादा बदल गई है। जवाहरलाल के छूटने के तुरत बाद मोतीलाल दूसरी जेल—नैनीताल की पहाड़ी जेल—में स्थानान्तरित कर दिए गए, और उनके जाने के बाद लखनऊ में जेल के क़ानून और सख्त हो गए। अब नेहरू ने अपने को क़रीब पचास आदमियों के साथ एक बैरक में भरा हुआ पाया। हरएक बैरक, "जेल के अन्दर जेल" थी।

यद्यपि वे अपनी बैरक के अधिकांश साथियों को जानते थे, लेकिन अकेले स्थान के अभाव से वह दुखी थे और सबके सामने रोज़ नहाना और कपड़े धोना, बैरक की चौहद्दी में सबके साथ चलफिर कर व्यायाम करना, निरन्तर तब तक बातचीत और बहस करना जब तक समझ की बातचीत कम से कम रह जाय, इससे उनके स्नायु परेशान हो गए और थक गए। नेहरू ने लिखा, "यह पारिवारिक जीवन का आनन्दहीन पक्ष था जो सौगुना बड़े रूप में दिखाई देता था, जिसमें अच्छाइयाँ और प्रतिफल कम ही थे, और यह सब प्रकार और रुचियों के लोगों के बीच था।"

वर्षा दूर नहीं थी और मेह जल्दी ही आ गया। साथ रहने की अपनी सारी क्षमता प्रायः समाप्त कर जवाहरलाल अपने में ही सिकुड़ गए। जब वे खुले में लेट कर आसमान को और बादलों को न देखते तो पढ़ने में समय बिता देते। वे प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति सदा संवेदनशील रहे और अब कटिबन्धीय सूर्योदय या सूर्यास्त को देखने के आनन्द से वंचित, अपनी बैरक के भूरे पत्थर की दीवारों के अन्दर रंग की दृश्यावली से अलग होकर वर्षाऋतु के आकाश को ध्यान से देखते रहने में उन्हें एक गंभीर, प्रायः ऐंद्रिय सुख प्राप्त होता। जेल में समय का कोई महत्व नहीं। बैरक के खुले आँगन में लेट कर आकाश पर धीरे-धीरे उड़ते बादलों को ताकने में वे घंटों बिता देते और उनकी चाल और ढंगों की शान उनमें प्रायः सम्मोहन सा आनन्द भर देती थी। उन्होंने लिखा है, "कभी-कभी बादल टूट जाते थे और उसमें से वर्षाऋतु का अद्भुत प्राकृतिक व्यापार दिखाई देता, चमत्कारपूर्ण गहरे रंग का नीलापन जो अनन्तता का एक भाग लगता।"

नेहरू अन्य वस्तुएँ न पा सके। पहली बार वे घर के आनन्द और सुख से तीव्रता से अवगत हुए। उन्होंने प्रतीक्षा की वेदना की बात सोची जो बाहर उनकी माता और पत्नी, उनकी चार वर्ष की बेटी इन्दिरा को व्याकुल कर रही होगी। इन्दिरा को उन्होंने बहुत कम देखा था। उसका दूसरा नाम प्रियदर्शिनी था और नौ वर्ष बाद उसे जेल से लिखते

हुए उन्होंने आकुलतापूर्वक कहा, "प्रियदर्शिनी—दृष्टि को प्रिय, किन्तु जब दृष्टि ही न रहे तो और अधिक प्रिय।" वे बहुत सी चीज़ें न पा सके, लेकिन वे कहते हैं कि वे स्त्रियों की आवाज़ें और बच्चों की हँसी न पा सके। एक दिन सहसा उन्हें लगा कि लगभग आठ महीनों से उन्होंने कुत्ते का भूँकना नहीं सुना है।

जैसा वे सदा किया करते हैं, उन्होंने विस्तृत रूप से एक विषय से दूसरा विषय पढ़ा। वे इस आदत में ऐसे व्यसनी थे कि किताबों के प्रति उनके अनुराग ने ब्रिटिश जेल सुपरिंटेंडेंट को कुछ चिढ़ा दिया और परेशान कर दिया।

उस भले आदमी ने कहा, "मिस्टर नेहरू, मैं आपके पढ़ने के शौक़ को समझ नहीं पाता। मैंने अपनी सारी पढ़ाई बारह वर्ष की आयु में समाप्त कर दी।"

क्रमश: जेल के नियम अधिक कठोर हो गए और उनके लागू करने के ढंग से क़ैदियों और जेल अधिकारियों में संघर्ष हो गए। चिट्ठियों और मुलाक़ातों पर महीने में एक बार का प्रतिबन्ध लग गया। समाचारपत्र बन्द कर दिए गए। नेहरू और उनके साथियों को जो कुछ बाहरी दुनिया के समाचार मिलते वे जेल के रहस्यमय सूत्रों से मिलते और जो कुछ उन्होंने सुना उससे वे भविष्य की आशंका और भय से भर उठे।

गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद कांग्रेस दो दलों में अलग हो गई थी—अपरिवर्तन-वादी जो असहयोग के पुराने कार्यक्रम के पक्ष में थे और परिवर्तन के पक्ष वाले जो चाहते थे कि कांग्रेस केंद्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में भाग ले और, संभव हो तो इन संस्थाओं पर अधिकार कर ले। मोतीलाल और देशबन्धु दास बाद वाले सम्प्रदाय का नेतृत्व कर रहे थे जबकि मद्रास के सयाने और चतुर राजनीतिज्ञ चक्रवर्ती राजगोपालाचारी अपरिवर्तनवादियों के नेता थे। स्वतंत्रता प्राप्त होने पर वे प्रथम भारतीय गवर्नर जेनरल होनेवाले थे। सहजबुद्धि से नेहरू ने अपरिवर्तनवादियों का पक्ष लिया जिससे उन्होंने फिर अपने को अपने पिता के विरुद्ध राजनीतिक मतभेद में पाया और इससे उनमें सीझते हुए आवेगात्मक और मानसिक द्वंद्व में बढ़ती हुई।

राजनैतिक क़ैदियों और जेल अधिकारियों में बढ़ते हुए झगड़ों से अधिकारियों ने नेहरू सहित लगभग सात संदिग्ध मुखियों को मुख्य बैरकों से अलग जेल के एक दूर भाग में अलग कर दिया। उन सात में गांधीजी के पुत्र देवदास और महात्माजी के सचिव महादेव भाई देसाई थे। इस प्रकार का एकान्त, भीड़ भरी बैरक के जीवन के बाद नेहरू के लिए अप्रिय नहीं था। उन्होंने और उनके साथियों ने काम और व्यायाम का एक नियमित कार्यक्रम बना लिया। उनमें से अधिकांश रोज़ थोड़ा काता करते। उन्होंने एक टुकड़ा सब्ज़ी के लिए ठीक कर लिया। आँगन के एक कुएँ से उसकी सिंचाई करते। साधारणतया दो बैलों से खींचे जानेवाले एक जुए को खींच कर उनमें से दो व्यक्ति बड़े भारी चमड़े के बाल्टे में पानी निकालते। अपने छोटे बाड़े की चौहद्दी में दौड़ना अन्य शारीरिक क्रिया थी। और वे पढ़ा करते और बातें करते।

"जेल ने मुझे आदमी बना दिया", वर्षों बाद नेहरू ने समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्र-

देव से कहा, जब वे दोनों अंतिम बार १९४२ में जेल में थे। और कुछ नहीं तो इसने उन्हें पढ़ने और सोचने को समय दिया, और उनके शारीरिक और नैतिक तन्तु को कठोर बना दिया।

३१ जनवरी १९२३ को लखनऊ जेल के सब राजनीतिक बन्दी छोड़ दिए गए। कुछ दिन पहले संयुक्त प्रान्तीय व्यवस्थापिका ने राजनैतिक क्षमादान के पक्ष में एक प्रस्ताव पारित किया था और इस प्रकार के भाव के लिए अनुकूल अवसर पाकर सरकार ने उसे मान लिया।

नेहरू उत्सुक किन्तु प्रसन्न होकर नहीं निकले। वे अस्पष्ट भविष्य की आशंका से पूर्ण थे, क्योंकि कांग्रेस विभाजित हो गई थी। और गांधीजी अब भी जेल में थे। १४ नवम्बर को जवाहरलाल ने अपनी तेंतीसवीं—किन्तु अन्तिम नहीं—वर्षगाँठ जेल में मनाई।

७

निष्क्रियता के वर्ष

भारत कितनी जल्दी बदल गया था ! मुश्किल से साल भर पहले हवा में गरज थी। आकाश में तूफान आ चुका है, अंधड़ ने आसमान भर दिया है। बहुत से मार्गदर्शक चिह्न उखड़ गए थे; यह समुद्र की हवा से भिन्न है जो विनाश तो कर देती है लेकिन अपने पीछे ताज़गी और जीवन की साँस छोड़ जाती है। परिणाम हतोत्साहित करनेवाला है। देश पर विस्तृत थकान छा गई है।

जवाहरलाल वातावरण से उदास थे। दो दलों में बँट कर कांग्रेस विभाजित घर की तरह थी और षड्यंत्र ने आदर्शवाद पर विजय पाई थी। कांग्रेस के तंत्र पर अधिकार करने की चेष्टा द्वारा शक्ति के लिए बहुत से दल चतुरता से बनाए गए। नेहरू का दिमाग़ और दिल अपरिवर्तनवादियों के साथ थे, क्योंकि कौंसिलों या व्यवस्थापिकाओं में प्रवेश करना उन्हें समझौते की तरह ख़तरनाक लगता था और इस स्थल पर समझौता करना पराजय स्वीकार करना था। इसके अर्थ उद्देश्यों में कमी करना था, और यह विचार घृणास्पद था। किन्तु उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि अपरिवर्तनवादी लोग किसी दृढ़ राजनीतिक उद्देश्य के अभाव में प्रसन्न थे, उनका कार्यक्रम केवल समाज सुधार भर था। कुआँ और खाई के बीच चुनाव था।

इस संकट में पड़ कर नेहरू ने अपने राज्य में ही केन्द्रित होने का निश्चय किया। यहाँ वे संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री थे। वे कांग्रेस को पूर्व स्थिति में पहुँचाने में लग गए। झगड़ों में उसको बहुत क्षति उठानी पड़ी थी। लेकिन मन ही मन वे बहुत परेशान थे। उनके अन्दर के संशय उनके कार्य की स्पष्टता और वेग पर छाए रहते थे। कुछ करने की सदा की इच्छा-शक्ति उनके चारों ओर के राजनीतिक संशयों से आच्छादित रहती, क्योंकि मार्ग भूलभुलैयों की तरह टेढ़ा मेढ़ा था और मार्गचिह्न संदिग्ध थे।

म्यूनिसिपल शासन कांग्रेस जनों के लिए अब भी सार्वजनिक कार्य का एक रूप था और १९२३ में बहुत से बड़े शहरों के म्यूनिसिपल निगमों पर अध्यक्ष अथवा सभापति के रूप में कांग्रेस के प्रतिनिधि थे। दास कलकत्ता के अध्यक्ष थे, जबकि बम्बई और अहमदाबाद में दोनों पटेल बन्धु, विट्ठल भाई और वल्लभ भाई थे। राष्ट्रीय कार्यों में अपना चिह्न छोड़ जाने वाले दोनों बन्धुओं ने नागरिक सभाओं पर शासन किया। इस समय के आस-पास नेहरू इलाहाबाद म्यूनिसिपैलिटी के सभापति चुन लिए गए।

यहाँ उन्हें अपनी दवी हुई शक्ति के लिए एक निकास मिला और अपनी विशिष्टता से वे अपने काम में दत्तचित्त हो गए। म्युनिसिपल शासन के कुछ रूप थे जिन्होंने उन्हें आकर्षित किया और उनके ध्यान को लगा लिया, विशेष रूप से समाज सेवा के लिए उसमें अवसर था और कुछ समय के लिए उन्हें लगा कि यहाँ कुछ काम किया जा सकता है। उन्होंने सोचा कि म्युनिसिपल तंत्र में सुधार की गुंजायश है। लेकिन जल्दी ही उन्हें पता चल गया कि स्थानीय स्वशासन की संकुचित सीमाओं में भी, काम में उद्योग और परिवर्तन में अधिकारियों द्वारा प्रोत्साहन नहीं मिलता। मौलिक सुधार की गुंजायश नहीं थी, और नागरिक सुधार धन पर निर्भर करता है जो सरकार का लाभांश था। सामान्यतः नौकरशाही की चक्की धीरे पीसती है और वहुत ही कम पीसती है। नेहरू ने विशेष रूप से भूमि के मूल्यों पर कर लगाने का प्रस्ताव किया, लेकिन एक डरे हुए अधिकारी ने तुरत यह सुझाया कि इससे ज़मीन के पट्टे सम्बन्धी नियमों के एक पवित्र अनुच्छेद का उल्लंघन होगा। किन्तु नेहरू नागरिक क्षेत्र में लगे रहे। उसमें वे वह दक्षतापूर्ण ध्यान और अध्ययन लगाते रहे जिसने उन्हें उनके अधिकांश कांग्रेस के सत्कर्मियों से विशिष्ट वना दिया।

अपने में अधिकार को केंद्रित करने और चीज़ों को अपने व्यक्तिगत ढंग से करने की प्रवृत्ति ऐसा विशेष लक्षण है जो नेहरू के जीवनक्रम में वहुत आरंभ से ही स्पष्ट है। किसी अंश में यह इस तथ्य से पैदा होती है कि परिपूर्णतावादी की भाँति किसी चीज़ को निकम्मेपन से करने से अच्छा है कि उसे न करे। किसी काम को वहुत ही अधिक सुचारु ऐसे चौकस ढंग से करें जैसा वे चाहते हैं, इसमें उनके अधिकांश साथियों की योग्यता में अविश्वास ने प्रायः नेहरू को अपने आगे उससे अधिक काम का ढेर लगवा दिया है जितना वे सुविधापूर्वक कर सकते हैं। यह विशेष लक्षण क़ायम रहता है और उनकी खीझ और अधैर्य में तव निकलता है जब सभा में कोई माइक्रोफ़ोन ख़राव हो जाता है या भीड़ अनुशासनहीनता के लक्षण दिखाती है।

यही उनके संक्षिप्त नागरिक सेवा के दो वर्ष के जीवन क्रम में रहा। इस अवधि में उन्होंने म्युनिसिपल कामों को वहुत सुचारु ढंग से करने का वही आग्रह दिखाया और ध्यान दिया जो उन्होंने कांग्रेस के संगठनों की रचना में लगाया। अन्य काग़ज़-पत्रों के सिवा एक स्मरणपत्र मौजूद है जो उन्होंने "इलाहावाद म्यूनिसिपैलिटी द्वारा वेश्याओं के साथ व्यवहार" पर लिखा। उसमें ऐसे वाक्य उभर कर आते हैं जो अधिक सामान्य समस्या पर उनके विचारों को प्रतिविम्वित करते हैं :

"यह दुनिया वहुत भिन्न जगह हो जाय अगर हम वेश्यावृत्ति और झूठ वोलना और क्रूरता और निर्दयता और वे हज़ारों वुराइयाँ प्रस्तावों से दूर कर सकें जो शरीर के साथ चलती हैं।" वे प्रस्ताव पारित कर और एक समिति नियुक्त कर वेश्यावृत्ति को वन्द करने के लिए म्यूनिसिपैलिटी के प्रयत्न को लक्ष्य कर रहे थे। और फिर "हम यह जान

लें कि हम क्या करना चाहते हैं और तब शायद हम अपने उद्देश्य की उपलब्धि की अच्छी स्थिति में हों।" राजनीति की तरह ही नागरिक कार्यों में भी वे उद्देश्य जानने का आग्रह करते हैं। किन्तु इन सामान्यीकरणों में क्रियात्मक सुझावों का कठोर बीज है। वे इनको एक-एक कर क्रम से बताते हैं और विशिष्ट ढंग से पूरा करते हैं: "मैं ऐसी आधिकारिक आज्ञा देने में विश्वास नहीं करता कि वेश्याएँ एक दूर के कोने को छोड़ कर इलाहाबाद शहर के किसी हिस्से में न रहें। अगर यह होता है तो मैं इलाहाबाद का दूसरा हिस्सा उन आदमियों के लिए सुरक्षित रखना उतना ही उचित समझूँगा जो औरतों को उपयोग में लाते हैं और जिनके कारण वेश्यावृत्ति फलती फूलती है।"

चार्ली ऐंड्रयूज़ संयुक्त प्रान्त में नेहरू के बहुत ही कटु राजनीतिक विरोधी द्वारा उनकी सुनी हुई एक टिप्पणी को विस्तार से सुनाते हैं, "हम छोटे नेहरू के समाजवादी सिद्धान्तों के बारे में जो भी सोचें" उन्होंने कहा, "जिस खूबी से उन्होंने इलाहाबाद म्यूनिसिपैलिटी के कामों को अध्यक्ष के रूप में चलाया, उसकी तारीफ़ नहीं की जा सकती।"

इसी समय वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री चुन लिए गए जिसके परिणाम-स्वरूप उनका काम करने का समय दिन में औसतन पंद्रह घंटे का हो गया। शाम तक वे थक कर चूर हो जाते।

किन्तु नेहरू राजनैतिक वातावरण में बढ़ती हुई भ्रष्टता के प्रति तीव्र रूप से सचेत रहे। व्यवस्थापिकाओं और मंत्रिपदों के स्थापित होने से सरकार की अनुग्रह की शक्ति बहुत बड़ी हो गई और किसी समय के बहुत से राष्ट्रीयतावादी लोगों ने पद का चारा कुतर लिया और अधिकारियों के साथ सहयोग के गहरे पानी में उतर गए। नेहरू से भी एक परिचित अंग्रेज़ उस समय इलाहाबाद हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस सर ग्रिमवुड मीयर्स ने अप्रत्यक्ष रूप से उनके प्रान्त में शिक्षामंत्री पद के लिए प्रस्ताव किया था। इस प्रस्ताव के बचकानेपन से नेहरू का मनोरंजन तो हुआ लेकिन इसने उन पर कोई प्रभाव नहीं डाला। मंत्रिपद टके टके बिक रहे थे। लेकिन असहयोग से अलग बहक जाना "एक भ्रष्ट करने वाला पतन था।"

नेहरू ने देश और कांग्रेस के भाग्य पर बहुत सोचा विचारा। उन्होंने बहुत समय तक सोचा कि गांधीजी लोगों की अस्पष्ट इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और जहाँ तक महात्माजी के नेतृत्व ने इन इच्छाओं को स्पष्ट रूप और प्रयोजन नहीं दिया है, वह असफल रहा है। अगर कुछ हुआ है तो वह और भी गड़बड़ है। उन्हें लगा कि लक्ष्य के बारे में कोई स्पष्टता नहीं है। स्वतंत्रता के लिए केवल एक अविकसित आन्दोलन है जिसके राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक कार्यक्रम या योजनाएँ स्पष्ट नहीं हैं। स्वराज के अर्थ महज़ अपनी सरकार या पूर्ण स्वतंत्रता है? क्या स्वतंत्र भारत में किसान ज़मींदारों की दया पर ही छोड़ दिए जाएँगे और मज़दूर नए और विकसित होते पूंजीवादी वर्ग के मन की मौज पर रहेंगे? यह समाजवादी विचारों की पहली हल्की प्रेरणाएँ थीं जो नेहरू की १९२६ की योरोप यात्रा के बाद ही उग्र अभिव्यक्ति पा सकीं।

दास ने, जो अब मोतीलाल के सक्रिय सहयोग में काम कर रहे थे, नेहरू से व्यवस्थापिकाओं में जाने के तथाकथित स्वराजी पंथ का समर्थन करने के लिए प्रभावित करने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि यह सहयोग बढ़ाने के लिए नहीं लेकिन राष्ट्रीय संग्राम को देश से कौंसिलों में एक क़दम आगे ले जाने के लिए है। यह विश्वसनीय, यहाँ तक कि आकर्षक तर्क था, लेकिन इससे नेहरू आश्वस्त नहीं हुए। उन्हें लगा कि व्यवस्थापिकाओं में जाने से लोगों का ध्यान सामूहिक प्रयत्न द्वारा स्वतंत्रता के एकमात्र उद्देश्य से हटा कर उनकी अभी तक अस्थिर शक्तियों को छितरा और बिखेर देना होगा। अगर उन्हें व्यवस्थापिकाओं में जाना ही है तो कौंसिल में कुछ स्थान दखल कर फिर उन पर अधिकार करने से इनकार कर सिनफिन तरीक़े के प्रतीकात्मक ढंग से करें। नेहरू ने असल में यह प्रस्ताव १९२० में गांधीजी के आगे रखा था। लेकिन महात्माजी की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं थीं। गांधीजी को लगा कि चुने जाने पर और तब कौंसिलों में न जाना जनता के मन में और भी गड़बड़ पैदा करेगा। शायद वे ठीक थे।

१९२३ से बाद नेहरू को अपने परिवार के घेरे में बहुत सान्त्वना मिली। जेलजीवन के सूनेपन ने उन्हें बहुत सी चीज़ों के प्रति सचेत कर दिया जिनकी ओर अभी तक उनका ध्यान ही नहीं गया था—कमला का प्यार और अकेलापन, उसका गर्व और संवेदनशीलता, और ख़राब स्वास्थ्य से परेशान और खीझी हुई उनके राजनैतिक कामों में हाथ बटाने की उसकी उग्र कामना। उसकी मृत्यु के बरसों बाद उन्होंने लिखा था, "राष्ट्रीय संग्राम में वह अपने ही अंश का काम करना चाहती थी और अपने पति की छाया या उसके साथ लगी रहनेवाली नहीं बनना चाहती थी। वह अपने आगे और दुनिया के आगे अपने अस्तित्व को सिद्ध करना चाहती थी। दुनिया में इससे अधिक और कोई चीज़ मुझे प्रसन्न नहीं कर सकती, लेकिन मैं सतह के नीचे झाँकने के लिए बहुत व्यस्त था और जो कुछ वह चाहती थी और इतनी उत्कटता से जिसकी उसे चाह थी उसके लिए मैं अंधा था।" उनके राजनैतिक काम में हाथ बटाने की उसकी व्यग्रता के विषय में उन्हें १९३० के असहयोग आंदोलन में ही सचेतन रूप से ज्ञात हुआ। लेकिन उनका अवचेतन मन तब तक उनमें निकट साथीपन की प्रेरणा का अनुभव कर चुका था।

"कुछ हद तक नाज़ुक, फूल की तरह कोमल वह देशप्रेम में घुल जाने वाली नारी थी।" इस तरह से परिवार के एक मित्र ने कमला का वर्णन किया है। जवाहरलाल ने तब जो बात नहीं समझी वह उनकी पत्नी की उनकी नज़र में सुयोग्य राजनैतिक साथी सिद्ध करने की उत्कट अभिलाषा थी। उनका स्वास्थ्य जो कभी अच्छा नहीं रहा, अब ख़राब होने लगा था, और उनके पति के राजनैतिक जीवन की कठोरता और कठिनाइयों में पूर्णरूप से हाथ बटाने में शारीरिक अक्षमता इस गर्वीली, रोगी और अत्यन्त संवेदनशील लड़की के मन पर बड़ा भार बनी रही होगी।

जवाहरलाल की माता भी बीमार थीं। अपने पति और पुत्र से भिन्न, अपनी आदतों

और जीवन के प्रति ढंग में वे कट्टर आदतों की थीं और उनका संसार उनके पति, घर और बच्चों के इर्द गिर्द केन्द्रित था। जब मोतीलाल ने महात्माजी का अनुगमन करने और भोगपूर्ण जीवन को त्यागने का निश्चय किया तो उस समय ही कमज़ोर और बीमार उनकी पत्नी ने रहन-सहन के नए ढंग के अनुरूप सहज ही व्यवस्थित कर लिया था। इस नन्हीं सुकोमल महिला में कुछ ऐसा अजेय था जिसने निरन्तर परीक्षाओं और कष्टों में उसके साहस को क़ायम रखा।

मोतीलाल में यह अनोखापन था कि यद्यपि वे चाहते थे कि जवाहरलाल व्यवस्थापिकाओं में जाने के अभियान में उनके और दास के साथ रहते, लेकिन उन्होंने उन्हें समझाने या प्रभावित करने के लिए कुछ नहीं किया। शायद उन्होंने अपने बेटे के मन की बात जान ली, और सामान्य लक्ष्य में भाग लेते हुए, साधन पर झगड़ने से अलग रहे। यह जानकर कि उनकी नई स्वराज पार्टी कुछ वैयक्तिक लाभ के इच्छुकों और अवसरवादियों को कुछ सच्चे देशभक्तों के साथ खींचेगी, मोतीलाल को विश्वास था कि जब कभी अवसर पड़ेगा, वे "रोगी अंग" को काट सकेंगे। राजनीतिक रूप से कांग्रेस निष्क्रिय हो रही है और इससे अधिक तर्कसंगत क्या हो सकता है कि लड़ाई को सर्वसाधारण से हटा कर कौंसिलों में ले जाया जाय? इस ढंग से मोतीलाल और दास ने विवेचना की और आशा लगाई।

यद्यपि नेताओं का साहस कम पड़ गया था लेकिन लोगों में अब भी जोश था। मई में मध्य प्रान्त के नागपुर में एक स्थानीय झंडा सत्याग्रह किया गया जिसमें लगभग दो हज़ार लोगों ने भाग लिया और उसके बाद राष्ट्रीय झंडा लेकर जुलूसों को सरकार ने बिना किसी रोकटोक के जाने दिया। लेकिन स्वराज दल वाले धीरे-धीरे बढ़ते चले जा रहे थे और सितंबर में, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की अध्यक्षता में कांग्रेस के दिल्ली के विशेष अधिवेशन में कांग्रेस ने उन्हें व्यवस्थापिकाओं में जाने की आज्ञा दी।

इसके बाद जल्दी ही अधिकारियों के साथ नेहरू का झगड़ा हो गया और वे तीसरी बार गिरफ्तार कर लिए गए। ऐसा हुआ कि पंजाब में सिखों का सुधारवादी और उन्नतिशील भाग अपने गुरुद्वारों के तथोक्त भ्रष्ट महन्तों के विरुद्ध प्रदर्शन कर रहा था। उनके विरोध ने अहिंसक प्रतिरोध का रूप ले लिया। सिखों के झुंड के झुंड स्वयंसेवक गुरुद्वारे पर धावा बोलते और गुरुद्वारा की रक्षा में लगी पुलिस उन्हें क्रूरतापूर्वक पीटती। साधारण रूप से उग्र, इनमें से बहुतेरे पहले के सिपाही, हृष्टपुष्ट सिखों के बदले में हिंसा से अलग रहने के दृश्य से जवाहरलाल मुग्ध हो गए। उन्होंने सोचा कि इन्होंने गांधीजी का पाठ सीख लिया है और उनकी ही तरह बुराई करनेवाले को, उसके विरुद्ध हिंसा न करके अपने ऊपर कष्ट सहन कर सही काम करने के लिए लज्जित कर रहे हैं। यद्यपि यह आन्दोलन ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दिया गया था, किन्तु अन्त में उसकी विजय हुई और परिणामस्वरूप गुरुद्वारों की व्यवस्था को लाभ हुआ। लेकिन आन्दोलन वर्षों तक चलता रहा।

इसी बीच, एक इसी तरह का प्रदर्शन सिखों के नाभा राज्य में हो रहा था। यह

भिन्न कारणों से था। नाभा के शासक को सरकार ने गद्दी से उतार कर उसकी जगह एक ब्रिटिश शासक को नियुक्त कर दिया था। इस काम का महाराजा की सिख प्रजा ने विरोध किया था। उन्होंने इसके विरुद्ध प्रदर्शन किया। इस अहिंसक प्रदर्शन के दौरान जैतो नाम के एक स्थान पर ब्रिटिश शासक द्वारा एक धार्मिक समारोह रोक दिया गया। इसके परिणाम स्वरूप आन्दोलन जैतो में केन्द्रित हो गया और अहिंसक सिखों के जत्थों के जत्थे मार खाने के लिए उस स्थान पर धावा करते रहे।

जवाहरलाल इनमें से एक धावे को देखने के लिए आमंत्रित किए गए और कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के तुरत बाद वे दो साथियों के साथ जैतो गए जहाँ सिखों का एक जत्था एकत्रित था। प्रदर्शन में सम्मिलित होने की उनकी कोई इच्छा न थी और वास्तव में वे अलग ही रहे। लेकिन जैतो पहुँचने पर ब्रिटिश शासक द्वारा उन पर और उनके दो साथियों पर नाभा क्षेत्र में प्रवेश न करने का और अगर उन्होंने प्रवेश कर लिया है तो उसे तुरत छोड़ देने का आदेश जारी किया गया। वास्तव में वे राज्य की सीमा के काफ़ी अन्दर थे और किसी भी प्रकार उसे दूसरी ही गाड़ी से छोड़ सकते थे, जो कुछ घंटों बाद थी। इसके अतिरिक्त वे भाग लेने वालों की हैसियत से नहीं किन्तु दर्शकों की हैसियत से आए थे। उन्होंने यह तथ्य उस पुलिस के अफ़सर को समझाए जिसने उन पर आज्ञा की तामील की थी। उसका उत्तर उन्हें गिरफ्तार कर स्थानीय हवालात में रखना हुआ।

वहाँ नेहरू अपने दोनों साथियों सहित दिन भर के लिए रखे गए और शाम को उन्हें सड़कों पर होते हुए स्टेशन ले जाया गया। नेहरू की बाईं कलाई से उनके एक साथी की दाहिनी कलाई के साथ हथकड़ी लगाई गई थी और हथकड़ी से बँधी एक ज़ंजीर साथ चलनेवाला पुलिस का आदमी पकड़े था। उनके पीछे उनका दूसरा साथी भी हथकड़ी और ज़ंजीर लगे आता था। इन असाधारण ढंगों से नेहरू और उनके साथी यद्यपि कुछ देर के लिए उत्तेजित हो गए थे लेकिन इस स्थिति की विलक्षणता से मुदित होने के लिए वे काफ़ी ज़िन्दादिल थे, और बहुत ही प्रसन्न मुद्रा में स्टेशन आए।

उनके बाद के अनुभवों ने उनके मन के भाव को जल्दी ही दूर कर दिया। जैतो में हथकड़ी और ज़ंजीर से बँधे वे एक तीसरे दर्जे के भीड़ भरे डब्बे में बैठाए गए जहाँ उन्होंने सबेरे नाभा पहुँचने तक एक दूसरे के साथ लग कर रात बिताई। यहाँ भी हथकड़ी और ज़ंजीर में बँधे वे स्थानीय जेल अधिकारियों को सौंप दिए गए और बाद के तीन दिन एक छोटी-सी अस्वास्थ्यकर कोठरी में बिताए, जिसकी छत इतनी नीची थी कि उसे वे क़रीब करीब छू सकते थे। रात में जब वे फ़र्श पर सोते तो चूहे उनके चेहरों पर होकर दौड़ लगाते।

अन्त में तीनों इस उदास निवास स्थान से एक अदालत के कमरे में ले जाए गए जहाँ मुक़दमे की कार्यवाही मनमानी और विस्तृत थी। जज को अंगरेज़ी नहीं आती थी और कचहरी की उर्दू भाषा लिखने में वह असमर्थ लगा। मुक़दमे की सुनवाई भर, जो लगभग

एक सप्ताह चली, उसने एक पंक्ति नहीं लिखी। नेहरू और उनके दो साथियों ने अपना बचाव नहीं किया, किन्तु तथ्यों का विवरण देते हुए एक वक्तव्य पेश किया।

सहसा एक दिन वे उस अदालत से दूसरे मैजिस्ट्रेट की अदालत में ले जाए गए। पूछने पर उन्हें पता चला कि षड्यंत्र के एक नए अभियोग में उन पर मुक़दमा चलेगा। चूंकि इस अपराध में कम-से-कम चार आदमियों का सलाह से काम करना जरूरी है, इसलिए एक सिख, जिसका उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था, उनके साथ कठघरे में रखा गया। अब कार्यवाहियाँ एक अच्छे से नाटक का रूप ले रही थीं, जबकि उनकी गिरफ्तारियों के लगभग पखवारे भर बाद दोनों मुक़दमे समाप्त हो गए। षड्यंत्र के मुक़दमे में नेहरू और उनके साथियों में प्रत्येक को अठारह महीने की सज़ा मिली और इसके सिवा नाभा राज्य छोड़ने की आज्ञा भंग करने के अपराध में छः महीने की और सज़ा हुई।

उसी शाम को जेल सुपरिंटेंडेंट ने उन्हें बुलाया। उसने उन्हें फ़ौजदारी क़ानून के अन्तर्गत मिली सज़ा को समाप्त करते हुए ब्रिटिश शासक की आज्ञा दिखाई। कुल मिलाकर नतीजा यह निकला कि वे जाने के लिए आज़ाद थे और लगभग तुरत ही वे पहरे में रेल के स्टेशन पहुँचाए गए और वहाँ छोड़ दिए गए। इसका कभी पता न चला कि उस अभागे सिख का क्या हुआ जो अपराधी षडयंत्र में चौथे अभियुक्त की तरह उनके साथ लगा दिया गया था।

इन लोगों के नाभा की अस्वास्थ्यकर कोठरी में रहने का एक परिणाम टाइफ़स ज्वर का आक्रमण था जो सब पर ही हुआ। नेहरू के साथी कुछ समय के लिए बीमार रहे, और वह स्वयं क़रीब चार सप्ताह तक चारपाई पर पड़े रहे।

दिसम्बर में केंद्रीय और प्रान्तीय कौंसिलों के चुनाव हुए, जिनमें मोतीलाल और दास के अधीन नई स्वराज्य पार्टी ने चुनाव लड़े। स्वराजियों ने ज़ोरदार विजय प्राप्त की। उन्होंने केंद्रीय व्यवस्थापिका में पैंतालीस स्थान जीते जिससे कि वे अन्य राष्ट्रीयतावादी दलों की सहायता से काम चलाऊ बहुमत में हो गए। लेकिन असली शक्ति व्यवस्थापिका में न रहकर वाइसराय में थी। स्वराज पार्टी की सफलता मोतीलाल और दास के असाधारण संयुक्त कार्य से हुई जो यद्यपि स्वभाव में भिन्न होने पर भी एक दूसरे की खूबियों को पूरी करते थे और दोनों मिलकर बड़ा मज़बूत संयोग बनाते थे। दोनों में पारस्परिक सम्मान और स्नेह का बन्धन था। दास भी सफल वकील थे। वे बड़े उत्साही देशभक्त थे। इसके साथ ही उनमें आवेगपूर्ण वक्तृत्व का गुण था जो मोतीलाल के संगठनकर्ता और लड़ने के जोश की प्रतिभा के साथ मिल गया था।

चुनाव के शीघ्र बाद कांग्रेस ने दक्षिण भारत के कोकोनाडा में अपना वार्षिक अधिवेशन किया जिसकी अध्यक्षता छोटे अलीबन्धु मौलाना मुहम्मद अली ने की। बहुत अधिक पसन्दगी और नापसन्दगी वाले व्यक्ति, ज़बान के तेज़ और मिज़ाज से क्रोधी, मुहम्मदअली को अत्यन्त उत्साही और तेजस्वी जवाहरलाल स्वभावतः प्रिय थे। उन्होंने

आग्रह किया कि नेहरू अखिल भारतीय कांग्रेस के मंत्रिपद को स्वीकार कर लें जिसे उस साल के आरंभ में उन्होंने छोड़ा था, और मुहम्मद अली की एक वर्ष की अध्यक्षता की अवधि में नेहरू ने उसे स्वीकार कर लिया। वे अच्छे मित्र रहे, और कनिष्ट व्यक्ति को अपने ज्येष्ट साथी की चपल बुद्धि और सजीव विनोद उतना ही रुचिकर रहा जितना कि मौलाना जवाहरलाल के उत्कट खोज के उत्साह से आकर्षित थे।

उस समय और बाद में उनमें धर्म और परमात्मा पर बहुत बार दिखावटी मौखिक लड़ाइयाँ हुईं। जिस प्रकार से नम्र और शान्त हिन्दू गांधीजी के साथ उसी तरह तेज़ तर्रार मुस्लिम मुहम्मद अली के साथ नेहरू को लगा कि दोनों आदमियों की स्थिति "विवेकहीन धार्मिक" है। अपनी आत्मकहानी में वे लिखते हैं, "या तो कृतज्ञता प्रगट करने के लिए या किसी तरह की प्रार्थना में खुदा का कोई संदर्भ ले आने का मुहम्मद अली का असाधारण ढंग था।"

अपने मतभेदों पर वे हँसी में बहस किया करते और नेहरू उल्लेख करते हैं कि एक बार मुहम्मद अली ने कहा कि बावजूद दिखावटी विरोधों के उनका विश्वास है कि जवाहरलाल मूलतः धार्मिक हैं। नेहरू का उल्लेख मनोरंजक है: "मैं प्रायः विस्मय करता हूँ कि उनके वक्तव्य में कितना सच है। शायद यह इस बात पर निर्भर करता है कि धर्म और धार्मिकता क्या है।"

नेहरू की बहुत फैली हुई "धर्महीनता" पर बहुत कुछ यही प्रतिक्रिया महात्माजी की ओर से आई। गांधीजी ने कहा, "जब कि जवाहरलाल हमेशा कहा करते हैं कि वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते, वे उन लोगों से ईश्वर के अधिक समीप हैं जो यह दावा करते हैं कि वे उनके भक्त हैं।" गांधीजी ने अपने सहज ज्ञान से पहचान लिया कि नेहरू की शब्दावली में धर्म के अर्थ मानवता की सेवा है। जैसा कि जवाहरलाल के पुराने मित्र श्रीप्रकाश का कहना है: "जवाहरलाल 'धार्मिक' न हों लेकिन वे कर्तव्य के प्रति सच्ची भक्ति रखनेवाले व्यक्ति हैं। संस्कृत में कर्तव्य और मज़हब के लिए एक शब्द है धर्म।"

दुर्भाग्यवश बढ़ते हुए हिन्दू-मुस्लिम तनाव के रूप में मज़हबी मतभेद कोकोनाडा कांग्रेस के अधिवेशन में छा रहे थे। जल्दी ही प्रलय आनेवाली थी।

कांग्रेस जिस प्रकार विभाजित थी उससे कोकोनाडा अधिवेशन में समझौते के सिवा कोई और मार्ग न था। पिछले अधिवेशनों में स्वीकृत प्रस्तावों की फिर पुष्टि करते हुए उसमें स्वराजियों को कौंसिलों में जाने की अनुमति मिल गई, साथ ही इस बात पर बल दिया गया कि "उसमें बहिष्कार की नीति और सिद्धांत अपरिवर्तित रहें।" लोगों से रचनात्मक कार्यक्रम को जारी रखने का और सविनय अवज्ञा के ग्रहण करने का आदेश दिया गया। एक तरह से प्रस्ताव ने कांग्रेस के अनिश्चित मन को सही तौर पर प्रतिबिम्बित कर दिया। इन स्थिति-परिवर्तनों और कौशलों से दुखी जवाहरलाल के लिए हिन्दुस्तानी सेवादल नामक देशव्यापी स्वयंसेवक संगठन की स्थापना से कोकोनाडा अधिवेशन स्मरणीय था। कुछ समय बाद यह संगठन कांग्रेस के एक प्रकार के अनुशासित चुने लोगों

की सेना बन गया। इस आन्दोलन के प्रवर्तक डा० एन० एस० हार्डीकर को नेहरू का उत्साहपूर्ण समर्थन प्राप्त था ।

राजनीतिक क्षितिज पर बादल घने हो रहे थे और १९२३ में हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव तेज़ी से मंदा पड़ गया। नवम्बर १९२२ में मुस्तफ़ा कमाल ने तुर्की के सुलतान को देश-निकाला दे दिया। सुलतान मुस्लिम संसार का खलीफ़ा भी था और उस पद के पूर्णरूप से समाप्त हो जाने से भारत में खिलाफ़त आन्दोलन की जड़ ही खो गई। मंत्रिपद के लोभ और अन्य लाभों ने हिन्दू और मुसलमानों में एक नई प्रतिद्वंद्विता पैदा कर दी। उग्र हिन्दुत्व ने अपना सर उठाया और हिन्दू चरमपंथियों का प्रतिनिधित्व करनेवाली हिन्दू महासभा का पहला महत्वपूर्ण अधिवेशन अगस्त १९२३ में बनारस में हुआ और शुद्धि अथवा पुनः धर्म परिवर्तन आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। गांधीजी के जेल में रहने से बाहर मैदान स्वराजियों के हाथ था, और यद्यपि उन्होंने केन्द्रीय असेंबली और प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में एक के बाद एक कागज़ी विजय प्राप्त की, किन्तु यह स्पष्ट था कि वास्तविक सत्ता वाइसराय और प्रान्तीय गवर्नरों के पास है। बंगाल में असहयोग आन्दोलन के यथार्थ में समाप्त हो जाने से आतंकवादी आगे आए। फिर हिंसा की आवश्यकता की चर्चा होने लगी।

१९२४ की मध्य जनवरी में इस संकटकाल में गांधीजी जेल से पूना के एक अस्पताल ले जाए गए जहाँ उनका एक ब्रिटिश सर्जन कर्नल मैडक ने सफलतापूर्वक अपेंडिसाइटिस का आपरेशन किया। जवाहरलाल अपने पिता के साथ गांधीजी को देखने अस्पताल गए। ५वीं फरवरी को सरकार ने बिना किसी शर्त के गांधीजी की जेल की शेष अवधि को माफ़ कर दिया और गांधीजी फिर मुक्त थे। उन्होंने अपनी छः वर्ष की अवधि में से लगभग दो वर्ष भुगते थे।

मार्च के आरंभ में गांधीजी स्वास्थ्यलाभ के लिए बम्बई के समीप समुद्र के किनारे की बस्ती जूहू गए और अप्रैल के प्रथम सप्ताह में उन्होंने अपने दोनों साप्ताहिकों **यंग इंडिया** और **नवजीवन** का सम्पादन फिर आरंभ किया। अहिंसा की पुनः आवश्यकता बताते हुए उनका प्रथम लेख ३ री अप्रैल को प्रकाशित हुआ। उन्होंने लिखा "मेरी देश-भक्ति सीमित नहीं है, इसका अभिप्राय किसी दूसरे राष्ट्र को न केवल पीड़ा पहुँचाना है किन्तु शब्द के वास्तविक अर्थ में लाभ पहुँचाना है। मेरी कल्पना की भारत की स्वतंत्रता संसार के लिए कभी भयावह नहीं हो सकती।"

उसके बाद उन्होंने उन लोगों की भर्त्सना की जो आन्दोलन के आदर्शों के प्रति खोटे निकले :

हमने एक दूसरे के प्रति और अपने विरोधियों के प्रति अहिंसक रहने की प्रतिज्ञा की थी, चाहे वे शासक हों या सहयोगी। हमें उनके हृदयों को जीत कर उनमें सर्वोच्च भाव को जागृत करना था, न कि उनमें भय उत्पन्न कर अपना उद्देश्य पूरा करना। जाने या अनजाने हम में से अधिकांश—स्पष्टवादी अंश—अपनी प्रतिज्ञा के पक्के नहीं रहे।

हम अपने विरोधियों के प्रति असहनशील रहे हैं। हमारे ही देशवासी हमारे प्रति अविश्वास से पूर्ण हैं। वे हमारी अहिंसा में विश्वास ही नहीं करते। हिन्दू और मुसलमानों ने बहुत जगहों में आदर्शपाठ सामने रख दिया है, अहिंसा का नहीं, किन्तु हिंसा का। यहाँ तक कि परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादियों ने एक दूसरे पर कीचड़ उछाली है। हर एक ने सचाई की इजारेदारी का दावा किया है और विश्वास के अबोध निश्चय के साथ दूसरे को उसकी विवश मूर्खता पर गालियाँ दी हैं।

किन्तु कौंसिल प्रवेश के विवादग्रस्त प्रश्न पर उस समय गांधीजी मौन रहे।

अप्रैल में दास और मोतीलाल स्थिति पर गांधीजी से विचार-विमर्श करने जुहू गए। जवाहरलाल अपनी माता, पत्नी और पुत्री को लेकर पिता के साथ गए। परिवार समुद्र के किनारे एक छोटी सी कुटिया में ठहरा। उन्होंने गांधीजी को प्रसन्न, यहाँ तक कि चंचल मुद्रा में, जैसा कि उनका स्वभाव है, छोटे छोटे विनोद करते हुए पाया; और मोतीलाल उस सख्य भाव में आकर कभी-कभी गांधीजी का निर्भयता से मजाक उड़ाते। खुद पूरी तरह कपड़े पहने हुए उन्हें गांधीजी के तपस्वी स्वभाव और उनके सदा धवल खादी के कपड़ों में कुछ बेडौल लगा।

उन्होंने गांधीजी को छेड़ा, "आप छैला-से हैं।"

गांधीजी ठठाकर हँसने लगे।

जवाहरलाल पर गांधीजी का प्रभाव समझते हुए मोतीलाल ने अपने बेटे के जोश को क़ाबू में रखने के लिए उनकी सहायता पाने का प्रयत्न किया। जिन्हें वे जवाहरलाल के तमाशे कहा करते उससे घबरा उठे थे—यह तमाशे उनका भुने हुए चावल और चने पर निर्वाह करना और तपती गर्मी में तीसरे दर्जे में यात्रा करना था।

मोतीलाल बोले, "मैं त्याग और संयम की सराहना करता हूँ। लेकिन यह तो जंगलीपन है। इससे मुझे दुःख होता है। वह आपकी बात मानता है। आप इस बारे में उससे बात करें।"

गांधीजी ने उत्तर दिया, "आप जैसा चाहते हैं, मैं ज़रूर बात करूँगा।"

कौंसिल प्रवेश के प्रश्न पर, जिस पर मोतीलाल और दास उनसे रोज़ाना विस्तार से बहस करते, गांधीजी अडिग रहे। वे मैत्रीपूर्ण और विनम्र किन्तु अनराध्य थे। जैसा कि जवाहरलाल ने पाया कि कभी-कभी उस कोमल आवाज़ में फ़ौलाद और शान्त आँखों में पत्थर सी कठोरता हो सकती। गांधीजी ने आग्रह किया कि जैसा वे समझते हैं कौंसिल-प्रवेश असहयोग के साथ बेमेल है, और यद्यपि उन्होंने स्वीकार किया कि स्वराजियों के पास कौंसिल प्रवेश का आज्ञापत्र है, उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि जब तक वे इस कार्य की उपयोगिता से आश्वस्त नहीं हो जाते वे उनको सक्रिय सहायता नहीं दे सकते।

वे बोले, "हमें मतभेद रहने पर राज़ी हो जाना चाहिए।"

इस बात पर वे विदा हुए। अपनी तरफ से मोतीलाल भी झुकनेवाले नहीं थे,

श्रौर यद्यपि वे गांधीजी की बहुत सराहना करते थे, श्रौर गांधीजी से बहुत स्नेह करते थे, कांग्रेस में वे ही एकमात्र व्यक्ति थे जिन्होंने महात्माजी को उपासना की दृष्टि से मानने से इनकार कर दिया, श्रौर उनके साथ बराबरवाले की हैसियत से व्यवहार करते रहे। वे भी कठोर श्रौर वज्र के समान हो सकते थे।

नेहरू बताते हैं कि उस साल बाद में उन्होंने गांधीजी को मोतीलाल का एक फ़ोटो दिखाया जब उनके पिता के मूछें नहीं थीं। तब तक गांधीजी ने मोतीलाल को सदैव मूछों के साथ देखा था, जो उन्होंने पिछले वर्षों में रख ली थीं। वे कुछ देर तक चित्र को देखते रहे। मूछों के बिना मोतीलाल के चेहरे की दृढ़ रेखाएँ दिखाई पड़ती थीं।

गांधीजी बोले, "अब मुझे पता लग गया कि मुझे किससे मुक़ाबला करना है।"

महात्माजी श्रौर मोतीलाल को ध्यानपूर्वक देखते हुए नेहरू फिर विरोधी भावनाश्रों से परेशान हो गए। वे गांधीजी से इस बात में सहमत थे कि कौंसिल प्रवेश की नीति असहयोग की भावना से हटानेवाली थी। लेकिन उन्हें लगा कि गांधीजी अपने उद्देश्यों के प्रति स्वयं स्पष्ट नहीं थे। सदा की तरह महात्माजी ने क़दम-क़दम आगे बढ़ने में अपना मार्ग टटोलना पसन्द करते हुए कोई लम्बी अवधि का कार्यक्रम बनाने से इंकार कर दिया। नेहरू को "वे अपना आधार खोजने में अक्षम पूरी तौर पर घबराए हुए लगे।" अपने अधैर्य में कनिष्ट व्यक्ति ने जो नहीं समझा वह गांधीजी की वास्तविक श्रौर अत्यधिक परेशानी थी कि उनके अहिंसा के सन्देश ने लोगों में गहरी जड़ें नहीं पकड़ी हैं।

हिंसा की भावना बहुत कुछ फैल रही थी।

बंगाल में राजनैतिक डाके जारी रहे। हथियारबन्द युवकों ने शस्त्रागारों श्रौर बैंकों पर आक्रमण किए श्रौर अधिकारियों की हत्या करने की चेष्टा की। चटगाँव में एक पुलिस अफ़सर को गोली मारी गई श्रौर कलकत्ता में एक योरोपियन नागरिक की स्थानीय पुलिस कमिश्नर के धोखे में दिन दहाड़े हत्या कर दी गई। खिलाफत आन्दोलन के भंग होने के साथ ज्योंही हिन्दू-मुस्लिम एकता के नारे ने अपनी जोरदार प्रेरणा खो दी, दोनों सम्प्रदायों में छिटपुट झगड़े हुए श्रौर बड़े शहरों में कई दंगे हो गए। दोनों ओर धर्मोन्मत्त श्रौर कट्टरपंथी व्यस्त थे, प्रत्येक पक्ष एक दूसरे के संबंधित कार्यों का विरोध करते। हिन्दू गोहत्या के लिए मुसलमानों की निंदा करते श्रौर बदले में मुसलमान मस्जिदों के सामने बाजा बजाकर उनकी नमाज में विघ्न डालने के लिए हिन्दुश्रों को दोषी ठहराते।

इन दंगों का विरोध करते हुए गांधीजी ने दोनों ओर वालों से अहिंसा के लिए कहा। उन्होंने लिखा :

हिन्दू श्रौर मुसलमान धर्म में ज़बरदस्ती न करने के लिए बकवास करते रहते हैं। अगर गाय की हत्या करने के लिए हिन्दू लोग एक मुसलमान को मार डालते हैं तो यह ज़बर्दस्ती के सिवा श्रौर क्या है? यह तो ज़ोर-ज़बर्दस्ती से मुसलमान को हिन्दू धर्म में परिवर्तित करना है। उसी तरह से यह भी ज़बर्दस्ती के सिवा क्या है अगर मुसलमान

जबर्दस्ती से हिन्दुओं को मस्जिदों के सामने बाजा बजाने से रोकना चाहते हैं ? खूबी तो इस बात में है कि शोर-शराबे के बीच प्रार्थना में डूबा रहे। अगर हम एक दूसरे को धार्मिक इच्छाओं को जबर्दस्ती मनवाने में लगे रहे तो आनेवाला ज़माना हम दोनों को धर्महीन जंगली समझेगा।

गांधीजी की समझदारी की छोटी सी आवाज़ को उस वक्त तो दोनों ओर के बढ़ते हुए शोर शराबे में डूब जाना ही था। इस गड़बड़ से लाभ उठा कर हिन्दू और मुस्लिम प्रतिक्रियावादियों ने अपनी राजनैतिक स्थिति को सरकार के साथ ललचाने वाले पदों और निकट रूप से अधिकारियों के साथ सहयोग करके पक्का करना चाहा।

नेहरू बहुत हताश थे। यह जनमत कहाँ जाकर रुकेगा ? यहाँ तक कि कुछ कांग्रेस वाले जो १९२१ और १९२२ में उनके साथ जेल में थे, अब अफ़सरों के कृपापात्र हो रहे थे और सरकार के मंत्री बन कर प्रसन्न थे। वर्षों बाद उन्होंने कटुतापूर्वक कहा, "नाज़ियों की तरह एक दल से दूसरा दल बदलने में इन लोगों ने क्रान्तिकारी ढंगों के साथ खिलवाड़ किया था।"

राजनीतिक जगत् में सड़ाँध फैल गई थी और जवाहरलाल को लगता था कि गांधीजी के हाथ से बागडोर छूट गई है। जून में जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सभा अहमदाबाद में हुई तो गांधीजी ने आग्रह किया कि कांग्रेस की सदस्यता उन लोगों तक ही सीमित कर दी जाय जो प्रतिमास निर्धारित राशि का खुद काता सूत तयार करें। अभी तक सदस्यता उन तक सीमित थी जो कांग्रेस के सिद्धान्त मानें और प्रतिवर्ष चार आना दें। इस प्रस्ताव से काफी भावना उत्तेजित हुई, क्योंकि इससे कांग्रेस के विधान में मौलिक परिवर्तन होता था। जवाहरलाल ने परेशान होकर मंत्रिपद से अपना त्यागपत्र पेश किया। यह समझते हुए कि यह अपरंपरावादी ढंग स्वराजियों की सिद्धान्तहीन नीति पर सीधा आक्रमण है और "गांधीवाद की ओर लौटो" नारे का संकेत है, मोतीलाल और दास ने उसका ज़ोरों से विरोध किया। अपना असमर्थन जताने के लिए दोनों नेता अपने समर्थकों के साथ मतदान के पहले सभा से उठ कर चले गए। गांधीजी का प्रस्ताव ६७ के विरुद्ध ३७ मतों से स्वीकृत हो गया, लेकिन महात्मा जी ने अपनी खोखली विजय का अनुभव किया। उसने प्रयोजनीय अर्थ से अस्पष्ट राजनीतिक वातावरण को आक्रान्त करने का अपना उद्देश्य नहीं प्राप्त किया था।

अन्त में प्रस्ताव वापस ले लिया गया। इस खोखली विजय से भी अधिक जिसने गांधीजी को क्लेश पहुँचाया वह दूसरे प्रस्ताव का भाग्य था जो उन्होंने आतंकवादी गोपीनाथ साहा के कार्यों की निन्दा में रखा था। उनके उद्देश्यों के साथ सहानुभूति प्रगट करते हुए दास ने उसका विरोध किया और अन्त में प्रस्ताव केवल आठ मत के बहुमत से पारित हो गया। महात्माजी को इससे संकेत मिला कि कांग्रेस में उनके सब सहकर्मी अपने अहिंसा के विश्वास में गंभीर नहीं हैं। उन्होंने बाद में लिखा, "मेरे मन को जो

खाए जा रहा है वह कांग्रेस धर्म और अहिंसा की नीति का अचेतन उत्तरदायित्व और उसकी अवहेलना है...। कांग्रेस के सत्तर प्रतिनिधि उस प्रस्ताव का विरोध करने वाले थे, यह सर को चकरा देने वाला ज्ञान है।"

गांधीजी बहुत अधिक दुखी थे और नेहरू इस क्लेश के कारण को समझ गए। उन्होंने अनुभव किया कि महात्माजी पूर्णता में ही काम करते हैं। वे पूर्ण युद्ध या पूर्ण शान्ति समझ सकते हैं।"बीच का कुछ भी वह नहीं मानते।"वे स्वराजियों के रुख को नहीं समझ सके जो उन्हें न तो तर्कसंगत लगा न ठीक। यदि वे असहयोग में आस्था रखते हैं तो उन्हें व्यवस्थापिकाओं का बहिष्कार करना चाहिए। दूसरी ओर यदि वे सहयोग में विश्वास करते हैं तो शीघ्रतर सुधारों और प्रगति के हित में उन्हें व्यवस्थापिकाओं में जाकर अधिकारियों के साथ पूरा सहयोग करना चाहिए।

सितम्बर में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े की बढ़ती हुई लपटें उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त में कोहाट में भीषणता से भभक उठीं जहाँ १५५ व्यक्ति मारे गए और सम्पत्ति की बहुत भारी हानि हुई। कोहाट की हिन्दू आबादी समग्र रूप से खाली हो गई। देश को गंभीरता में स्तब्ध करने के लिए गांधीजी ने प्रायश्चित स्वरूप इक्कीस दिन का उपवास किया, लेकिन इसने क्षणिक रूप से वातावरण को शान्त कर दिया और हिन्दू और मुसलमान नेताओं का सम्मेलन करवा दिया, उसका प्रभाव अल्पकालीन था।

दिसम्बर में गांधीजी के सभापतित्व में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन बेलगाम में हुआ। नेहरू ने सोचा था कि महात्माजी अपने सभापति भाषण में देश को कोई निश्चित मार्ग दिखायेंगे। वे निराश हुए। यह अभी तक दिए गए अध्यक्षों के भाषणों में सबसे छोटा था और इसमें गांधीजी ने केवल चरखा, हिन्दू-मुस्लिम एकता और अस्पृश्यता को दूर करने का अपना विश्वास दुहराया था। उन्होंने घोषणा की, "मैं सविनय अवज्ञा में अपनी आस्था प्रगट करता हूँ। किन्तु स्वराज्य प्राप्ति के लिए सविनय अवज्ञा असंभव है जब तक कि हम विदेशी कपड़े के बहिष्कार की शक्ति नहीं प्राप्त कर लेते हैं।" नेहरू को यह प्रेरणादायक न लगा और न वे भारत के राजनीतिक लक्ष्य का गांधीजी की व्याख्या "स्वतंत्रता के स्थान पर एक दूसरे पर निर्भर मित्र देशों का संघ", से उत्साहित थे। यह रहस्यमय और अस्पष्ट था।

किन्तु फिर भी नेहरू को कांग्रेस के मंत्री बने रहने के लिए राज़ी कर लिया गया। यह एक तरह से प्रायः स्थायी काम निर्दिष्ट हो गया था। बेलगाम कांग्रेस में स्वराजियों और अपरिवर्तनवादियों के बीच का मतभेद दिखावे के लिए दूर हो गया था जिससे असहयोग आन्दोलन की वास्तविक रूप से मृत्यु हो गई थी।

राजनीतिक जीवन उतार पर था और १९२५ में नाममात्र के लिए सामूहिक कार्य हुआ, ऐसा वर्ष जिसमें गांधीजी ने देशव्यापी निरन्तर यात्रा की। गर्मियों में जवाहरलाल अपने पिता और परिवार के साथ संक्षिप्त अवकाश के लिए हिमालय के एक आश्रय स्थल,

डलहौज़ी गए। मोतीलाल को दमे का कष्ट था। वे हिमालय के अन्दरूनी हिस्से चम्बा में थे जब दास की मृत्यु की सूचना का एक तार मिला। उनकी कलकत्ते के समीप के पहाड़ी स्थान दार्जिलिंग में १६ जून को सहसा मृत्यु हो गई।

उनकी मृत्यु से मोतीलाल को गहरी चोट लगी। जवाहरलाल बताते हैं कि ख़बर पाकर वे बहुत देर तक बिना कुछ बोले-चाले चुपचाप बैठे रहे। दास की मृत्यु के अर्थ एक अत्यन्त प्रिय मित्र का चला जाना था और अब स्वराज पार्टी का भार अकेले मोतीलाल पर आ पड़ा। मोतीलाल के नाम अपने अन्तिम पत्र में दास ने लिखा था; "हमारे इतिहास में सबसे अधिक संकट का समय आ रहा है। इस वर्ष के अन्त में और दूसरे वर्ष के आरंभ में ठोस काम करना होगा। हमारे साधनों पर भार पड़ेगा और यहाँ हम दोनों बीमार हैं। भगवान् जाने क्या होगा।"

१९२५ के शरद् में कमला, जो कुछ समय से क्षयी के संक्रमण से ग्रस्त थी, बहुत बीमार हो गई। कई महीनों तक वह लखनऊ के एक अस्पताल में बिना किसी सुधार के पड़ी रही और अन्त में जवाहरलाल के पुराने मित्र डा० मु० अ० अन्सारी की सलाह से यह निश्चय किया गया कि इलाज के लिए वे योरोप ले जाई जायँ। उस साल कांग्रेस कानपुर में हुई और नेहरू ने इलाहाबाद, कानपुर और लखनऊ के बीच यात्रा करते हुए बहुत से दिन चिन्ता और व्याकुलता में बिताए।

मार्च १९२६ के आरंभ में कमला और अपनी आठ वर्ष की पुत्री इंदिरा के साथ नेहरू बंबई से वेनिस को जहाज़ से गए। उनके साथ अपनी पत्नी विजयलक्ष्मी के साथ नेहरू के बहनोई रणजीत पंडित थे। उन्हें योरोप में एक वर्ष और नौ महीने ठहरना था और यह समय नेहरू के विचारों और दृष्टिकोण में निश्चित रूप से मोड़ लेने का था।

८

योरोप की यात्रा

उन्होंने योरोप में छः से सात महीने ठहरने की योजना बनाई थी। लेकिन कमला के स्वास्थ्य के साथ देश की शान्त राजनीतिक स्थिति और विदेश में नए और स्फूर्तिदायक विचारों से यह प्रवास लंबा हो गया।

विदेश में उनके इक्कीस महीनों का अधिक भाग स्विज़रलैंड के जेनेवा और मोहाना के पहाड़ी क्षयी चिकित्सागृह में बीता। १९२६ की गर्मियों में नेहरू की छोटी बहन कृष्णा उनके पास चली आई और उनकी यात्रा के अन्त तक उनके साथ रही। सितंबर १९२७ में मोतीलाल योरोप आए और उनके साथ नेहरू सपरिवार सोवियत संघ की दसवीं वर्षगाँठ के समारोह में चार दिन के लिए मास्को गए। इसके पहले कमला के स्वास्थ्य में सुधार होने पर जवाहरलाल ने ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी की थोड़े-थोड़े दिनों के लिए यात्रा की और १९२७ में पीड़ित राष्ट्रों की कांग्रेस में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि रूप में ब्रुसेल्स गए।

पिछली बार जब नेहरू योरोप में थे तब से इन चौदह वर्षों में बहुत कुछ घटित हो चुका था। जैसा कि उन्होंने स्वयं माना, उन्होंने योरोप को तेईस वर्ष के युवक, "कुछ घमंडी, पूर्व और पश्चिम के विचित्र मेल, हर जगह बेमेल और कहीं भी निर्द्वन्द्व नहीं" रूप में छोड़ा था। यह वर्ष उन्हें भारत की खोज के आरंभ के थे। लेकिन यात्री को अभी भी लंबा रास्ता तै करना था। गांधीवाद ने नेहरू की राष्ट्रीयता पर एक निश्चित छाप दे दी थी। इसने आनन्द भवन के आश्रम की निश्चिन्तता से बहुत भिन्न संसार की खिड़कियाँ खोल दी थीं और उन्हें किसान और मज़दूर का सगा-सम्बन्धी बना दिया था। वह उन्हें जेल की दीवारों के अन्दर ले गया था। किन्तु उसने उनके अन्दर की हलचल को पूर्ण रूप से शान्त नहीं किया था, और न पूरी तरह से उन प्रश्नों, संशयों और संकोचों का उत्तर दिया था जो उन्हें परेशान किए रहते थे और उनके पीछे लगे रहते थे। निश्चय ही स्वतंत्रता एकमात्र लक्ष्य नहीं था। और यदि वह नहीं था, तो स्वतंत्र भारत किस प्रकार की आर्थिक और सामाजिक स्वाधीनता प्राप्त करने की कामना करता है? उसके लिए गांधीवाद के पास कोई निश्चित उत्तर नहीं था। यह भी तो स्पष्ट नहीं था कि स्वराज्य के क्या मतलब हैं। क्या यह अस्पष्ट प्रकार का ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत समान हैसियत का राज्य है या इससे पूर्ण स्वतंत्रता का अभिप्राय है?

योरोप भी बदल चुका था—नेहरू से अधिक विस्फोटक, ज्वालामुखी रूप से। वह महान् विश्वयुद्ध के ज्वालामुखी का केंद्र रह चुका था, जिसने इतिहास और भूगोल बदल दिया था, सीमाएँ हटा दी थीं, नए राज्य उत्पन्न कर दिए थे और अपने पीछे राजगद्दियों को लुढ़का और राजमुकुटों को चूर-चूर कर दिया था। इस सबके ऊपर सोवियत रूस के उदय होने से संसार में पहले कम्यूनिस्ट राज्य का आविर्भाव हो गया था। योरोप, यहाँ तक कि विश्व की जलवायु में परिवर्तन आ गया था।

योरोप वेचैनी से व्यवस्थित होने के क्रम में दिखाई पड़ा। किन्तु यह तूफान के पहले की शान्त स्थिति थी और आर्थिक वर्फीले तूफान बहुत दूर नहीं थे। नेहरू के योरोप रहते जर्मनी लीग में ले लिया गया था और संयुक्त राज्य के सेक्रेटरी आव स्टेट फ्रैंक केलॉग ने युद्ध त्यागने के लिए एक समझौते का प्रस्ताव किया जिस पर अगस्त १९२८ में पेरिस में हस्ताक्षर होने वाले थे। ब्रिटेन में कोयला खदान वालों ने एक आम हड़ताल कर दी और लंदन ने मास्को से अपने राजनयिक संबंध तोड़ दिए। निकारागुआ में क्रान्ति हो गई। चेकोस्लोवाकिया में टामस मसारिक फिर अध्यक्ष चुन लिए गए और दूरस्थ चीन में च्यांग काई शेक ने हाँगकाँग शासन समाप्त कर नानकिंग में अपने हाथ में शासन ले लिया। जापान में हिरोहितो अपने पिता योशोहितो के बाद सम्राट रूप में गद्दी पर बैठे। साहसी सैनिक पिल्सुड्स्की ने पोलैंड में शासन पर अधिकार कर लिया।

अपने इर्द गिर्द से उत्प्रेरित नेहरू नए विचारों को ग्रहण करने के लिए अपना दिमाग खुला रखते थे। उन्होंने बाद में लिखा, "मैंने योरोप और अमरीका में हो रहे बहुत बड़े राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को मोहक अध्ययन पाया। कुछ अप्रिय बातों के रहते भी सोवियत रूस ने मुझे बहुत आकर्षित किया और वह संसार के आगे रखने वाला एक संदेश लिए हुए लगा।" उन्हें लगा कि राष्ट्रीयता ही पर्याप्त नहीं है। वह बहुत ही संकुचित और अपर्याप्त सिद्धान्त है। कुल मिला कर जब तक वह मानवता की आवश्यकताओं और कामनाओं के विस्तृत घेरे से सम्बद्ध न हो तब तक उसमें तत्व और अर्थ का अभाव है। अपने संकट में भारत केवल शून्य में काम कर सकता है।

विलेन्यूव में विला ओल्गा में रोम्याँ रोलाँ रहते थे जिनसे नेहरू गांधीजी का परिचय पत्र लेकर मिले। तीन वर्ष पहले रोलाँ ने गांधीजी की जीवनी प्रकाशित की थी और योरोप में महात्माजी के प्रवक्ता हो रहे थे। नेहरू की तीर्थयात्रा बिना व्यंग्य के नहीं रही। गांधीजी के विषय में रोलाँ ने लिखा था : "मैंने सिन्धु के मैदानों में भावना के दुर्ग को उठते हुए देखा जिसे दुबले पतले और न टूटने वाले महात्मा ने खड़ा किया। और मैंने उसे योरोप में फिर से बनाने में अपने को प्रवृत्त किया।" अब नेहरू ने योरोप में उन पहेलियों के उत्तर खोजे जिन्होंने उनको भारत में परेशान कर दिया था।

रोलाँ ने उन्हें शान्त तो किया लेकिन पूरी तौर पर सन्तुष्ट नहीं किया। जर्मन कवि और नाटककार अर्न्स्ट टोलर ज्यादा पुष्ट रेशे के थे, जिनसे नेहरू ब्रुसेल्स में मिले। तब

चौंतीस के, तीव्र और बहुधा उदास, टोलर, दुःख के भाव से अभिभूत लगे। वे नाज़ियों द्वारा जर्मनी से निर्वासित किए जाने वाले और जिस तरह दूसरे विश्व युद्ध की छाया योरोप पर छा रही थी, वे अपने ही हाथों मरने वाले थे।

नेहरू टोलर के सत्य और स्वाधीनता के प्रति आवेग से, उग्र साहस और सामाजिक चेतना से प्रभावित हुए। सात वर्ष बाद, १९३५ में, वे इस जर्मन निवासी से फिर मिले जो अब अपने देश से निर्वासित, व्याकुल, उखड़ा हुआ शरणार्थी का जीवन व्यतीत कर रहा था। १९३९ में टोलर ने अपनी हत्या कर ली और नेहरू ने दुःख और क्रोध की लहर में अपने मृत मित्र का शोक किया। उन्होंने चिन्ता व्यक्त की कि फ़ासिज़्म की दुनिया टोलर की संवेदनशील भावना के लिए बहुत क्रूर थी, उनकी सुन्दर प्रकृति के लिए बहुत असभ्य थी। "लेकिन अपने झूठे वचन और विश्वासघातों और धोखे की चोटों से प्रजातंत्रीय इंगलैण्ड और प्रजातंत्रीय फ्रांस ने उसे समाप्त कर दिया।"

ब्रुसेल्स में जहाँ कि नेहरू पीड़ित राष्ट्रों की कांग्रेस में टोलर से मिले थे, वे मैडम सन् यात्-सेन सहित बहुत से एशियावासियों से मिले थे, जो बाद में अपने देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में प्रमुख रहे थे। वह अलग-अलग रहने वाले एक व्यक्ति से नहीं मिले, लेकिन उसका सामना मोतीलाल से हो गया। वह एक दुबला-पतला हिन्द-चीनी था जिसकी मोमी चमड़ी, भली चमकती आँखें और छितरी दाढ़ी थी। उसका नाम अंगुयेन-अइ-क्वोक था किन्तु संसार ने उसे हो-ची-मिन्ह नाम से जाना। नवम्बर १९५४ में पीकिंग जाते हुए नेहरू हिन्द-चीन के हनोई में हो से मिले।

ब्रुसेल्स कान्फ्रेंस में बहुत से कम्यूनिस्ट उपस्थित थे और उन्हें सोशलिस्टों के साथ काम करते देखकर जवाहरलाल को पश्चिमी मज़दूर दुनिया के अन्तः संघर्षों के संबंध में कुछ अन्तर्दृष्टि मिली। इन सोशलिस्टों में ब्रिटेन के जॉर्ज लान्सबरी थे। भारतीय स्वतंत्रता के प्रश्न पर ब्रिटिश सोशलिस्टों के संदिग्ध रुख ने नेहरू को चिढ़ा दिया। वे उनसे कुछ घृणा करने लगे। उन्हें लगा कि कम्यूनिस्ट कम-से-कम पाखंडी नहीं हैं। उनमें जो भी बुराइयाँ हों, वे साम्राज्यवादी नहीं हैं। शासन पर अधिकार करने के बाद उन्होंने उन विशेषाधिकारों को स्वयं समाप्त कर दिया था जिनका ज़ारशाही सरकार ने-फारस ऐसे देशों में दावा किया था। तुर्की के प्रति उनका रुख उदार था। उन्होंने कुस्तुन्तुनिया, तुर्की समुद्र और योरोप और एशिया के तुर्की क्षेत्रों में अपने दावे न केवल छोड़ दिए थे किन्तु युद्ध के बाद उस देश को बाँटने के भिन्न देशों के उद्देश्य को विफल करने की दृष्टि से तुर्की से मित्रता विकसित की थी। चीन में लेनिन ने उन सब देश की सीमा के बाहर के अधिकारों और विशेषाधिकारों को त्याग दिया जो ज़ारशाही रूस भोग रहा था। अमरीका के प्रति बोल्शेविकों का रुख बहुत मैत्रीपूर्ण था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद उनका सबसे बड़ा शत्रु था और इस रुख ने विशेषतः एशिया में एक आह्वानात्मक गूँज उठा दी थी। नेहरू ने स्मरण किया था कि किस प्रकार से प्रथम विश्व युद्ध के बाद चर्चिल

ने ब्रिटिश नेतृत्व के पैर मध्य पूर्व में दिल्ली से कुस्तुनतुनिया तक फैलाने की बात कही थी।

"मैंने इस सब के भार के बराबरी के रूप में रूस में इन घटनाओं का स्वागत किया," उन्होंने टीका की।

कम्यूनिस्टों के प्रति जवाहरलाल की प्रतिक्रिया इस सन्दर्भ में ही समझना होगी। अपनी आत्म कहानी में वे स्वीकार करते हैं कि इस समय वे समाजवाद की "बारीकियों" के बारे में ज़्यादा कुछ नहीं जानते थे—"मेरा परिचय उसके बाहरी लक्षणों तक ही सीमित था।" अन्य अनेक भारतीय बुद्धिजीवियों की तरह वे भी रूसी जनता और सरकार के अपने देश को अक्षरशः बूट के फीतों से जीवन की अच्छी स्थिति में उठाने की कामना और चेष्टा से प्रभावित थे। दूसरी ओर, पहले की ही तरह वे अब भी कम्यूनिस्टों के तानाशाही ढंगों, उनके आक्रामक और उजड्डों से तरीक़ों, उनके असहमत लोगों के विरुद्ध बोलने के स्वभाव से चिढ़ते थे।

लगभग दस वर्ष बाद अपनी आत्मकहानी में नेहरू इस विषय पर लौटते हैं:

मैं कम्यूनिस्ट होने से बहुत दूर हूँ। मेरी जड़ें शायद अब भी कुछ उन्नीसवीं शताब्दी में हैं और मैं मानवतावादी उदार परम्परा से बहुत अधिक प्रभावित होकर उससे पूरी तौर से निकल आया हूँ। यह मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि मेरे साथ चलती है और स्वभावतः बहुत से कम्यूनिस्टों की चिढ़ का कारण है। हठवाद और कार्लमार्क्स की रचनाओं को, या और किन्हीं पुस्तकों को जो उस ढंग से मानी जाँय कि वे ईश्वर से प्राप्त धर्म ग्रन्थ हों और जिन्हें चुनौती न दी जा सके, और विचारों और जीवनक्रम पर शासन और आस्था के विरोधियों का शिकार जो आधुनिक साम्यवाद की विशेषता लगती, मैं नापसन्द करता हूँ। मैं वह भी बहुत नापसन्द करता हूँ जो रूस में हो चुका है और विशेषरूप से सामान्य काल में हिंसा का अतिशय उपयोग।

नेहरू ने ध्यान पूर्वक सोचा कि पूँजीवादी संसार में भी तो हिंसा का अभाव नहीं है।

सामाजिक और राजनैतिक भावों का मूल्यांकन करने में मार्क्स की वैज्ञानिक रीति ने नेहरू को निस्सन्देह प्रभावित किया। वे अपनी आत्म कहानी में मानते हैं: "मैं कम्यूनिस्ट दर्शन की ओर अधिकाधिक झुकता हूँ।" उनके विचार का रंग मार्क्सवादी है, लेकिन उससे एक मस्तिष्क निकलता है जो आधुनिक, स्वतंत्र और राष्ट्रीय है? इन्दिरा के नाम एक पत्र में, जो जेल से १६ फरवरी १९३३ को लिखा गया था, नेहरू अनुमोदन के रूप में लेनिन की चेतावनी का उद्धरण देते हैं कि मार्क्सवाद को कट्टर सिद्धान्त न मान लिया जाय; और लेनिन की रचनाओं से एक अंश उद्धृत करते हैं—"हम समझते हैं कि रूसी समाजवादियों के लिए यह विशेष रूप से आवश्यक है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त का विशेष अध्ययन करें क्योंकि वह सिद्धान्त साधारण मार्गदर्शक विचार उपस्थित करते हैं जो उदाहरण के लिए इंगलैण्ड में, फ्रांस में भिन्न प्रकार से प्रयुक्त हो सकते हैं, फ्रांस में जर्मनी से भिन्न प्रकार से, जर्मनी में रूस से भिन्न प्रकार से।"

नेहरू की भारतीय कम्यूनिस्टों की आलोचना इसी समझ से जड़ पकड़ती है। उनके

विश्वास के अनुसार वह कम्यूनिजम जो मार्क्स ने प्रचारित की थी वैसी ही चलन के बाहर हो चुकी है जैसा कि ले से-फ़र (बिना विरोध) संप्रदाय का पूंजीवाद। अगर भारत में मार्क्सवाद समग्र रूप से नहीं रोका जा सकता है तो आधुनिक राज्य में अबाधित निजी उद्योग के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं है, विशेष रूप से कम विकसित देशों में। अधिक-से-अधिक संख्या के लिए अधिक-से-अधिक भलाई करने का उपयोगितावाद का विचार अच्छा रहता है, और चूंकि सामान्य जन अधिक-से-अधिक संख्या को व्यक्त करता है, राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को अधिकांश में उसी के हित में बनाना चाहिए।

नेहरू के अर्थशास्त्रीय विचार निश्चित समाजवादी ढंग ले रहे थे, और अपने मन में वे यह विश्वास कर चुके थे कि स्वतंत्रता की शुद्ध राजनीतिक कल्पना को सामाजिक और आर्थिक विशिष्ट तत्व प्रदान करते हुए जनता के सन्दर्भ में स्वराज्य की फिर से व्याख्या करना होगा। यह लक्ष्य था। राजनीतिक स्वतंत्रता इस लक्ष्य का साधन मात्र थी, किन्तु राजनीतिक लक्ष्य की भी व्याख्या करना चाहिए। नेहरू पूर्ण स्वतंत्रता के पक्ष में थे।

उन्हें लगा कि यह सामाजिक और राजनैतिक कल्पनाएँ गांधीवाद के साथ समीकृत की जा सकती हैं। वे कांग्रेस के द्वारा पूरी हो सकती हैं। उन्होंने बाद में सोचा कि यह सही है कि "सैद्धान्तिक रूप से वे (गांधीजी) कभी-कभी आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े रहते हैं...किन्तु कार्य व्यापार में वे भारत में आजकल के क्रांतिकारियों में सबसे बड़े हैं।" गांधीजी की प्रजातंत्र की कल्पना आध्यात्मिक थी। वे प्रजातंत्र की व्याख्या संख्या या बहुमत या प्रतिनिधित्व के रूप में न करके सेवा या त्याग के रूप में करते थे। परंपरा के अर्थ में वे प्रजातंत्रवादी थे या नहीं, लेकिन वे भारत की किसान जनता का प्रतिनिधित्व अवश्य करते थे। वे उन लाखों की चेतन और अवचेतन इच्छा के निचोड़ थे। नेहरू ने दृढ़ता पूर्वक कहा, महात्माजी "प्रिय सरदार" थे।

इस समय नेहरू ने न तो मार्क्स को न मार्क्सवादी साहित्य को ही ध्यान से पढ़ा था। वह इस काम को १९३० के आरंभ में करने वाले थे, जब कि उन्होंने बहुत सा समय जेल में बिताया। पहली सोवियत पंचवर्षीय योजना को अभी दो वर्ष थे। नवम्बर १९२७ में जब नेहरू अपने पिता के साथ मास्को गए उस समय ट्राट्स्की कम्यूनिस्ट पार्टी से निकाले जाने वाले थे।

१९२९ में आरंभ हुई सोवियत पंचवर्षीय योजनाओं ने बाद में नेहरू के मन को योजनाबद्ध अर्थनीति के ढंग पर सोचने को प्रवृत्त कर दिया। किन्तु उस समय भी, यद्यपि वे उन लोगों के बहुत ही बड़े कार्यों से प्रेरित थे, जिन्हें अमरीकी तकनीकी सहायता ने संभव बना दिया था, वे इन विचारों और योजनाओं को जैसा का तैसा भारत में उठा ले जाने के विचार से पीछे हट गए। उन्होंने मन में तर्क किया कि जो कुछ रूस में हुआ उसकी आँख बन्द कर नक़ल करना गलत है, क्योंकि उनका प्रयोग संबंधित देश में व्याप्त परिस्थितियों और उसके ऐतिहासिक विकास की अवस्था पर निर्भर करता है। भारत

रूस की उपलब्धियों और भूलों से समान रूप से सीख सकता है। उदाहरण के लिए वह अधिक सचेत होकर आगे बढ़ सकता है। इस स्थल पर नेहरू अनुमोदन के रूप में लायड जार्ज का उल्लेख करते हैं—"अथाह गड्डे को दो कुदान में कूदने से अधिक बड़ी कोई ग़लती नहीं है।"

सोवियत रूस के संबंध में नेहरू की रुचि केरेंस्की के विफल प्रयत्न से रुक गई। इस प्रयत्न ने बोल्शेविक क्रान्ति के आरंभ का संकेत दिया।

"मैंने तब मार्क्सवाद के बारे में कुछ नहीं पढ़ा था," जवाहर लाल ने बहुत बाद स्मरण किया, "लेकिन मेरी सहानुभूति लेनिन और दूसरे लोगों के साथ बहुत कुछ थी।"

रूसी क्रान्ति में दो चीज़ों ने विशेष रूप से उनके मन को प्रेरित किया। उन्होंने राजनीति को बहुत कुछ सामाजिक परिवर्तन के रूप में सोचना आरंभ किया, और अफ़गानिस्तान के उत्तर के गीतात्मक नामकरण किए, उज़बेकिस्तान, समरकन्द, बोखारा, राज्यों की उन्नति की रिपोर्टों से भी प्रभावित थे। किन्तु विस्तृत समाचारों के रूप में कम ही था।

निस्सन्देह नेहरू भारत के अपने ही राजनीतिक संघर्ष में अधिक सन्निकट रूप से तथा तीव्रता से लगे थे। भारत में लड़ाई का ढंग देश की परिस्थिति के अनुसार प्रभावित था, और उन्हें लगा कि गांधीजी स्वयं "बहुत बड़े प्रभाव डालने वाले तत्व थे"। किन्तु पूरे राष्ट्र के स्तर पर योजना बनाने की कल्पना ने, जो सोवियत् रूस ने दिखाई, उन्हें परेशान कर दिया।

कुछ वर्षों बाद उन्होंने टिप्पणी की, "सोवियत् प्रयोग हमारे मार्ग में बाधा नहीं बने। उसके विपरीत उससे हमारे सोचने में सहायता मिली।"

ब्रुसेल्स कान्फ्रेंस ने जब कि उन्हें पश्चिमी श्रमिक संसार के अन्तः संघर्षों को ध्यान से देखने में समर्थ किया, उसने उन्हें औपनिवेशिक और अधीन देशों की कुछ समस्याओं को समझने में भी सहायता की। उन्होंने देखा कि अधीनता किसी तरह भारत के लिए ही विशेषता नहीं थी। जिस प्रकार पूँजीवाद अपने ही क़ब्र खोदने वाले तैयार करते हैं, उसी तरह उससे उत्पन्न साम्राज्यवाद अपने अन्दर ही कलह और क्षय के बीज पालता रहता है, और दोनो ही पद्धतियों की जड़ें उन विश्वव्यापी प्रवृत्तियों में हैं जो पूर्व और पश्चिम, काले और गोरे, सत्ताधारी और सर्वहारा सभी को प्रभावित करती हैं। उपनिवेशवाद और पूँजीवाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। पूँजीवाद सस्ती मज़दूरी और सस्ते कच्चे माल की लालसा से अन्त में उपनिवेशवाद की ओर बढ़ता है। कम से कम मार्क्स ने यही सिखाया है।

पूँजीवाद, विशेषरूप से अपने अनियंत्रित रूप के पूँजीवाद. के प्रति नेहरू की घृणा उपनिवेशवाद के इस सैद्धान्तिक सहयोग से उत्पन्न होती है। उनके मन में पूँजीवाद उपनिवेशवाद के दुराचारी पाप का स्रोत है। यह स्वीकार करते हुए कि कम्यूनिज़्म और

फ़ासिज़म दोनों ही राज्य को ऊँचा उठाते हैं और व्यक्ति को समाप्त कर देते हैं, वे फ़ासिज़्म को पूँजीवाद की तर्कसंगत उत्पत्ति मान कर उसके विशेष रूप से आलोचक हैं। वे अपनी बेटी को एक पत्र में समझाते हैं।

> जब घेरा डाले पूँजीवाद और बढ़ते हुए समाजवाद में वर्गसंघर्ष कटु और संकटपूर्ण हो जाता है तो फ़ासिज़्म प्रगट होता है...जब तक पूँजीवाद प्रजातंत्रीय संस्थाओं के तंत्र को अधिकार रखने और श्रम को दबाने के उपयोग में ला सकता है, प्रजातंत्र चलने दिया जाता है। जब यह संभव नहीं रहता तब पूँजीवाद प्रजातंत्र को अलग कर देता है और फ़ासिज़्म के खुले तरीक़े हिंसा और आतंक को काम में लाता है।

नेहरू पूँजीवाद और उपनिवेशवाद के मार्क्सवादी रुख से प्रभावित थे किन्तु किसी प्रकार उसे पूरी तौर पर पचाने को तैयार न थे। उनका कहना था कि स्वतंत्रता के लिए मज़दूरों या सर्वहारा का आन्दोलन नहीं था, किन्तु विशेष रूप से मध्यवर्गीय लोगों का आन्दोलन था जो सामाजिक व्यवस्था में किसी प्रकार के परिवर्तन से अधिक राजनीतिक स्वतंत्रता में रुचि रखते थे। फिर भी गांधीजी की शक्ति ने उसे एक क्रांतिकारी अर्थ से परिपूर्ण कर दिया है, और जब तक राष्ट्रीय आकांक्षा सामाजिक-आर्थिक योजना को अपने स्थानापन्न नहीं कर देती, उसकी उपयोगिता समाप्त नहीं हो जाती। नेहरू को लगा कि उसे दिशा और बल देने का समय आ गया है।

शुद्ध उपनिवेश-विरोधी स्तर पर ब्रुसेल्स कान्फ्रेंस ने एक नया संगठन, साम्राज्यवाद विरोधी लीग, बनाया। उसके संरक्षकों में आइंस्टीन, मैडम सन्-यात-सेन और रोम्याँ रोलाँ थे, यद्यपि आइंस्टीन ने उसके यहूदी विरोधी विचारों के विरोध में शीघ्र ही उससे त्यागपत्र दे दिया। नेहरू भी उसके सदस्य थे और लिखते हैं कि वह कम्यूनिस्टों के निकट-सम्पर्क में कार्य करती हुई लगती थी। वे ग़ुस्से से ज़्यादा दिलचस्पी से अधिक याद करते हैं कि १९३१ में लार्ड हैलीफैक्स, उस समय के वाइसराय, लार्ड अर्विन की सरकार के साथ गांधीजी की संधि का अनुमोदन करने के लिए वे इस संस्था से बिना किसी सफ़ाई माँगे निकाल दिए गए थे।

अपने राजनीतिक विचारों और कार्यों के कारण बहुत से भारतीय क्रान्तिकारी अपने देश से निर्वासित उन दिनों दोनों युद्धों के बीच के समय में योरोप में रहते थे।

उनसे मिलने में नेहरू ने कुछ देर लगाई। अपने देशवासियों से विदेश में मिलने में सदा प्रसन्न, वे इन निर्वासितों की बौद्धिक क्षमता पर निराश थे। उनमें से थोड़े से भी मिलनसार झक्कियों से अधिक कुछ न लगे। वयोवृद्ध श्यामजी कृष्ण वर्मा, यद्यपि धनी थे, किन्तु अपनी पत्नी के साथ जेनेवा में दुर्गन्धपूर्ण, धूलभरे कमरे में रहते थे। यह उनमें से एक थे। वह कुछ मनोविकार से ग्रस्त हो गए थे, अनजान लोगों को संदेह से देखते, और उनके पास जानेवाले अधिकांश भारतीयों को ब्रिटिश भेदिया समझते—बीते दिनों का एक खिन्न स्मृति चिह्न जिससे वे दयनीय रूप से चिपटे हुए थे।

दूसरे क्रान्तिकारी राजा महेन्द्रप्रताप थे जिनके भ्रमण ने उन्हें दूरपूर्व और मध्य एशिया से जापान, चीन, तिब्बत और अफ़ग़ानिस्तान की सैर कराई। वे एक असाधारण मिली-जुली वर्दी पहन कर नेहरू से मिलने आए। उनकी पोशाक ऊँचे रूसी बूटों से सुशोभित, उनकी जैकेट और पतलून में जेबों की उलझी हुई तह थी जिसमें चिट्ठियाँ, काग़ज़, तस्वीरें, पोस्टकार्ड और तरह-तरह की इधर उधर की चीज़ें थी।

उन्होंने नेहरू से गंभीर भाव से कहा, "बहुत दिन हुए चीन में मेरा एक चिट्ठियों का बक्स खो गया। तब से मैंने अपने सब काग़ज़ अपने शरीर पर ले चलना पसन्द किया।

एक दूसरे निर्वासित जिनसे नेहरू मिले, वे मौलवी ओबैदुल्ला थे; जिन्होंने अपने समय का बड़ा भाग तुर्की में व्यतीत कर दिया था, और भारत के संयुक्त राज्य के लिए एक व्यवस्था बनाई थी, जिसे अब वे विचारार्थ प्रस्तुत कर रहे थे। यह—काग़ज़ी—चतुर योजना थी। एक भारतीय क्रान्तिकारी स्त्री—मैडम कामा नाम से विख्यात पारसी—थी जो पेरिस में रहती थीं और फ्रांसीसी क्रान्ति के पृष्ठों में से निकल सकती थीं। वे दुबली पतली विकट स्त्री थीं जिनकी आँखें जलती थीं और जिनसे मिल कर नेहरू ज़रा घबरा गए थे जब वह उनकी ओर बढ़ीं और भयानक रूप से उनके चेहरे को देखने लगीं। उस समय वे पक्की बहरी थीं और उत्तर की बिना प्रतीक्षा किए प्रश्न पूछने का उनका घबरा देने वाला स्वभाव था। किसी भी हालत में जवाबों से उनकी राय में कोई अन्तर न आता, सालों से उनकी राय स्थिर और सुस्पष्ट थी।

बर्लिन में नेहरू बरकतुल्ला से मिले जो एक प्राचीन किन्तु उत्साही क्रान्तिकारी थे और अब भी समय के साथ ठोकर खाने को उत्सुक थे। वे घुमक्कड़ प्रकृति के थे, और जब नेहरू योरोप में थे तो वे सान्फ्रांसिस्को चले गए। वहाँ वे उसके बाद शीघ्र ही मर गए।

बर्लिन में भारतीय क्रान्तिकारियों की एक छोटी बस्ती थी जो पहले विश्व युद्ध की देन थे। वे आपस में विभाजित एक परिवार थे, जो संदेहों और मतों से अलग-अलग थे और उनमें से कुछ ने अपने क्रान्तिकारी कार्यों को त्याग कर सम्मानित, यहाँ तक कि शान्त व्यवसाय अख़्तियार कर लिए थे। कुछ लोग अभी तक क्रान्ति का झंडा फहरा रहे थे।

उनमें प्रसिद्ध कवयित्री और राजनैतिक सरोजिनी नायडू के एक भाई वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय और चम्पक रमण पिल्लै थे जो उन इने गिने भारतीयों में से थे जो बाद में नाज़ियों के साथ काम करने लगे। पिल्लै उत्साही राष्ट्रीयतावादी थे जो अपने देश के लिए स्वाधीनता प्राप्त करने के विचार से आक्रान्त थे, और स्वाधीनता की सामाजिक या आर्थिक उलझनों से बिलकुल परेशान न थे। वे १९३० के मध्य में बर्लिन में मर गए।

वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बिलकुल ही भिन्न प्रकार के थे। उन्होंने विदेश में बहुत वर्षों तक बड़े कष्ट का जीवन बिताया। वे सुयोग्य और आकर्षक, प्रसन्न चित्त साथी थे, जो प्रायः ही फटे कपड़े पहने रहते थे किन्तु कभी कटु नहीं होते, सही अर्थ में आवारा।

सब लोगों में "चट्टो" नाम से ज्ञात, वे मास्को में दूसरे विश्वयुद्ध में बहुत ही ग़रीबी में मित्रहीन और अकेले चल बसे।

अमरीका के दो अभ्यागत, एक भारतीय और दूसरा अमरीकी भी नेहरू परिवार के निकट थे। अमरीकन न्यूयार्क की सिविल लिबर्टीज़ यूनियन के रोजर बाल्डविन थे, जिनके उदार मन और आदर्शवादिता ने नेहरू को आकृष्ट किया। बहुचर्चित पुस्तक **माई ब्रदर्स फ़ेस** के रचयिता और कुछ बच्चों की आनन्ददायक पुस्तकों के लेखक धन गोपाल मुकर्जी भारतीय थे। वे यद्यपि राजनीतिक निर्वासित नहीं थे किन्तु उन्होंने संयुक्त राज्य में अपना घर बना लिया था। टोलर की ही तरह वे भी अपने ही हाथों मरे।

जब कमला के स्वास्थ्य ने उन्हें अवकाश दिया, तब मोतीलाल के आने तक नेहरू ने अपना अधिकतर समय सैर करने और स्कीइंग में बिताया। उन्होंने अपनी तरुणावस्था में बर्फ़ पर थोड़ी स्केटिंग की थी और विशेष रूप से वे नए खेल में उत्साह और पूर्णता के साथ उतरे। पर्वतारोहण के समान, इसमें उन्हें शारीरिक हुलास और उत्तेजना मिली।

कोल द वीज़ा पर उनके अभियानों में से एक लगभग ख़तरे में ही समाप्त हुआ। थोड़े से साथियों के साथ नेहरू एक ढलान पर से फिसलने में लगे हुए थे कि अपने फिसलने की एक चेष्टा में उनके ज़रूरत से ज़्यादा एक उत्साही साथी ने उन्हें तब धक्का दे दिया जब वे तैयार नहीं थे, और नेहरू ने अपने को एक ढलान पर जिसके आगे खड़ी कगार थी, तेज़ी से फिसलते पाया। सौभाग्य से वे एक ओर मुड़ सके, चट्टान पर आ गए और कुछ खरोंच लग कर बच गए।

यह तीसरा अवसर था जब जवाहरलाल खुले में मौत से बच गए। सत्रह वर्ष पहले जब वे योरोप में विद्यार्थी थे, नेहरू एक ब्रिटिश साथी के साथ नार्वे में पर्वतारोहण कर रहे थे जब उन्होंने एक हिम नद से आती गरजती धारा में नहाने का निश्चय किया। धारा गहरी नहीं थी, लेकिन उसमें घुसने पर नेहरू को पानी जमा देने वाला और धारा की तली बहुत ही अधिक फिसलन वाली लगी। उनके अंग प्रत्यंग सुन्न पड़ गए थे और वे फिसल कर गिर गए, और फिर पैर जमाना अशक्य लगा। भाग्य से उनका साथी निकल आया और उसने किनारे किनारे दौड़ कर नेहरू का एक पैर पकड़ कर उन्हें बाहर खींच लिया। बाद में उन्होंने देखा कि धारा लगभग दो सौ गज़ बाद एक खड़ी कगार से गिरती है।

दूसरी घटना उनके विवाह के शीघ्र बाद हुई जब वे काश्मीर के ज़ोजी-ला दर्रे में मनो-रंजन कर रहे थे। कुछ साथियों के साथ और राह दिखाने के लिए एक स्थानीय चरवाहे को लेकर नेहरू लगभग आठ मील दूर अमरनाथ की गुफा की ओर बढ़ रहे थे। उन्होंने कई हिमनद पार कर चढ़ाई की और प्रायः बारह घंटे निरन्तर चलने के बाद बर्फ़ का एक विशाल मैदान दिखाई पड़ा। बर्फ के मैदान को पार करना धोखे का काम था क्योंकि उसमें बहुत से गड्ढे थे और धोखे में डालनेवाली ताज़ी बर्फ उनके रास्ते में पड़ी थी। नेहरू एक बर्फ से ढके टुकड़े पर चले गए और एक मुँहफाड़े गड्ढे में लुढ़कने लगे। लेकिन रस्से के सहारे उन्हें डरा हुआ किन्तु सहीसलामत निकाल लिया गया।

उनके योरोप आने के कुछ ही समय बाद कोयलाखान के मज़दूरों ने ब्रिटेन में एक आम हड़ताल कर दी। नेहरू ने उसके क्रम का रुचि से अनुसरण किया और कुछ महीनों बाद इंग्लैंड की यात्रा करने में वे थोड़े समय के लिए डर्बीशायर में एक खान के क्षेत्र में गए। कोयला मज़दूरों, विशेषत: उनकी पत्नी और बच्चों के पिचके, भयानक चेहरों ने उन्हें गहरी वेदना पहुँचाई। संकटकालीन नियमों के अन्तर्गत उन मजिस्ट्रेटों द्वारा उनका मुक़दमा करने और दंड देने से वे और भी द्रवित और क्रुद्ध हो उठे यह प्राय: कोयला खानों के व्यवस्थापक और डायरेक्टर थे। उन्होंने इसे न्याय का उपहास माना, विशेष रूप से ब्रिटिश न्याय का जो उचित रूप से अपनी न्यायप्रियता और पक्षपातहीनता का गर्व करता है।

१९२४ के शरद् में जब नेहरू और उनके पिता बर्लिन में थे तो उन्हें नवम्बर में सोवियत संघ की दसवीं वर्ष गाँठ के लिए मास्को आने की प्रार्थना का निमंत्रण पहुँचा। निमंत्रण विदेशों से सांस्कृतिक संबंधों की सोवियत सोसायटी से आया था। जवाहरलाल जाने के लिए उत्सुक थे, लेकिन मोतीलाल कम उत्साही थे। उन्होंने तर्क किया कि जब यात्रा में उनके पास एक ही सप्ताह रह गया है तो इतनी दूर मास्को जाने में क्या तुक है।

लेकिन जवाहरलाल का आग्रह रह गया। कमला और कृष्णा के साथ दोनों नेहरू ने बर्लिन से पोलैंड के उजाड़ पर से रेल से यात्रा की और ७वीं नवम्बर को जर्मन राजधानी छोड़ने के लगभग अट्ठाईस घंटे बाद रूसी सीमा पर नीजरोलोजे पहुँचे। यात्रा थकानेवाली रही और मोतीलाल का मिज़ाज बिगड़ा हुआ था।

सीमा के स्टेशन पर भारतीय मेहमानों का रेल के कर्मचारियों और अन्य अधिकारियों ने स्वागत किया। यद्यपि वे भोजन कर चुके थे किन्तु फिर भी उनसे भोजन का आग्रह किया गया। उन्होंने अपने आतिथेयों से दुभाषिये के द्वारा रुक रुक कर बातें कीं जिसकी फ्रेंच भाषा सही होने से अधिक उत्साहपूर्ण थी। स्टेशन चारों ओर झंडों और लेनिन के चित्रों से सजा हुआ दिखाया गया और उन्हें लेनिन की पूजा का प्रथम अनुभव मिला। मोतीलाल ने चापलूसी के बढ़ाव को ऐंठ के साथ देखा।

उन्होंने टीका की, "ठीक भारत के किसी गाँव में कांग्रेस के प्रतिनिधिमंडल की यात्रा की तरह।"

शयन की विशेष गाड़ियों में वे रूसी रेलगाड़ी में चढ़े और दूसरे दिन तीसरे पहर मास्को पहुँचे। प्लेटफ़ार्म पर उन्हें लेने के लिए प्रतीक्षा करनेवालों में टाटा घराने के शापुरजी सकलतवाला और ब्रिटिश हाउज़ आफ़ कामन्स के एक कम्यूनिस्ट सदस्य थे।

द ग्रांड होटल द मास्को, जहाँ वे ठहरे, पिछली शान शौकत और विलास के साक्षी के बावजूद फीकी जगह थी। शायद वर्षगाँठ के समारोहों के कारण मास्को की सड़कों पर भीड़ थी, और नेहरू ने ध्यान से देखा कि क्रेमलिन के पास कुमारी मेरी को समर्पित एक प्राचीन छोटा-सा गिरजा था जिसमें बहुत से लोग, अधिकतर स्त्रियाँ, जा रही थीं।

गिरजे के पास की एक दीवार पर मार्क्स की उक्ति "धर्म जनता के लिए अफ़ीम है" लिखी थी।

यह नगर पूर्वीय और पश्चिमी दोनों था। उसकी सड़कें बहुत-सी एशियाई जातियों से भरी थीं और नेहरू को हँसिया हथौड़े के "इस अनोखे यूरेशियाई देश" की मोहकता का अनुभव हुआ। उन्होंने लिखा, "मास्को में हर कोने से एशिया झाँकता है, अयनों के बीच का एशिया नहीं किन्तु चौड़े स्टेप मैदानों और उत्तर और पूर्व और मध्य के ठंढे प्रदेशों का। लोग भारी जूते और हर तरह का लम्बा कोट और टोप पहने हैं।"

अपने चारों ओर के जीवन की असाधारण चहल पहल निकट से ध्यानपूर्वक देखते हुए वे मास्को में चार दिन ठहरे। वे ओपेरा देखने गए और बैले की सुन्दरता से मुग्ध हो गए, और सामान्य पोशाक पहने कामकाजी दर्शकों को बिना कोट के कमीज-पहने देख कर परेशान थे। क्रान्ति के अजायबघरों को, जो निकम्मा लगा, देखकर वे निराश हुए।

दोनों नेहरू उस समय सोवियत् संघ के अध्यक्ष कालिनिन से मिलने गए और देखा कि वे दो या तीन साधारण रूप से सजे कमरों में रहते थे जिनमें दिखावट या विलास का कोई चिह्न न था। विदेश मंत्री चिचेरिन अधिक वचनेवाले सिद्ध हुए। मोतीलाल इस महान् भाषागत प्रतिभा और असाधारण रूप से साफ़ दिमाग़ वाले रूसी व्यक्ति की प्रसिद्धि से उससे प्रभावित थे, उससे मिलने को उत्सुक थे और जब विदेश विभाग के एक अधिकारी ने उन्हें सूचित किया कि मुलाक़ात दूसरे दिन सबेरे चार बजे निश्चित है तो चिढ़ गए। प्रत्यक्षतः चिचेरिन रात भर काम करते रहे।

"और मैं चार बजे तक जाग कर क्या करता रहूँ?" मोतीलाल ने चिड़चिड़ेपन से पूछा।

अधिकारी ने १ बजे सबेरे मुलाकात स्थिर कर समझौता किया।

वे क्रेमलिन की छाया के नीचे लाल चौक में लेनिन की समाधि देखने गए। नेहरू कहते हैं कि जीवन में शारीरिक रूप से लेनिन जरूरत से ज्यादा आकर्षक नहीं थे और उनके इर्द गिर्द रूसी धरती की गंध थी। लेकिन उन्हें लगा कि मरने पर लेनिन की मुखाकृति में अद्भुत सौन्दर्य था और उनकी भौंह शान्तिपूर्ण और चिन्तारहित थी। नेहरू लिखते हैं "उनके ओठों पर मुस्कुराहट मँडराती रहती है और झगड़ालूपन का, कार्य की समाप्ति और सफलता की उपलब्धि का सुझाव है। वह वर्दी पहने हैं और उनकी एक मुट्ठी कसकर भिंची है। मर कर भी वह डिक्टेटर हैं।"

सोवियत् राज्य की विचित्र बनावट और कार्यप्रणाली का अपने मन में मेल बिठाने में मोतीलाल को कठिनाई हुई। उनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा के लिए समुच्चय की कल्पना उनके लिए अजीब थी और घृणास्पद थी। यदि वे सोवियत् की प्रगति के कुछ रूपों के लिए अपने बेटे के उत्साह में भाग लेते हैं तो उसके लोगों के जीवन और विचार पर शासन के लिए इससे पीछे भी हटते हैं।

सोवियत् उपलब्धियों के लिए जवाहरलाल का अपना मूल्यांकन भी किसी प्रकार कम दोष विवेचक नहीं था। किन्तु वे उस रुख और प्रयत्न से प्रभावित थे जिससे नए शासक अधिकांश समस्याओं का सामना करते थे। मास्को की सीमा पर एक जेल घूमते हुए सामान्यतः अपने अनुकूल मत को वे इस बात से कम कर देते हैं कि उनके मेज़बान उन्हें जेल जीवन की सिर्फ अच्छाइयाँ ही दिखा रहे थे और मास्को के बाहर इस प्रकार की आदर्श संस्थाएँ नियम से अधिक शायद अपवाद ही होंगी। तो भी जो यथार्थ सुधार उन्हें दिखाए गए वे पुराने मनुष्यत्व से गिरानेवाले तरीकों से पूर्ण और वांछनीय अलगाव थे। इसके सिवा जेल के अधिकारियों की मनोवृत्ति न तो क्रूरतापूर्ण और न दंड देनेवाली लगी। पहरेदारों के पास कोई हथियार न थे और मुख्य द्वार पर केवल दो आदमी संगीन लिए- हुए थे। यह जेल गंभीर अपराधियों की केंद्रीय जेल थी जिनमें कुछ राजनीतिक अपराधी भी थे जो गंभीर देशद्रोह के अपराधी थे और जिनका मृत्युदंड दस वर्ष की जेल की सज़ा में बदल दिया गया था।

गवर्नर ने बतलाया, "हमारी जेल प्रणाली का उद्देश्य अपराधी को दंड देना या उसे उदाहरण के रूप में पेश करना नहीं है, किन्तु उसे समाज से अलग कर उससे अनुशासित रूप में काम करा कर उसे सुधारना है।"

राजनीतिक स्तर पर सोवियत क्रूरता के प्रति अचेत न रहनेवाले जवाहरलाल को यह अत्यन्त ऊँची सभ्यता का रुख लगा।

भारत में बढ़ते हुए हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के प्रति सचेत जवाहरलाल नेहरू अल्प संख्यकों के प्रति सोवियत व्यवस्था में रुचिपूर्ण थे। रूस असंख्य राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों, विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों का देश था जिसमें प्रारंभिक शिक्षा बासठ भिन्न भिन्न भाषाओं में दी जाती थी और बावन भाषाओं में पुस्तकें और समाचारपत्र प्रकाशित होते थे। पिछले पाँच वर्षों में जो प्रगति हुई थी वह किसी प्रकार पूर्ण समता को तो निश्चित नहीं करती थी, किन्तु अंग्रेज़ों ने जो भारत में १५० वर्षों में किया था उसकी तुलना में अवश्य ही उत्साहवर्धक और प्रभावशाली थी। नेहरू ने सोचा कि अंग्रेज़ शायद अल्प-संख्यकों की समस्या को सुलझाना नहीं चाहते।

यह देखना दिलचस्प है कि सोवियत् उपलब्धियों के अपने मूल्यांकन में नेहरू किस प्रकार भारत-अंग्रेज़ संबंधों के मापदंड का उपयोग करते हैं। इस काल में उनके विचार अंग्रेज़ों के भारत पर प्रभुत्व के कुरूप तथ्य से बहुत कुछ निष्कर्ष निकालते हैं। भारत और रूस के भविष्य के सम्बन्धों पर सोचते हुए वे "रूस को घेरने और उसका गला घोटने की अंग्रेज़ सरकार की कड़ाई" की शिकायत करते हैं। उन्हें लगा कि रूसी लोग लड़ाई को बचाने के लिए उत्सुक हैं लेकिन आक्रमण होने पर अप्रस्तुत न रहने के लिए कटिबद्ध हैं। "वह (रूस) उस स्वाधीनता को सहज ही नहीं छोड़ देगा जो उसने अपरिमित कष्ट और त्याग से पाई है," यह १९२७ में नेहरू की राय थी। यह होने पर भी वे इस

बात को जताने में सावधान हैं कि रूस ने कभी प्रजातंत्र नहीं जाना है। १९१७ में वह एक प्रकार के निरंकुश शासन, ज़ारशाही, से कम्यूनिज़्म में कूद आया है।

शक्ति के गुटों से अलग रहने की नेहरू की वर्तमान नीति को, दृष्टिगत रखते हुए उनका इसी प्रश्न पर १९२७ के ज़माने का रुख विशेष महत्व रखता है। उन्हें लगा कि रूस को भारत हथियाने का कोई आर्थिक अभिप्राय नहीं है क्योंकि उनकी प्रमुखतः खेती से संबंधित अर्थव्यवस्था पूरक न होकर एक सी ही थीं और रूसी विस्तारवाद के शोर को उन्होंने ज़ार के ज़माने का अंग्रेज़ों का पैदा किया हौआ कहा। "आज जो हम निरंतर झगड़ा देख रहे हैं वह इंग्लैंड और रूस के बीच है, रूस और भारत के बीच नहीं। क्या कारण है कि हम भारतीय लोग रूस के विरुद्ध अंग्रेज़ों की युगों पुरानी दुश्मनी विरासत में लें ?"

उसके बाद यह भी महत्वपूर्ण है कि नेहरू रूस को घेरने की अंग्रेज़ों और फ्रांस वालों की योजना पर एक अंग्रेज़ राजनीतिक समीक्षक की राय स्वीकार करते हैं। इस समीक्षक के अनुसार लीग आफ़ नेशंस की उत्पत्ति और लोकार्नो समझौता बोल्शेविकवाद का सामना करने के भाव की अभिव्यक्ति थे। नेहरू परिणाम निकालते हैं, "हमें यह स्पष्ट कर देना होगा कि हम अपने को अंग्रेज़ों के साम्राज्यवादी खेल में मोहरे की तरह उपयोग में नहीं आने देंगे कि उनके लाभ में इधर से उधर चलाए जायँ।" यद्यपि सिद्धान्त और परिस्थि-तियाँ कुछ बदल गई हैं लेकिन उन पिछले दिनों का प्रभाव अब भी चल रहा है।

नेहरू के इक्कीस महीने विदेशों में रहने पर भारतीय राजनीतिक स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आया। अगर कुछ हुआ तो हिन्दू-मुस्लिम तनाव के बढ़ने के साथ-साथ भारत में प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने बल प्राप्त किया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा और प्रान्तीय कौंसिलों के तीनसाला चुनाव नवंबर १९२६ में हुए थे और एक नई तथाकथित राष्ट्रीय पार्टी, साम्प्रदायिक रूप से झगड़े की मनोवृत्ति वाले लाला लाजपत राय और पंडित मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व में मैदान में आई। इसका एक परिणाम तो मोतीलाल की स्वराज पार्टी ऐसे सच्चे राष्ट्रीय दलों को कमज़ोर बना देना था। स्वराज पार्टी नए संगठन से बहुत अधिक हार गई।

एक ओर हिन्दू महासभा वाले और दूसरी ओर मुस्लिम लीग वाले रोज़ाना मुखर होते गए। बहुत से मुसलमानों ने राष्ट्रीय से बिलकुल सांप्रदायिक पार्टियों की ओर जाना शुरू कर दिया जबकि कुछ हिन्दू कांग्रेस से हिन्दू महासभा और नई संगठित नेशनलिस्ट पार्टी में चले गए। मन में दुखी नेहरू की चुनावों या चुनावों के पैंतरों में बहुत रुचि नहीं थी। उन्होंने कुछ आनन्द लेकर एक अमरीकी समाजवादी की राजनीति की व्याख्या का स्मरण किया, "ग़रीबों से वोट लेने और धनी लोगों से एक से दूसरे की रक्षा के लिए धन संग्रह के अभियान की अच्छी कला।" अब यह और भी खराब था क्योंकि हिन्दू और मुसलमान संप्रदायवादी अपने अपने संप्रदायों के दूसरे से रक्षक के रूप में आगे आ रहे थे।

दिसम्बर १९२६ में एक मुसलमान धर्मोन्मत्त द्वारा स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या पर सारा

भारत क्षुब्ध हो उठा। श्रद्धानन्द ने दिल्ली में असहयोग के दिनों में बड़ा उल्लेखनीय काम किया था। वे आकर्षक व्यक्तित्व के लम्बे और तन कर चलने वाले व्यक्ति थे और उनका दैत्याकार शरीर सदा संन्यासी के गेरुए वस्त्र से आच्छादित रहता। समाचार पाकर नेहरू क्षुब्ध और हताश भी हुए। उन्हें याद आया कि सात वर्ष पहले दिल्ली की प्राचीन सड़क चाँदनी चौक में श्रद्धानन्द ने किस प्रकार संगीन लगाए एक गोरखा सेना का सामना किया था—अपनी चौड़ी छाती खोल कर उन्हें मारने को ललकारा था।

इस बीच जब तक कार्यवाही के लिए ठीक अवसर न आए तब तक देश की नब्ज़ टटोलने में सन्तुष्ट गांधीजी उसका दौरा कर रहे थे। तब तक वे खादी के प्रचार और अपने अस्पृश्यता विरोधी संदेश के उपदेश में लगे थे।

इस अवसर पर मि० स्टैनली बाल्डविन की कट्टरपंथी सरकार ने सर जॉन साइमन (बाद में लार्ड साइमन) के नेतृत्व में भारतीय सरकार के प्रबन्ध की जाँच करने तथा यदि आवश्यक हो तो और संवैधानिक सुधार सुझाने के लिए एक पूरे ब्रिटिश लोगों के आयोग की स्थापना की घोषणा की।

एक ऐसे विषय में जिसमें उन पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता हो, इस आयोग से भारतीयों को अलग रखने से भारत में जनमत क्रुद्ध हो उठा और उससे ब्रिटिश राज के लिए हानिकर तात्कालिक परिणामस्वरूप दो बातें हुईं। इसने थोड़े ही दिनों के लिए सही, कांग्रेस और नरम दलवालों में और कुछ सीमा तक हिन्दू और मुसलमानों के बीच का घाव भर दिया। कांग्रेस और मुस्लिमलीग दोनों ही ने भारत की उन्नति का नाश करने के लिए बने अंग्रेज़ों से भरे इस कमीशन (आयोग) की निन्दा की। उदारपंथी और अन्य नरमदल के समूहों ने इस निन्दा को प्रतिध्वनित किया और आयोग के बहिष्कार का नारा लगाया। दूसरे इस घोषणा ने देश की राजनीति में नए जीवन का संचार कर दिया और देश को क्रियाशील करने में सहायता दी।

जब भारत का राजनैतिक जीवन उतार पर लग रहा था तो कट्टरपंथी सरकार ने यह भस्मासुर क्यों खड़ा कर दिया ? इसका दोष उस समय के भारत के ब्रिटिश सेक्रेटरी आव स्टेट लार्ड बर्कनहेड के सर रहेगा जिन्होंने भूल से यह अनुमान लगाया था कि आयोग की स्थापना फूट का बीज सिद्ध होगा और स्वराजियों को और अधिक विभाजित कर देगा और कमज़ोर कर देगा। इसके अतिरिक्त लेबर पार्टी के चुनाव जीतने की संभावना लिए आम चुनाव दूर नहीं था और लार्ड बर्कनहेड को लगा कि आयोग के सदस्यों का मनो-नयन समाजवादियों के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता। उन्होंने आग्रह किया कि कट्टरपंथी लोग "ज़रा भी खतरा नहीं उठा सकते कि आयोग का मनोनयन हमारे उत्तराधिकारियों के हाथों में रहे।" लगभग दो वर्ष पहले उस समय के वाइसराय लार्ड रीडिंग से एक पत्र में लार्ड बर्कनहेड ने वाइसराय की सलाह माँगी थी, "किसी समय भी आप इसे (आयोग को) सौदा पटाने या स्वराजियों को और अधिक विभाजित करने का उपयोगी

सावन समझें।" यह स्पष्ट था कि किन विचारधाराओं पर लार्ड वर्केनहेड का दिमाग़ चल रहा था।

कमीशन की घोषणा ८ नवंबर १९२७ को हुई थी। नेहरू ने पहले पहल मास्को में पढ़े एक समाचारपत्र से इस विषय में जाना। एक प्रसिद्ध वकील सर जान साइमन मोतीलाल से अच्छी तरह परिचित थे और एक विचित्र संयोग से दोनों उसी समय लंदन में प्रिवी कौंसिल*के आगे एक अपील में एक साथ नियुक्त थे।

मास्को यात्रा के कुछ ही समय बाद नेहरू लंदन आए जहाँ कि मोतीलाल साइमन के साथ क़ानूनी सलाह करने में जल्दी ही लग गए। इस प्रकार की सलाह के एक अवसर पर साइमन ने जवाहरलाल को अपने पिता के साथ आने को निमंत्रण दिया, और यद्यपि मुक़दमे में उनकी कोई रुचि नहीं थी, नेहरू ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। राजनीतिक रूप से विभाजित होने पर भी व्यक्तिगत रूप से उनके सम्बन्ध सद्भावपूर्ण थे।

नेहरू को लगा कि यह भारत को लौटने का समय है। कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन बड़े दिन में मद्रास में निर्धारित था और भारत फिर गरम हो रहा था। योरप में अपनी नज़र से वे स्वयं चित्र को पूरे तौर पर और अधिक साफ़ ढंग से देख पाए थे। अब वे बहुत निश्चित विचारों के साथ लौट रहे थे कि भारत की स्वतंत्रता का राजनीतिक,आर्थिक और सामाजिक रूप से क्या अर्थ होना चाहिए।

आगामी वर्षों में नेहरू को इन विचारों को क्रियात्मक रूप देना था। भारत को और दो दशकों में स्वतंत्र होना था। किन्तु उस समय यह कोई न समझ सका। वर्षों का संघर्ष पीछे था। आगे श्रम, दुःख, आँसू और विजय थी।

---

* भारत की अदालतों के फ़ैसले के लिए उस समय सबसे बड़ी अदालत।

१

उफ़ान और आग

अपनी पत्नी, पुत्री और छोटी वहिन के साथ दिसम्बर १९२७ के आरंभ में नेहरू मार्सेल्स से भारत के लिए जहाज़ से चले। वे लंका में कोलम्बो पर उतरे और वहाँ से मद्रास को रवाना हुए जहाँ कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था। इस अधिवेशन में मोतीलाल प्रमुखतः अनुपस्थित थे। उन्होंने योरोप में तीन महीने और ठहरने का निश्चय किया था।

मद्रास अधिवेशन की अध्यक्षता एक मुसलमान राष्ट्रीयतावादी डा० मु० अ० अंसारी ने की जिनका उद्घाटन भाषण एक उल्लेखनीय वाक्य के लिए विशिष्ट था: "असहयोग ने हमें निराश नहीं किया, हमने असहयोग को निराश कर दिया।" अंसारी ने कांग्रेस को साइमन कमीशन के वहिष्कार के लिए और भारत का विधान वनाने के लिए एक राष्ट्रीय प्रतिनिधि सभा वुलाने का भी आदेश दिया। उन्होंने एकता की आवश्यकता पर जोर दिया। नरमदल वालों का साइमन आयोग का विरोध मुख्यतः इस वात पर था कि उसमें भारतीय प्रतिनिधियों के लिए स्थान नहीं था। कांग्रेस का विरोध गहरा हो गया। उसने इस विचार पर क्रोध प्रगट किया कि भारत को अपना शासन करने की योग्यता की वीच-वीच में परीक्षा ली जाय; और देश के लिए सदा आत्मनिर्णय के अधिकार का दावा करते हुए उसने ब्रिटिश पार्लमेंट के इस विषय में पंच वनने के अधिकार से इनकार किया।

कुछ महीने दूर देहाती क्षेत्रों में विताने की अस्पष्ट कल्पना लिए हुए नेहरू ने अपने को प्रायः तुरन्त कांग्रेस राजनीति की भँवर में पाया। मद्रास-कांग्रेस में उन्होंने कई प्रस्ताव रखे जिनसे उनके मन में उमड़ते घुमड़ते नए विचार प्रतिविंवित होते थे।

इनमें से एक ने भारतीय लोगों का लक्ष्य पूर्ण स्वतंत्रता स्पष्ट किया और असमंजस में डालने वाले आश्चर्य से उसे प्रायः सर्वसम्मत समर्थन प्राप्त हुआ, यहाँ तक कि वृद्ध तथा अनुभवी आइरिश थियासफ़िस्ट एनी बेसेन्ट ने अपनी आधिकारिक स्वीकृति दी। गांधीजी ने कांग्रेस के खुले अधिवेशन में तो भाग लिया, लेकिन सार्वजनिक रूप से कार्यवाही में भाग नहीं लिया; किन्तु यह स्पष्ट था कि प्रस्ताव उनके मन का नहीं था और वाद में उन्होंने उस पर तथा कुछ अन्य प्रस्तावों पर एक अप्रत्यक्ष यद्यपि विशिष्ट आक्रमण किया, विशेषतः अंग्रेज़ी चीज़ों के वहिष्कार पर।

गांधीजी ने लिखा :

हर साल इस प्रकार के प्रस्तावों को दुहरा कर कांग्रेस अपने को हास्यास्पद वनाती

हैं जब कि वह जानती है कि वह उन्हें कार्यान्वित करने में अक्षम है। इस प्रकार के प्रस्ताव पारित कर हम अपनी शक्तिहीनता का प्रदर्शन करते हैं, आलोचकों के लिए हास्यास्पद बनते हैं और अपने शत्रु की घृणा को स्थान देते हैं। कांग्रेस के प्रस्ताव यदि सुविचारित नहीं होते हैं और काग़ज़ी रह जाते हैं तो वह जो अप्रतिहत शक्ति थी वह न हो सकती है और जिसके होने की कामना है। हम लोग प्रायः स्कूली लड़कों की वादविवाद सभा के स्तर पर उतर आए हैं।

जैसा कि नेहरू ने झटपट समझ लिया, गांधीजी की भर्त्सना उचित थी। उसी अधिवेशन ने जिसने उनके स्वतंत्रता के प्रस्ताव को पुष्ट किया था उसके तुरत बाद ही साइमन आयोग का बहिष्कार करते हुए ऐसी सर्वदलीय कान्फ्रेंस बुलाने का एक और प्रस्ताव पारित किया जिसमें नरम दलवाले भी रहें जिनका राजनीतिक लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वाधीन राज्य है। अधिक संभावना थी कि अधिकांश कांग्रेसी वास्तव में नेहरू के प्रस्तावों में रुचि नहीं रखते थे लेकिन उन्हें लगा कि उनके "विद्वत्तापूर्ण सुझावों" को स्वीकार कर उन्हें खुश करना ही होगा।

समान रूप से सद्यःजात एक रिपब्लिकन कान्फ्रेंस कांग्रेस के एक छोटे प्रदर्शन की तरह हुई जिसकी अध्यक्षता करने के लिए नेहरू को राज़ी कर लिया गया। यह उसका पहला और आखिरी अधिवेशन था।

इस अकस्मात् परिवर्तन पर नेहरू ने दार्शनिक भाव से आलोचना की: "इस तथ्य में बहुत कुछ सत्य है कि हम लोग अध्यवसाय में निरन्तर लगे रहनेवाले लोग नहीं हैं।"

उन्होंने जो स्वतंत्रता का प्रस्ताव रखा और रिपब्लिकन कान्फ्रेंस जिसकी अध्यक्षता की उनका साथ-साथ होना दिलचस्प है, क्योंकि लगभग बीस वर्ष बाद स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री की हैसियत से जवाहरलाल भारत को ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में किन्तु गणतंत्र के रूप में रखने वाले थे।

जवाहरलाल की तीव्रता से गांधीजी परेशान थे और अपने विलक्षण सहज ज्ञान से उन्होंने यह समझ लिया कि नेहरू उनसे अलग हट रहे हैं। ४ जनवरी १९२८ के एक पत्र में उन्होंने अपने से कनिष्ठ व्यक्ति को क्रोध से अधिक खेद के साथ लिखा:

तुम बहुत तेज जा रहे हो। तुम्हें सोचना और चीजों को समझना चाहिए। तुमने जिन प्रस्तावों को बनाया और पारित कराया वे एक वर्ष के लिए रोके जा सकते थे। "प्रजातंत्रीय सेना" में तुम्हारा कूद पड़ना जल्दबाज़ी थी। मैं तुम्हारे इन सब कामों को इतना बुरा नहीं समझता जितना कि शरारती और गुण्डों को तुम्हारा प्रोत्साहित करना बुरा समझता हूँ। मुझे पता नहीं कि अब भी तुम अमिश्रित अहिंसा में आस्था रखते हो। लेकिन अगर तुमने अपने विचार बदल भी दिए हैं तो तुम यह नहीं सोच सकते कि बेछूट और बेरोक हिंसा देश को मुक्त कर सकेगी। अगर अपने योरोप के अनुभवों के प्रकाश में देश की दशा पर सावधानी से विचार करने के बाद तुम प्रचलित तरीक़ों और साधनों की

भूल में विश्वास रखते हो तो जरूर तुम अपने विचारों को चालू करो, लेकिन कृपा कर अनुशासित दल बनाओ......अब चूंकि तुम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यकारी मंत्री हो, ऐसी अवस्था में मैं यदि तुम्हें सलाह दे सकता हूँ, तो यह तुम्हारा कर्तव्य है कि मुख्य प्रस्ताव अर्थात् एकता के लिए, और आवश्यक किन्तु अप्रधान प्रस्ताव, अर्थात् साइमन आयोग के वहिष्कार के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दो। एकता के प्रस्ताव में तुम्हारे संगठन और लोगों को समझाने की सारी ईश्वर प्रदत्त योग्यता के उपयोग की आवश्यकता है।

लगभग एक पखवारे बाद १७ वीं जनवरी के दूसरे पत्र में महात्माजी झिड़की को दुहराते हैं:

मेरे और तुम्हारे बीच मतभेद इतने वड़े और इतने मौलिक लगते हैं कि हममें मिलाप की कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती। मैं तुमसे अपना दुःख छिपा नहीं सकता कि मैं ऐसा बहादुर, ऐसा सच्चा, ऐसा योग्य और ऐसा ईमानदार साथी जैसे तुम सदा रहे हो, खो दूं, लेकिन किसी कार्य के हित में साथियों का त्याग करना ही पड़ता है। उद्दिष्ट कार्य को और सब बातों से श्रेष्ठ समझना ही होगा। लेकिन साथीपन के विलगाव—अगर विलगाव हो ही जाय—तो उससे हमारी व्यक्तिगत आंतरिकता पर असर नहीं आना चाहिए। हम बहुत समय से एक ही परिवार के सदस्य रहे हैं, और अपने राजनीतिक मतभेद के रहते हुए, ऐसे ही रहेंगे।

गांधीजी को यह लगा कि जैसे वे अलग-अलग होने के समीप भयंकर रूप से आ गए हैं। लेकिन यह और अधिक खतरे का निशान न रहा। देश और कांग्रेस के प्रति जवाहरलाल की अधिक बड़ी भक्ति ने जवाहरलाल को फिर उनके साथ-साथ क़दम बढ़ाते पाया। जवाहरलाल देश और कांग्रेस के साथ गांधीजी को एकात्म समझते थे।

१९२८ के वर्ष ने देश में नई जान आते देखा। जवाहरलाल को, जिन्होंने १९२६ में गंभीर रूप से शान्त भारत छोड़ा था, यह परिवर्तन बहुत अधिक और विस्तृत लगा। उससे सब वर्ग ही प्रभावित लगे। यह लगा कि वह किसानों को, औद्योगिक कर्मचारियों को, मध्यवर्गीय युवकों को और बुद्धिजीवियों को एक नई प्रेरणा और संकल्प प्रदान कर रहा है। नेहरू को लगा कि भारत एक बार फिर बढ़ने लगा है। लोगों में जीवन है और एक लचक है जिसे बड़े से बड़ा दमन पूरी तौर पर कभी कुचल नहीं सकता है।

जवाहरलाल ने एक बार एक निकट साथी से कहा, "अगर मुझे विश्वास होता कि भारत के लोग निकम्मे हैं तो मैं उनके लिए काम करने के लिए कभी फिक्र न करता। लेकिन मेरे देश का इतिहास बताता है कि भारत महान् देश रहा है और रहेगा। उसमें बड़े-बड़े ऐतिहासिक परिवर्तन हुए हैं और उसने महान् पुरुष उत्पन्न किए हैं।"

अब इतिहास का पुनर्निर्माण आरंभ हो गया था।

अब तक नेहरू ने मजदूरों के संगठन के आन्दोलन में सक्रिय रूप से रुचि नहीं ली थी और औद्योगिक श्रमिकों की दशा के बारे में उनका ज्ञान थोड़ा और बहुत कुछ किताबी

था। भारत में मजदूर संगठन आंदोलन अपेक्षाकृत हाल ही में पैदा हुआ था, क्योंकि पहले विश्व युद्ध के अन्त तक औद्योगिक कर्मचारियों में कोई वास्तविक संगठन नहीं था।

१९२८ के अन्त की ओर मोतीलाल की अध्यक्षता में संपन्न कलकत्ता कांग्रेस के कुछ ही पहले, नेहरू ने पहली बार अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की एक सभा में भाग लिया। यह संस्था उस समय केवल आठ वर्ष की थी लेकिन संगठित श्रमिकों में बहुसंख्यक की प्रतिनिधि थी। हाल ही में दो और भी यूनियनें बन चुकी थीं। दोनों ही कम्यूनिस्टों या निकट कम्यूनिस्टों के अधिकार में थीं। यह मुख्य रूप से बंबई में कपड़ा मिल मजदूरों की गिरणी कामगार यूनियन और ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे यूनियन परिवहन कर्मचारियों की थीं।

बिहार के कोयला क्षेत्र के केंद्र झरिया में ट्रे० यू० कां० का अधिवेशन हुआ। कार्यवाही को सुनते हुए नेहरू ने उन्हीं प्रवृत्तियों और फूटों का अनुभव किया जो राजनीतिक संसार की विशेषता थीं। यहाँ भी सुधारकों और क्रान्तिकारियों के बीच का और कट्टरपंथियों और चरम पंथियों के बीच का झगड़ा था। नेहरू का हृदय तो कट्टरपंथियों के साथ था, लेकिन उनके मन ने सावधानी की सलाह दी और वे तरफ़दारी करने से बुद्धिमानी से रुक गए।

इसलिए उन्हें कम आश्चर्य नहीं हुआ जब कलकत्ता लौटकर उन्हें पता चला कि उनकी अनुपस्थिति में वे अगले वर्ष के लिए ट्रे० यू० कां० के सभापति चुन लिए गए हैं। यह भी विडंबना थी कि उन्हें उदारपंथियों ने चरमपंथियों के द्वारा प्रस्तावित श्रमिक वर्ग के उम्मीदवार के विरुद्ध खड़ा किया था। समझदारी ने हमेशा लाभ पहुँचाया है, लेकिन नेहरू ख़फ़ा थे। उन्होंने इसे "निश्चित रूप से भद्दा" समझा कि एक नवागन्तुक और जो श्रमिक न हो उसे श्रमिक जगत् में सहसा ऐसी प्रमुखता में डाल दिया जाय। उन्हें लगा कि इससे भारत में श्रमिक यूनियन आन्दोलन का बचपन और उसकी कमजोरी प्रकट होती किन्तु उन्होंने मनोनयन स्वीकार करने का निश्चय किया।

कृषक वर्ग भी उत्तेजना में था। १९२७ में उड़ीसा प्रान्त का दौरा करते हुए गांधीजी ज़मीदारों की धमकी से डरे हुए गाँव के किसानों से मिले। इन ज़मीदारों को उनके अत्याचारों में स्थानीय पुलिस और शासकों का समर्थन प्राप्त था। गांधीजी ने किसानों से डर दूर करने को कहा।

उन्होंने उनसे कहा, "डर रोग से अधिक भयानक है। जो आदमी आदमी से डरता है वह आदमी के पद से गिर जाता है। केवल भगवान् से डरना चाहिए।"

उड़ीसा के किसानों की "मृत्यु के समान शान्ति" पर ब्रिटिश शासन की शान्ति को "श्मशान की शान्ति" कहा।

लेकिन १९२८ तक किसान और अधिक शान्त न रहे। लगानों और टैक्सों से पिस कर और ज़मीदारों के कारकुनों की माँगों से परेशान, वे बहुत अधिक चंचल हो उठे, विशेष रूप से संयुक्त प्रान्त और पश्चिम भारत में गांधीजी के अपने प्रान्त गुजरात में जहाँ बार-

दोली के छोटे-छोटे भूमिधर किसान सरकार के बढ़े हुए कर के मूल्यांकन के विरोध में उठ खड़े हुए ।

इस अवसर पर राजनैतिक दृश्यपट पर एक व्यक्ति अवतरित हुआ जो राष्ट्रीय आन्दोलन पर अपनी गहरी छाप छोड़ जानेवाला था, और जो गांधीजी और नेहरू के साथ स्वतंत्रता के पहले और बाद में निर्णयात्मक कार्य कर जाने वाला था । उसका नाम वल्लभ भाई पटेल था ।

पटेल, जिनके भाई विट्ठलभाई केन्द्रीय असेम्बली के अध्यक्ष थे, गांधीजी की ही भाँति गुजरात के थे । शिक्षा से वकील और किसी समय अहमदाबाद समाज के प्रमुख "कुलीन" जिन्होंने गांधीजी की "बकवास" पर नाक भौं चढ़ाई थी, उन पटेल ने शीघ्र ही महात्माजी का अनुगमन करने के लिए अपने वकालत के काम को तिलांजलि दे दी । जवाहरलाल और उनके पिता की तरह वे गांधीजी के बुराई को दूर करने के काम के आग्रह से आकृष्ट हुए । वे निलहों के विरुद्ध चम्पारण के किसानों का निमित्त लेकर महात्माजी की साहसिकता से प्रभावित हो गए थे और इसके शीघ्र ही बाद वे गांधीजी के प्रमुख सहायक हो गए जब गुजरात में खेड़ा के किसानों की ओर से महात्माजी ने वैसा ही अभियान छेड़ा ।

इस समय पटेल चौअन के समीप थे—एक ठोस गठन के व्यक्ति, जिनका कपाल ढालू, खल्वाट और चेहरा कड़े स्फटिक से उकरा हुआ हो । उनकी मुखाकृति कठोर और गंभीर थी । जैसे वे दिखाई पड़ते थे वैसे ही थे भी—चट्टान की तरह, कठोर, अडिग, दृढ़ । अहमदाबाद के न्यायालय में अपना लाभदायक व्यवसाय छोड़े हुए और महात्माजी के साथ में आए उन्हें छः वर्ष बीत चुके थे । वे अत्यन्त श्रेष्ठ संगठनकर्ता और काम को पूरा कराने की प्रतिभा वाले थे ।

गांधीजी की ही तरह पटेल में भी किसान का सा कुछ धरती का सम्बन्ध था और उनकी जड़ें धरती में थीं । वे किसानों के भारत की प्रवाहमयी भाषा में बोलते थे । बारदोली के किसानों का विरोध जो भूमिधर थे, मुख्यत: बम्बई सरकार के मनमाने ढंग से भूमिकर को उन तथ्यों पर २२ प्रतिशत बढ़ाने से था जिसे किसान मालिक दावे के साथ ग़लत बताते थे । पटेल ने किसानों से संशोधित कर को न देने को कहा और सरकार से उनकी शिकायतों की जाँच के लिए एक पक्षपातहीन न्यायालय बनाने को कहा । उन्होंने लगभग २५० स्वयं-सेवकों को सहायता के लिए जमा किया और किसानों को सोलह शिविरों में संगठित कर लिया ।

प्रारंभ में सरकार ने करारी चोट की, स्वयंसेवकों को गिरफ्तार किया और किसानों की ज़मीनें ज़ब्त कर उन्हें मनमाने कम दामों पर नीलाम कर दिया ।

पटेल ने किसानों को सलाह दी, "घबराओ मत, अगर सरकार ले जा सके तो उसे ज़मीन इंग्लैंड ले जाने दो ।"

किसानों में से एक-एक आदमी ने उनकी बात मानी और उन्हें सरदार कहा जिस उपाधि से पटेल जीवन के अन्त तक विख्यात रहे ।

इस हार न मानने वाले किन्तु अहिंसक आन्दोलन के आगे अन्त में सरकार हार मानने पर विवश हुई । एक जाँच का आदेश हुआ और कर निर्धारण में बढ़ती २२ से घट कर ५.७ प्रतिशत रह गई ।

नेहरू ने ग़ौर किया कि बारदोली भारतीय किसान की आशा, बल और विजय का चिह्न और प्रतीक बन गया ।

देश के तरुण वर्ग में भी उत्साह का संक्रमण हो गया था और जवाहरलाल ने देश के विभिन्न भागों में होनेवाली तरुण लीग और तरुण (यूथ) कान्फ्रेंसों की कार्यवाहियों का उत्सुकता से अनुसरण किया । वे विशिष्टताओं में भिन्न थीं, कुछ प्रायः अर्ध धार्मिक रंग लिए थीं जब कि कुछ और क्रान्तिकारी आदर्शों और ढंगों की बहस में लगी थीं । सोवियत की पंचवर्षीय योजना में, सदा जानकारी तो नहीं, रुचि अवश्य थी । इस सबके ऊपर साइमन आयोग ने संगठित विरोध के लिए एक कार्यकेंद्र तैयार कर दिया, और देश के सुप्त उत्साह और गर्व को निश्चित रूप प्रदान किया । नवनिर्मित तरुण संघों (यूथ लीगों) ने आयोग के बहिष्कार में प्रमुख भाग लिया । उनके मंचों और उनकी सभाओं में नेहरू की बड़ी माँग थी । उसी तरह सुभाषबोस की भी माँग थी जिन्होंने दूसरे विश्व-युद्ध में अपने देश को स्वतंत्र कराने के लिए जर्मनी और जापान की सहायता की प्रार्थना की थी । उस समय चश्माधारी और सुन्दर बोस तीस के थे।

भारत दबी हुई शक्ति से हिल रहा था । हवा में गरज थी ।

राजनीतिक स्तर पर बम्बई में ३ फरवरी १९२८ को साइमन आयोग का आगमन विरोधी प्रदर्शनों का संकेत था जो कि उस अभागे समुदाय के पीछे, जहाँ जहाँ वह गया, वहाँ लगा रहा । शहरों और क़स्बों में काले झंडों से उसका स्वागत हुआ जब कि उसके पीछे "साइमन लौट जाओ" के नारे गूँजते रहे । मद्रास और बम्बई में पुलिस ने गोलियाँ चलाईं, विशेष रूप से लाहौर में हाथापाई और लाठी प्रहार हुए, जहाँ प्रदर्शकों के आगे चलने वाले चौंसठ वर्ष के लाला लाजपतराय को छाती और कंधों पर एक अंग्रेज़ अधिकारी ने डंडे से पीटा । लाला लाजपतराय की नौ दिन बाद मृत्यु हो गई, और उनकी मृत्यु से देश भर में तीव्र क्रोध और विरोध की लहर बह चली । जब उन पर आक्रमण हुआ तो जिन प्रदर्शकों का वे नेतृत्व कर रहे थे उन्होंने कोई हिंसात्मक कार्य नहीं किया था और लाजपतराय स्वयं सड़क के किनारे खड़े थे।

जैसी कि नेहरू ने कटुतापूर्वक टिप्पणी की, भारतीय संवेदनशीलता बार-बार पुलिस की क्रूरता से भुथरी नहीं हुई थी । उन्होंने लिखा, "यह देख कर कि हमारे बड़े से बड़े नेता, पंजाब के सबसे श्रेष्ठ और सबसे प्रिय व्यक्ति के साथ ऐसा व्यवहार हो सकता है, यह राक्षसत्व से कुछ ही कम है, और देश भर में, विशेपरूप से उत्तरी भारत में उदास-क्रोध

छा गया। हम कितने असहाय हैं, कितने घृणित, जब कि हम अपने श्रेष्ठ नेताओं के सम्मान की रक्षा नहीं कर सकते।"

जल्दी ही नेहरू को भी पुलिस के डंडे की मार और लाठी की चोटों का अनुभव करना था। यह लखनऊ में हुआ, जहाँ वे आयोग के विरोध में प्रदर्शन का संगठन करने गए हुए थे। जुलूसों पर पुलिस की निषेध की आज्ञा से यह निश्चय किया गया था कि प्रदर्शन करने-वाले सोलह के जत्थों में निर्धारित सभास्थल पर जमा हों। नेहरू ऐसे ही एक जत्थे का नेतृत्व कर रहे थे जब कि उन्होंने अपने पीछे घोड़े की टापों की आवाज़ सुनी और घूम कर देखा कि लगभग तीन दर्जन घुड़सवार-पुलिस का दस्ता उनके ऊपर झपटा आ रहा है।

घोड़ों के दबाव से सोलह का भाग टूट गया। उनमें से कुछ लोगों ने पटरियों पर शरण ली जहाँ घुड़सवार पुलिस ने उनका पीछा किया और पीटा। आरंभिक दुविधा के क्षण के बाद नेहरू ने खड़े रहने का निश्चय किया। वे बीच सड़क में अकेले रह गए। यद्यपि क्षण भर के लिए कम ध्यान आकर्षित करने का लोभ हो आया, लेकिन उन्होंने दृढ़ खड़े रह कर यही देखा कि एक घुड़सवार लम्बा डंडा लिए उनकी ओर बढ़ा आ रहा है। नेहरू की पीठ पर दो क़रारी चोटें पड़ीं।

उन्होंने बाद में लिखा, "इस उल्लास की भावना से कि लाठी की चोटें सहने और उनका सामना करने में शारीरिक रूप से काफ़ी मजबूत हूँ, मैं अपने शरीर में होनेवाले दर्द को बिलकुल भूल गया। और एक चीज़ जिसने मुझे आश्चर्य में डाल दिया वह थी कि पूरी घटना में, यहाँ तक कि जब मुझ पर मार पड़ रही थी, मेरा दिमाग़ बिलकुल साफ़ था और मैं चेतन रूप से अपनी भावनाओं का विश्लेषण कर रहा था।

एक और कठिन परीक्षा दूसरे दिन उनकी और उनके साथियों की प्रतीक्षा कर रही थी जब आयोग लखनऊ पहुँचा। लोगों को परास्त करना तो दूर, पिछले दिन की घटनाओं ने उन्हें और अधिक ज़ोरों से विरोध करने को प्रेरित कर दिया, और जब विभिन्न जत्थे दूसरे दिन मुख्य जुलूस से मिले तो प्रदर्शकों की संख्या कई हज़ार थी। इस बीच अधिकारियों ने रेलवे स्टेशन के गिर्द जहाँ आयोग आनेवाला था, पैदल और सवार पुलिस और सेना का कड़ा घेरा डाल रखा था। इन सिपाहियों ने प्रदर्शनकारियों का रास्ता रोक रखा था, किन्तु वे एक बड़ी खुली जगह की एक ओर खड़े रह कर नारे लगाने में सन्तुष्ट थे।

एकाएक नेहरू और उनके साथियों ने दूर पर एक चलते हुए समूह को देखा जो जल्दी ही सवार-पुलिस दिखाई पड़ी। यह जुलूस वालों पर हमला करने आ रहे थे और राह में ऐसे लोगों को पीट रहे थे जो पुलिस और प्रदर्शनकारियों के बीच की जगह में चल रहे थे। ज्योंही कांग्रेस स्वयंसेवकों पर डंडे और लाठियाँ पड़ने लगीं कि जुलूस वालों के सामने की खुली जगह चुटीले और टूटे अंग और सिरों को सहलाती पीड़ा से ऐंठती आकृतियों से चित्रित युद्धस्थल की तरह दिखाई पड़ने लगी।

इस बीच घुड़सवार पुलिस ने प्रदर्शनकारियों के मुख्य समूह पर हमला करना जारी

रखा, जो नेहरू और उनके निकट साथियों के उदाहरण का अनुसरण करते हुए अपनी जगह पर डटे रहे। जुलूस वालों की आगे की पंक्ति के आगे सहसा रोक दिए जाने से घोड़े अपनी पिछली टाँगों पर खड़े हो गए और अपने अगले सुम हवा में सबसे निकट के प्रदर्शनकारियों के सिर के ऊपर कँपाने लगे।

तब ज्योंही पैदल और सवार पुलिस अपने डंडे और लाठी चलाने लगे कि एक भयानक लड़ाई शुरू हो गई। चोटों से स्तब्ध होने और आँखों के आगे अँधेरा छा जाने से क्षण भर के लिए तो नेहरू की उलट कर मारने की तीव्र इच्छा हुई। "लेकिन बहुत दिनों की शिक्षा और अनुशासन ने रोक दिया, और मैंने एक चोट से अपने चेहरे को बचाने के सिवा हाथ नहीं उठाया। इसके सिवा, मैं अच्छी तरह जानता था कि हमारी ओर से किसी प्रकार के आक्रमण का परिणाम भयंकर विपत्ति, गोलीबारी और हमारे बहुसंख्यक आदमियों का गोली का शिकार हो सकता है।"

वर्षों बाद इस अनुभव के संबंध में लिखते हुए नेहरू स्मरण करते हैं कि किस प्रकार से पुलिसवालों के चेहरे, विशेष रूप से उन अंग्रेज़ अफ़सरों के जिन्होंने सबसे अधिक पिटाई और आक्रमण किया, क्रोध और घृणा से विकृत हो रहे थे। वे ध्यानपूर्वक सोचते हैं कि शायद प्रदर्शनकारियों के चेहरे भी क्रोध और घृणा से भर उठे थे और वे अपने आप से प्रश्न करते हैं कि इस सबका परिणाम क्या होगा।

कांग्रेस के द्वारा किसी संगठित आन्दोलन के अभाव की एक तुरत प्रतिक्रिया आतंकवाद और हिंसा का फिर से आरंभ हो जाना था। लाहौर में पहले गोली लगने और मारे जाने वालों में सांडर्स नाम का एक युवक अंग्रेज़ पुलिस अधिकारी था जिसने कहा जाता है कि लाला लाजपतराय पर सांघातिक चोटें की थीं जिनसे शीघ्र ही बाद में पंजाब के नेता की मृत्यु हो गयी थी। ८ अप्रैल १९२८ को दो बम जिनसे विशेष हानि नहीं हुई और कोई मरा नहीं,केन्द्रीय असेम्बली में दर्शकों की दीर्घा से सरकार की आगे की बेंचों पर फेंके गए। उस समय साइमन अध्यक्ष की दीर्घा में बैठे थे। इस काम के लिए दो युवक, पंजाब से भगत सिंह और बंगाल से बटुकेश्वर दत्त जो उस समय संयुक्त प्रान्त के कानपुर में रह रहे थे, गिरफ़्तार कर लिए गए, और उन्हें १२ जून को दिल्ली में मुक़दमे के बाद आजीवन काले पानी का दंड दिया गया। भगतसिंह सरदार अजीत सिंह का भतीजा था। सरदार अजीतसिंह एक क्रांतिकारी थे जिन्हें अंग्रेज़ सरकार ने १९०७ में भारत से देश निकाला दे दिया था। भगतसिंह का व्यक्तित्व अद्भुत था। वह दृढ़ आतंकवादी, साहसिक वीर, अनेक आंदोलनकारियों की तरह आकर्षक बौद्धिक चेहरे का और बोलचाल में असाधारण रूप से विनम्र था। बाद में उस पर सांडर्स की हत्या के लिए तथाकथित लाहौर षड्यंत्र का मुक़दमा चला कर मृत्युदंड हुआ और १९३१ के आरंभ में उसे फाँसी दे दी गई।

बंगाल और संयुक्त प्रान्त भी आतंकवादी कार्यों के दृश्य-स्थल थे। इस हिंसा की लहर को रोकने के लिए सरकार ने षड्यंत्र के कई मुकदमे चलाए और बिना मुक़दमा

चलाए संदिग्ध व्यक्तियों को गिरफ़्तार करने और बन्द रखने का अधिकारियों को अधिकार देते हुए विभिन्न अध्यादेश जारी किए। बंगाल में जेलें राजनीतिक क़ैदियों से तेज़ी से भर रही थीं। लेकिन हिंसा की भावना बहुत फैल रही थी, और जब तक गांधीजी ने मार्च १९३० में सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरंभ कर जागृत सामूहिक उत्साह को अहिंसा के मार्ग पर नहीं लगा दिया, आतंकवाद कम न हुआ। जब आन्दोलन आरंभ हो रहा था उस समय के लगभग, वास्तव में, वह अपने शिखर पर था। कुछ आतंकवादियों ने बंगाल के चटगाँव में शस्त्रागार पर साहसपूर्ण तथा अद्‌भुत आक्रमण किया।

मज़दूरों में बेचैनी थी। ईस्ट इंडियन रेलवे पर बंगाल जूट मिल में, बिहार के जमशेदपुर में टाटा आयरन ऐंड स्टील वर्क्स में और कलकत्ता के भंगियों और म्यूनिसिपल कर्मचारियों ने हड़तालें कीं। बंबई में कपड़ा मिलें लगभग छः महीने के लिए बन्द पड़ी रहीं जब जवाहरलाल के शब्दों में एक लाख से ऊपर "अभागे और लड़ाकू" मज़दूरों ने छटनी और मज़दूरी में कमी की धमकी के विरोध में हड़ताल कर दी। आर्थिक मन्दी आने ही वाली थी।

इन घटनाक्रमों से घबड़ा कर सरकार मज़दूरों पर टूट पड़ी। २० मार्च १९२९ को मुख्यत: कम्युनिस्ट शासित बंबई की गिरणी कामगार यूनियन के अधिक प्रमुख और कुछ बंगाल, संयुक्त प्रान्त और पंजाब के प्रगतिशील दलों के बत्तीस नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया। इस तरह प्रसिद्ध मेरठ का मुक़दमा चला जो साढ़े चार वर्ष बाद विवाद के तूफ़ान में समाप्त हुआ।

ट्रेड यूनियन कांग्रेस के निर्वाचित अध्यक्ष के नाते नेहरू स्वभावत: इन घटनाओं से संबंधित थे। उन्होंने एक बचाव समिति का संगठन किया जिसके अध्यक्ष उनके पिता थे और जिसमें कांग्रेस अध्यक्ष डा० अंसारी और वे स्वयं सम्मिलित थे, लेकिन उन्हें धन संग्रह करने में अथवा अपने पिता या कुछ और लोगों की वकालत में बिना शुल्क काम लेने में कठिनाई लगी। अपने साथी वकीलों की, जिन्हें वे "मेरे ही व्यवसाय के लोग" संज्ञा देते हैं, उदारता में कभी ऊँची सम्मति न रखते हुए, उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ, फिर भी वे उन लोगों के "लालचीपन" पर क्लेश से भर उठे। उन्हें लगा कि देशभक्ति धन से ऊपर होना चाहिए। कम-से-कम उन्हें किसी डॉडसन और फ़ॉग की ज़रूरत नहीं है। उनकी कठिनाइयाँ कुछ इस बात से हल हो गईं कि १९३० तक अपने को लेकर, बचाव समिति के बहुसंख्यक लोग क्रमश: जेल चले गए।

कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में नेहरू को फिर कांग्रेस के मंत्री बनने को मना लिया गया, इस बार उनके पुराने मित्र डा० अंसारी ने मनाया। चूँकि कांग्रेस के खुले अधिवेशन ने उनके दो और प्रस्ताव पारित कर दिए थे, उन्हें अतिरिक्त अहसान की विवशता लगी—एक प्रस्ताव साम्राज्यवाद के विरोधी संघ के साथ पर और दूसरा विश्वयुद्ध के भय पर था। मद्रास कांग्रेस ने वर्किंग कमेटी नाम से विख्यात अपनी अंतरंग समिति को नरमदल

वालों सहित अन्य पार्टियों की सलाह से स्वराज्य का एक विधान बनाने का अधिकार दिया था। अनिवार्य रूप से इसके अर्थ थे अंग्रेज़ी साम्राज्य के अन्तर्गत स्वाधीन राज्य (डोमिनियन स्टेट्स)जो उस समय नेहरू की आँखों में बहुत अप्रिय था। इसके अतिरिक्त कान्फ्रेंस में सांप्रदायिक संगठन भी सम्मिलित थे, अल्पसंख्यकों की समस्या पर सहमति की संभावना कम ही थी। ऐसा ही सिद्ध हुआ।

१९२८ के वसन्त में मोतीलाल योरोप से लौट आए थे। वे सर्वदलीय सम्मेलन में बहुत अधिक रुचि रखते थे। अपने बहुत से देशवासियों के साथ लार्ड वर्कनहेड का यह ताना चुनौती लगा था कि तीन वर्ष में दोबार वे उनके भारतीय आलोचकों को संविधान के लिए अपनी सलाहें देने को बुला चुके थे, लेकिन कोई उत्तर न मिला। कान्फ्रेंस पहले मई में बम्बई में हुई, जब उसने निश्चय किया कि संविधान का प्रारूप बनाने के लिए और अल्पसंख्यकों के प्रश्न पर विस्तृत रिपोर्ट देने को मोतीलाल की अध्यक्षता में एक समिति बनाई जाय। बाद में यह रिपोर्ट नेहरू रिपोर्ट नाम से विख्यात हुई। समिति के सदस्य न होते हुए भी जवाहरलाल कांग्रेस के मंत्री की हैसियत से उसकी कार्यवाही में निकट रूप से सहयोगी थे।

सांप्रदायिक प्रश्न पर समिति ने अल्पसंख्यकों को कई रियायतें दीं, यद्यपि मुसलमानों द्वारा वे पूरी तौर पर काफी नहीं मानी गईं। मुसलमानों का नेतृत्व मुहम्मद अली जिन्ना कर रहे थे। यह ध्यान देने योग्य है कि बाद में पाकिस्तान की स्थापना करनेवाले जिन्ना ने मुसलमानों के लिए प्रथक् निर्वाचन पर ज़ोर नहीं दिया किन्तु संयुक्त अथवा सामान्य निर्वाचन के सिद्धान्त कुछ संरक्षण के साथ मान लिए—उदाहरण के लिए, कि रहे सहे अधिकार प्रान्तों के पास रहें।

जहाँ तक भारत के राजनीतिक लक्ष्य का संबंध था, समिति डोमिनियन स्टेटस पर अड़ गई; किन्तु डोमिनियन स्टेटस उसका दूसरा क़दम था, देश के विकास में दूर की अवस्था नहीं। नेहरू ने इस निर्णय का ज़ोरदार विरोध किया और इस बात का आग्रह किया कि अगर सब दल स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य स्वीकार नहीं करते तो कम-से-कम कांग्रेस को ऐसा करना चाहिए। लेकिन मोतीलाल इस बात पर अड़ गए कि रिपोर्ट जैसी है वैसी ही रहेगी। पिता और पुत्र फिर विरोध में आ गए, दोनों ही अपने अपने विचारों पर अडिग थे।

समिति की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए जब सर्वदलीय सम्मेलन लखनऊ में फिर एकत्रित हुआ तो नेहरू ने जोरों से अपने विचार उसके आगे रखे, जिससे सुभाषबोस भी सहमत थे। लेकिन इसका कोई फल न हुआ। इस पर मतभेद रखनेवाली पार्टी ने इंडिपेंडेंस फ़ॉर इंडिया लीग की स्थापना कर अपने चोट खाए अहं पर मलहम लगाया—यह एक वीरतापूर्ण किन्तु व्यर्थ चेष्टा थी।

नेहरू को एक आघात और मिलना था। यह अनुभव करते हुए कि कमेटी ने जैसा संविधान सोचा है वह निजी संपत्ति की धारणा पर आधारित है, वे मौलिक अधिकारों

के अन्तर्गत एक अनुच्छेद पर बिगड़ उठे, जिसमें अवध के तालुक़ेदार के नाम से विख्यात बड़े ज़मींदारों को उनकी रियासतों के अन्तर्भुक्त अधिकारों की गारंटी देता था। नेहरू उन व्यक्तियों के प्रति किसी प्रकार की कोमलता के विचार को नहीं मानना चाहते थे जिन्हें वे अर्ध-जागीरदारी ज़मीदार समझते थे। उन्होंने इस आधार पर कांग्रेस के मंत्रीपद से त्यागपत्र देना चाहा कि वे इंडिपेंडेंस फ़ार इंडिया लीग के संस्थापकों में से हैं। लेकिन वर्किंग कमेटी इस बात से प्रभावित नहीं हुई। उन्होंने उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया।

नेहरू कहते हैं कि "मैं फिर राज़ी हो गया। यह आश्चर्य है कि मुझे त्यागपत्र वापस लेने को मना लेना कितना सरल है। यह बहुत अवसरों पर हुआ और चूंकि कोई पक्ष विच्छेद के विचार को वास्तव में नहीं चाहता था, उसे बचाने के लिए हम हर बहाने से चिमटे रहे।"

गांधीजी ने सर्वदलीय सम्मेलन या समिति में कोई भाग नहीं लिया। वे लखनऊ में मौजूद न थे। लेकिन उन्होंने जवाहरलाल पर प्यार से आँख लगाए यंग इंडिया में लिखते हुए उनके प्रयत्नों पर आशीर्वाद दिया :

अगर हमें अधिकार मिलने का निश्चय हो तो हमें इस बात की चिन्ता नहीं करना चाहिए कि स्वराज्य डोमिनियन स्टेटस कहा जाता है या इंडिपेंडेंस (स्वतंत्रता)। डोमिनियन स्टेटस आसानी से स्वतंत्रता से अधिक हो सकती है अगर हमें उसके समर्थन का अधिकार हो। स्वतंत्रता सरलतापूर्वक स्वाँग बन सकती है अगर उसमें अधिकार का अभाव हो। अगर हमारे पास वास्तविक चीज़ हो तो नाम में क्या रखा है? गुलाब वैसी ही मधुर गन्ध देगा चाहे आप उसे उस नाम से या किसी और नाम से पहचानें। इसलिए हम लोगों को यह स्पष्ट कर लेना होगा कि यह अहिंसा होगी या हिंसा, और छोटे बड़े को मिल कर दृढ़ संकल्प से अधिकार के लिए उस समय भी काम करना चाहिए जब कि राजनयिक लोग संविधान बनाने में लगे रहें।

देश के लिए, विशेष रूप से उसके तरुण लोगों के लिए, यह हिंसा के तरीक़े त्याग देने का स्पष्ट आदेश था, और कुछ महीनों बाद महात्माजी ने भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के काम की इन्हीं स्पष्ट शब्दों में निन्दा की। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय असेंबली भवन में दो बम फेंके थे। गांधीजी ने लिखा :

बम फेंकने वालों ने उस स्वतंत्रता के हित में बुराई की है जिसके नाम पर उन्होंने बम फेंके हैं। अगर सरकार घबराकर उल्टा पागलपन करती है तो वह मूर्खता करेगी। अगर वह बुद्धिमान है तो वह समझेगी कि वह बम फेंकनेवालों के पागलपन के लिए कम दोषी नहीं है। लोगों की भावना की उपेक्षा से वे राष्ट्र को उत्तेजित कर रहे हैं, और उत्तेजना से कुछ लोग अवश्य बहकेंगे। अगर उन्हें विश्वास है तो कांग्रेसजन जिनका धर्म अहिंसा है, इस काम की गुप्त रूप से भी सराहना न करके उचित करेंगे, और दूने उत्साह से अपने निजी ढंग में प्रवृत्त रहेंगे। बम का भारत में कोई वातावरण नहीं है।

इस बीच गांधीजी अपने खादी, एकता, अस्पृश्यता निवारण और मद्यनिषेध, और विदेशी कपड़ों के बहिष्कार के सन्देश का प्रचार कर सन्तुष्ट थे। वे इस बार आंध्र के दक्षिणी क्षेत्र में होकर भारत की अपनी एक और तीर्थयात्रा पर निकल पड़े।

इन दो परीक्षा के वर्षों में नेहरू ने भी देश में घूम फिर कर कई महीने बिता दिए। कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन के तुरत बाद वे देश के विभिन्न दौरों पर निकल पड़े जिसमें उन्होंने किसानों, मज़दूरों, तरुण लोगों और राजनीतिक अनुयायियों की बहुत-सी सभाओं में भाषण दिए। १९२८ में अपने अन्य कार्यों के अतिरिक्त जवाहरलाल ने—पंजाब में, दक्षिण भारत में मलाबार में, दिल्ली में और संयुक्त प्रान्त में—चार प्रान्तीय कांग्रेस सम्मेलनों की अध्यक्षता की। वे अपने निजी प्रान्त के देहाती क्षेत्रों में गए और बीच-बीच में औद्योगिक मज़दूरों में अपनी नई खोजी हुई रुचि का भाषण देकर अन्वेषण किया। इन सबके बीच उन्होंने बंगाल और बंबई में कई यूथ लीग और छात्रों के सम्मेलनों की अध्यक्षता की।

नेहरू देश में निहित शक्ति की गड़गड़ाहट से प्रभावित थे। उन्हें लगा कि वह शीघ्र ही गरज के रूप में बढ़ जायगी। यहाँ पर उन्होंने जो अपने योरोप के भ्रमण में अपने मन में धारणाएँ बना रखी थीं उनको आरोपित करने के लिए अच्छी धरती थी। उन्हें पता चला कि उनका भाषण सुननेवाले उत्सुकतापूर्वक उनकी बात सुनते हैं। उनकी ही तरह, वे भी उन राजनीतिज्ञों से कुछ ऊब गए थे जो देश के अतीत की गरिमा पर उच्छ्वसित हो उठते थे और जो अंत में विदेशी शासकों के पापों का बखान करते और ठीक-ठीक बिना यह बताए कि वे क्या प्राप्त करना चाहते हैं लोगों से त्याग चाहते थे। यह वक्तृताएँ विचारों को बिना प्रोत्साहित किए आवेग बढ़ाती थीं।

गांधीजी ने साँचा बना दिया था, लेकिन नेहरू ने अनुभव किया कि इस बँधे-बँधाए साँचे में भी तत्व और प्रकृति को प्रभावित करना संभव है। राजनीतिक स्वतंत्रता को सामाजिक स्वाधीनता की प्राप्ति की सीढ़ी बनाते वे जहाँ भी गए वहाँ राजनीतिक स्वतंत्रता और सामाजिक स्वाधीनता पर भाषण दिए। उन्होंने स्वीकार किया, "मैं विशेष रूप से कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवी वर्ग में समाजवाद के आदर्श का प्रसार करना चाहता हूँ।" यह १९२८ के ज़माने की बात है। किन्तु जब छब्बीस वर्ष बाद प्रधान मंत्री की हैसियत से उन्होंने भारत के लक्ष्य को समाजवादी राज्य दुहराया तो देश के भीतर बाहर बहुत ओर से भौंहें चढ़ गईं।

बहुत से लोग जिस बात का अनुभव नहीं करते वह है नेहरू के विचार अधिकांश राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विषयों में कम-से-कम एक पीढ़ी से स्थिर और दृढ़ रहे हैं। परिस्थितियों ने, विशेष रूप से उन परिस्थितियों ने जो गांधीजी के प्रबल और व्यापक प्रभाव से उत्पन्न हुई थीं, उन्हें अपने लक्ष्य को इधर उधर करने को विवश किया। किन्तु उनके दिमाग में लक्ष्य स्पष्ट थे। केवल उन तक पहुँचने का मार्ग सामयिक परिस्थितियों से परिचालित होता था। इन वर्षों में कितनी बार नेहरू ने स्विनबर्न की अपनी इन

प्रिय पंक्तियों को याद किया होगा : "दुःख ध्रुव तारा है, और प्रसन्नता हवा का दिशा निर्देशक यंत्र जो इन तमाम वर्षों बदलता रहता है।"

भारत में समाजवादी विचारधारा के वे प्रवर्तक नहीं थे क्योंकि सोवियत राज्य की प्रगति और १९२७ में रूस की पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ ने पहले ही मार्क्सवादी सिद्धान्त में रुचि जागृत कर दी थी। जो उन्होंने किया वह इस विचारधारा को देश के भीतर के राष्ट्रीय आन्दोलन से और विदेशों में अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं और घटनाओं को राजनीतिक प्रयोजन से भर देना था। संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में आचार्य नरेन्द्रदेव और सम्पूर्णानन्द जैसे व्यक्ति थे जिनके दिमाग़ समाजवादी दिशा में कुछ समय से चल रहे थे। १९२६ में इस कमेटी ने एक प्रान्त के लिए एक हल्का समाजवादी कार्यक्रम भी बनाया था जो स्थानीय भूमि संबंधी समस्याओं को सुलझाने के उद्देश्य से था। १९२९ में वह एक क़दम और आगे बढ़ी। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से निश्चित समाजवादी धारणाओं पर उसने सिफारिश की जिसे उसने उस वर्ष बाद बम्बई के अधिवेशन में प्रस्तावना भाग तक स्वीकार किया, इस प्रकार कांग्रेस को समाजवादी सिद्धान्त से संबद्ध किया। विस्तृत सुझावों पर विचार विमर्श बाद के लिए स्थगित रखा गया। इस काल में नेहरू के बहुत से प्रस्तावों के समान अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने जवाहरलाल के शब्दों में यह "न समझते हुए कि वे क्या कर रहे हैं," प्रस्ताव पारित कर दिया। वे बड़े आश्चर्य में पड़ गए जब लगभग पाँच वर्ष बाद विस्तृत समाजवादी कार्यक्रम सामने आया। लोगों ने आपत्ति उठाई कि यह तो कुछ नई चीज़ है।

१९२८ के दिसंबर में कांग्रेस ने अपना वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में मोतीलाल की अध्यक्षता में किया। इस बीच पिता और पुत्र में सर्वदलीय सम्मेलन की रिपोर्ट पर मतभेद तीव्र हो गया था। जवाहरलाल स्वतंत्रता के प्रश्न पर समझौता करने को तैयार न थे, और मोतीलाल अपने पुत्र के न झुकनेवाले रुख से और भी ख़फ़ा थे। मिज़ाज तेज़ होने के साथ सभा में तनाव बढ़ गया। लेकिन मोतीलाल के विस्फोटक धड़ाके भी उनके बेटे के उत्साह को दबा नहीं पाए।

कमला यद्यपि फिर बीमार पड़ गई थीं लेकिन अपने पति के समर्थन में दृढ़ थीं। उनकी भक्ति ने जवाहरलाल को द्रवित किया। वे अपने पिता समेत अपने मतभेद पर खिन्न और दुखी थे। शायद नेहरू को शुरू के दिनों की याद आई जब नव-वधू के रूप में कमला ने उन्हें महात्माजी का साथ देने के लिए मोतीलाल के साथ बहस करते देखा था। उस समय भी जवाहरलाल को घर से निकल जाने को कहते हुए पिता गुस्से से भड़क उठे थे। उस समय मोतीलाल ग़ुस्से से जल रहे थे, लेकिन जवाहरलाल का चेहरा भी दृढ़ था। कुछ विकट क्षणों तक एक दूसरे को देखते रहे। तब जवाहरलाल को लगा कि एक शीतल हाथ उनके हाथ में आकर उसे दृढ़ता से दबा रहा है। यह कमला अपने पति के पास खड़ी पतिभक्ति और सांत्वना दे रही थी। दोनों की ओर देख कर बुजुर्ग नरम पड़ गए।

अब उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि वह रिपोर्ट जिसको उन्होंने बनाया और बढ़ाया उसी रूप में कांग्रेस की स्वीकृति प्राप्त करे जिस रूप में वह है। अन्त में एक विचित्र समझौते से स्थिति बच गई। प्रस्ताव ने सब दलों की रिपोर्ट स्वीकार कर ली, लेकिन यह सूचित किया कि यदि अंग्रेज सरकार एक वर्ष में डोमिनियन स्टेटस पर राजी नहीं होती तो कांग्रेस फिर स्वतंत्रता पर लौट आएगी।

जैसा जवाहरलाल का मत था "यह एक वर्ष के अनुग्रह का प्रस्ताव एक और नम्र चुनौती थी।"

इस प्रकार लोग १९२९ के परीक्षा के वर्ष की ओर बढ़े।

●

१०

लाहौर-और उसके बाद

एक परिचित ने एक बार पूछा, "नेहरू लोगों के लिए क्या एतराज़ है?"

जवाहरलाल सिगरेट का कश लगाते हुए धुएँ को चिन्तामग्न देख रहे थे। वे मुस्कुरा पड़े।

"हम इनमें नहीं खपते।"

एक तरह से यह ठीक है, क्योंकि यद्यपि वे लोगों के हित में हैं वे उनमें से नहीं हैं। गांधीजी और लोगों के बीच एक रहस्यमय वैचारिक, यहाँ तक कि भाषा का संबंध था। नेहरू भीड़ से प्रेरणा ग्रहण करते हैं; वह उन्हें नशीली चीज़ की तरह उत्तेजित कर देती है; लेकिन सामान्य जनता और विशिष्ट वर्ग, सब मिला कर, उनसे सदा कुछ ऊपर हैं, ऊँचे और आगे।

"हम इनमें नहीं खपते।" शायद १९२८–२९ के शुरू के वर्षों से अधिक अलग व्यक्ति के रूप में उनके अस्तित्व की चिन्तामग्न स्वीकृति कभी इतनी स्पष्ट नहीं थी जब उन्होंने अपने को अपने पिता और गांधीजी दोनों से राजनीतिक रूप से अलग, और जनता के निकट होते हुए भी सदा उससे अलग और आगे पाया।

कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन की समाप्ति के साथ नेहरू इस विरोधाभास में पड़ गए। नेहरू ने खुले अधिवेशन में, उत्साहहीनता से ही सही, गांधीजी के समझौते के प्रस्ताव का विरोध किया था। और फिर भी उन्होंने अपने को उसके प्रधान मंत्री की हैसियत से कांग्रेस से एकात्म करने के लिए राज़ी किया।

उन्होंने याद किया, "कांग्रेस के क्षेत्र में लगता है कि मैं विकार आव ब्रे का अभिनय कर रहा था।"

जवाहरलाल और सुभाष बोस के उनके समझौते के प्रस्ताव के विरोध के आग्रह से गांधीजी झुंझला उठे थे। वे समझते थे कि इसमें वे गुट बनाए हैं।

उन्होंने कलकत्ता अधिवेशन में कहा, "मुसलमान जिस तरह अल्लाह का नाम या धार्मिक हिन्दू राम और कृष्ण का नाम रटते हैं, उसी तरह तुम चाहो तो स्वतंत्रता की रट लगाओ, लेकिन अगर उसके पीछे सम्मान भावना नहीं है तो वे सब खोखली बातें हैं। अगर तुम अपनी बात को रखने को तैयार नहीं हो, तो स्वतंत्रता कहाँ रहेगी? स्वतंत्रता कठिन चीज़ है। वह शब्दों के झटके से नहीं बनती......। अगर तुम नेहरू रिपोर्ट को

सफल बनाना चाहते हो तो जो कम-से-कम कर सकते हो वह यह है कि इस प्रस्ताव को सफल बनाओ।"

मोतीलाल स्वयं कम तेज़ थे। उन्होंने अपने अंतिम भाषण में विनोदपूर्वक कहा, "सुभाष और जवाहरलाल दोनों ने अपनी वक्तृताओं में आप से कहा है कि उनकी राय में हम बुड्ढे लोग बेकार हैं, काफ़ी मज़बूत नहीं हैं और ज़माने से काफ़ी पीछे हैं। इसमें कोई नई बात नहीं है। इस दुनिया में यह आम बात है कि जवान लोग बुड्ढों को ज़माने से हमेशा पिछड़ा समझते हैं। मैं आप को एक सलाह देता हूँ·····हमें स्वराज के लिए काम करना चाहिए, उसे हम चाहे जो नाम दें···राष्ट्र के इतिहास में एक साल कुछ नहीं होता। मुझे इसमें ज़रा भी शक नहीं है कि अगले साल हम एक होकर एक क़दम और आगे बढ़ेंगे।"

भारत और ब्रिटिश दोनों ही के लिए १९२९ अनुग्रह के वर्ष से कहीं अधिक था। वह परीक्षण का वर्ष होना था, ऐसा वर्ष जो राष्ट्रीय आन्दोलन को बल और दिशा प्रदान करे जिससे उसका रूप एकदम परिवर्तित हो जाय। आर्थिक मन्दी सामने थी, और आगामी कुछ मास में विश्व संकट का आरंभ होनेवाला था।

भारत में औद्योगिक मज़दूर और किसानों में बेचैनी थी। हड़तालें जल्दी-जल्दी होने लगीं। आतंकवाद ने अपना सर उठाया, और बुद्धिजीवी वर्ग, विशेष रूप से देश के तरुण लोगों ने बंगाल और पंजाब षड्यंत्र के मुकदमों के क्रम का ध्यान से अनुसरण किया। राजनीतिक क़ैदियों के साथ बर्ताव का विरोध एक तरुण क्रान्तिकारी यतींद्रनाथ दास के दीर्घकालीन उपवास में केंद्रित हुआ। यतींद्रनाथ दास का इकसठ दिन की भूख हड़ताल के बाद देहांत हो गया। वे भारत के मैक्स्विनी माने गए और उनकी मृत्यु से देश भर में विशाल प्रदर्शन हुए। नेहरू उनसे जेल में मिले थे। उन्होंने उन्हें, "एक बालिका की तरह कोमल और विनम्र" पाया। नेहरू का कहना है, "जब मैंने उन्हें देखा तो वे बहुत पीड़ा में थे।"

गांधीजी भारत का दौरा करने में व्यस्त थे। वे अपने खादी धर्म के प्रचार में मग्न थे। मई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक सभा में सम्मिलित होने के लिए वे बम्बई आए, और उन्होंने वर्ष के अन्त तक डोमिनियम पद न प्राप्त होने पर सविनय अवज्ञा की अपनी योजना की रूपरेखा बनाई। वे कांग्रेस से अगस्त तक कम-से-कम ७००००० स्त्री पुरुषों का नाम सूची में पंजीकृत कराना चाहते थे।

जून में गांधीजी ने फिर एक दौरे पर उत्तर प्रदेश की यात्रा की जिसकी व्यवस्था जवाहरलाल ने की थी। नेहरू यात्रा के कुछ भाग में उनके साथ थे और महात्माजी का भाषण सुनने के लिए जो विशाल जनसमूह एकत्रित होता था उस पर उन्हें फिर अचंभा हुआ। यह समूह २५,००० से १००००० तक होता और चूंकि प्रसारण की सुविधाएँ नहीं थीं यह स्पष्ट था कि उनमें से बहुसंख्यक महात्माजी के दर्शन करके ही सन्तोष कर लेते थे।

नेहरू को लगा कि खादी का प्रचार बढ़ती हुई राजनीतिक स्थिति में अपेक्षाकृत छोटा काम था। प्रायः पहले ही की तरह उन्हें गांधीजी की मानसिक प्रक्रिया और उनके विचार की पृष्ठभूमि समझना कठिन लगा। अराजनैतिक कामों में महात्माजी इतने व्यस्त क्यों हैं? वे ग़रीबी को महिमामंडित क्यों करना चाहते हैं, जो घृणोत्पादक और कुरूप चीज़ है? गांधीजी प्रायः दरिद्रनारायण पद का प्रयोग करते रहते जिसके अर्थ होते हैं "ग़रीबों के भगवान्" अथवा "जो ग़रीबों में निवास करे।" इस शब्द से नेहरू को चिढ़ होती। क्या ग़रीब अमीर सदा बने रहेंगे? और क्या ग़रीब अनन्त काल तक दुखी और हीन जीवन व्यतीत करने के लिए सदा भगवान् के अनुग्रहभाजन बने रहेंगे?

दूसरी ओर जवाहरलाल ने प्रसन्नता से देखा कि उनके पिता का व्यवस्थापिका का मोह दूर हो गया है। जैसी कि भारत में उनकी स्थिति थी, व्यवस्थापिकाओं की कार्य-विधियों की प्रभावहीनता से चिढ़ कर वे केवल उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे कि स्वराज दल वालों को उनसे निकाल लें। दिसम्बर १९२९ में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में वह अवसर आ गया। किन्तु इसके पहले मोतीलाल और जवाहरलाल में फिर मतभेद हो गया।

बेटे की राजनीति सदा पिता की पसन्द की नहीं होती थी। मोतीलाल के लिए समाजवाद की तरह का मत एक और ही नई तरह का ख़याल था, जो तरुण लोगों में कुछ मानसिक उत्तेजना पैदा कर दे, लेकिन भारत में जैसी राजनीतिक स्थिति थी उसके संदर्भ में असंगत था। जवाहरलाल का इस धोखे के प्रकाश की ओर दौड़ना उन्हें उतना बुरा नहीं लगता यदि वह उस काम में अपने को नुकसान न पहुँचा लें। तुरत क्रियात्मक लाभ को पाने के लिए वे अन्तिम लक्ष्य के विषय में अपने पुत्र से भिन्न समझौता करने को भी तैयार थे। वे डोमिनियन स्टेटस के मुकाबले में स्वतंत्रता के लिए विशेष अनुरक्त नहीं थे।

ज्यों ही अगस्त आया कि प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों ने कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष पद के लिए अपने मनोनीत नाम भेजे। इनमें से दस ने गांधीजी का नाम रखा, जबकि पाँच ने वल्लभभाई पटेल का और तीन ने जवाहरलाल का। किन्तु सितम्बर के अन्त में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सभा में लखनऊ में दबाव डालने पर भी गांधीजी ने इस सम्मान को अस्वीकार कर दिया। इसके बदले उन्होंने जवाहरलाल का नाम रखा जो स्वीकार कर लिया गया। ऐसा करने में गांधीजी शायद इस आशा से प्रभावित थे कि उच्च पद का उत्तरदायित्व युवा व्यक्ति के जोश को कुछ कम कर देगा। इसके अतिरिक्त यदि कांग्रेस स्वतंत्रता ही अपना लक्ष्य स्वीकार करे तो इस नए मत के प्रवेश कराने के लिए उस व्यक्ति से अधिक और कौन योग्य होगा जिसने दृढ़ता से इसका प्रचार किया है?

जवाहरलाल ने जब कांग्रेस की गद्दी सँभाली तो वे चालीस के थे। इस पद पर वे ही सबसे कम आयु के नहीं थे। गोखले ने इसी वयस में इसे प्राप्त किया था जबकि मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने इसे पाया तो वे चालीस से कुछ ही कम थे।

उनके चुनाव पर सबसे अधिक खुशी और सबसे अधिक गर्व मोतीलाल को था। कांग्रेस के इतिहास में इसके पहले कभी भी अध्यक्ष पद को पिता के बाद पुत्र ने नहीं सँभाला था। अपने पुत्र को कार्यभार देते हुए पिता ने अवश्य यह अनुभव किया होगा कि वह उन्हें राजनीतिक विरासत उसी प्रकार सौंप रहे हैं जिस प्रकार वह अपनी निजी सम्पत्ति देते।

पिता और पुत्र के बीच तर्क-वितर्क के सबसे अधिक रहने के एक वर्ष पहले वृद्ध ने अपने एक साथी से रहस्य के ढंग पर कहा था, "एक बात, जिसका मुझे सबसे अधिक गर्व है, वह यह है कि मैं जवाहरलाल का पिता हूँ।" उन्होंने अपने ही ऊँचे कठिन आदर्शों के योग्य पुत्र को जन्म दिया था। मोतीलाल का जवाहरलाल से प्राय: मतभेद रहता और कभी-कभी वे उनसे अपनी बात संक्षेप में कह देते। किन्तु शत्रु है वह व्यक्ति जो पिता की उपस्थिति में पुत्र की आलोचना करे।

अध्यक्षपद के लिए सिफ़ारिश करने के पहले गांधीजी ने नेहरू से सलाह ली थी।

"तुम उत्तरदायित्व सँभालने के लिए अपने को काफी दृढ़ समझते हो?" उन्होंने उनसे पूछा था।

"अगर यह मुझ पर थोपी जाती है तो मेरी आशा है कि मैं हिचकूँगा नहीं।" जवाहरलाल का उत्तर था।

जनता से उनकी प्रशंसा में गांधीजी ने उनके विषय में ऊँचे से ऊँचे शब्दों में प्रशंसा की थी। "निश्चय ही वे अपने विचारों में अपने इर्द-गिर्द से कहीं चरमपंथी हैं। किन्तु वे दम तोड़नेवाली गति को बलपूर्वक न लाने में विनम्र और काफी क्रियात्मक हैं। वे स्फटिक की तरह स्वच्छ हैं। वे संदेह से परे सच्चे हैं। वे भय और विकार-रहित वीर हैं। उनके हाथ में राष्ट्र सुरक्षित है।"

जवाहरलाल के चुनाव में गांधीजी ने देश के तरुण लोगों के लिए एक चुनौती माना। उन्होंने लिखा, "नायक के रूप में जवाहरलाल की यह नियुक्ति उस विश्वास का प्रमाण है जो देश को अपने तरुणों में है। जवाहरलाल अकेले कुछ कम ही कर सकते हैं। देश के तरुण लोगों को उनके हाथ और उनकी आँखें बनना होगा। उन्हें विश्वास के योग्य प्रमाणित करना होगा।"

घटनाओं के बढ़ते वेग ने ब्रिटिश अधिकारियों को दिल्ली और लन्दन दोनों में परेशान कर दिया। १९२७ के वसन्त में साइमन आयोग की नियुक्ति से लगभग दो वर्ष बीत चुके थे। १० जून और २४ जून १९३० को आयोग की रिपोर्ट दो खण्डों में प्रकाशित होनेवाली थी। इस बीच भारत में हुई घटनाएँ आयोग से अधिक महत्व की हो गईं। आयोग के संवैधानिक प्रगति के विचार जब अन्तिम रूप से प्रकाशित हुए तो बुरी तरह समय से पिछड़े सिद्ध हुए। १९२६ में लार्ड रीडिंग के परवर्ती वायसराय लार्ड अर्विन* के दिए हुए एक वक्तव्य से वह प्रकाशन से पहले ही एक ओर रख दी गई।

* बाद में लार्ड हैलिफैक्स

और वे अपनी बात के पक्के थे। जिन परिस्थितियों में किसी छोटे व्यक्ति को समस्या हो जाती उसमें उन्होंने अपना मिज़ाज ठीक रखा। भारत के लोगों की दृष्टि में अर्विन ने अपने पूर्व के अधिकारी से बहुत अन्तर दिखाया। वे अपने आचार नियम और अत्यधिक क़ानूनी सतर्कता के भाव के लिए विख्यात थे। अर्विन औपचारिकता से दूर और भले थे।

लन्दन में सरकार से सलाह करने के बाद और उनके अनुमोदन से ३१ अक्टूबर १९२९ को अर्विन ने निम्नोक्त घोषणा की: "मैं सम्राट् की सरकार की ओर से यह स्पष्ट रूप से कहने को अधिकृत हूँ कि उनके निर्णय में १९१७* की घोषणा में यह असंदिग्ध है कि भारत की संवैधानिक प्रगति का स्वाभाविक प्रश्न, जैसा उसमें प्रकल्पित है, डोमिनियन पद की उपलब्धि है।" इसके साथ अर्विन ने भारत के नेताओं को ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों से लन्दन में गोलमेज़ कान्फ्रेंस में मिलने का निमंत्रण जोड़ दिया।

स्पष्ट रूप से यह घोषणा कांग्रेस की १९२९ के अंत तक डोनियनियन पद की माँग की घोषणा को ध्यान में रख कर की गई थी। इससे डोमिनियन पद के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था, यद्यपि उसके तत्काल सार को नहीं, और भारत के नेताओं को ब्रिटिश प्रवक्ताओं से मिलने के लिए बुला कर इस घोषणा ने उस परंपरा को तोड़ने का प्रयत्न किया जिससे भारत में हुई घटनाओं की प्रत्येक स्थिति में लन्दन द्वारा जाँच करने और आज्ञा देने की आवश्यकता होती थी।

इससे कांग्रेस की माँगों का पूरी तौर पर समाधान नहीं होता था, किन्तु जहाँ तक इससे एक नए ढंग का संकेत था, यह विचार के योग्य लगा। इसके अनुसार केंद्रीय असेंबली के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल के निवास पर नेताओं की एक कान्फ्रेंस बुलाई गई और उसमें विभिन्न दलों के लोगों को आमंत्रित किया गया। गांधीजी और मोतीलाल कांग्रेस के प्रमुख प्रवक्ता थे, जबकि प्रसिद्ध वकील तेज बहादुर सप्रू ने जो लार्ड रीडिंग की अन्तरंग कांउसिल के क़ानून सदस्य थे,नरमदल वालों का नेतृत्व किया। उनके विचार-विनिमय से जो संयुक्त प्रस्ताव निकला उसे गांधीजी ने तैयार किया। उन्होंने सप्रू की सलाह से कुछ सुधार सम्मिलित कर लिए।

यह संयुक्त घोषणापत्र अन्तिम रूप में जैसा था, उसने कुछ महत्वपूर्ण शर्तों के साथ वाइसराय की घोषणा को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया। इनमें यह शर्त थी कि प्रस्तावित गोलमेज़ सम्मेलन में सारे वाद विवाद भारत के लिए पूर्ण डोमिनियन पद के आधार पर होना चाहिए; सम्मेलन में कांग्रेस के लोगों का प्राधान्य रहना चाहिए और राजनीतिक क़ैदियों की आम रिहाई होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, वर्तमान स्थितियों में जहाँ तक संभव हो, उस समय से भारत सरकार को डोमिनियम सरकार की तरह काम करना चाहिए।

घोषणा पर नेहरू दुखी थे। उन्हें लगा कि "सिद्धान्त रूप में ही और कुछ ही समय के लिए सही," यह अनुचित और ख़तरनाक थे क्योंकि वास्तव में उसका यह अर्थ था कि

* उस समय सेक्रेटरी आव स्टेट फ़ार इन्डिया, लार्ड मांटेगू द्वारा की गई।

पूर्ण स्वतंत्रता का लक्ष्य केवल मोलभाव करने का तख्ता था जो अस्थाई सुविधाओं को पाने के लिए बदला जा सकता और कम किया जा सकता था । अपनी विशिष्टता के अनुरूप पहले उन्होंने उस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया और फिर अपने ही स्वभाव की विशिष्टता के अनुसार झुक गए ।

हस्ताक्षर करने के लिए जवाहरलाल के कारण विवेकमय थे और उनके लिए मानप्रद थे । वे जानते थे कि जो निर्णयात्मक संघर्ष सिद्ध हो उसके पहले कांग्रेस में फूट पड़ने की अवस्था में नहीं है । किसी भी हालत में घोषणा पत्र में उल्लिखित शर्तों को ब्रिटिश सरकार का स्वीकार करना कठिनता से ही संभव है, और उस हालत में नरमदल वाले कांग्रेस के साथ प्रतिबद्ध हो जाएँगे, चूंकि घोषणापत्र में उनकी सहमति है । बाद में नेहरू को अनुभव हुआ कि यह शर्तें जब कि कांग्रेस के लिए महत्वपूर्ण थीं, लेकिन नरम दलवालों के लिए सिर्फ मोलभाव का बहाना थीं । उनके अर्थ भिन्न लोगों के लिए भिन्न थे ।

किन्तु घोषणापत्र पर अपने हस्ताक्षर देने के लिए उनका दुःख बचा ही रहा । जवाहरलाल को परेशान किए हुए ऐसे किसी भी भीतरी संघर्ष के पचड़े में न पड़े हुए सुभाष बोस ने उस पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया । यही डा० किचलू और एक अन्य मुस्लिम नेता अब्दुल बारी ने किया ।

इस बात पर गहनता से सोचते हुए नेहरू ने गांधीजी से परामर्श कर अपने को हल्का करने का निर्णय किया, और उसके अनुसार महात्माजी को लिखते हुए उन्होंने सुझाव दिया कि जवाहरलाल कांग्रेस के अध्यक्ष पद से हट जाँय ।

४ नवंबर १९२९ का गांधीजी का उत्तर दिलचस्प है और नेहरू के मन की व्याकुलता को शान्त करने के लिए वे जिस ढंग का बराबर उपयोग करते थे और उन्हें अपनी ओर कर लेते थे, वह रहस्य प्रकट करता है । उनका पत्र जवाहरलाल की भावनाओं के लिए चिंता के साथ उपस्थित समस्या के स्पष्ट, सीधे विवेचन से संयुक्त है । वह एक दम हृदय और मस्तिष्क के लिए अपील है : मैं तुम्हें किस तरह सांत्वना दूं ? दूसरों से तुम्हारी हालत का विवरण सुनकर मैंने अपने से कहा, "क्या मैं तुम पर अनुचित दबाव डालने का अपराधी रहा हूँ ?" मैंने सदा अनुचित दबाव से ऊपर तुम्हारा विश्वास किया है । मैंने हमेशा तुम्हारे प्रतिरोध का सम्मान किया है । वह सदा सम्मानपूर्ण रहा है । इस विश्वास को लेकर मैंने अपनी बात पर ज़ोर दिया है । यह घटना एक सबक़ रहना चाहिए । जब जब मेरा सुझाव तुम्हारे दिल और दिमाग़ को ठीक न जँचे तब तब सदा प्रतिरोध करो । मेरा स्नेह उस प्रतिरोध के कारण ज़रा भी कम न होगा । लेकिन तुम हताश क्यों हो ? मैं समझता हूँ कि तुम्हें जनमत का भय नहीं है । अगर तुमने कुछ ग़लत काम नहीं किया है तो हताश क्यों होना चाहिए ? स्वतंत्रता का आदर्श अधिक बड़ी स्वाधीनता से नहीं टकराता । अब एक संचालक अधिकारी और आगामी वर्ष में अध्यक्ष की हैसियत से तुम अपने बहुसंख्यक साथियों के सामूहिक कार्य से अपने को अलग नहीं रख सकते ।

इसलिए मैं आशा करता हूँ कि हताश अवस्था दूर करोगे, और अपनी सदा रहनेवाली प्रसन्नता को फिर प्राप्त करोगे।

नेहरू विजित हो गए। तीन दिन सोचने-विचारने के बाद उन्होंने निर्णय किया कि जो कुछ उन्होंने किया था वह बहुत ही ठीक था।

जैसा कि जवाहरलाल ने पहले ही सोचा था और जैसा कि कांग्रेस के नेताओं ने भी समझा था, संयुक्त घोषणापत्र की शर्तें ब्रिटिश अधिकारियों को अमान्य हुई।

२३ दिसंबर को लाहौर कांग्रेस के पहले गांधीजी का मोतीलाल, सप्रू, जिन्ना और विट्ठलभाई पटेल के साथ मिलना निर्धारित था। उस दिन हैदराबाद से राजधानी के रास्ते में वाइसराय की गाड़ी, जिसमें लार्ड अर्विन यात्रा कर रहे थे, नई दिल्ली से एक मील रेल की पटरी पर बम के विस्फोट से क्षतिग्रस्त हो गई। बम में समय पर फूटने वाला पलीता लगा था। उससे एक अनुचर को चोट लगी और वाइसराय का भोजन कक्ष क्षतिग्रस्त हो गया; किन्तु लार्ड अर्विन को चोट नहीं लगी।

जब कुछ देर बाद वे गांधीजी और उनके साथियों से मिले तो वाइसराय सौहार्द, यहाँ तक कि प्रसन्न मुद्रा में थे। लगभग पैंतालीस मिनट तक वे बम की घटना पर बहस करते रहे। तब लार्ड अर्विन काम की बात पर आए।

उन्होंने पूछा, "हम कहाँ से शुरू करें? यह आपका घोषणापत्र रहा। कहिए तो राजनीतिक क़ैदियों से शुरू करें?"

स्पष्ट रूप से ब्रिटिश सरकार इस बात में रियायतें करने को तैयार थी। लेकिन गांधीजी ने रोक दिया। वे तुरत डोमिनियन पद के प्रश्न पर गुँथ गए।

उन्होंने पूछा, "क्या श्रीमान् हमें यह आश्वासन देंगे कि लंदन में गोलमेज सम्मेलन डोमिनियन पद के आधार पर आरंभ होगी?"

लार्ड अर्विन ने उत्तर दिया, "यह मैं नहीं कर सकता। मैं ३१ अक्टूबर की सरकार की विज्ञप्ति की ओर आप का ध्यान दिलाऊँगा। उससे आगे जाने का मुझे अधिकार नहीं है। लेकिन दूसरी ओर लंदन में डोमिनियन पद प्राप्त करने में आपके लिए कोई रुकावट नहीं है।"

गांधीजी संतुष्ट नहीं हुए। वे चलने को खड़े हो गए। फरवरी १९३१ तक बातचीत के क्रम के लिए जिसकी परिसमाप्ति प्रसिद्ध गांधी-अर्विन समझौते में हुई वे फिर लार्ड अर्विन से नहीं मिले। इस बीच में महात्माजी ने दूसरा सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरंभ किया और जेल चले गए।

लेकिन अब देश की आँखें दिल्ली की ओर न लग कर लाहौर की ओर लगी थीं।

कांग्रेस के निर्वाचित अध्यक्ष, जवाहरलाल, ट्रेड यूनियन कांग्रेस के भी निर्वाचित अध्यक्ष थे। इसका अधिवेशन लाहौर अधिवेशन से कुछ ही सप्ताह पहले नागपुर में निर्धारित था। एक ही व्यक्ति को एक ही वर्ष इन दोनों अखिल भारतीय संस्थाओं की अध्यक्षता करना असामान्य था, और इस भेद के प्रति सचेत रहते हुए नेहरू ने इन दोनों

के बीच सेतु बनने का उपाय सोचा। उन्होंने कांग्रेस के श्रमजीवी आधार को विस्तृत करने और साथ ही मजदूरों को राष्ट्रीय संघर्ष में गहरा उतारने की आशा की। दोनों में से किसी उद्देश्य में वे पूर्णरूप से सफल नहीं हुए।

यदि जवाहरलाल किसानों के साथ सहजवृत्ति से खुले थे तो वे शहरी मज़दूरों के साथ कम खुले थे, यद्यपि उनमें से काफ़ी अनुपात में देहाती क्षेत्रों से आए थे। कांग्रेस कृषक-वर्ग के निकट संपर्क में था, औद्योगिक मज़दूरों के साथ उसके संबंध कम प्रत्यक्ष थे, क्योंकि उस समय उग्ररूप से वामपंथी मज़दूरों के नेता कांग्रेस को प्रधान रूप से मध्यवर्ग से प्रभावित सार रूप से बूर्जुआ संस्था के रूप में अविश्वास करते थे। इस आशंका को मानते हुए नेहरू का अधिक आगे बढ़े हुए श्रमिक तत्वों की ओर झुकाव था किन्तु उन्होंने सक्रिय रूप से उनका समर्थन नहीं किया।

उन्हें नागपुर में जो करना चाहिए था वह मध्य दल को समर्थन देना चाहिए था। वह अब भी दृढ़ अन्तर्भाग था और जो झगड़ते दक्षिण और वाम पक्षों को मिलाए रख सकता था। यह दोनों पक्ष इस प्रश्न पर विभक्त थे कि सरकार द्वारा नियुक्त ह्विटले श्रम आयोग* के साथ ट्रे० यू० कां० को सहयोग देना चाहिए या नहीं। स्थिति यह थी कि दक्षिण पक्ष ने नागपुर में अपने को अल्प संख्या में पाकर ट्रे० यू० कां० से अपने को अलग कर लिया। इस प्रकार उस संस्था को बहुत अधिक कमज़ोर बना दिया। तीन वर्ष बाद कम्यूनिस्टों का एक दल ट्रेड यूनियन आन्दोलन को तीन भागों में बँटा हुआ छोड़ कर मूल संगठन से अलग हुआ। यह थे मूल ट्रे० यू० कां० नरम दलवाले और कम्युनिस्ट। प्रत्येक संगठन अपनी दिशा में और अपने विशिष्ट आदर्श के लिए खींचता।

मज़दूरों की अपेक्षा किसानों के साथ नेहरू के अधिक निकट संबंध का संभाव्य कारण था कि औद्योगिक मज़दूर की जैसी भी खराब स्थिति थी, वह किसानों से अच्छी थी। जब तब वे किसानों के भाग्य पर दुःख प्रगट किया करते।

अपनी आत्म कहानी में जवाहरलाल पूछते हैं, जब उसके आगे जीवन एक कटु और निरन्तर चलने वाले व्यक्तिगत संघर्ष के रूप में आता है और हर आदमी उसके विरुद्ध हो तो अभागा प्राणी क्या करे? वह जीवित कैसे रहता है यही, एक अविश्वसनीय आश्चर्य है।"

लाहौर में रावी नदी के तट पर कांग्रेस का शिविर जीवन से उद्वेलित हो रहा था। ३०,००० से ऊपर प्रतिनिधि और दर्शक लोग कांग्रेस अधिवेशन के लिए जमा हुए थे और जब नेहरू एक सफेद घोड़े पर सवार होकर जुलूस के आगे-आगे चले तो भीड़ ने ज़ोरों से हर्षध्वनि की। अगर मोतीलाल चुने गए होते तो जवाहरलाल की माता स्वरूपरानी हर्षित होतीं। कांग्रेस की अध्यक्षता देश की सबसे ऊँची सम्मानित भेंट थी। जब उनके बेटे ने जुलूस में अपना स्थान ग्रहण किया तो स्वरूपरानी ने उन पर फूलों की वर्षा की

---

* इसके सभापति हाउज़ आफ़ कामन्स के भूतपूर्व अध्यक्ष मि. जी. एच. ह्विटले के नाम से अभिहित।

और उनके तने हुए किंतु तब भी युवावस्था के चेहरे को ध्यान से देखा। उनका चेहरा माता की ओर उठा और क्षण भर के लिए भावावेग से लाल हो गया।

नेहरू के अध्यक्षीय भाषण ने उनके मन की बात प्रगट की। वह सीधा, स्पष्ट और ओजस्वी था। उसका अधिकांश उन अस्पष्ट शब्दावली से साफ था जिससे आज उनके भाषण प्रायः भरे रहते हैं। लेकिन जो विचार उन्होंने उस समय व्यक्त किए थे वे आज के विचारों से बहुत भिन्न नहीं हैं, और विचार और भावों की असाधारण आग्रही अविच्छिन्नता प्रदर्शित करते हैं। कुल मिलाकर उनके विचारों का केन्द्रीय तत्व वर्षों के बीतते-बीतते कठोर हो गया था। उन्होंने कहा, "मैं स्पष्ट रूप से मान लेता हूँ कि मैं समाजवादी और गणतंत्रवादी हूँ और राजों और राजकुमारों में या उस परम्परा में विश्वास नहीं करता, जिसमें उद्योग जगत् के आधुनिक राजे उत्पन्न होते हैं, जो लोगों के जीवन और भाग्य पर पुराने ज़माने के राजाओं से भी अधिक अधिकार रखते हैं और जिनके रंग-ढंग ऐसे लुटेरों के से हैं जैसे सामन्तवादी रईसों के हुआ करते थे···कहा जाता है कि कांग्रेस को पूंजी और श्रम, ज़मींदार और खेतिहर के बीच सन्तुलन ठीक ढंग से बनाना होगा। लेकिन सन्तुलन एक ओर रहा है और बुरी तौर पर भारी है, और यथापूर्व स्थिति बनाए रखना अन्याय और शोषण बनाए रखना है। सही काम करने का एक ही रास्ता है कि किसी एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर आधिपत्य दूर करना।"

बीस वर्ष बाद, प्रधान मंत्री के रूप में, नेहरू के विचार उसी मार्ग पर चले जबकि उन्होंने उतना ही ज़ोर देकर कहा कि उनकी सरकार का लक्ष्य भारत को समाजवादी राज्य में रूपान्तरित करना है। उनकी व्यवस्था में निजी उद्योग का अपना स्थान रहेगा, किन्तु केवल सरकार के "नीति निर्देश के अधीन।" दूसरे शब्दों में सर्वहारा के विरुद्ध झुका पलड़ा वर्गों और जनता के बीच की कठोर असमानताएँ श्रम और पूंजी के बीच मुनाफ़े को न्याय्य आधार पर ठीक कर सन्तुलित किया जायगा। समाजवादी न्याय आदर्श था, समाजवादी एकमार्गी नियंत्रण नहीं। यह वर्गहीन समाज की कल्पना थी, किन्तु मार्क्स-वादी नमूने से अधिक समाजवादी नमूने पर, जिसमें उपयोगिता का उद्देश्य प्रधान रहे। यह मार्क्स के द्वारा मेज़िनी की वाणी थी।

कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में नेहरू की स्वतंत्रता की व्याख्या प्रधानमंत्री के रूप में उसी लक्ष्य की उनकी उस व्याख्या से फिर बहुत भिन्न नहीं थी। लाहौर में उन्होंने घोषणा की: "हमारे लिए स्वतंत्रता के अर्थ ब्रिटिश आधिपत्य और ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण स्वाधीनता है। अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद, मुझे संदेह नहीं है कि भारत विश्व सहयोग और संघ के सारे प्रयत्नों का स्वागत करेगा और उस बड़े समूह के लिए अपनी स्वतंत्रता का एक अंश छोड़ देगा जिसका वह बराबरी का सदस्य है।" और जवाहर लाल ने आगे कहा, "भारत राष्ट्र मंडल का बराबरी का सदस्य कभी नहीं बन सकता जब तक साम्राज्यवाद और उसमें निहित सब कुछ त्याग नहीं दिया जाता।"

आज भारत की वैदेशिक नीति का मुख्य आधार उपनिवेशवाद और जातिभेद दूर करना है। विश्व सहयोग और संघ के लिए भारत के प्रयत्न लगातार बने हैं और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में संघराज्य बनने का अधिकार रखते हुए भी एक बड़े समूह को जिसका वह बराबरी का सदस्य है, अपनी स्वतंत्रता का एक अंश दे देने की उसकी सम्मति का प्रतीक है।

लाहौर में नेहरू ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अहिंसा में उनकी आस्था किसी वाद के विश्वास पर आधारित नहीं है :

हिंसा प्राय: ही अपने पीछे प्रतिक्रिया और चरित्रभ्रष्टता लाती है, और हमारे देश में विशेष रूप से इससे सब तितर-बितर हो जायगा। यह बिलकुल सच है कि संगठित हिंसा आज संसार पर राज्य करती है और यह हो सकता है कि हम उससे लाभ उठाएँ। लेकिन हमारे पास संगठित हिंसा के लिए सामग्री या प्रशिक्षण नहीं है और व्यक्तिगत या छिटपुट हिंसा हताश होने की स्वीकृति है। मैं मानता हूँ कि हममें से अधिकतर लोग नैतिक नहीं, किन्तु क्रियात्मक आधार पर उसे परखते हैं, और अगर हम हिंसा के तरीक़ों को छोड़ते हैं तो इसलिए कि उससे ठोस परिणामों का कोई विश्वास नहीं। स्वाधीन होने के लिए कोई भी बड़ा आन्दोलन आवश्यक रूप से सामूहिक आन्दोलन ही होना चाहिए और सामूहिक आंदोलन सिवा संगठित विद्रोह के समय आवश्यक रूप से शान्तिपूर्ण ही होना चाहिए।

नेहरू ने देश की जो तीन प्रमुख समस्याएँ बताईं वे थीं अल्पसंख्यक लोग, रजवाड़े, और मज़दूर और किसान, और इनमें से प्रत्येक पर उनके शब्द कठोरता से भविष्य बताने वाले थे। अगर भारत के रजवाड़े उनके भाषण को पढ़ने का कष्ट उठाते तो उन्हें भविष्य का पता चल जाता।

आने वाले कष्ट और बलिदान को ध्यान में रखते हुए जवाहरलाल ने अपना भाषण चेतावनी के साथ समाप्त किया : "सफलता प्राय: उन लोगों को मिलती है जो साहसी होते हैं और काम करते हैं; वह उन डरपोक लोगों को शायद ही मिले जो सदा परिणाम से डरते रहते हैं। हम बड़ा दाँव लगाते हैं; और अगर हम बड़ी चीज़ें पाना चाहते हैं तो वह बड़े खतरे उठा कर ही मिल सकती हैं।"

लाहौर कांग्रेस में पारित प्रस्ताव जवाहरलाल के अध्यक्षीय भाषण के हर प्रकार से अनुरूप थे। निश्चित रूप से नेहरू रिपोर्ट रह गई। पूरी स्वतंत्रता या पूर्ण स्वराज्य अब कांग्रेस का लक्ष्य था, और कलकत्ता में स्वतंत्रता की माँग को स्थगित कराने के उत्तरदायी होने से, गांधीजी ने स्वयं मुख्य प्रस्ताव पेश किया, जिसमें अन्य बातों के सिवा यह घोषणा थी कि कांग्रेस के संविधान के प्रथम अनुच्छेद में स्वराज्य शब्द के अर्थ पूर्ण स्वतंत्रता है।

३१ दिसंबर १९२९ की रात को १०.०० बजे स्वतंत्रता के प्रस्ताव पर बहस समाप्त हुई। मत लेने में और दो घंटे लग गए, और आधीरात के घंटे पर प्रस्ताव पारित घोषित हुआ। यह एक ऐतिहासिक अवसर था जिसका महत्व रावी तट पर उस सुन कर

देने वाले दिन के धुँधले, कटु, मधुर उषःकाल में कुछ ही लोगों ने पूरी तौर पर अनुभव किया। कितने लोगों ने समझा कि स्वतंत्रता दो दशकों के भीतर ही मिल जायगी ? जवाहरलाल ने इनक़लाब ज़िन्दाबाद के गगनभेदी नारों के बीच तिरंगा लहराया। उन्होंने स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा पढ़ी और तीस सहस्र कंठों ने उसे उनके साथ-साथ दुहराया।

इस प्रस्ताव के बाद यह तर्कसिद्ध बात व्यवस्थापिकाओं और सारी सरकारी समितियों का बहिष्कार था। यह निर्णय स्वतंत्रता के प्रस्ताव की भूमिका में था। यह क़दम "स्वतंत्रता के अभियान को संगठित करने की दिशा में" प्रारंभिक कहे गए थे और कांग्रेस ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को, जिसमें प्रान्तीय प्रतिनिधि थे, "करबन्दी के साथ सविनय अवज्ञा कार्यक्रम चालू करने" का अधिकार दिया, "चाहे वे कुछ चुने क्षेत्रों में हों या नहीं, और ऐसे रक्षण के साथ जो आवश्यक हों।" इस प्रकार स्वतंत्रता का तिरंगा शान्तिपूर्ण अवरोध की ध्वजा बन गया।

किन्तु कुछ लोग थे जो लाहौर अधिवेशन के प्रमुख निर्णयों से मतभेद में आग्रह करते रहे। उनकी अगुआई जोशीले सुभाषचन्द्र बोस कर रहे थे। वे सिद्ध देशभक्त थे जो कम-से-कम इस बात में अपने निर्णय के साथ अपनी भावना में बह गए और इस काम में उन्होंने राजनीतिक रूप से निष्क्रिय श्रीमती चित्तरंजन दास का आशीर्वाद प्राप्त किया। उनका आशीर्वाद राष्ट्रीय से अधिक प्रान्तीय लगा।

कांग्रेस की आज्ञा के पालन में मोतीलाल ने केंद्रीय असेम्बली और प्रान्तीय काउंसिलों के सदस्यों से अपने स्थानों से त्याग-पत्र देने को कहा। प्रायः सभी ने त्यागपत्र दे दिया, केवल गिने-चुने ही लोगों ने ऐसा करने से इनकार किया। उनमें से अधिकांश बाद में सरकार के साथ सहयोग की गलियों में भटक गए।

२ जनवरी १९३० को कांग्रेस की कार्यकारिणी ने २६ जनवरी को स्वतंत्रता दिवस निश्चित करने का प्रस्ताव पारित किया, जब देश भर में सभाएँ की जायँ और स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा ली जाय। स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद से २६ जनवरी गणतंत्र दिवस मनाया जाता है।

२६ जनवरी १९३० को पहले स्वतंत्रता दिवस पर भारी भीड़ों ने प्रतिज्ञा पढ़ी जिसकी आरंभ की पंक्तियाँ हैं :

हमारा विश्वास है कि भारतवासियों का किन्हीं भी और लोगों की तरह, यह अविच्छेद्य अधिकार है कि स्वाधीनता प्राप्त करें और अपने श्रम का फल भोगें और जीवन की आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करें जिससे कि उन्हें विकास का पूरा अवसर प्राप्त हो। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि कोई सरकार किसी राष्ट्र को इन अधिकारों से वंचित करती है और उस पर अत्याचार करती है, तो राष्ट्र के लोगों का यह भी अधिकार है कि उसे बदल दे या उसे समाप्त कर दे।

इस चुनौती और संकल्प के साथ देश सविनय अवज्ञा के दूसरे अभियान पर आगे बढ़ा।

११

सविनय अवज्ञा

राजनीतिक रूप से जवाहरलाल का "आगमन हो चुका था"।

लाहौर कांग्रेस के बाद से भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर उनका स्थान सर्वप्रमुख, केवल गांधीजी से द्वितीय था, जिन्होंने उस अधिवेशन के लिए अध्यक्ष पद पर नेहरू के चुनाव के आग्रह से उन्हें असंदिग्ध रूप से अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। महात्माजी के परामर्शदाताओं में मोतीलाल उनके अधिक निकट थे। गांधीजी वल्लभभाई पटेल की रूखी समझ का सम्मान करते थे। लेकिन महात्माजी का लबादा कम अवस्था वाले कंधों पर पड़ना था, और उसके लिए केवल दो आकांक्षी थे। दूसरे सुभाष बोस थे।

नेहरू से लगभग नौ वर्ष छोटे, बोस, बहुत तरह से असमान थे। वे कैंब्रिज और इंडियन सिविल सर्विस से होते हुए कांग्रेस में आए थे। इंडियन सिविल सर्विस से उन्होंने महात्माजी के आह्वान पर १९२१ में त्यागपत्र दे दिया था। तरुण अवस्था से ही वे विद्रोही थे, और कलकत्ता के एक कालेज में जब वे अंडरग्रेजुएट थे तो विद्यार्थियों की हड़ताल का नेतृत्व करने और भारतीयों पर कुछ तिरस्कारपूर्ण आक्षेप करने के लिए एक अंग्रेज प्राध्यापक को पीटने की धमकी के लिए दो वर्ष के लिए कालेज से निकाल दिए गए थे।

बोस का बचपन हिन्दू सुधारवादी रामकृष्ण परमहंस* और उनके शिष्य विवेकानन्द की शिक्षा के ज़ोरों के दिनों के साथ का था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में विवेकानन्द अमरीका गए और सैनफ्रांसिस्को में उन्होंने रामकृष्ण मिशन के प्रधान केन्द्र की स्थापना की। इन दोनों सुधारकों ने हिन्दुत्व को रूढ़िगत रीतिरिवाजों के बन्धनों से मुक्त करने और उसकी शिक्षाओं को बौद्धिक बनाना चाहा। दोनों व्यक्ति बोस के निवास-प्रान्त बंगाल के थे।

सुभाष ने गहन धार्मिक भावना की स्त्री, अपनी माता से इन सन्तों के उपदेशों के विषय में कुछ सीखा। इसने उनके तीव्र और कल्पना प्रवण मस्तिष्क को प्रेरित किया। उनका ध्यान करते हुए उन्होंने बुद्ध की तरह अपना परिवार छोड़ने और संन्यासी जीवन बिताने का निश्चय किया। जब जवाहरलाल इलाहाबाद में वकील की हैसियत से स्थिर हो रहे थे, बोस हिमालय की तराइयों में घूम रहे थे, जो परम्परा से हिन्दू अध्यात्म का

---

* जन्म १८३४ में। उनकी शिक्षा थी कि सारे मत एक ही सत्य के भिन्न भिन्न रूप हैं।

केन्द्र रही है। वहाँ से बोस पावन गंगा के किनारे भ्रमण करते रहे। वे बनारस, मथुरा, वृन्दावन और गया के पवित्र नगरों में अपना ही निर्वाण खोजते भटकते रहे। इस तीर्थ-यात्रा से वे निराश हो गए और उमर खैयाम की अनुगूंज में उन्हें अनुभव हुआ कि उनकी खोज की समाप्ति भ्रम दूर होने में हुई :

छुटपन में मैं व्याकुलता से भटकता रहा
डाक्टरों और सन्तों के पास, और बड़ी बहस सुनीं
इसके और उसके विषय में , लेकिन सदा ही
उसी द्वार से निकला जिससे कि गया ।

बोस के चरित्र में रहस्य की लय बनी रही और द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के हथियार डालने के पहले फारमोसा में हवाई दुर्घटना में उनकी मृत्यु तक उनके साथ रही। दर्शन और धार्मिक-रहस्य के विचार में डूब कर राजनीति उन्हें विचित्र आदर्शों की ओर ले गई। वे सुभाष को उनके देश को स्वतंत्र कराने के लिए फासिस्टवाद और नाज़ीवाद के साथ ले गए ।

बोस गांधीजी से बहुत प्रभावित नहीं थे। उनके तरीक़ों और दर्शन से वे प्रायः उग्र रूप से असहमत थे। उनके एकमात्र राजनीतिक गुरु देशबन्धु चितरंजन दास थे। १९२५ में उनकी मृत्यु के बाद वे किसी सुरक्षित सहारे के बिना हो गए। बोस को गांधी की अहिंसा के लिए धैर्य नहीं था और वे महात्माजी की राजनीतिक प्रणाली के उलझे जोड़-तोड़ से चिढ़ गए थे। इस बात में उनका नेहरू से मतभेद था जो गांधीजी की असंगतियों को तर्कसम्मत सिद्ध करके उनकी शिक्षाओं को बुद्धिवादी विचारधारा के ढंग पर ले आते। प्रकृति से और बौद्धिक रूप से बोस और गांधीजी में ध्रुवों का अन्तर था। परिणामस्वरूप इससे कांग्रेस के अधिकार क्रम में बोस के पद पर प्रभाव पड़ने वाला था।

महात्माजी के राजनीतिक विचार के बहुत-से पक्षों के आलोचक होते हुए भी नेहरू ने उनमें एक चुम्बक पाया जिसने उन्हें आकर्षित करना कभी बन्द नहीं किया। उन्होंने यह भी देखा कि गांधीजी के साथ उन्हें जनता में अत्यधिक और असाधारण लोकप्रियता मिल रही है। वे यह अनुभव करने से नहीं चुके कि वे राष्ट्रीय नायक हो गए हैं। जैसी कि भारतीय प्रथा है, उन पर उपाधियों की वर्षा होने लगी। उनका भारतभूषण और त्यागमूर्ति के रूप में अभिनंदन हुआ।

अगर "इस चापलूसी से नेहरू का दिमाग़ कभी चढ़ गया, जैसा कि वे स्वीकार करते हैं कि ऐसा हुआ, तो उनकी पत्नी और बहनें आवश्यक सुधार करने के लिए थीं। उनके साथ जवाहरलाल को दी गई यह विचारशून्य नई उपाधियाँ अन्तहीन हँसी-मज़ाक का विषय थीं।

नाश्ते की मेज़ पर प्रायः उनमें से कोई प्रार्थना करता, "भारतरत्नजी, मुझे मक्खन पकड़ा दीजिए," या कभी-कभी नन्हीं इन्दिरा चहचहा उठती, "ओ त्यागमूर्तिजी, कितने बजे हैं ?"

मोतीलाल इन वातों को विनोदपूर्वक देखते। किन्तु जवाहरलाल की माता मनोरंजन नहीं मानतीं। उनके लिए उनके वेटे पर देश द्वारा वौछार की गई चाटुकारिता पूर्णरूप से स्वाभाविक प्रतिक्रिया लगती।

लाहौर अधिवेशन के वाद मोतीलाल ने अपने वेटे के सुझाव और गांधीजी से परामर्श के वाद अपने मकान आनन्द भवन का फिर से स्वराज्य भवन नामकरण करके राष्ट्र को देने का संकल्प किया। परिवार रास्ते के उस पार के एक नए मकान में चला आया जिसका नाम पुराने मकान के नाम पर रखा गया था। पुराने मकान में शीघ्र ही एक कांग्रेस अस्पताल और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के दफ्तर आ गए। अधिकार हस्तान्तरण की क़ानूनी कार्यवाहियों को पूरा करने के लिए मोतीलाल जीवित न रहे। यह वाद में जवाहर लाल द्वारा की गई। उन्होंने अपने पिता की इच्छाओं के अनुसार सम्पत्ति का एक न्यास वना दिया।

२६ जनवरी को स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा लेने के देशव्यापी समारोह ने लोगों की भावना की गहनता और शक्ति प्रदर्शित कर दी जो सविनय अवज्ञा चालू करने के इशारे भर की प्रतीक्षा कर रही थी। जैसा कि नेहरू ने तीन वर्ष वाद अपनी पुत्री को एक पत्र * में लिखा, १९३० का आरंभ "आगामी घटनाओं की गहरी छाया से भरी हवा" से हुआ।

३१ जनवरी को गांधीजी ने एकाएक अपनी तथाकथित ग्यारह शर्तों की घोषणा की। इन ग्यारह शर्तों को मानकर यदि ब्रिटेन स्वतंत्रता का सार स्वीकार कर ले तो वे सविनय अवज्ञा को टालने के लिए उद्यत थे। उनकी ग्यारह वातों की माँग थी: (१) मदिरा का पूर्ण निषेध; (२) रुपये की विनिमय दर १ शि० ४ पें० † फिर कर देना; (३) ज़मीन का लगान ५० प्रतिशत कम करना; (४) नमक कर समाप्त करना; (५) सैनिक व्यय में कम-से-कम ५० प्रतिशत कमी; (६) सिविल सर्वेंट्स का वेतन आधा करना; (७) विदेशी कपड़े पर रक्षात्मक चुंगी की दर; (८) भारतीय जहाज़रानी के पक्ष में एक तटीय रक्षात्मक क़ानून लागू करना; (९) हत्या या हत्या के प्रयत्न में जिन्हें दंड मिला है उन्हें छोड़ कर सव राजनीतिक क़ैदियों की रिहाई; (१०) अपराधों की खोज करनेवाले (खुफ़िया) विभाग को, जिसका मुख्य लक्ष्य कांग्रेस है, तोड़ देना या उस पर नियंत्रण; और (११) सर्वसाधारण पर नियंत्रण के साथ आत्मरक्षा के लिए वंदूक आदि का अधिकार देना।

गांधीजी ने कहा, "भारत की इन अत्यन्त साधारण किन्तु महत्वपूर्ण आवश्यकताओं के वारे में वाइसराय हमें सन्तुष्ट करें। तव वे सविनय अवज्ञा की कोई चर्चा न सुनेंगे।"

स्पष्टतः यह चौंकानेवाली माँगों की सूची जनता के विभिन्न वर्गों—सर्वसाधारण, विशिष्ट वर्ग, व्यवसायी और वुद्धिवादियों—को प्रभावित करने के लिए थी। लेकिन

* ता. १७ मई १९३३

† तीन वर्ष पहले यह १ शि. ६ पें. निर्धारित थी।

नेहरू के लिए यह सामाजिक और राजनीतिक सुधारों की अजीब खिचड़ी का स्वतंत्रता की मूल माँगों से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई दिया।

एक बार फिर वे हैरान और परेशान हो उठे। मस्लन नमक कर को उठा देने का सविनय अवज्ञा से क्या संबंध है? गांधीजी ने शीघ्र ही देश और कांग्रेस को बता दिया।

"पानी के सिवा नमक की तरह की और कोई भी चीज़ नहीं है जिस पर कर लगा कर राज्य लाखों भूखों मरते लोगों, बीमारों, अपाहिजों और नितान्त विवश लोगों को छू सकें। "गांधीजी ने घोषित किया," इसलिए यह हर "आदमी पर सबसे अमानवी कर है जो मनुष्य की कल्पना सोच सकती है।"

घृणोत्पादक गैबेल की तरह जो फ्रांस की राज्यक्रांति के पहले फ्रांसीसी किसानों को जमा करने का आह्वान बन गया था, नमक एकाएक भारत में विद्रोह का प्रतीक बन गया। नमक को खुले समुद्रतट पर "बनाने" के लिए जानबूझ कर नमक कानून तोड़ने का आह्वान देकर गांधीजी ने एक सामान्य काम को एक नाटकीय विद्रोहात्मक महत्व दे दिया।

२ मार्च को महात्माजी ने वाइसराय लॉर्ड अर्विन को "प्रिय मित्र" संबोधित करते हुए पत्र लिखा जिसमें उन्होंने लिखा था :

यहाँ तक कि जिन्दा रहने के लिए वह (किसान) नमक का उपयोग करेगा ही, उस पर इस तरह कर लगा है कि उसका सबसे अधिक भार केवल उसके लगाने की हृदयहीन निष्पक्षता के कारण उस पर ही पड़े।

ग़रीब आदमी के लिए ही कर अधिक भारी लगता है, क्योंकि नमक ही एक चीज़ है जो वह अमीरों से अधिक अकेला और सम्मिलित रूप से खाएगा ही।

भारत के लोगों पर लदे विभिन्न भारों को गिनाने के बाद गांधीजी ने आगे लिखा :

अगर आप इन बुराइयों को दूर करने में असमर्थ रहते हैं और मेरे पत्र का आपके हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो इस मास के ग्यारहवें दिन मैं आश्रम के ऐसे सहकर्मियों के साथ जिन्हें मैं ले सकता हूँ, नमक क़ानून की अवहेलना करने चल दूंगा। ग़रीब आदमी के दृष्टिकोण से मैं इस कर को सबसे अधिक अन्यायपूर्ण मानता हूँ। चूंकि स्वतंत्रता का आन्दोलन निश्चित रूप से देश के सबसे ग़रीब लोगों का है, इसलिए उसका आरंभ इससे होगा। आश्चर्य तो यह है कि हम लोगों ने इतने दिनों तक क्रूर एकाधिपत्य को स्वीकार किया है। यह मैं जानता हूँ कि आप मुझे गिरफ्तार कर मेरे उद्देश्य को असफल कर सकते हैं। मुझे आशा है कि मेरे बाद काम को अनुशासित ढंग से हाथ में लेने के लिए लाखों लोग तैयार होंगे, और नमक क़ानून की अवज्ञा में वे न्याय के उन दंडों को सहन करेंगे जिन्हें क़ानून की कोई पुस्तक कभी भी कुरूप न करती।

पत्र वाइसराय को रेजिनाल्ड रेनाल्ड्स नामक तरुण क्वेकर अंग्रेज सन्देशवाहक के द्वारा दिया गया था।

लॉर्ड अर्विन का उत्तर लोकाचार के अनुरूप था और खेद प्रकट किया गया था कि

महात्माजी "ऐसे मार्ग का अनुसरण करने का विचार कर रहे थे जिसमें स्पष्टतः क़ानून भंग होगा और सर्वसाधारण में शान्ति के लिए ख़तरा होगा।"

१२ मार्च को ६–३० बजे सवेरे अठहत्तर अनुयायियों के साथ गांधीजी अपने साबरमती आश्रम से १४१ मील दूर समुद्र तट के छोटे-से गाँव दांडी की प्रसिद्ध यात्रा पर चल पड़े। तब वे इकसठ के थे। हाथ में लाठी लिये वे राह किनारे के गाँवों और क़स्बे के लोगों से, जो क्रमशः उमड़े आते थे, बातें करते तेज़ी से पैदल चले, और उनके बढ़ने के साथ ही देशभक्ति के उत्साह की आग देश भर में फैलती गई।

साबरमती और दांडी की राह के लगभग बीच में जंबूसर में मोतीलाल और जवाहरलाल महात्माजी से मिले। वे अहमदाबाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक सभा से इलाहाबाद लौट रहे थे। उन्होंने वहाँ उनके साथ कुछ घंटे बिताए और तब उनके साथ कुछ दूर चले। पिता और पुत्र ने उन्हें बिदाई दी। जवाहरलाल ने लिखा, "उस समय मैंने उन्हें जिस रूप में हाथ में लाठी लिये दृढ़ क़दमों से और शान्तिपूर्ण किन्तु निर्भीक दृष्टि से अपने अनुयायियों के आगे बढ़ते देखा, वह मेरे लिए उनकी अन्तिम झलक थी। वह हृदय पर प्रभाव डालनेवाला दृश्य था।"

यह ऐसा दृश्य था जिसने नेहरू को बहुत अधिक हिला दिया और उनकी प्रबल आत्मा की उत्कंठा और अधैर्य को फिर ऊपर छलका दिया। उस संघर्ष में कूद पड़ने की उनकी कामना हुई जो अभी आरंभ होनेवाला था। इस महत्वपूर्ण अवसर पर वे देश के जवानों की ओर मुड़े जो उनकी ही तरह बेचैन हो रहे थे, और ज्यों-ज्यों महात्माजी आगे बढ़ रहे थे, उन्होंने एक सन्देश में संबोधित कर उनसे कहा, "तीर्थयात्री आगे बढ़ रहा है। युद्धभूमि तुम्हारे सामने है, भारत का झंडा तुम्हें बुला रहा है, और स्वतंत्रता स्वयं तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। क्या तुम अब हिचकिचा रहे हो, तुम लोग जो कल तक ऊँचे स्वर से उसके पक्ष में थे? इस शानदार संघर्ष में क्या तुम दर्शक मात्र बने रहोगे और अपने सबसे श्रेष्ठ और सबसे वीर लोगों को उस महान् साम्राज्य का सामना करते देखते रहोगे जिसने तुम्हारे देश और उसकी सन्तानों को कुचल दिया है? अगर भारत मर जाता है तो जीवित कौन रहेगा? अगर भारत जीवित रहता है तो कौन मरेगा?"

२१ मार्च को अहमदाबाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सभा ने अब अनिवार्य संघर्ष के लिए अपने को तैयार किया। यह व्यवस्था की गई कि ज्योंही एक के बाद एक अध्यक्ष गिरफ्तार हो उसका मनोनीत व्यक्ति उसका उत्तराधिकार ग्रहण करे और क्रम से वर्किंग कमेटी के उन सदस्यों के स्थान पर जो गिरफ्तार हो गए हैं नई वर्किंग कमेटी नियुक्त करे। यह केवल केन्द्रीय कांग्रेस संगठन के बारे में ही नहीं, किन्तु प्रान्तीय और स्थानीय कमेटियों के बारे में भी लागू था।

इसके पहले गांधीजी ने यह सूचित कर दिया था कि हिंसा का कोई छिटपुट काम उन्हें आन्दोलन बन्द करने को प्रेरित नहीं करेगा, जैसा कि आठ वर्ष पहले उन्होंने पिछले सवि-

नय अवज्ञा अभियान में किया था। दांडी की ओर अपनी यात्रा में वे अहिंसा के सन्देश का निरन्तर प्रचार करते रहे, और जैसा कि उनका स्वभाव था वे अपनी और भारत के लोगो की कमियों पर स्पष्ट रूप से कहते थे "हम देवता नहीं हैं। हम बहुत निर्बल हैं, आसानी से ललचा जाते हैं। हमारी कमियों के खाते में बहुत सी भूलें हैं।"

५ अप्रैल को गांधीजी अपने अनुयायियों के साथ दांडी पहुँचे, और दूसरे दिन अपनी प्रातःकालीन प्रार्थना के पश्चात् महात्माजी समुद्रतट की ओर चले और कच्चे नमक का एक ढेला उठा कर प्रतीकात्मक रूप से क़ानून तोड़ दिया। उनके गिरफ्तार हो जाने की दशा में उन्होंने एक वृद्ध और अनुभवी मुस्लिम, सफ़ेद दाढ़ीवाले अब्बास तैयबजी को अपने उत्तराधिकार में नेतृत्व के लिए मनोनीत किया और तैयबजी की गिरफ्तारी पर उन्होंने श्रीमती सरोजिनी नायडू को उत्तराधिकारी बनने की घोषणा की।

गांधीजी का काम नमक कानून तोड़ने का देशव्यापी संकेत था। नेहरू ने लिखा है। "यह लगता था कि एकाएक एक क़मानी हटा दी गई हो।"

ब्रिटिश अधिकारी पहले तो महात्माजी के प्रस्थान को बेकार का राजनीतिक तमाशा समझ कर उपेक्षा करने को प्रवृत्त थे, लेकिन अब चौंक उठे। उन्होंने प्रदर्शनों पर लाठी और गोली चलाना आरंभ किया। एक बार फिर गांधीजी ने अपने अनुयायियों से अत्यन्त दृढ़ता से दमन के सामने अहिंसक रहने की प्रार्थना की। उन्होंने कहा, "अगर हमें संग्राम के अन्तिम आक्रमण का सामना करना है तो हमें सवारों और डंडों के सामने अड़ा रहना सीखना होगा और अपनों को घोड़ों की टापों के नीचे कुचल जाने और हमले से चोट खाने देना होगा।"

१४ अप्रैल को इलाहाबाद से उस समय के मध्य प्रान्त* के रायपुर जाते हुए रेलगाड़ी में चढ़ते समय नेहरू गिरफ्तार कर लिए गए। उसके पहले उन्होंने एक विशाल सभा में भाषण कर और बड़े भारी जुलूस का नेतृत्व करने के बाद समारोह के साथ कुछ ग़ैर क़ानूनी नमक "बनाया।" उनपर नमक क़ानून तोड़ने का अभियोग लगाया गया। जेल के भीतर संक्षिप्त मुक़दमा किया गया और छः महीने के कारावास का दंड दिया गया। यह उनके कारावास का चौथा अवसर था। लगभग सात वर्ष बाद जवाहरलाल फिर जेल आए, इस समय अपने ही प्रान्त की नैनी केंद्रीय जेल में रखे गए। आठ दिनों की स्वाधीनता के अन्तराल के साथ वे वहाँ २६ जनवरी १९३१ तक रहे।

बाहर आन्दोलन ज़ोरों पर था। एक ओर दमन बढ़ रहा था और निश्चयात्मक अवज्ञा दूसरी ओर बढ़ रही थी। उनके जेल में रहने की अनुपस्थिति में नेहरू ने गांधीजी को कांग्रेस अध्यक्ष बनाना चाहा था, लेकिन महात्माजी ने इनकार कर दिया और तब जवाहरलाल ने अपने पिता को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। वे यद्यपि पहली बीमारी के आक्रमण से रोग भुगत रहे थे, जिसने दस महीने बाद उनकी जान ले ली

* अब मध्य प्रदेश नाम से ज्ञात।

फिर भी मोतीलाल ने उत्तरदायित्व की वागडोर स्वाभाविक उत्साह के साथ ले ली और आन्दोलन को दृढ़ निश्चय और अनुशासन के साथ चलाया।

गांधीजी ५ मई को जब अपनी दांडी की कुटिया में शांतिपूर्वक सो रहे थे, तब तड़के ही गिरफ्तार कर लिए गए। उनकी अँग्रेज़ शिष्या मीरा बेन*ने लिखा, "रात के सन्नाटे में वे लोग चोरों की तरह उनको चुराने आए क्योंकि 'जब उन्होंने उन पर हाथ डालना चाहा तो उन्हें जनता का डर था, क्योंकि वह उन्हें अवतार मानती थी।"

जवाहरलाल की गिरफ्तारी से सविनय अवज्ञा ने एक नया जोर पकड़ लिया और गिरफ्तारियाँ, भीड़ों पर गोलियों और लाठियों की बौछार प्रतिदिन की घटनाएँ बन गई। नमक क़ानून तोड़ने से आन्दोलन अन्य दिशाओं में फैल गया। विदेशी कपड़ों की दूकानों पर धरना दिया गया, शराब की दूकानों का बहिष्कार हुआ।

आन्दोलन की एक विशेष बात भारतीय स्त्रियों में अपूर्व जागृति थी, जिन्होंने हज़ारों की संख्या में अपने घरों की चहारदीवारी छोड़ दी और अपने पुरुषों के साथ स्वाधीनता संग्राम में कंधे से-कंधा मिलाकर काम किया। उनमें से सैकड़ों गिरफ्तार हुई और उन्हें कारावास मिला। इस समय से समता और मुक्ति की भावना की उत्पत्ति होती है जो उसके बाद से भारत में स्त्रियों की प्रगति की प्रेरक रही है।

यह आश्चर्य की बात नहीं है कि नेहरू के परिवार की स्त्रियाँ संघर्ष में सबसे आगे रहीं। प्रतिदिन जवाहरलाल की माता-बहिनें और पत्नी गर्मी की धूप में खड़े रह कर विदेशी कपड़ों की दूकानों पर धरना देतीं, दूसरी स्त्रियों के साथ उजड्डपन और अपमान को सहन करतीं जो कभी-कभी उन्हें मिलता। मोतीलाल का पितृत्व सम्बन्धी दृटिकोण सरलता से अपनी पत्नी, बेटियों और पुत्रवधू को ऐसे कामों में भाग लेने के लिए अपने को नहीं समझा सका। लेकिन उन्होंने हस्तक्षेप नहीं किया, और जो साहस और ऊर्जा वे प्रदर्शित करतीं उसमें अप्रकट रूप से गर्व अनुभव करते थे। बाद में जब वे जवाहरलाल से जेल में जा मिले तो उन्होंने स्नेहसिक्त गर्व में उनके कारनामों को बताया।

रुग्ण कमला की शक्ति और उत्साह सबसे अधिक था जिनके दृढ़ निश्चय ने—जब कि जवाहरलाल को आश्चर्य में डाल दिया—उन्हें गंभीर रूप से द्रवित भी किया। १९३० के प्रारंभिक महीनों में, जब सविनय अवज्ञा क्षितिज पर वेग से छा रही थी उन्हें पहली बार कमला के योग्य राजनीतिक साथी सिद्ध करने की आकुलता का भान हुआ था। अब जेल की दीवारों के पीछे से उन्होंने इलाहाबाद शहर और ज़िले में आन्दोलन को तेज करने में अपनी पत्नी के प्रयत्नों का अचंभे से अनुसरण किया, और उसकी ऊर्जा, इच्छा शक्ति और संगठन की क्षमता ने उन्हें हैरानी और आश्चर्य के साथ गर्व की भावना में डाल दिया। बीमार और कमज़ोर होने पर भी कमला अपने पति की नज़र में अपने को योग्य सिद्ध करना चाहती थी।

---

* पहले एक ब्रिटिश ऐडमिरल की पुत्री मिस मैडेलीन स्लेड।

बहुत बाद में नेहरू ने लिखा, "अपने उत्साह और शक्ति से उसने अनुभवहीनता की कमी को पूरा कर दिया, और कुछ ही महीनों में वह इलाहाबाद के लिए गर्व की वस्तु बन गई।" उसके बाद वे कमला को एक नए प्रकाश में देखते और राजनीतिक आकर्षण के इस भाव से उनमें एक गहरा व्यक्तिगत संपर्क विकसित हुआ। जेल और उनकी अपनी राजनीतिक व्यस्तताओं ने अभी तक जवाहरलाल को यह बात देखने से रोक रखा था कि कमला सबसे अधिक अपने पति की छाया बनी रहना नहीं चाहती बल्कि उनकी साथी और सहायक बनना चाहती है। लेकिन अब अन्त में उन्होंने देखा और समझा।

प्रतिदिन आन्दोलन बल पकड़ता गया। जैसे-जैसे निषेधाज्ञाओं की संख्या बढ़ती गई सविनय अवज्ञावालों ने उनकी अवहेलना के नए नए कार्य केन्द्र खोज निकाले। नमक के कड़ाहों और भंडारों पर बड़े पैमाने पर धावे होते जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के चोटी के नेता गिरफ्तार किए जाते। लेकिन उनकी गिरफ्तारी हो जाने पर भी आन्दोलन पूरे जोर पर जारी रहा। इस शान्तिमय और दृढ़ संकल्प के संघर्ष में, जिसमें गाँवों, क़स्बों और शहरों से विशाल समूहों ने भाग लिया, लगभग १००००० लोग जेल गए।

अहिंसा का सबसे चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन अभी तक उद्दंड उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत में देखा गया, जो पठानों और अन्य लड़ाकू क़बीले वालों से बहुत आबाद है। यहाँ नेहरू के पुराने मित्र डा० खान साहब के भाई खान अब्दुल ग़फ्फार खान ने आन्दोलन संगठित किया था। उनके अनुयायी खुदाई खिदमतगार नाम से विख्यात थे और जो अहिंसक सेवा के लिए प्रतिज्ञाबद्ध थे। वे जो जंग-के-रंग के मोटे कुरते पहनते उनके कारण वे आम तौर पर लाल कुर्ती वाले कहे जाते, यद्यपि उनका कम्यूनिस्टों से कोई संबंध न था।

खान अब्दुल ग़फ्फार खाँ के पिता क़बीले वालों के एक फिरके के सरदार थे जो पाकिस्तान के पहले जैसा भारत था उसकी सीमा पर पेशावर ज़िले में केंद्रित थे। ग़फ्फार खाँ संयमी, यहाँ तक कि पूर्ण सदाचारी स्वभाव के व्यक्ति थे, और राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ रौलट ऐक्ट के दिनों से संबद्ध थे, यद्यपि १९३० तक उनके खुदाई खिदमतगार कांग्रेस के सक्रिय सहयोग में न थे।

फ्रंटियर (सीमान्त) गांधी, जैसा कि ग़फ्फार खाँ विख्यात हुए, महात्मा जी की अहिंसा की शिक्षाओं से आरंभ में आकर्षित हुए और उन्हें अपने अनुयायियों को सिखाने की चेष्टा की। उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त जैसे क्षेत्र में जहाँ खून का बदला खून प्रचलित है, यह तरीक़ा बहुत अधिक महत्वाकांक्षा का काम था। लेकिन सीमान्त गांधी अहिंसा के अपने संदेश में लगे रहे जो धीरे-धीरे अभी तक उग्र क़बीलेवालों के दिमाग़ में छन कर पहुँच गया।

अब वे हजारों की संख्या में विदेशी राज के विरुद्ध शान्ति पूर्वक प्रदर्शन के लिए निकल आए। उनके आगे बख्तरबन्द गाड़ियाँ चलाई गई और कुछ ज़िलों में ब्रिटिश अधिकारियों ने अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलाई। लेकिन क़बीले वाले आसानी से नहीं डरे

और यद्यपि हिंसात्मक बदले के कई उदाहरण हुए, खुदाई खिदमतगार आमतौर पर शान्त रहे और सेना की गोलियों और संगीनों का अविचलित रह कर सामना किया। इन सामान्यत: अदम्य मुस्लिम क़बीलेवालों की सहनशीलता और धैर्य ऐसा प्रभावोत्पादक थे कि पेशावर में एक अवसर पर ब्रिटिश अफसरों के हिन्दू सैनिक, १८ वीं गढ़वाल राइफल के दो दलों ने आज्ञा देने पर उन पर गोली चलाने से इनकार कर दिया और फ़ौरन गिरफ्तार कर अपनी बैरकों को वापस ले आए गए। सीमान्त गांधी अपने सैकड़ों अनुयायियों के साथ गिरफ्तार किए गए।

जेल से नेहरू बाहर की घटनाओं के प्रवाह का उत्सुकता से अनुसरण करते। वे उल्लास और गर्व के भाव से भर उठे। भारतीय नारियों, विशेषत: उनकी पत्नी, माता और बहिनों के आचरण ने उन्हें आह्लादित किया, और वे खान अब्दुल ग़फ्फार ख़ाँ के नेतृत्व में अक्खड़ पठानों के विचित्र रूप से शांतिप्रिय ढंग पर भी हिल उठे थे। उन्हें पता था कि देर सवेर उनके पिता उनके साथ जेल आ जायेंगे। ३० जून को बम्बई की यात्रा के शीघ्र बाद मोतीलाल इलाहाबाद में गिरफ्तार हो गए। देश में सविनय अवज्ञा के प्रमुख गढ़ों में से बंबई एक था। उन्हें छ: महीने की सज़ा हुई और वे नैनी की केंद्रीय जेल में अपने पुत्र से उसकी बैरक में जा मिले।

नेहरू जिस बैरक में पहली बार अकेले रखे गए थे वह एक छोटा गोल घेरा था जो मोटे तौर पर एक सौ फीट व्यास का था और पंद्रह फीट ऊँची दीवार से घिरा था। इस बाड़े के बीचोबीच चार कोठरियों की एक नीची भद्दी सी इमारत थी। जवाहरलाल ने इनमें से दो पर दखल किया। एक को स्नान और शौचालय के रूप में उपयोग में लाते। इस घेरे का भव्य नाम था। जेल में यह कुत्ताघर के नाम से विख्यात था।

नेहरू को अपने जेल निवास की घेरेदार दीवारें उन चौकोर दीवारों से अधिक क्लेशदायक लगीं जिनके वे अब तक जेल में अभ्यस्त थे। गर्मी के महीने बहुत असुविधा-दायक रूप से गर्म थे, और रात में वे भीतरी इमारत और घेरे की दीवार के बीच के तंग खुले स्थान में सोते। उनकी चारपाई, शायद भागने में उससे सीढ़ी का उपयोग रोकने के लिए, ज़ंजीरों से ज़मीन के साथ बहुत अधिक बाँध दी जाती। रात में जंगल की तरह जेल अजीब तरह की आवाज़ों से भर जाती—संतरियों के क़दमों की खटखटाहट, चाभियों की खनक, रखवाली करने वाले चौकीदारों की भयानक चीख-पुकार और सैकड़ों तरह तरह की छोटी-मोटी आवाज़ें जो सोती हुई जेल की विस्तृत नीरवता को भंग करतीं।

अपने बिछौने पर लेटे-लेटे नेहरू खुले आकाश को देखते और आकाश के तारोंजड़े चँदोवे के आर-पार चलते बादलों को देखा करते। कभी-कभी वे परिचित नक्षत्रों के समूह से समय का अनुमान लगाते। उनका पक्का नक्षत्र साथी ध्रुवतारा था जो हर रात को जेल की दीवार की कोर के ठीक ऊपर उन पर खुशी से भर कर झांकता रहता।

नेहरू प्रतिदिन ३.३० या ४.०० बजे बहुत तड़के उठ आया करते। सदा की भाँति वे सावधानी से दिन भर का कार्यक्रम बनाते। लगभग तीन घंटे अपने ही चरखे पर कातने

में लगाते और दूसरे दो या तीन घंटे बुनाई करने में। वे बहुत पढ़ते, अपने घेरे के तंग दायरे में व्यायाम करते, अपने कपड़े धोते, और सामान्यतः स्थान को साफ़-सुथरा रखते।

दैनिक समाचारपत्रों की अनुमति नहीं थी, किन्तु एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र सविनय अवज्ञा की खबरें छापता, और नेहरू को यह प्रायः नाटकीय वाचन लगा। यद्यपि कांग्रेस के प्रमुख नेता जेल में थे, आन्दोलन स्थिर गति से जारी रहा। रोज़ाना प्रदर्शकों पर लाठियाँ बरसाई जातीं, गोली वर्षा असामान्य नहीं थी और पश्चिमी भारत में शोलापुर सहित कुछ स्थानों में सैनिक शासन घोषित कर दिया गया था, जहाँ राष्ट्रीय झंडा लेकर चलने पर दस वर्ष के कारावास का दंड था।

देश भर में रोज़ाना सैकड़ों लोग गिरफ्तार होते और जेल भेज दिए जाते। लेकिन उनका स्थान और बहुत से लोग ले लेते। स्त्रियाँ, कर्मचारी और छात्र आन्दोलन में प्रमुख थे। १९३० में सविनय अवज्ञा की खास चीज प्रभात फेरियाँ थीं जिसमें आदमी, औरतें और बच्चे सवेरे सड़कों पर देशभक्ति के गीत गाते हुए जुलूस में निकलते। स्त्रियाँ केसरिया साड़ी पहनकर दिन भर उन दूकानों पर धरना देतीं जो विदेशी सामान, विशेषतः ब्रिटिश कपड़े मँगातीं, और १९३० के शरद् तक सूती कपड़ों का आयात पिछले वर्ष के अंकों से तिहाई या चौथाई तक आ गया था। बंबई में ब्रिटिश मालिकों की सोलह मिलें बन्द हो गई थीं, और बड़े-बड़े शहरों में विरोध के जुलूस अक्सर निकल पड़ते जिससे उत्पादन ठप पड़ जाता। ६ जुलाई तक लंदन का पत्र **आब्ज़र्वर** भारत में योरोप निवासियों की "पलायन वृत्ति" और "नैतिक पतन" पर तीखी आलोचना कर रहा था, जब कि ब्रिटिश मालिकों के कलकत्ते के **स्टेट्समैन** ने मान लिया कि "प्रत्येक व्यक्ति स्थिति की गंभीरता को स्वीकार करता है और सब वर्ग के व्यापारी स्थिति से प्रभावित हैं।"

किन्तु यह विचित्र बात थी कि उकसाए जाने पर लोगों का स्वभाव प्रायः विनोदशील रहता। अफगानिस्तान में पहले के तुर्कीराजदूत, हिकमत बयूर स्मरण करते हैं कि १९३० में, जब गांधीजी और नेहरू जेल में थे, भारत की यात्रा करते हुए उनको उत्तर भारत में जेल के एक भारतीय सुपरिंटेंडेंट ने चाय पर निमंत्रित किया। उसमें अन्य भारतीय प्रतिनिधि थे, और जब वे बग़ीचे में चाय पी रहे थे तो **गांधीजी की जय** के नारे उनके कानों में पड़े। पूछने पर उन्हें पता चला कि उस जेल में राजनीतिक क़ैदियों की यह आदत थी कि अस्त होते सूर्य का इस नारे से अभिवादन करते।

उन्होंने पूछा, "यहाँ कितने लोग हैं ?"

उन लोगों ने बताया, "आठ से लेकर नौ हज़ार तक।"

"और १९२१ में कितने थे ?"

"क़रीब एक हज़ार।"

उन्होंने फिर पूछा, "और आपका क्या खयाल है आज से दस वर्ष बाद कितने होंगे ?"

भारतीय अतिथि हँसने लगे, और मज़ाक में सुपरिंटेंडेंट की ओर इशारा कर बोले, "तब यह अन्दर होंगे।"

जेल के अन्दर भी नेहरू को पता चला कि बाहर की घटनाओं की सिहरन और उत्तेजना भीतर के कुछ अपराधियों में असर फैला रही थीं।

उन्होंने कहा, "स्वराज्य आ रहा है। क्या स्वराज्य हमें इस नरक से निकाल देगा" ?

एक महीने के लिए जवाहरलाल अपनी बैरक में अकेले थे, और तब एक दूसरे राजनीतिक क़ैदी नर्मदा प्रसाद सिंह के साथ हो गए, जिनका आगमन राहत थी। ढाई महीने बाद जून १९३० के अंतिम दिन उन्हें प्रसन्नता दायक आश्चर्य हुआ जब उनके पिता ने डा० सैयद महमूद के साथ बाड़े में क़दम रखा। डा० सैयद महमूद अब नेहरू के मंत्रि-मंडल में विदेश विभाग के मंत्री हैं।

मोतीलाल उसी रोज़ सवेरे जब विस्तर में थे तब गिरफ्तार किए गए थे।

उन्होंने टिप्पणी की, "अब हम फिर इकट्ठे हैं।"

अपने बेटे को देख कर वे बहुत आनंदित थे। मोतीलाल के जीवन के मुश्किल से सात महीने रह गए थे। लेकिन न तो पिता और न पुत्र ने इस बात का अनुभव किया।

१२

मोतीलाल का देहान्त

भारत में जून में वर्षा आरंभ हो जाती है।

ग्रीष्म जिस प्रकार वर्षा ऋतु आने पर शीतल हो गई, राजनीतिक तापमान भी शान्त हो गया। मोतीलाल और जवाहरलाल ने विराम संधि, शांति वार्ता और सम्मेलनों की स्पष्ट खबरें सुनीं। कांग्रेस पार्टी के बाहर के राष्ट्रीय नेता, प्रमुखत: दो वकील, लार्ड रीडिंग के समय में वाइसराय की अन्तरंग समिति के भूतपूर्व सदस्य सर तेज बहादुर सप्रू, और बम्बई के प्रसिद्ध वकील डाक्टर एम० आर० जयकर सरकार और कांग्रेस के बीच समझौता कराने के उद्देश्य से ब्रिटिश अधिकारियों के संपर्क में थे।

लार्ड अर्विन समझौते के विरुद्ध न थे। सविनय अवज्ञा आन्दोलन उससे कहीं अधिक व्यापक और शक्तिशाली सिद्ध हुआ जितना कि सरकार ने अनुमान लगाया था, और वायसराय भी चिन्तित थे कि प्रकल्पित गोलमेज़ सम्मेलन शान्तिपूर्ण मुहूर्त में हो।

९ जुलाई १९३० को लार्ड अर्विन ने दोनों व्यवस्थापिकाओं—काउंसिल आव स्टेट और लेजिस्लेटिव असेम्बली—के संयुक्त अधिवेशन को संबोधित करते हुए घोषित किया, "महामान्य सम्राट की सरकार का यह विश्वास है कि सम्मेलन द्वारा उस हल तक पहुँचना संभव होगा जो दोनों देश और सब पार्टियाँ और उनमें के निहित स्वार्थ वाले सम्मान पूर्वक स्वीकार कर सकें और ऐसा कोई भी समझौता जिस पर सम्मेलन पहुँचे उन प्रस्तावों का आधार होगा जो सम्राट की सरकार बाद में पार्लमेंट के समक्ष रखे।" वाइसराय ने यह भी परिपुष्टि की कि भारत के संवैधानिक लक्ष्य के रूप में डोमिनियन पद का वचन क़ायम है।

इसके तुरन्त बाद केन्द्रीय व्यवस्थापिका के कुछ राष्ट्रीय सदस्यों ने सर तेज बहादुर सप्रू और डा० जयकर से सरकार और कांग्रेस के बीच मध्यस्थ बनने का अनुरोध किया। वाइसराय से पत्रों के विनिमय के बाद सप्रू और जयकर ने २३ और २४ जुलाई को पूना के समीप यरवदा जेल में गांधीजी से भेंट की।

विरामसंधि के विरुद्ध न होते हुए गांधीजी मोतीलाल और जवाहरलाल की सम्मति के बिना कांग्रेस को निर्णय के लिए प्रतिबद्ध करने को राज़ी नहीं थे। वे स्वयं सम्मेलन में जाने को तैयार थे बशर्ते कि उसमें विचार विमर्श उन संरक्षण अथवा ऐसी व्यवस्थाओं तक सीमित रहें जो पूर्ण स्वतंत्रता के पूर्व के संक्रमण काल में आवश्यक हों। और

उद्देश्य के लिए डोमिनियम पद को मान लेते हुए वे पूर्ण स्वतंत्रता के आदर्श को खारिज करने के लिए राज़ी न थे। उन्होंने यह भी आग्रह किया कि सत्याग्रह स्थगित करने के साथ सरकार को सब राजनीतिक क़ैदियों को छोड़ देना चाहिए।

इसी के अनुसार महात्माजी ने सप्रू और जयकर को अपने विचारों से सन्निविष्ट परिपत्र के साथ एक पत्र दिया जो उन्होंने उन लोगों से नेहरुओं को देने को कहा। २७ जुलाई को दोनों मध्यस्थ मोतीलाल और जवाहरलाल के पास उनकी जेल में आए।

मोतीलाल को ज्वर हो रहा था और वे उस समय ठीक नहीं थे। दो दिन तक बातें उखड़ी-उखड़ी चलती रहीं और २८ जुलाई को समाप्त हो गईं। जवाहरलाल को लगा कि सरकार और कांग्रेस के बीच कोई सामान्य आधार नहीं है। न आदर्श के और न राजनीति के संबंध से उनका उन दो नरम दल वाले राष्ट्रीयतावादियों से कोई लगाव है जो एक के बाद एक उनको समझाना और फुसलाना चाहते थे। उन्होंने लिखा, "हम बिना एक दूसरे की भाषा और विचार समझे एक घेरे में बात करते रहे और बहस करते रहे। राजनीतिक दृष्टिकोण में इतना बड़ा अन्तर था।"

अपने पत्र-व्यवहार में गांधीजी सतर्क थे। मोतीलाल से उन्होंने पत्र में आग्रह किया था, "जवाहरलाल की अन्तिम राय होगी", उन्होंने आगे यह प्रतिज्ञा की कि उनको स्वयं लाहौर प्रस्ताव के शब्दों तक किसी अधिक दृढ़ स्थिति का समर्थन करने में कोई संकोच न होगा।"

सप्रू और जयकर नैनी से कोई स्पष्ट वचन लेकर न निकले। जो कुछ भी दोनों नेहरू कहने को तैयार थे वह यह था कि जब तक वे वर्किंग कमेटी के अपने साथियों से विशेषतः गांधीजी से सलाह नहीं कर लेते, वे कोई सुझाव रखने को तैयार नहीं हैं। पिता और पुत्र ने इस आशय का पत्र गांधीजी को लिख दिया।

क्या वाइसराय ऐसे परामर्शों के लिए राज़ी होंगे? लार्ड अर्विन ने एक समझौते की शरण ली। वे इस बात पर राज़ी थे कि दोनों नेहरू तो गांधीजी से यरवदा जेल में मिल लें, लेकिन वे वर्किंग कमेटी के अन्य सदस्यों जैसे वल्लभ भाई पटेल और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद को बातों में सम्मिलित करने के लिए राज़ी न हो सके। वे दोनों जेल के बाहर थे और अभी तक सरकार के विरुद्ध सक्रिय अभियान में लगे थे।

सप्रू ने, जो वाइसराय का उत्तर नेहरू के पास ८ अप्रैल को लाए थे, तर्क किया कि वे यरवदा में गांधीजी से परामर्श करने के अवसर को न खोएँ। जवाहरलाल और मोतीलाल इसके विरुद्ध न थे, यद्यपि उन्होंने यह संकेत किया कि वे तीनों पूरी वर्किंग कमेटी को अपने विचारों से वचनबद्ध नहीं कर सकते। उन्होंने डा० सैयद महमूद के बारे में भी पूछा, जो उस समय उनके पास नैनी जेल में थे और जो कांग्रेस के मंत्री थे, कि वे उनके साथ यरवदा जायँ। इस प्रार्थना को सरकार ने मान लिया।

१० अगस्त को मोतीलाल और जवाहरलाल महमूद के साथ एक स्पेशल ट्रेन से ले जाए गए जो उन्हें पूना के निकट के सीमान्त के स्टेशन किर्की पर ले गई। यद्यपि गाड़ी

बड़े-बड़े स्टेशनों पर नहीं रुकी, किन्तु खबर फैल गयी और भारी भीड़ों ने रास्ते भर उनका अभिनंदन किया। वे अगस्त ११ की रात को देर से किर्की पहुँचे।

उन्हें आश्चर्य हुआ कि वे तुरत गांधीजी के सामने नहीं ले जाए गए लेकिन उस रात और दूसरे चौबीस घंटे अलग बैरकों में बंद रहे। जेल के एक अंग्रेज अधिकारी के चतुर प्रश्नों के बूते पर मोतीलाल इस असामान्य कार्यवाही का कारण समझ सके। सरकार नेहरुओं को महात्माजी से पहले पहल सप्रू और जयकर की उपस्थिति के बिना नहीं मिलने देना चाहती थीं। वे अभी तक आए नहीं थे। रेल के सफर के बाद थके और चिड़चिड़े मोतीलाल खुश नहीं थे।

जब १३ अगस्त को आखिरकार सप्रू और जयकर आए और उनके साथ गांधीजी से मिलने के लिए नेहरुओं को बुलाया गया तो मोतीलाल ने इन्कार कर दिया। उन्होंने आग्रह किया कि वे पहले अकेले गांधीजी से मिलेंगे। यह मान लिया गया। सरकार इस पर भी राज़ी हो गई कि वल्लभ भाई पटेल, जो इस अन्तराल में गिरफ्तार कर लिए गए थे, वार्ता में कांग्रेस वर्किंग कमेटी के एक अन्य सदस्य, जयराम दौलतराम के साथ सम्मिलित हों। जयराम दौलतराम जेल में थे।

वार्ता तीन दिन तक चलती रही और १५अगस्त को समाप्त हुई। एक बार फिर नेहरुओं ने गांधीजी के साथ समुचित रूप से संगठित वर्किंग कमेटी के अधिकार के बिना आधिकारिक रूप से कुछ कहने पर असमर्थता प्रगट की, किंतु अपनी व्यक्तिगत हैसियत से उन्होंने तीन शर्तें रखीं। चाहने पर ब्रिटिश सरकार से अलग हो जाने का अधिकार मान्य हो; देश में पूर्ण राष्ट्रीय सरकार हो जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो और इसमें गांधीजी की ग्यारह माँगें आ जायँ; अंग्रेज़ों के दावे, जिनमें तथाकथित सरकारी ऋण है, किसी स्वतंत्र न्यायालय को सौंपे जायँ। शर्तें वाइसराय को अमान्य थीं, और समझौता वार्ता समाप्त कर दी गई।

मोतीलाल पहले से ही थके और बीमारी से ग्रस्त थे, जो सात महीने बाद उनकी मृत्यु में परिणत हुई। समय-समय पर उनका ओज और तेजस्विता उग्र हो उठते। कभी-कभी चित्त का पुराना उत्साह जीवन और रहन-सहन के नए उत्साह में प्रस्फुटित हो उठता और वे अच्छे भोजन की भूख के आधिक्य से अब भी अपने जेल अधिकारियों को आश्चर्य में डाल देते। इस भोजन को वे बराबर "सादा" कहा करते।

नेहरू टिप्पणी करते हैं, "बहुत संभव है कि रिज़ या सवाय में यह भोजन सादा और मामूली समझा जाता जैसा कि पिता को विश्वास था कि वह वैसा ही है। लेकिन यरवदा में जहाँ भारत का सबसे बड़ा नेता बकरी के दूध, खजूर और कभी-कभी एक सन्तरे पर रहता, यह राजसी भोजन था।"

१६ अगस्त को उन्होंने गांधीजी से विदा ली और नैनी में अपनी जेल के लिए स्पेशल ट्रेन पर सवार हुए। इस बार राह के किनारे की भीड़ें कुछ अधिक बड़ी और अधिक प्रदर्शन वाली थीं।

नैनी में मोतीलाल का स्वास्थ्य बिगड़ता गया और ८ सितंबर को जब वे जेल में ठीक दस सप्ताह काट चुके थे सरकार ने उन्हें मुक्त कर दिया। कुछ दिनों बाद जवाहरलाल के साथ जेल में उनकी बहिन विजय लक्ष्मी के पति, उनके बहनोई रणजीत पंडित आ गए। ११ अक्टूबर को ६ महीने की सज़ा भुगतने के बाद नेहरू भी छोड़ दिए गए। वे केवल आठ दिन मुक्त रहे।

बाहर असहयोग आन्दोलन का वेग ज़रा भी कम न हुआ था। संसार में भावों की मन्दी ने भारतीय खेतिहर पर कठिन वार किया था, और कांग्रेस विचार कर रही थी कि देहाती क्षेत्रों में लगान बन्दी अभियान आरंभ किया जाय, या नहीं। जल्दी ही किसानों से लगान माँगा जाने वाला था।

वल्लभभाई पटेल ने पहले ही गुज़रात में अपनी प्रिय संग्राम भूमि बारदोली में लगान बन्दी अभियान आरंभ कर दिया था। बढ़ते हुए सरकारी अत्याचार ने किसानों को अपने घरों से पड़ोस के बड़ोदा राज्य में खदेड़ दिया था।

एक अंग्रेज़ पत्रकार ने अपने पशु और थोड़े से सामान के साथ खुले में पड़ाव डाले किसान स्त्रियों की भीड़ से मिल कर पूछा कि उन्होंने अपने घर क्यों छोड़ दिए।

"क्योंकि महात्माजी जेल में हैं" उत्तर मिला।

दृश्य का सर्वेक्षण करते हुए जवाहरलाल ने अनुभव किया कि ऐसा ही एक आन्दोलन संयुक्त प्रान्त में भी आरंभ किया जाय। किन्तु दोनों क्षेत्रों में एक महत्वपूर्ण अन्तर था। गुजरात में रैयतवाड़ी ढंग चल रहा था जिसमें किसान धरती का मालिक भी था और इस प्रकार उसका राज्य से सीधे संबंध था। संयुक्त प्रान्त ज़मींदारी या तालुक़दारी क्षेत्र था जहाँ किसान मर्ज़ी के मुताबिक असामी रहकर ज़मींदार को लगान देता, जो बीच के व्यक्ति की हैसियत से राज्य को बक़ाया अदा करता।

अगर किसान ही अपना लगान रोक लेने के लिए समझाया जाता तो ज़मींदार राजनीतिक और आर्थिक रूप से विलग कर दिया जाता और वर्ग समस्या तीव्रता से सामने आती। कांग्रेस इसे बचाने के लिए चिन्तित थी। दूसरी ओर शहरों पर और मध्यवर्गीय लोगों पर एक थकान आ गई थी। अगर आन्दोलन को शिथिल नहीं पड़ना था तो राजनीतिक गुरुत्व का केन्द्र शहरी से देहाती क्षेत्रों को ले जाना था।

कांग्रेस ने इसे एक विशिष्ट ढंग से किया। जवाहरलाल ने संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की एक सभा बुलाई और लंबी बहस के बाद यह निर्णय हुआ कि लगान बन्दी का आह्वान किया जाय लेकिन प्रांत में किसी ज़िले को स्वीकृति सूचक होना चाहिए कि उसे आरंभ करे। कांग्रेस ने ज़मींदार और किसान से पक्षपातरहित समर्थन की अपील की।

१३ अक्टूबर को जवाहरलाल अपनी पत्नी के साथ संक्षिप्त अवकाश के लिए मसूरी पहाड़ पर गए, जहाँ मोतीलाल स्वास्थ्यलाभ कर रहे थे। यह हर्षोत्पादक पुनर्मिलन था जो इंदिरा और विजयलक्ष्मी की तीन पुत्रियों की उपस्थिति से अनुप्राणित हो उठा।

जवाहरलाल बच्चों के साथ खेलते, लेकिन यहाँ भी राजनीतिक भूमि बीच में आ गई। वे घर के चारों ओर जुलूस बना कर चलते, सबसे छोटा बच्चा झंडा उठाए सबसे आगे रहता और सब मिल कर भारत की देशभक्ति के गीत गाते—झंडा ऊँचा रहे हमारा।

मोतीलाल को ले जाने वाले रोग के अंतिम आक्रमण के पहले यह थोड़े दिन थे जो जवाहरलाल ने अपने पिता के साथ बिताए थे।

१७ अक्टूबर को नेहरू अपनी पत्नी के साथ मसूरी से इलाहाबाद १९ अक्टूबर को निर्धारित किसान सम्मेलन के लिए ठीक समय से पहुँचे। यह तय हुआ था कि मोतीलाल उनके बाद १८ को चलेंगे।

इलाहाबाद के रास्ते में नेहरू को इंडियन क्रिमिनल प्रोसीजर कोड की १४४ धारा के अन्तर्गत सर्वसाधारण में भाषण देने की तीन बार निषेधाज्ञा मिली। इलाहाबाद में उन्होंने लगभग दो हज़ार किसानों को अपना भाषण सुनने के लिए एकत्रित पाया। उन्होंने भाषण दिया और सम्मेलन ने इलाहाबाद में लगानबन्दी अभियान आरंभ करने का निश्चय किया।

उसी संध्या को मोतीलाल मसूरी से आए, और जवाहरलाल उनसे स्टेशन पर मिलकर कमला के साथ किसानों और शहरी कार्यकर्ताओं की दूसरी सभा के लिए चले गए। उस रात को सभा आठ बजे के बाद समाप्त हुई और दिन भर की उत्तेजना और श्रम से थके वे मोटर से आनन्द भवन जा रहे थे, जहाँ कि नेहरू को पता था पिता उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

आनन्द भवन से लगभग दिखाई देनेवाली दूरी पर उनकी कार रोक दी गई। एक पुलिस अधिकारी ने नेहरू पर गिरफ्तारी का वारंट तामील किया। कमला को चला जाने दिया गया, पर नेहरू को यमुना पार नैनी में उनकी पुरानी जगह पहुँचा दिया गया। जैसे ही उनका स्वागत करने के लिए जेल के फाटक खुले कि घड़ी ने नौ बजाए।

घर पर कमला की सूचना ने क्षण भर के लिए मोतीलाल को हिला दिया। वृद्ध कुछ देर तक दुःख में सिर झुकाए चुपचाप बैठे रहे। तब प्रयत्नपूर्वक उन्होंने अपने को आत्मस्थ किया।

उन्होंने दृढ़ता से कहा, "मैं अच्छा होऊँगा, और काम करूँगा। बहुत हो गया इन डाक्टरों और उनकी सलाह का।"

बहुत कम दिनों मोतीलाल स्वस्थ रहे। वे अपनी पुरानी ऊर्जा से काम करते रहे और कुछ समय के लिए लगा कि स्वास्थ्य में सुधार हो रहा है। उन्होंने देश को आह्वान दिया कि जवाहरलाल का जन्म दिवस १४ नवंबर खुशी का दिन मनाया जाय और उनके बेटे के भाषण से आपत्तिजनक अंश सार्वजनिक सभा में पढ़े जायें जिन पर उसे सज़ा हुई थी। बुड्ढा शेर अंतिम बार सरकार पर गुर्रा रहा था।

देश में ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि अधिकारियों को जुलूस और सभा भंग करने के लिए लाठी चलाना पड़ा। केवल उस दिन लगभग पाँच हज़ार व्यक्ति गिरफ्तार हुए।

जवाहरलाल ने टीका की, "यह एक अपूर्व जन्मदिवस उत्सव था।"

जेल में नेहरू पुराने साथियों, सैयद महमूद, नर्मदा प्रसाद और रणजीत पंडित से फिर जा मिले। यह तीनों एक ही बैरक में रहते थे। यह उनकी पाँचवीं बार जेल थी। उनको कुल मिलाकर दो वर्ष की कड़ी सज़ा मिली थी, और इसके सिवा कुल मिला कर ७०० रु० जुर्माना न देने की दशा में पाँच महीने की अवधि और थी। उन्होंने जुर्माना देने से इन्कार कर दिया।

इस बीच, बाहर संघर्ष जारी रहा। इलाहाबाद का किसान सम्मेलन जिसमें नेहरू ने अपनी गिरफ्तारी के दिन भाषण दिया था, संयुक्त प्रान्त के अनेक ज़िलों में लगान बन्दी आयोजन का अग्रभाग सिद्ध हुआ। यद्यपि ज़मींदारों ने उसमें योग नहीं दिया, उनमें से कुछ ने, देश की राजनीतिक अवस्था और घनी पड़ती हुई आर्थिक मन्दी को देखते हुए किसानों का विरोध किया। इन्हीं कारणों से सरकार ने सावधानी से काम किया।

लेकिन जेलों के अन्दर दमन बढ़ गया। कई राजनीतिक क़ैदियों को बेंत लगाए गए और इसके विरोध में नेहरू और उनके साथियों ने तीन दिन की भूख हड़ताल कर दी। जवाहरलाल पहले भी उपवास कर चुके थे। लेकिन चौबीस घंटों से अधिक कभी नहीं। इस बार बहत्तर घंटे की अवधि थी।

मोतीलाल जेल में अपने पुत्र से मिलने गए। वे सदा ही प्रसन्न दिखाई पड़ने की सतर्कता रखते थे, किन्तु जवाहरलाल अपने पिता की बढ़ती हुई स्वास्थ्य की स्पष्ट गिरावट को देख कर व्याकुल हो उठे। उनके आग्रह पर मोतीलाल कलकत्ता जाकर आराम और चिकित्सा के लिए राज़ी हो गए।

नैनी के भीतर जीवन अस्थिर किन्तु अपेक्षाकृत शान्त चल रहा था। नेहरू के बहनोई रणजीत पंडित एक प्रसन्नचित्त और सूझबूझ वाले व्यक्ति सिद्ध हुए। फूलों के शौक़ीन और बाग़बानी के लिए उत्साही रणजीत पंडित ने अपने दोनों साथियों की सहायता से जेल के अपने नीरस आँगन को रंगबिरंगी कुसुमित और पुष्पित प्रभा में परिवर्तित कर दिया। रणजीत की विचक्षणता ने अप्रत्याशित निकास पाए। ब्रिटिश अधिकार की प्रतीक अपनी भद्दी दीवारों के भीतर उन्होंने व्यंग्यात्मकता से दूसरा ब्रिटिश प्रतीक एक छोटा-सा गाल्फ का मैदान बना लिया।

नेहरू आकाश के आरपार नक्षत्रों की चाल को देखने के अपने जेल के पुराने मनोरंजन को लौटे। बीच बीच में हवाई जहाज़ ऊपर से जाते, क्योंकि उन दिनों इलाहाबाद योरप और पूर्व के बीच चलने वाले बहुत से हवाई जहाज़ों के मार्ग पर पड़ता था। कभी-कभी किसी जाड़े के सबेरे वे प्रकाशित केबिनों के हवाई जहाज को शान से अँधेरे श्यामवर्ण आकाश में उड़ते देखते।

नव वर्ष उन्हें एक अप्रत्याशित भेंट लाया। कमला गिरफ्तार हो गई थी।

"मैं हद से ज़्यादा खुश हूँ और अपने पति के चरण-चिह्नों पर चलने में मुझे गर्व है", कमला ने संदेश माँगनेवाले एक पत्रकार से कहा। "मुझे आशा है कि लोग झंडा ऊँचा रखेंगे।"

उनकी पत्नी ने अपने को गिरफ्तार करा लिया है, इस बात पर यद्यपि नेहरू को गर्व था लेकिन मोतीलाल परेशान थे। चूंकि वे जानते थे कि कमला का स्वास्थ्य ठीक नहीं है और जेल से उसकी बीमारी बढ़ जायगी, उन्होंने अपना कलकत्ते का रहना समाप्त कर इलाहाबाद लौटने का निश्चय किया।

१२ जनवरी को मोतीलाल अपने बेटे से मिलने नैनी पहुँचे। अपने पिता के चेहरे को देखकर जवाहरलाल को आघात लगा, लेकिन मोतीलाल उस उद्वेग से अनभिज्ञ थे जो उन्होंने उत्पन्न किया था। अपनी पिछली भेंट के समय से इन कुछ सप्ताहों में वे बहुत बूढ़ा गए थे। उनकी तनी काया सिकुड़ और झुक गई थी। वे थके और पीले दिखाई दे रहे थे, और उनका चेहरा बीमारी से सूज रहा था। फिर भी वे आग्रह करते रहे कि वे पहले से अच्छे हैं।

पहली गोलमेज़ कान्फ्रेंस १२ नवंबर को लन्दन में आरंभ हुई। कांग्रेस अनुपस्थित थी; लेकिन आशा के विपरीत जो विविध तत्व—रजवाड़े, उदारपंथी, हिन्दू और मुस्लिम प्रवक्ता—उसमें गए थे उन्होंने प्रयोजन में कुछ समानता प्रदर्शित की। संघ के विचार का स्वागत किया गया, यहाँ तक कि रजवाड़ों ने उसका समर्थन किया। लन्दन और नई दिल्ली दोनों ही आशान्वित थे कि शायद कांग्रेस को दूसरे अधिवेशन के लिए समझाया जा सके, जो कि १९३१ के वसन्त के महीनों के लिए निर्धारित था। पहला अधिवेशन जनवरी में समाप्त हुआ।

२५ जनवरी को लार्ड अर्विन ने नेहरू समेत गांधीजी तथा कांग्रेस की वर्किंग कमेटी के सदस्यों की बिना शर्त रिहाई की आज्ञा दे दी। वे लोग २६ जनवरी को छोड़ दिए गए, जो भारत का गणतंत्र दिवस है।

२६ जनवरी के पूर्वाह्न में नेहरू को जेल में बताया गया कि उनके पिता की बीमारी गंभीर हो गई है और वे जल्दी घर जायँ। केवल एक पखवाड़ा बीता था जब अन्तिम बार उन्होंने पिता को देखा था। जब वे अपने सामान जमा कर रहे थे तब उन्होंने मोतीलाल के सूजे और दर्द भरे चेहरे के बारे में और अपनी वीरतापूर्ण सहनशक्ति के होते हुए जो मर्मान्तिक पीड़ा उन्हें सता रही होगी उसके बारे में सोचा।

जवाहरलाल ने याद किया, "उनका वह चेहरा मेरे दिमाग़ में है।"

आनन्द भवन में, जहाँ नेहरू जेल से तुरत आए; अपने पिता के कमरे में घुसने पर मोतीलाल की सूरत से वे स्तब्ध रह गए। उनकी वेदना के दृश्य से स्तब्ध रह कर क्षण भर के लिए वे ड्योढ़ी पर हिचकिचाए। तब वे अपने पिता का आलिंगन करने के लिए आगे बढ़े। वृद्ध अपने तकिए से उठे और कुछ क्षणों के लिए पिता और पुत्र बिना कुछ बोले एक दूसरे से चिमटे रहे।

जब वे अपने पिता के पास बैठे तो जवाहरलाल की आँखों में आँसू थे। मोतीलाल की आँखें उल्लास और गर्व से चमक रही थीं।

पूना जेल से रेलगाड़ी में आते हुए गांधीजी भी सीधे आनन्द भवन भागे आए।

वे इलाहाबाद रात में देर से आए। लेकिन मोतीलाल उनका स्वागत करने के लिए जागते रहे।

कुछ क्षणों के लिए गांधीजी चुपचाप अपने मुमूर्षु मित्र और युद्ध के साथी को देखते रहे। उन्होंने शान्त प्रतीति करानेवाली आवाज़ में कहा, "अगर तुम इस संकट से बच जाओ तो हम ज़रूर स्वराज्य जीत लेंगे।"

"नहीं," मोतीलाल ने दृढ़ता से कहा। "मैं जल्दी ही जा रहा हूँ। महात्माजी, मैं स्वराज्य देखने के लिए नहीं रहूँगा लेकिन मैं जानता हूँ कि आपने उसे जीत लिया है और जल्दी ही उसे पा लेंगे।"

लगा कि गांधीजी की कुछ धीरता उस रोगग्रस्त किन्तु उत्साही व्यक्ति में संचारित हो रही है। बाद के कुछ दिनों वे शान्त और स्वस्थचित्त लगे। उनका मन स्पष्टतः उनके देश और बेटे में बारी-बारी से भटकता रहा। भारत की स्वतंत्रता सुनिश्चित लगी। अब उन्होंने गांधीजी को अपनी व्यक्तिगत और राजनीतिक थाती सौंपी, अपनी परम प्रिय और सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति—जवाहरलाल।

कभी दिन थे जब मोतीलाल विनोद किया करते थे, जब उनकी पुरानी उत्साही प्रकृति सुनाई पड़ती थी। तब वे गांधीजी से परिहास किया करते और उन्हें तंग करते, और वे उनके हल्के मज़ाक का आनन्द लेते। लेकिन ऐसे अवसर कम और कभी-कभी हुआ करते।

मकान रिश्तेदारों, मित्रों और राजनीतिक साथियों से भरा था। रास्ते के उस पार, स्वराज भवन में, जिसे मोतीलाल ने राष्ट्र को दान कर दिया था, कांग्रेस की वर्किंग कमेटी अपने विचार-विनिमय कर रही थी। मोतीलाल उनकी कार्यवाहियों में भाग लेने के लिए बहुत बीमार थे, लेकिन भारत की स्वतंत्रता का विचार उनके मन में बना रहा। बीच-बीच में वे सोच में डूबे यह कह देते कि वे स्वतंत्र भारत में मरना चाहते हैं।

अन्त निकट था। मोतीलाल की दशा तेज़ी से गिरती गई, और ४ फरवरी को यह निश्चित हुआ कि उन्हें कार से एक्स-रे के इलाज के लिए लखनऊ ले जाया जाय। वे स्वयं तो आग्रह कर रहे थे कि वे आनन्द भवन न छोड़ें, जहाँ कि वे मरना चाहते हैं। लेकिन गांधीजी ने डाक्टरों के निश्चय का समर्थन किया। और मोतीलाल मान गए।

वे लोग उन्हें धीरे-धीरे सड़क से लखनऊ ले गए, जहाँ वे थके हुए पहुँचे। लेकिन दूसरे दिन, ५ फरवरी को, फिर प्रकृतिस्थ लगे। सारे सवेरे वे प्रसन्न रहे, लेकिन शाम तक उनकी हालत फिर ख़राब हो गई और जब साँस लेने में कष्ट होने लगा तो उन्हें आक्सीजन दिया जाने लगा।

उस रोज़ जवाहरलाल रातभर अपनी माता और डाक्टरों के साथ अपने पिता के पास जागते रहे। मोतीलाल बेचैनी से करवट बदलते रहे और उनकी नींद अशान्त और अस्थिर थी।

ज्योंही भोर हुई और दिन के प्रकाश की प्रथम किरणें कमरे में आईं, जवाहरलाल ने अपने पिता के चेहरे को ध्यानपूर्वक देखते हुए उस पर सहसा शान्त भाव आते देखा, और जैसे एक विचित्र शान्ति उस पर छा गई, मानो कि संघर्ष का सारा भाव ग़ायब हो गया हो। लेकिन स्वरूपरानी भी ध्यान से देख रही थीं, वे अच्छी तरह समझ गईं। जैसे ही उन्होंने अनुभव किया कि उनके पति मर गए, उनकी चीख़ निकल गई।

उन्होंने मोतीलाल की देह को भारत के तिरंगे ध्वज में लपेटा और उसी दिन कार से इलाहाबाद ले आए। हरी* के साथ रणजीत कार चला रहे थे। हरी मोतीलाल का प्रिय सेवक था। वह रणजीत के पास बैठा। जवाहरलाल अपने पिता के शरीर के पास बैठे।

सारे रास्ते लोग जमा हो गए थे, और इलाहाबाद में भीड़ घनी हो गई। मोतीलाल अपने प्रिय आनन्द भवन लौट आए जहाँ फूलों से ढँका उनका शरीर अर्थी पर समारोह के साथ कुछ घंटे रखा रहा। तब ज्योंही संध्या की छाया आई, अर्थी अपार जनसमूह के साथ पवित्र गंगा के किनारे ले जाई गई जहाँ जवाहरलाल ने चिता को अग्नि दी।

उन्होंने लिखा, "तारे निकल आये थे और तेज़ी से चमक रहे थे जब हम असहाय और निस्संग लौटे।"

---

* हरी अब प्रधान मंत्री के नई दिल्ली निवास में काम करता है।

१३

विराम सन्धि का समय

इसके बाद से नेहरू अपने पिता से वंचित होकर महात्माजी के भीतरी घेरे में रहने लगे।

एक प्रकार से जवाहरलाल गांधीजी और मोतीलाल के बीच थे, क्योंकि जब मोतीलाल राजनीतिक रूप से अपने पुत्र के क़दमों पर चलते थे, जवाहरलाल महात्माजी का अनुसरण करते थे। अपने अहिंसक असहयोग के साथ गांधीजी के आगमन ने नेहरू में एक अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित कर दिया। वे अपने पिता की भक्ति और स्नेह तथा महात्माजी के झंडे के नीचे चलने की प्रेरणा के बीच परेशान हो गए। अपने पुत्रस्नेह से पिता ने इस संघर्ष को समाप्त किया; वे अपने पुत्र के क़दमों पर चल पड़े।

चूंकि वे सब चीज़ों से ज्यादा अपने पुत्र की तेज़ी से चिंतित थे, मोतीलाल अपने अच्छे निर्णय के विरुद्ध कभी-कभी कुछ दूर तक उसका मत मानने को तैयार हो जाते। जवाहरलाल की तरह तेज़ चलने में उतने ही अनिच्छुक, गांधीजी भी नियंत्रण रखनेवाले थे। जब तक उनके पिता जीवित रहे नेहरू के राजनीतिक उत्साह पर दो रोकें थीं, किन्तु मोतीलाल की मृत्यु ने उस रोक का एक हत्था तोड़ दिया।

गांधीजी और नेहरू के संबंध चूंकि पिता के मूल संपर्क से आए, इसलिए उसी संदर्भ में समझे जा सकते हैं। चूंकि दोनों के बीच का सम्बन्ध परीक्षा और त्याग के समान अग्निपरीक्षा से शुद्ध और दृढ़ हुआ, गांधीजी में नेहरू नेता के रूप में पिता का रूप देखते थे। महात्माजी पिता और राजनीतिक नेता के मिश्रण बन गए, और उनको अस्वीकार करना राजनीतिक पितृहन्ता के काम-सा ही लगता। इस प्रकार आगामी संकट के वर्षों में ज्यों-ज्यों देश कष्ट के साथ स्वाधीनता की ओर बढ़ा, नेहरू ने, कभी-कभी गांधीजी से गहरे मतभेद रहने पर भी, अपने को महात्माजी के विचारों के अनुरूप समझा लिया। इससे उन्होंने इस प्रकार का आभास दिया कि वे इस प्रकार के व्यक्ति हैं जो महत्वपूर्ण प्रश्नों पर कोई निर्णय नहीं ले सकते हैं।

उनके सहसा फूट पड़ने और आवेगात्मक विस्फोटों के होने पर भी नेहरू के चरित्र में जोड़ तोड़ का एक प्रबल ढंग था। जब कभी वे देश के तात्कालिक और बड़े हितों के लिए अपने विचारों को गौण करते हुए महात्माजी से अवसर के अनुरूप समझौता करते तो उन विचारों को न तो छोड़ देते और न उनका उत्सर्ग करते। अपने विनीत वाह्य रूप के नीचे गांधीजी एक इच्छा शक्ति छिपाए थे जो वज्र की तरह कठोर थी। कुछ

वातों में गांधीजी से अधिक नमनीय, यद्यपि समझौता करने में कम प्रवृत्त, नेहरू में भी अनमनीय, दृढ़ अभ्यन्तर था। वे झुक सकते थे लेकिन टूटते नहीं।

प्रायः तर्क से अधिक अन्तः प्रेरणा पर चलते हुए गांधीजी अपनी मनोवृत्ति को अपनी "अन्तरात्मा की आवाज़" कहना पसन्द करते जिससे कि वे उसे दैवी प्रेरणा वना देते। नेहरू जैसे सहज तर्कशील व्यक्ति में हृदय और मस्तिष्क, विचार और भावना के वीच द्वंद्व तभी तक चलता जव तक वे अपने पिता और गांधीजी की अभिभावकता में रहे। दोनों व्यक्तियों के प्रति स्नेह उनके आदर्शों से झगड़ता रहता। सदा ही मस्तिष्क हृदय के आगे हार मान लेता, जिससे कि ३० जनवरी १९४८ को गांधीजी की मृत्यु तक इन तमाम वर्षों नेहरू का ऐसे व्यक्ति का वाह्य मिला जो हिचकिचाहट वाले और अस्थिर मन के भावुक व्यक्ति का हो।

इस सत्य से अधिक और कुछ नहीं हो सकता, "मैंने चेतन रूप से कोई चीज़ नहीं छोड़ी जिसे मैं वास्तव में मूल्यवान् समझता था, किन्तु मूल्य वदलते रहते हैं", नेहरू ने एक वार कहा था।

गांधीजी की मृत्यु के साथ हृदय और मस्तिष्क के वीच का संग्राम समाप्त हो गया, और उस समय से नेहरू अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने में साहस के साथ लग गए। उसमें वे किसी विरोध की परवा न करते और अपनी असीम प्रतिष्ठा और अपने नाम के जादू से पूरे देश को अपने साथ ले चलते।

दिसंबर १९२७ से जव वे योरोप से अपने दिमाग़ में यह विश्वास लेकर लौटे कि विना स्पष्ट सामाजिक और आर्थिक तत्व के स्वाधीनता की राजनीतिक धारणा कोई अर्थ नहीं रखती, तवसे अगस्त १९४७ में जव भारत स्वाधीन हुआ तव तक के वीस निर्णायक वर्षों में, नेहरू, जव कभी जेल के वाहर रहे, स्पष्ट राजनीतिक तथा आर्थिक लक्ष्यों का प्रचार करने में व्यस्त रहे। उनके अपने आर्थिक विचार एक समाजवादी ढाँचे में स्थिर हो रहे थे। वहुत-सी समस्याओं में महात्माजी के आध्यात्मिक मार्ग के होते हुए भी नेहरू ने अनुभव किया कि उनके आधुनिक विचार कांग्रेस द्वारा पूरे हो सकते हैं।

जव उनके पिता जीवित थे तव भी जवाहरलाल ने कांग्रेस को पूर्ण स्वतंत्रता के रूप में स्वराज्य की कल्पना के लिए प्रवृत्त किया। आर्थिक क्षेत्र में भी नेहरू ने, यद्यपि कम सफलता के साथ, कांग्रेस को समाजवादी पथ पर टेला। वे वहुत ही एकाग्र थे। किन्तु न तो देश और न कांग्रेस ने उस समय इस वात का अनुभव किया।

गांधीजी के जीवन के शेष सोलह वर्षों में जवाहरलाल ने अपने को निरन्तर महात्माजी से झगड़ते पाया। वे अपने नेता में भिन्न मत की किरण को पसन्द करते थे, वे उनके रचनात्मक भाव और नई समस्याओं के सामना करने की योग्यता, नए प्रयोगों को आरंभ करने की सराहना करते थे। परन्तु गांधीजी का दिमाग़ नेहरू के परिवर्तनवाद से वहुत अलग विचारों से वँधा लगता था, और वे केवल दूसरे संसार में ही विचरण करते नहीं लगते थे किन्तु दूसरी भूमि पर विचार भी करते थे।

उन आरंभिक दिनों में हाथ बुनाई और हाथ कताई जैसे गांधीजी के प्रिय प्रयोग नेहरू को उत्पादन में व्यक्तिवाद को तीव्र करने की भावनामात्र और इसलिए औद्योगिक-पूर्व युग की ओर जाना लगा। इस कार्यक्रम का प्रक्षेपण ग्राम उद्योगों का पुनरुद्धार था। अधिकतर आधुनिक मुहावरों पर आधारित नेहरू के शब्द-भंडार में इस प्रकार के उद्योग किसी लक्ष्य के साधन हों, स्वयं लक्ष्य नहीं। जब तक कि ग्रामोद्योग आधुनिक औद्योगिक प्रविधि से नहीं जोड़े जाते तब तक वे उन आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन भी नहीं कर सकते जो भारत को जरूरी हैं। गांधीजी इसके विपरीत सोचते थे। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि उन्हें मशीनों से विरोध नहीं है : लेकिन उन्हें लगता है कि उनके युग के भारत में बड़े पैमाने के उद्योग असंगत हैं। नेहरू को आपत्ति थी। उनका कहना था कि भारत में यदि रेलें, पुल और परिवहन की सुविधाएँ रहना है तो या तो वह उसका उत्पादन करे या उनके लिए दूसरों पर निर्भर रहे। निःसंदेह भारत से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह लोहा और इस्पात ऐसे बुनियादी उद्योगों को, और हल्के छोटे पैमाने के उद्योगों को समाप्त कर दे।

सोवियत पंचवर्षीय योजना पर, जो १९२९ में चालू की गयी, उस समय बहस चल रही थी जब नेहरू १९२७ में रूस गए। इस प्रयोग ने उनकी कल्पना को स्फुरित किया और लौट कर उन्होंने भारत में योजनाबद्धता के विचार को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। गांधीजी उनके प्रयासों को हितैषी कुतूहल के साथ ध्यान से देखते रहे, और १९३८ में नेहरू के नेतृत्व में और कांग्रेस के तत्वावधान में राष्ट्रीय आयोजना समिति की स्थापना का रुचिपूर्वक अनुसरण किया। भारत में ब्रिटिश राज चल रहा हो, लेकिन जवाहरलाल के लिए यह राष्ट्रीय प्रयास अर्थशास्त्र के सिद्धान्तवादियों के काम से कुछ अधिक चीज़ का प्रतिनिधित्व करता था। १९५० में यह भारत की पहली पंचवर्षीय योजना के रूप में प्रतिफलित होनेवाला था।

कांग्रेस को जब तब समाजवादी प्रस्तावों से प्रभावित कर उसको समाजवादी विचारों का अभ्यस्त बनाने के सिवा, आनेवाले वर्षों में नेहरू बार-बार "अनियंत्रित और योजनाहीन औद्योगीकरण की बुराइयों" का उल्लेख करते। कांग्रेस के भीतर और बाहर बहुतेरे लोग इन उद्गारों को जोशीली खाली बातें कह कर टाल जाते। किन्तु, सदा की भाँति, नेहरू बहुत ही निष्ठापूर्ण थे। अपने निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों के साथ मिश्रित अर्थ-व्यवस्था, जो नेहरू के प्रधानमंत्री बनने पर उनकी सरकार ने स्थापित की, इस चिन्तन का पहला फल थी।

यद्यपि नेहरू आशावान थे कि वे गांधी को निरंतर समाजवादी दिशा में प्रभावित कर सकेंगे, उन्हें शीघ्र ही पता चला कि महात्माजी के आदर्शों में और समाजवादी उद्देश्यों में मौलिक मतभेद हैं। न्यास के रूप में सम्पत्ति संबंधी गांधीजी के विचार, भारी औद्योगीकरण के प्रति उनका सहज विरोध और उनका भय कि आर्थिक जीवन के सामूहिक संगटन में मानवीय व्यक्तित्व के अधिकारों की उपेक्षा होगी, इन सबनें उनको समाजवाद से

अपने दर्शन को एकात्म करने से रोका। वे नेहरू के इस विश्वास को नहीं मानते थे कि योगी और कमिसार में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, और समाजवाद व्यक्तिगत स्वाधीनता और योजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था का संतुलन है।

किन्तु यहाँ भी उल्लेखनीय है कि नेहरू ने अपने विचारों को महात्माजी से अलग हो जाने की सीमा तक नहीं बढ़ाया। जब तक महात्माजी जीवित रहे वे गांधीवाद और समाजवाद के बीच सेतु का काम करने में सन्तुष्ट रहे, और १९३४ में जब कांग्रेस समाजवादी दल* की स्थापना हुई तो उसके प्रति यद्यपि सहानुभूतिपरक रहे, किन्तु उसमें वे कभी सम्मिलित नहीं हुए। वे आर्थिक सुरक्षा और स्वाधीनता, दोनों की रक्षा करते हुए प्रजातांत्रिक समाजवादी रहना पसन्द करते थे। गांधीजी की मृत्यु से, और स्वतंत्र भारत में नई शक्तियों के विमोचन से नेहरू समाजवादी दिशा में अधिक तेजी से बढ़े और पार्टी का समर्थन और उसकी प्रमुखता प्राप्त की। जनवरी १९५५ में कांग्रेस के अवाड़ी अधिवेशन ने आधिकारिक रूप से भारत के लिए समाजवादी रूपरेखा स्वीकृत की। भारत समाजवादी ढंग का कल्याणकारी राज्य बननेवाला था।

आनेवाले वर्षों में नेहरू की प्रेरणा के अन्तर्गत कांग्रेस में क्रमशः एक विदेशी नीति विकसित होनेवाली थी जो प्रारंभिक अवस्था में "राजनीतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद को दूर करने और स्वतंत्र राष्ट्रों के सहयोग" पर आधारित थी। १९२० पूर्व तक कांग्रेस ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया था जिसमें दूसरे देशों के साथ सहयोग, और विशेष रूप से अपने पड़ोसी देशों के साथ मित्रता के सम्बन्ध बढ़ाने पर जोर दिया गया था। दूसरे विश्व-युद्ध के बारह वर्ष पहले, १९२७ में, कांग्रेस ने नेहरू के आग्रह पर घोषणा की थी कि भारत "साम्राज्यवादी युद्ध" में भाग न लेगा और किसी भी दशा में बिना उसकी जनता की सम्मति के उसे युद्ध में सम्मिलित होने के लिए विवश नहीं करना चाहिए।

इसलिए नेहरू की वह आलोचित विदेशी नीति रातोरात की सनक नहीं है। यह महात्माजी की शिक्षा से उतने ही सहज रूप में ज्ञात होता है कि हिंसा और युद्ध कोई समस्या हल नहीं करते, जितना पूर्व और पश्चिम के देशों के साथ भारत के लिए निकट सम्बन्ध की नेहरू की शिक्षात्मक दलीलें। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान जेल में लिखते हुए नेहरू स्मरण करते हैं:

विशेष रूप से हमने अपने पूर्व और पश्चिम के पड़ोसी देशों, चीन, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान और सोवियत संघ से निकट संबंध सोचा। दूरस्थ अमरीका तक से हम निकटतर सम्बन्ध चाहते हैं क्योंकि हम संयुक्त राज्य (अमरीका) और सोवियत संघ से भी सीख सकते हैं।†

---

* यह दल बाद में कांग्रेस से अलग हो गया और फरवरी १९४८ में अलग समाजवादी दल संगठित हो गया।

† भारत की खोज। २ अगस्त १९४२ और २८ मार्च १९४५ के बीच लिखी गई, जब नेहरू जेल में थे।

परिवार के बीच मोतीलाल की मृत्यु ने जवाहरलाल को कमला के अधिक निकट कर दिया। १९३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन ने उन्हें मित्र और साथी के नए रूप में प्रत्यक्ष कराया, और इस अनुभव से नेहरू को एक नई प्रसन्नता प्राप्त हुई। जेल और एक दूसरे के वियोग ने इस भावना को और तीव्र कर दिया। नेहरू ने उल्लेख किया है कि अपने पिता की अन्तिम बीमारी और मृत्यु की छाया में किस प्रकार उनकी मित्रता ने साथीपन और समझ का एक नया आधार प्राप्त किया। कमला १९३६ के आरंभ में मर गई थीं, लेकिन जो पाँच संक्षिप्त वर्ष उनको प्राप्त हुए उनमें दोनों को वेदना, जेल, रोग, दुःख और लम्बे वियोग देखने को मिले।

६ फरवरी १९३१ को, उसी दिन जब मोतीलाल की मृत्यु हुई, लंदन में गोलमेज सम्मेलन के कुछ प्रमुख प्रतिनिधि, सर तेजबहादुर सप्रू और डा० जयकर सहित बम्बई में उतरे। ८ फरवरी को उनमें से कुछ गांधीजी और कांग्रेस वर्किंग कमेटी से बहस के लिए इलाहाबाद आए। उन्हें नया कुछ कम ही कहना था, लेकिन उन्होंने कांग्रेस से दूसरे अधिवेशन में सम्मिलित होकर उनके हाथ मज़बूत करने की प्रार्थना की।

गांधीजी ने नम्रता के साथ उनकी बातें सुनीं, लेकिन नेहरू की प्रतिक्रिया में संयत भाव और रोक कम थी। अपने दिल और दिमाग़ में वे इन उदार सलाहकारों से नफ़रत-सी करते थे, जो उन्हें राजनीति को सिद्धान्तों के स्थान पर व्यक्तित्वों के नाम से अधिक मानते लगते थे। वे लोग इस बात के लिए बहुत अधिक उत्सुक थे कि गांधीजी वाइसराय से समझौते की बातचीत फिर शुरू करें। उन्होंने बम्बई आते ही उनसे विनती की थी कि कुछ ऐसा न तो कहें न करें जिससे राजनीतिक सन्तुलन बिगड़ जाय, और एक वक्तव्य में महात्माजी उनसे मिलने तक अपना हाथ रोके रहने पर राज़ी हो गए थे।

अब सप्रू, जयकर और मद्रास के मधुरभाषी श्रीनिवास शास्त्री ने अपनी प्रत्ययकारी वक्तृता का पूरा ज़ोर महात्माजी पर लगाया। उनका तर्क था, गांधीजी को वाइसराय से भेंट के लिए लिखने से क्या खो जायगा ? शान्ति के प्रत्येक मार्ग को टटोलना सत्याग्रही के धर्म का पहला सिद्धान्त है। कुछ सोचने के बाद गांधीजी राज़ी हो गए। अगर वे अपने विरोधी का हृदय-परिवर्तन कर सकते हैं तो शायद वे उसका मन भी बदल सकते हैं।

उसके अनुसार महात्माजी ने १४ जुलाई को राजनीतिक स्थिति पर विचार विमर्श के लिए भेंट को लिखा। वाइसराय तुरत राज़ी हो गए। उनका उत्तर तार से भेज दिया गया और १६ फरवरी को गांधीजी इलाहाबाद से दिल्ली के लिए चले गए।

ऐतिहासिक गांधी-अर्विन वार्ता १७ फरवरी को अपराह्न में दो बजे आरंभ हुई। नेहरू के लिए यह क्लेशकर, यहाँ तक कि पीड़ाजनक अवस्था थी, और आगामी मासों में वे प्रायः चिंतामग्न हो जाते थे कि अहिंसात्मक असहयोग के बलिदान क्या विरोधी के साथ अल्पकालीन विराम सन्धि के लिए इतने हल्के कर दिए जा सकते हैं ! उन्होंने अपने मन की बात महात्माजी के आगे रखी और उनके साथ बहस की।

गांधीजी ने विषाद के साथ कहा, "तुम्हारा संदेह और संकोच ठीक है; लेकिन

सत्याग्रही के रूप में मुझे सबसे बढ़कर उन लोगों से भेंट करने का स्वागत करना चाहिए जो हमसे असहमत हैं।"

जवाहरलाल पूरी तौर पर आश्वस्त न हुए।

"ठीक है, व्यक्तिगत या छोटी-मोटी बातों में लोगों के साथ आप का व्यवहार मैं समझ सकता हूँ। लेकिन यहाँ तो आप अवैयक्तिक यंत्र, ब्रिटिश सरकार के सामने हैं।"

गांधीजी मुस्कुराए।

"तुम्हें धैर्य रखना होगा। रुको और देखो।"

बातचीत आगे बढ़ी और गांधीजी ने शीघ्र ही कांग्रेस कार्यकारिणी का अधिवेशन दिल्ली में बुलाया। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की अच्छी नीयत की तत्परता के लिए लार्ड अर्विन के आगे कम-से-कम छः माँगें रख कर समझौता आरंभ किया।

उन्होंने वाइसराय से घोषणा कराना चाहा कि सब राजनीतिक क़ैदियों की आम रिहाई हो; दमन तुरत बन्द हो; ज़ब्त सम्पत्ति की वापसी; राजनीतिक आधार पर दंडित सारे सरकारी कर्मचारियों की पुनर्नियुक्ति; नमक बनाने की और शराब और विदेशी कपड़े की दूकानों पर धरना देने की स्वाधीनता और पुलिस की ज़्यादतियों की जाँच हो।

सदा की भाँति गांधीजी की माँगें सामाजिक और राजनैतिक माँगों का अजीब मिश्रण थीं जो प्रकट रूप से मौलिक राजनैतिक लक्ष्य पर कम ही ध्यान देती थीं। नेहरू पहली ही बार इस नैतिक आध्यात्मिक प्रस्ताव से परेशान नहीं हुए थे। देश की स्वाधीनता से पाप और मुक्ति और नमक बनाने की आज़ादी और शराब की दूकानों पर धरना देने से क्या संबंध है?

अगर नेहरू परेशान हुए थे तो उनसे बाद में अच्छी तरह परिचित होने वाला एक अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ बौखला उठा था। २३ फरवरी १९३१ को पश्चिमी एसेक्स कंज़र्वेटिव असोसिएशन में भाषण देते हुए विंस्टन चर्चिल ने वक्तव्य दिया था : "एक राजद्रोही मिड्ल टेंप्ल के वकील मिस्टर गांधी को जो अब पूर्व में सुपरिचित फ़क़ीरों का सा ढंग बनाए है, जब वह सविनय अवज्ञा का उद्धत आन्दोलन संगठित कर रहा और चला रहा है, सम्राट के प्रतिनिधि से बराबरी की हैसियत से संधि-वार्ता करने वाइसराय के प्रासाद की सीढ़ियों पर अर्धनग्न चढ़ते देखना भयप्रद और घृणोत्पादक है।"

सम्राट के प्रतिनिधि लार्ड अर्विन के भिन्न विचार थे। गांधीजी की तरह वे निश्चित रूप से शान्ति के हिमायती थे और उस भारतीय की भाँति जो राजनीति को मानवीय बनाना चाहता था, यह अंग्रेज़ अपने देश के शासनतंत्र को मानवीय बनाना चाहता था। गांधीजी की तरह वे भी बहुत अधिक धार्मिक थे, यद्यपि उनमें वैराग्य तत्व इतना तीखा नहीं था। अर्विन ब्रिटेन और भारत में राजनीतिक तनाव ढीला करना चाहते थे और वे इस बात के लिए उत्सुक थे कि कांग्रेस का प्रतिनिधित्व गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में हो। इन दोनों लक्ष्यों में वे अस्थायी रूप से सफल रहे।

जब कि एक अवसर पर बातचीत टूटने के किनारे थी, अर्विन ने गांधी जी को बुलाया।

उनके साथ उनकी तीन घंटे की बातचीत हुई। अन्त में दोनों थक गए। जब गांधी जी हाथ में लाठी लेकर जाने के लिए उठ खड़े हुए तो अर्विन ने सौम्यता पूर्वक कहा, "नमस्कार मिस्टर गांधी, मेरी प्रार्थना आपके साथ है।"

बीच-बीच में महात्मा जी कार्यकारिणी समिति के अपने साथियों से सलाह लेते रहते। उन्होंने उन्हें, विशेष रूप से जवाहरलाल को, अपने से भी अधिक अडिग पाया। नेहरू ने पूर्ण स्वतंत्रता के सिवा बातचीत के किसी आधार पर खेद प्रगट किया, जब कि वल्लभ भाई पटेल, जिन्होंने बारदोली में करबन्दी आन्दोलन आरंभ किया था, स्वभावतः ज़ब्त की हुई ज़मीनों की बिना-शर्त वापसी का आग्रह कर रहे थे। उनमें से किसी ने यह अनुभव नहीं किया कि राजनीतिक क़ैदियों की रिहाई के संबंध में सरकार की वचनबद्धता काफी व्यापक है।

लेकिन गांधी जी समझौता करने पर दृढ़ थे। वे रास्ता खोजने के लिए तैयार थे और अन्त में कार्यकारिणी समिति अनिच्छापूर्व सहमत हो गई। गांधी जी की समिति के साथ निर्णयात्मक भेंट विलक्षण परिस्थिति में ५ मार्च को सवेरे दो बजे हुई। वे वाइसराय भवन से समझौते की प्रस्तावित प्रति लिए सीधे वहाँ आए।

उस पर नज़र डालते हुए नेहरू ने देखा कि गांधी जी ने आत्म-शासन के सिद्धान्त को कुछ संरक्षण अथवा सुरक्षणों के साथ स्वीकार कर लिया है। वे इस ज्ञान से स्तब्ध रह गए और आघात से शब्दशः मौन हो रहे।

उस रात जब नेहरू बिस्तर पर पड़े रहे उनका मन अहिंसा आन्दोलन के बलिदान और वीरतापूर्ण कार्यों की ओर गया। क्या यह सारे बलिदान इस अस्थायी अन्तःकालीन समझौते में नष्ट कर दिये जायंगे? जब विजय हाथ में दिखाई पड़ी तो गांधी जी ने किस प्रकार स्थिति को छोड़ दिया? क्या लोगों के वीरतापूर्ण शब्द और कार्य इस तरह समाप्त हो जायंगे?

नेहरू रोने लगे। वे हद से ज़्यादा दुखी हुए और उनका दुःख और कटुता आँसू बन कर निकल पड़े।

जवाहरलाल के मन की हालत से गांधी जी अनभिज्ञ नहीं थे। दूसरे दिन तड़के उन्होंने नेहरू से अपने रोज़ाना वायु सेवन पर साथ चलने के लिए कहा। वे उनसे सौम्यता से किन्तु सच्चे हृदय से ऐसे बोले जैसे पिता अपने हठी बेटे को मनाने की कोशिश कर रहा हो।

उन्होंने जवाहरलाल को विश्वास दिलाया, "मेरा विश्वास करो, मैंने कोई भी महत्वपूर्ण चीज़ नहीं छोड़ी है। सिद्धान्तों को कोई क्षति नहीं पहुँची है।" और वे यह समझाने लगे कि उनका संरक्षणों और सुरक्षणों को स्वीकार कर लेना "भारत के हित में" था।

नेहरू कुछ शान्त तो हो गए, लेकिन आश्वस्त नहीं हुए।

उन्होंने विरोध पूर्वक कहा, "हम लोगों को आश्चर्य में डाल देने वाले आपके तरीकों से डर लगता है।"

गांधी जी ने विनम्रता से सिर झुका लिया।

जवाहरलाल कहते रहे, "यद्यपि मैं आपको चौदह बरस से जानता हूँ लेकिन आप में कुछ ऐसी अज्ञात चीज़ है जो मैं नहीं समझ पाता हूँ। उससे मुझे आशंका होती है।"

गांधी जी ने संतोष पूर्वक माना, "हाँ, मैं इस अज्ञात तत्व के अस्तित्व को स्वीकार करता हूँ और मैं मानता हूँ कि मैं स्वयं उसके लिए उत्तरदायी नहीं हूँ और न पहले से बता सकता हूँ कि वह कहाँ ले जायगा।"

उस रोज़ दोपहर को गांधी-अर्विन समझौते पर औपचारिक रूप से वाइसराय भवन में हस्ताक्षर हुए। महात्मा जी और वाइसराय दोनों प्रसन्न मुद्रा में थे।

"हम दोनों एक दूसरे के स्वास्थ्य के जाम पिएँ," अर्विन ने कहा, और गांधी जी के परिग्रही ढंग को जानते हुए जल्दी से बोले, "चाय।"

गांधी जी राज़ी हो गए। "लेकिन मैं टोस्ट पानी, नीबू और चुटकी भर नमक से पिऊँगा।" उन्होंने हँस कर कहा।

वे महात्मा जी पर चर्चिल के "अर्ध नग्न फकीर" उल्लेख पर मज़ाक करते रहे और खुश मिज़ाज और शरारती अर्विन ने उन्हें जाते-जाते व्यंग्य से याद दिलाई।

अपना शाल भूल कर जाते हुए महात्मा जी को बुला कर वे बोले, "गांधी, यह तुम्हारा शाल रह गया। तुम इतना कुछ पहने हुए नहीं हो कि इसे छोड़ जा सको।"

गांधी जी ठठा कर हँस पड़े।

यदि कांग्रेस कार्यकारिणी समिति समझौते की शर्तों से परेशान हुई थी तो देश में बहुत से लोग उससे भी अधिक व्यथित थे। समझौते के अन्तर्गत राजनीतिक क़ैदियों की रिहाई में वे लोग सम्मिलित नहीं थे जो बिना मुक़दमा चलाए बन्द थे। और भी अधिक विवाद-ग्रस्त प्रश्न भगतसिंह के मृत्यु दंड का था। जनता की माँग थी कि उसे कम कर दिया जाय, किन्तु सरकार अड़ी हुई थी। गांधी जी की हताश वकालत के बाद भी २२ मार्च को भगतसिंह को फाँसी दे दी गई।

नेहरू बोले, "भगतसिंह का शव हमारे और इंगलैण्ड के बीच रहेगा।" वे भगतसिंह से मिले थे और उसके उत्साह की सराहना करते थे।

फिर भी कांग्रेस समझौते की शर्तों को पूरा करने में लग गई और देश भर में सविनय अवज्ञा बन्द कर दी गई। कांग्रेस को सामान्यतः समझौते से रोष था किन्तु वह हारी नहीं थी। स्वभावतः उसे लोगों के त्याग और साहस पर गर्व था; किन्तु सम्राट के प्रतिनिधि और एक विद्रोही के बीच बराबरी की हैसियत पर हुए समझौते से व्यथित अधिक कट्टर अधिकारी वर्ग में इसे राज की उपहासास्पद चेष्टा समझी गई। अधिकांश कांग्रेस वालों की तरह अधिकांश ब्रिटिश सिविल सर्वेंट्स विराम संधि पर रुष्ट थे।

गांधी जी ने समझौते पर अपने विचार का थोड़े से सुगठित वाक्यों में सारांश दिया:

"इस प्रकार के समझौते के लिए न तो यह संभव है न करना बुद्धिमत्तापूर्ण है कि कौन विजयी पक्ष है। अगर विजय कहीं है तो वह दोनों के लिए है। कांग्रेस ने विजय का कभी दावा नहीं किया।"

यह सत्याग्रही की समझ थी।

दिल्ली में रहते हुए सवेरे के वायु सेवन में एक दिन गांधीजी ने नेहरू को अपने विरोधी मत से आश्चर्य में डाल दिया। वे कांग्रेस के भविष्य के बारे में चर्चा कर रहे थे।

जवाहरलाल ने कहा, "मेरा अपना विचार है कि स्वाधीनता के आने के बाद कांग्रेस को न रहना चाहिए।"

"मेरा यह विचार नहीं है," महात्माजी बोले, "मैं सोचता हूँ कि कांग्रेस को बना रहना चाहिए—किन्तु एक शर्त पर। उसे आत्म-प्रतिषेध का एक अध्यादेश पारित करना चाहिए कि उसका कोई भी सदस्य सरकार में वैतनिक कार्य स्वीकार न करेगा। अगर उसका कोई सदस्य इस प्रकार का पद चाहता है तो उसे त्यागपत्र देना चाहिए।"

उस समय गांधी जी ने कांग्रेस को ऐसी पार्टी सोचा था जो पद से अलग रहे और प्रशासन पर अपना नैतिक दबाव डालने में तुष्ट रहे। सोलह वर्ष बाद जब स्वतंत्रता आई तो गांधी जी ने सोचा कि अपना राजनैतिक लक्ष्य उपलब्ध कर कांग्रेस को अपने को देश के सामाजिक और आर्थिक अभ्युत्थान में समर्पण कर देना चाहिए। लेकिन जब कांग्रेस ने शासन पद ग्रहण किया तो उन्होंने विरोध नहीं किया।

दूसरा कांग्रेस अधिवेशन क्षितिज पर था और उसके निर्वाचित अध्यक्ष कठोरता-पूर्वक स्पष्टवक्ता वल्लभभाई पटेल थे। भगतसिंह की फाँसी की छाया में अधिवेशन कराची में हुआ और स्वयं गांधीजी का स्वागत काले झंडों और "गांधी लौट जाओ। तुम्हारी विराम संधि ने भगतसिंह को फाँसी लगवा दी" के नारों से हुआ।

किन्तु गांधीजी ने शीघ्र ही युवकों की क्रुद्ध भीड़ को शान्त कर दिया। २६ मार्च को एक खुले मंच पर खड़े होकर, गांधीजी ने ५०,००० की विशाल भीड़ में भाषण दिया। उनका भाषण आदरपूर्वक किन्तु मौन रह कर सुना गया।

कराची में खुले प्रांगण में खान अब्दुल गफ्फ़ार ख़ाँ के नेतृत्व में उत्तर पश्चिम सीमा-प्रान्त के तथाकथित लाल कुर्ती वालों की एक टुकड़ी थी। वे अधिकतर पठान थे जिन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन में प्रमुख भाग लिया था और वे जहाँ कहीं गए उनको देख कर लोगों ने हर्ष व्यक्त किया।

अधिवेशन में मुख्य प्रस्ताव विराम संधि और गोलमेज़ सम्मेलन से संबंधित था। विरोधी विचारों का समावेश करने के लिए इसका प्रारूप चतुरता से बनाया गया था और जिस रूप में वह कांग्रेस कार्यसमिति से निकला वह रूप यह था:

यह कांग्रेस कार्यकारिणी समिति और भारत सरकार के बीच हुए अस्थायी समझौते पर विचार कर उसकी पुष्टि करती है, और यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि कांग्रेस का पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य अब भी यथापूर्व है। किसी अन्य दशा में कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार

के प्रतिनिधियों के साथ किसी सम्मेलन में कांग्रेस के प्रतिनिधि इस उद्देश्य के लिए कार्य करेंगे, और विशेष रूप से इस प्रकार से कि राष्ट्र को सेना, वैदेशिक मामले, अर्थ और कोष और आर्थिक नीति पर नियंत्रण दें और किसी निष्पक्ष न्यायाधिकरण द्वारा भारत की ब्रिटिश सरकार के वित्तीय लेन देन का निरीक्षण कराए और परीक्षा कर भारत अथवा इंग्लैंड के दायित्व का निर्धारण करे और दोनों पक्षों को इच्छानुसार साझेदारी समाप्त करने का अधिकार रहे, किन्तु कांग्रेस प्रतिनिधिमंडल इस प्रकार के समंजन स्वीकार करने को स्वतंत्र रहेगा जो भारत के हित में आवश्यक हों. . .प्रत्यक्षतः कांग्रेस महात्मा गांधी को ऐसे अन्य प्रतिनिधियों के साथ अपना प्रतिनिधित्व करने का अधिकार देती है, जिन्हें कार्यकारिणी समिति उनके नेतृत्व में काम करने को नियुक्त करे।

गांधीजी ने चतुराई से नेहरू से, जिन्होंने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था, उसे पेश करने को कहा, किन्तु जवाहरलाल आरंभ में हिचकिचा रहे थे। वे विराम संधि पर कभी खुश नहीं थे। उसे उन्होंने अनुशासन के हिसाब से स्वीकार कर लिया था, विश्वास से नहीं। वे कांग्रेस के खुले अधिवेशन के आगे इसे कैसे रखें? लेकिन सदा की भाँति उन्होंने इन अन्तर्विरोधों पर तर्क-वितर्क किया। उन्होंने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है, और इस स्थिति में उन्हें अपने को उसके पक्ष में घोषित करना होगा। तत्काल ही वे संक्षेप में बोले। किन्तु उनकी अप्रस्तुत वक्तृता किसी अच्छी तरह तैयार किए भाषण से कहीं अधिक विश्वास दिलानेवाली लगी।

नेहरू बोले, "एक बात निश्चित है कि हम एक ही समय इधर या उधर नहीं रह सकते और दो चीज़ें नहीं कर सकते। इस कारण से, मेरी आपसे प्रार्थना है कि एक बार निश्चय कर लें। अब तक हमने गांधीजी की बात मानने का निश्चय किया है, और जब तक हमें आगे प्रगति के मार्ग में रुकावट न दिखाई पड़े, हम ऐसा ही करें।"

कुछ लोगों की ओर से विरोध हुआ और कुछ संशोधन पेश किए गए। लेकिन गांधीजी और अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ के बोलने के बाद प्रस्ताव पारित हो गया।

नेहरू ने भगत सिंह और उनके दो साथियों पर भी जिन्हें फाँसी दे दी गई थी, एक प्रस्ताव पेश किया, और इस समय वे वास्तविक जोश और विश्वास से बोले। उन्होंने कहा कि उन लोगों को नहीं मालूम था कि भारत के स्वाधीन होने के पहले कितने भगत-सिंहों का बलिदान करना होगा। उन्हें भगतसिंह से जो सीखना चाहिए वह है आदमी की तरह साहसी ढंग से मरे जिससे कि भारत जीवित रहे।

गांधीजी ने प्रस्ताव का मसविदा तैयार किया था, जो भगतसिंह और उनके दोनों साथियों की वीरता और बलिदान की प्रशंसा करते हुए महत्वपूर्ण पंक्ति से आरंभ हुआ था, "यह कांग्रेस, किसी भी रूप या आकार में हिंसा को नापसन्द करते हुए, यह अभिलेखबद्ध करती है. . .।" केवल इस प्रकार कांग्रेस के अहिंसा धर्म का समाधान हिंसा में विश्वास करनेवाले देशभक्ति की आशंसा में किया जा सका।

एक प्रस्ताव जिसमें नेहरू की विशेष रुचि थी वह मूल अधिकारों और अर्थनीति

से संबंधित था। दिसंबर १९२७ में योरोप से लौटने के समय से नेहरू भारत को राजनीतिक स्वाधीनता के कांग्रेस के लक्ष्य की प्राप्ति से आर्थिक और समाजवादी योजना और नीति के विस्तृत करने के विचार के लिए उत्सुक थे। १९२६ के इतने पहले संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने प्रथमतः राज्य और खेतिहर के बीच के सारे लोगों को दूर करने के ध्येय का हल्का सा सामाजिक कार्यक्रम बनाया था। तीन वर्ष बाद इसी समिति ने एक और विस्तृत समाजवादी योजना आगे रखी जिस पर बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने विचार किया। बम्बई की सभा ने इस योजना की प्रस्तावना स्वीकार की। इस प्रकार उसने अपने को समाजवाद के सिद्धान्त से प्रतिबद्ध किया, किन्तु पूरी तौर से उसके आशयों को बिना जाँचे या परखे हुए।

"यह जवाहरलाल की एक और सनक है," यह सर्वसामान्य राय थी। "उन्हें खुश करने को इसे पारित कर दो।"

किन्तु नेहरू इतनी सरलता से शान्त होनेवाले नहीं थे। वे कांग्रेस में नए दृष्टिकोण की रचना के लिए दृढ़संकल्प थे। वर्ष के आरंभ में जब वे दिल्ली में थे तो एक दिन प्रातः वायु सेवन के समय उन्होंने सवाल गांधीजी के सामने रखा। गांधीजी ने कांग्रेस के सामने आर्थिक समस्याओं पर प्रस्ताव रखने के विचार का स्वागत किया।

उन्होंने जवाहरलाल को सुझाया, "तुम उसे तैयार क्यों नहीं कर लेते! तब उसको कराची में मुझे दिखा देना।"

नेहरू मौलिक अधिकार और अर्थनीति पर प्रस्ताव तैयार करने में लग गए। यह उन विचारों के विस्तृत आधार पर थे जिन्हें वे सामान्यतः मानते और उनका प्रचार करते, किन्तु गांधी जी केवल सिद्धान्तों की व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं थे। वे नमक कर, देशी कपड़े का संरक्षण और नशीली पीने की और अन्य मादक वस्तुओं पर रोक को कार्यक्रम में सम्मिलित करना चाहते थे।

दोनो आगे पीछे बहस करते रहे। जब तक कि गांधीजी और वे एकमत न हो गए नेहरू ने कई मसविदे बनाए। यह मसविदा अन्त में कांग्रेस से पारित होकर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को भेज दिए गए, जिसका अधिवेशन अगस्त में बम्बई में निर्धारित था। कुछ छोटे-मोटे संशोधनों के साथ कांग्रेस ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

एक प्रश्न अन्तिम रूप से निर्णय के लिए रह गया। क्या गांधीजी गोलमेज़ सम्मेलन में जायँ? गांधी-अर्विन समझौते के थोड़े ही समय बाद अर्विन ने भारत से विदा ली और उनके उत्तराधिकारी लॉर्ड विलिंग्डन हुए जो इसके पहले दो भारतीय प्रान्त बम्बई और मद्रास के गवर्नर, और कनाडा के भूतपूर्व गवर्नर जेनरल भी रह चुके थे।

काफी आकर्षण के व्यक्ति विलिंग्डन भारत की कामनाओं के प्रति मित्रभाव रखने वाले प्रसिद्ध थे, किन्तु कांग्रेस के कटु विरोधी और गांधीजी के प्रति सहज घृणा रखते थे, जिन्हें वे सदा "छोटा आदमी" कह कर निर्दिष्ट करते। इस दुबले पतले लम्बे धवल पोशाक के रईस, अपने दिनों के प्रसिद्ध क्रिकेट के खिलाड़ी, और एटन और कैम्ब्रिज की शिक्षा

प्राप्त और सिकुड़े हुए, विना दाँत के, लुंगी पहने और चर्खा वाले महात्माजी में वास्तव में अधिक बड़ी विभिन्नता नहीं हो सकती थी। विलिंग्डन ने अपने ब्रिटिश अधिकारी सलाहकारों के साथ गांधीजी की शक्ति और कांग्रेस के प्रभाव को कम समझा।

लन्दन से उद्विग्न करनेवाली खबरें आईं कि सरकार ने संरक्षणों के प्रश्न को निर्णीत और समाप्त समझ लिया है। अगस्त १९३१ में ब्रिटेन में साम्यवादी सरकार के स्थान पर भूतपूर्व साम्यवादी प्रधानमंत्री, रैमजे मैकडोनाल्ड के नेतृत्व में तीन दलों[1] की राष्ट्रीय सरकार बन गई है। गांधीजी इन खबरों से परेशान हो गए। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा, "किसी भी सम्मेलन में ब्रिटिश सरकार को न केवल इन प्रश्नों पर विचार विमर्श के लिए किन्तु विश्वास के लिए प्रस्तुत रहना होगा।"

स्वयं भारत में विरोधी सिविल सर्विस के अधिकारियों और संशयात्मक कांग्रेस के रहते दिल्ली समझौते को जो गांधी-अर्विन समझौते के नाम से विख्यात था, लागू करना आसान नहीं था। राजनीतिक रूप से अधिक संवेदनशील प्रान्तों, जैसे बंगाल, उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त, और संयुक्त प्रान्त में तनाव प्रकटत: कम नहीं पड़ा था। लगान में सरकारी छूट ने किसान और कांग्रेस दोनों को निराश कर दिया, और संयुक्त प्रान्त में किसानों की स्थिति, सुधारना तो दूर; और बिगड़ गई।

सरकार के हाथ से कांग्रेस के हाथ में पहल चले जाने के लिए दिल्ली समझौते से क्रुद्ध, और एक तरह से अधिकारियों के प्रभुत्व को समाप्त करने से ब्रिटिश अधिकारियों ने समझौते को लागू करने के कांग्रेस के प्रत्येक काम में दुहरे अधिकार की प्रवृत्ति समझी। विलिंग्डन के समान वे कांग्रेस को अपने ठिकाने रखने के लिए उत्सुक थे।

हिन्दू-मुस्लिम स्थिति ने भी गांधीजी को व्याकुल कर दिया था। कराची अधिवेशन के बाद उनका अधिक समय दोनों संप्रदायों के संबंध सुधारने में लगता था। उन्होंने उन्हें संयुक्त रूप से और अलग-अलग संबोधित किया, उनसे व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से संप्रदायवाद का संप्रदाय-विरोध से नहीं किन्तु राष्ट्रीय ढंग से सामना करने को कहा।

अगस्त के अन्त में गांधीजी लार्ड अर्विन के उत्तराधिकारी नए वाइसराय, लार्ड विलिंग्डन से मिलने शिमला गए। नेहरू वहीं उनसे जा मिले, और वल्लभभाई पटेल, खान अब्दुल ग़फ्फ़ार खाँ और डाक्टर एम० ए० अंसारी के साथ विभिन्न अंग्रेज़ अफ़सरों के साथ कई बार बातचीत हुई। यह ब्रिटिश अधिकारी विनम्र थे लेकिन उनकी नम्रता-पूर्ण बातचीत के नीचे एक छिपी धमकी रहती कि दूसरी बार कांग्रेस असहयोग करेगी तो सरकार उसका कठोरता से सामना करेगी। जवाहरलाल ने विनोदपूर्वक यह सुना। उन्होंने समझ लिया कि उनकी ही तरह अंग्रेज अफ़सर भी विरामसंधि को दम लेने का समय समझते।

वाइसराय के साथ गांधीजी की बातचीत महात्माजी के अन्तिम रूप से लन्दन जाने

---

१. लेबर पार्टी के अवशिष्ट भाग के साथ।

के निश्चय में समाप्त हुई। एक समझौता हुआ, एक ओर सरकार ने कांग्रेस की शिकायतों की जाँच का वचन दिया और कांग्रेस को यह अधिकार था कि अगर शिकायतें दूर न हुईं तो वह "रक्षात्मक प्रत्यक्ष कार्यवाही" करे।

२७ अगस्त को गांधीजी शिमला से झटपट रेल से बंबई गए जहाँ से पेनिन्सुलर और ओरिएंटल जहाज राजपूताना २९ अगस्त को लन्दन को चलनेवाला था। नेहरू उनके साथ गए और बम्बई में उन्होंने अपने सरदार को विदा दी।

गांधीजी ने कहा, "मैं केवल भगवान पर भरोसा कर लन्दन आ रहा हूँ।"

जहाज़ के घाट पर से दुबले, तने, लड़कपन की आकृति के नेहरू ने महात्मा जी को विदाई देने के लिए हाथ हिलाया। गांधीजी के लौटने के पहले ही जवाहरलाल जेल चले गए थे। वे अपने नेता से दो वर्ष और नहीं मिल पाए।

१४

फिर कारागृह में

शनिवार १२ सितम्बर को गांधीजी फ़ोक्स्टन में उतरे और मोटर से लन्दन गए। वहाँ वे भारत की एक मित्र मिस मूरियेल लेस्टर के आतिथेय में ईस्ट एंड में किंग्स्ले हाल में ठहरे।

गांधीजी कांग्रेस पार्टी के एकमात्र प्रतिनिधि थे। किन्तु उनकी लन्दन में उपस्थिति के रहने पर भी नेहरू ने अनुभव किया कि राजनीतिक गुरुत्व का केन्द्र अब भी भारत में था। जो कुछ यहाँ होगा उससे ब्रिटेन में होनेवाले घटनाक्रम पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा और गोलमेज़ सम्मेलन में गांधीजी जो कुछ अधिक से अधिक कर सकते हैं वह कांग्रेस का दृष्टिकोण समझा सकते हैं और उससे ब्रिटिश जनता और संसार को उसके न्यायसंगत होने का विश्वास दिला सकते हैं। उन्हें राष्ट्रीय सरकार द्वारा कांग्रेस की दलील स्वीकार करने के बारे में भ्रम नहीं थे।

अगर गांधीजी को कोई भ्रम थे तो वे कंज़रवेटिव सेक्रेटरी आफ़ स्टेट फ़ार इंडिया, सर सैमुअल होर की स्पष्ट व्यक्त की हुई सम्मतियों से शीघ्र दूर हो गए थे। वे अब लार्ड टेम्प्लवुड हैं।

इंडिया आफ़िस में उनकी पहली भेंट में होर ने विनम्रता के साथ किंतु स्पष्ट रूप से समझा दिया कि उनके विचार में भारत के लिए तुरत स्वतंत्रता का, या डोमिनियन पद तक का कोई प्रश्न ही नहीं है, लेकिन वे डोमिनियन पद के लिए धीरे धीरे चलने के लिए तैयार हैं।

गांधीजी में, जो स्पष्टवादिता की सराहना करते थे, तुरन्त प्रतिक्रिया हुई।

"मैं आपसे मिल सकता हूँ सर सैमुअल," वे बोले। "इस बात पर मैं आप से हाथ मिलाता हूँ। आपकी सत्यवादिता हम दोनों के बीच एकता की वस्तु है। धन्यवाद।"

इसके बाद यद्यपि प्रायः उनका बहुत-सी बातों में मतभेद रहा, उन्होंने एक दूसरे के प्रति आदरभाव बनाए रखा।

गोलमेज़ सम्मेलन में हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न प्रधान रहा, और यह आश्चर्य नहीं है कि ब्रिटिश सरकार ने बीच में रहकर उसकी सामर्थ्य का अनुभव किया। सम्मेलन में तरह-तरह के लोगों के जमाव में, यह अपेक्षाकृत सरल था कि हिन्दू को मुस्लिम के विरुद्ध कर दे और इस उलझन को सिखों और तथाकथित अछूतों को घुसेड़ कर और भी उलझा दे।

लार्ड विलिंग्डन ने राष्ट्रीयतावादी मुस्लिम डाक्टर एम० ए० अंसारी को कांग्रेस दल का भाग मानने से इनकार कर दिया, जो अब अकेले गांधीजी द्वारा प्रतिनिहित थी। यद्यपि एक कांग्रेसी महिला, कवयित्री सरोजिनी नायडू, सम्मेलन में सम्मिलित थीं, किन्तु भारतीय महिलाओं की प्रतिनिधि की हैसियत से। पंडित मदनमोहन मालवीय, डाक्टर जयकर, और युद्धप्रिय डाक्टर बी० एस० मुंजे जैसे हिन्दू चरमपंथियों से गांधीजी का काम कुछ सरल नहीं हुआ था। इन लोगों ने अपने सांप्रदायिक दावे मुसलमानों से किसी तरह के समझौते को नष्ट करने की चेष्टा में ऊँचे से ऊँचे रखे थे। दूसरी ओर जिन्ना ने जो पाकिस्तान के संस्थापक हुए, इन कार्यवाहियों में मध्यस्थ का काम किया। इन दोनों संप्रदायों को निकट लाने में उनकी विफलता ने उनका कांग्रेस और गांधीजी के विषय में प्रच्छन्न संदेह तीव्र कर दिया, और अन्ततोगत्वा उन्हें अलग मार्ग बनाने को प्रवृत्त किया जो पाकिस्तान में समाप्त हुआ।

सम्मेलन की ओर दृष्टिपात करते हुए हिन्दू और मुस्लिमों के बीच बाद में बढ़ती खाई के लिए गांधीजी को पूरी तौर पर दोष मुक्त नहीं किया जा सकता। उन्हें हिन्दू चरमपंथियों का भी उसी प्रकार विरोध करना चाहिए था जैसा उन्होंने मुस्लिम अड़ियलों के साथ किया था, और मालवीय, मुंजे और जयकर की ऊँची आवाज़ की माँगों पर स्वीकृति देने से इनकार कर मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों से समझौता उपलब्ध कर लेते जो अब आग़ा खाँ के विस्तृत सामन्ती छाते के नीचे बैठे थे।

यह बात नहीं है कि मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों की माँगे उचित थीं। सिखों के अपवाद के अतिरिक्त अछूतों सहित और सारे अल्प संख्यकों ने पृथक् निर्वाचन की माँग की थी,और व्यवस्थापिकाओं में उनके प्रतिनिधित्व की माँग, अधिप्रतिनिधित्व मान कर भी, उनकी सांख्यिक शक्ति से किसी अनुपात से अधिक पड़ती थी। लेकिन महात्माजी के प्रतिनिधित्व के हिसाब से कांग्रेस की बातवास्तविकता से रहित थी।

वस्तुतः महात्माजी ने अन्त में अल्पसंख्यकों से कहा, "स्वतंत्रता के राजनीतिक प्रश्न पर मेरे साथ रहो, और मैं तुम्हारी सांप्रदायिक माँगों को मान लूंगा।"

निःसन्देह इस पर स्पष्ट उत्तर था : "स्वतंत्रता पाने के लिए सांप्रदायिक एकता ज़रूरी है। पहले आप हमारे दावे क्यों नहीं मानते, उसके बाद हम स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए आपके साथ होंगे ?"

एक ओर गांधीजी और दूसरी ओर आग़ा खाँ के नेतृत्व में अल्पसंख्यकों में बातचीत भंग हो गई। अल्पसंख्यकों[१] के एकजुट होने और गांधीजी और सरकार दोनों को स्मृति-पत्र के रूप में एक निर्विवाद तथ्य देने से मामला सुलझा नहीं। इसमें अल्पसंख्यकों के लिए वैधानिक अधिकार के अतिरिक्त प्रथक् निर्वाचन के द्वारा प्रतिनिधित्व और नागरिक

---

१ इनमें मुसलमान, सिख, अछूत, ऐंग्लो-इंडियन, योरोपियन और भारतीय ईसाइयों में कैथलिक संप्रदाय थे।

अधिकारों की घोषणा की माँग थी। जैसा कि गांधीजी ने इसकी व्याख्या की यह निस्सन्देह नौकरियों और पदों के बड़े पैमाने पर विभाजन कर नौकरशाही के साथ शासन में भाग लेने की योजना थी। नेहरू ने खेद के साथ देखा कि "भारतीयकरण" के मुखौटे में यह जनता के कुछ लोगों की पदप्राप्ति की कामना थी।

गांधीजी ने इस सबसे कोई मतलब रखने से इनकार कर दिया।

उन्होंने कहा, "कोई बात नहीं बरसों तक कांग्रेस बियावान में भटकती रहेगी बजाय इसके कि वह किसी ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करे जिसके नीचे स्वाधीनता और उत्तरदायी सरकार का बचाव चाहनेवाला वृक्ष कभी उग नहीं सकता।"

उन्होंने सबसे अधिक हिन्दू सूची से अलग अछूतों की प्रथक् निर्वाचन की माँग पर आपत्ति की। उसे उन्होंने "सबसे क्रूर प्रहार" कहा। उन्होंने निर्देश किया कि इसके अर्थ सदा के लिए अछूतों की पहचान "सनातन अमंगलकारी रोक" हो जायगी।

इस बीच भारत में राजनीतिक स्थिति बिगड़ रही थी, और संयुक्त प्रान्त में किसानों को दी गई छूट विशेष रूप से निराशाप्रद थी। छूट चलतू लगान की माँगों से संबंधित थी जिसमें पिछले लगान या बक़ाया सम्मिलित नहीं थे। ऐसी स्थिति में भी किसान पूरा भुगतान करने की स्थिति में नहीं थे। नेहरू और उनके कांग्रेस के साथियों ने उन्हें यथा-संभव अधिक-से-अधिक देने की सलाह दी; किंतु यह धार्मिक निषेधादेश था, चूँकि किसी भी हालत में किसान की अधिक-से-अधिक धन जमा करने की क्षमता बहुत कम थी। बेदखल किसानों की संख्या बढ़ गई और साथ ही साथ कृषि के मूल्यों की मन्दी से देहातों की दीनावस्था और बिगड़ गई।

नए करों की वसूली अक्टूबर में आरंभ होने को थी। गांधीजी के विदा होने के बाद से नेहरू उन्हें हवाई और समुद्री डाक से नियमित रूप से सप्ताह में एक बार लिखते रहे थे और उन्हें संयुक्त प्रान्त में किसानों की बिगड़ती स्थिति से अवगत कराते रहे थे। देर सबेर कांग्रेस के हाथ बँध जाने को थे, यद्यपि नेहरू और उनके साथियों की इच्छा सरकार से झगड़ा मोल लेने की नहीं थी।

इंग्लैंड से गांधीजी ने धीरज रखने का आदेश दिया। उनके पूर्व कार्यक्रम के अनुसार उन्हें नवंबर में लौट आना चाहिए था, लेकिन अब ऐसा लगता था कि उनका लौटना देर से होगा। नेहरू और उनके साथियों ने पूछा कि वे क्या करें।

गांधीजी का तार से उत्तर आया, "अपनी समझ से काम लो।"

पहली दिसंबर को गोलमेज़ कान्फ्रेंस का दूसरा अधिवेशन समाप्त हुआ, और विलेन्यूव में अपने जीवन चरित के लेखक रोम्याँ रोलाँ से मिलने के बाद गांधीजी ने भारत जाने की तैयारी की। राजनीतिक रूप से उनका उद्देश्य असफल हो गया था, और संवैधानिक स्तर पर हिन्दू-मुस्लिम विभाजन, अगर कुछ हुआ भी तो तीव्र हो गया था।

इससे नेहरू अनावश्यक रूप से परेशान नहीं हुए, क्योंकि उनके अनुमान से, जिस तरह से सम्मेलन गठित था, उसे असफल ही होना था। वह एक बढ़ चढ़कर बातें करने की

दूकान-सी थी जहाँ चालबाजी और अवसरवादिता को पूरा मौक़ा था। उसी समय उन्होंने समझ लिया कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भीतरी मतभेद को दिखा कर भारत का मामला दुनिया की नज़रों में बहुत खराब हो गया है। खुद भारत में ही लन्दन में असफलता और मतभेद के क़िस्सों ने अपमान कुंठा और निराशा की भावना उत्पन्न कर दी थी। पिछले सविनय अवज्ञा आन्दोलन की चमक, दिल्ली समझौते की चरम परिस्थिति के साथ, निस्तेज हो रही थी।

नेहरू ने अनुभव किया कि प्रतिक्रियावादियों को सिर उठाने का यह अवसर है। वे बहुत भूल में नहीं थे।

अस्थायी रूप से पीछे हट कर अब वे देश और विदेश में अपनी शक्तियों को गतिशील कर रहे थे। चूँकि दोनों संप्रदायों के विशिष्ट लोग पदों को प्राप्त करने की होड़ में लगे थे आगामी वर्षों में हिन्दू-मुस्लिम तनाव बढ़ने लगा था। भारत में अंग्रेज़ अफ़सर, जो गांधी-अर्विन समझौते के "अपमान" से कभी अपने को शान्त नहीं कर पाए थे, कांग्रेस से "निपटारे" के लिए उत्सुक थे। लार्ड विलिंग्डन के रूप में उन्हें ऐसा वायसराय मिला था जो उनकी मर्ज़ी के मुताबिक़ था। विदेश में, लंदन में चर्चिल ने कांग्रेस के खून के लिए भूँकना जारी रखा।

अक्टूबर १९३१ में इंग्लैंड के आम चुनाव में टोरी दल भारी बहुमत से सत्तारूढ़ हुआ और ५ नवंबर को रैमज़े मैकडानल्ड के प्रधान मंत्रित्व में एक राष्ट्रीय सरकार की घोषणा की गई। दूसरे गोलमेज़ सम्मेलन में अपने अन्तिम भाषण में मैकडानल्ड ने घोषणा की कि अगर सब दलों को स्वीकृत सांप्रदायिक समझौता नहीं होता तो ब्रिटिश सरकार अपना ही सांप्रदायिक निर्णय घोषित करेगी।

इस तरह के खेदजनक वातावरण में गांधीजी देश लौटे। उन्होंने ५ दिसम्बर को फोक्स्टन के लिए लंदन छोड़ा और रास्ते में रोलाँ से बहुत दिनों की निर्धारित भेंट के लिए विलेन्यूव में ठहरे। २८ वीं दिसंबर को ज्योंही वे बम्बई में जहाज़ से उतरे कि पहला समाचार जिसने उनका स्वागत किया वह नेहरू और खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खां की गिरफ्तारी और अध्यादेशों का जारी होना था जिनसे सरकार संदिग्ध लोगों को सरसरी तौर पर गिरफ्तार और बन्द कर सकती थी।

गांधीजी ने इनकी विशिष्टता बताई, "हमारे ईसाई वाइसराय, लार्ड विलिंग्डन की बड़े दिन की भेंट।"

क्या हो गया था ?

संयुक्त प्रान्त में किसान लोग मिली हुई छूट के बाद भी बकाया दे सकने में असमर्थ और अक्टूबर में नई माँगों का सामना होने पर सलाह के लिए कांग्रेस के पास पहुँचे। यह कठिन स्थिति थी। कांग्रेस जानती थी कि बहुतेरे स्थानीय अधिकारी अब तक मिली छूट पर संक्षुब्ध थे, इस संबंध में कांग्रेस की माँगों के लिए एक और हार थी। दूसरी ओर, किसानों को लगान देने की सलाह देना उनसे असंभव बात कहना था। अगर किसान

चालू माँग का पैसा दे भी दें तो इस बात का क्या भरोसा था कि पिछले लगान के बाक़ी रहने के आधार पर वे बेदख़ल नहीं कर दिए जाएँगे ?

कुछ महीने पहले शिमले में नेहरू जब गांधीजी के साथ थे, तब उन्होंने यह समस्या एक अंग्रेज अधिकारी के आगे रखी और उससे पूछा कि अगर कोई किसान उनसे सलाह माँगे तो वे क्या करेंगे।

अफ़सर ने उत्तर दिया, "मैं उसे उत्तर देने से केवल इनकार कर दूंगा।"

लेकिन कांग्रेस यह नहीं कर सकती थी।

बात काफ़ी बढ़ गई जब इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमेटी ने, जिसमें किसानों का ज़ोर था, यह निर्णय किया कि वह किसानों को लगान जमा करने की सलाह नहीं दे सकती है। उस दशा में भी संयुक्त प्रान्त की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने उसे बिना उसकी या अखिल भारतीय कांग्रेस-वर्किंग कमेटी की स्वीकृति के कोई उग्र क़दम न लेने की चेतावनी दे दी।

इसके अनुसार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने अपने अध्यक्ष तसद्दुक़ अहमद ख़ाँ शेरवानी को वर्किंग कमेटी के सामने समस्या पेश करने के लिए नियुक्त किया। वह विडम्बना थी कि वे प्रमुख मुस्लिम ज़मींदार परिवार के वंशज थे। उनके साथ छितरी दाढ़ी वाले कांग्रेसी पुरुषोत्तम दास टंडन[१] थे जो ओल्ड टेस्टामेंट के जर्जर पैग़म्बर की तरह लगते थे। जैसा कि नेहरू तिलमिला कर स्वीकार करते हैं, वे "सामाजिक और आर्थिक बातों में सलाह देने के लिए बहुत निरापद व्यक्ति नहीं समझे जाते थे।" वर्किंग कमेटी स्वयं सरकार से संघर्ष बचाने का पूरा प्रयत्न कर रही थी।

लेकिन शेरवानी और टंडन किसानों के दावे को सबसे अधिक मनवाने वाले सिद्ध हुए। कांग्रेस वर्किंग कमेटी में कोई दृढ़ आर्थिक अथवा सामाजिक पूर्वानुराग नहीं था, यद्यपि राजनीतिक रूप से वह आगे बढ़ी हुई थी। सबसे अधिक वह किसान-ज़मींदार की समस्या को बढ़ाना नहीं चाहती थी। किन्तु उसे शेरवानी की ज़ोरदार वकालत के उलझाव से बचना कठिन लगा।

अनिच्छापूर्वक उसने संयुक्त प्रान्त की प्रान्तीय कमेटी को किसी भी क्षेत्र में राजस्व या लगान रोक देने के अधिकार की अनुमति दे दी। लेकिन साथ ही साथ उसने कमेटी को सलाह दी कि झगड़े को बढ़ाए नहीं और जहाँ तक संभव हो सरकार के साथ समझौता करे।

थोड़े समय के लिए कमेटी ने अधिकारियों से बात-चीत की कोशिश की। लेकिन अनिवार्य संघर्ष की भावना दोनों ओर अधिक हो रही थी, और हवाई घूंसेबाज़ी करते दो लड़नेवालों की तरह एक दूसरे को पैंतरे दिखा रहा था। दूसरे पक्ष में स्थानीय अधिकारी प्रतिष्ठा के विचार से अभिभूत "शिकार" के लिए दाँवपेंच कर रहे थे।

ऐसे अवसर पर इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमेटी के तत्वावधान में आयोजित किसान सम्मेलन ने वह घंटी बजाई जो अधिकारियों के कानों में युद्ध छेड़ने की ध्वनि के

---

१ बाद में वे कांग्रेस के अध्यक्ष थे, और अब लोकसभा के सदस्य हैं।

सन्देह के साथ खतरे की घंटी बज उठी। सम्मेलन ने एक परीक्षात्मक प्रस्ताव पारित किया जिसमें घोषणा की गई थी कि अगर अच्छी शर्तें नहीं मिलीं तो उसे किसानों को कर और लगान रोक लेने की सलाह देना होगी। यह ऐसी चाल थी जिसने न केवल प्रान्तीय कमेटी किन्तु सरकार को भी सचेत कर दिया।

संयुक्त प्रान्त की सरकार ने इसे युद्ध छेड़ना मान कर कांग्रेस के साथ बातचीत बन्द कर दी, जिसने बदले में अनिवार्य आक्रमण के लिए अपने को उद्यत किया। दोनों पक्ष पैंतरे बदल रहे थे। कांग्रेस गांधीजी के लौटने तक बल परीक्षण को बचाने के लिए चिन्तित थी। सरकार, जब तक उसके हाथ में पहल है, तब तक चोट करने के लिए दृढ़ संकल्प थी।

अवश्यंभावी रूप से सरकार ने पहली चोट की। उसने बने-बनाए अध्यादेशों की एक श्रेणी की घोषणा की जिसमें बिना मुक़दमा चलाए सन्देह पर गिरफ्तारी और नज़रबन्दी की अनुमति थी। यह क़ानून न केवल संयुक्त प्रान्त के लिए किन्तु बंगाल और उत्तर पश्चिम सीमा के लिए भी लागू थे, जहाँ कुछ समय से असन्तोष बढ़ रहा था।

बहुत समय से आतंकवादी कार्यवाहियों के केंद्र बंगाल में दिल्ली समझौता कभी जनप्रिय न रहा, विशेप रूप से युवकों और मज़दूर क्षेत्रों में। संयुक्त प्रान्त की तरह बंगाल में भी लोगों की शिकायतों से, जिन्हें दूर नहीं किया गया था, अधिकारियों द्वारा दमन, विरोध और प्रतिक्रियात्मक कार्यवाही ने एक बेचैनी की, और आतंकवादी आंदोलन के कारण विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर दी थी। नज़रबन्दों के लिए कलकत्ता से लगभग सत्तर मील दूर हिजली नामक स्थान में बंगाल सरकार ने एक विशेप कारावास का कैंप बना दिया था, और यहाँ चौकीदारों ने, क़ैदियों के विद्रोह का बहाना लेकर, उनपर गोलियाँ चला दी थीं जिसमें दो क़ैदी मार डाले गए और बीस गंभीर रूप से घायल हुए थे। जनता के विरोध ने न्यायिक जाँच की स्थापना के लिए सरकार को विवश किया। जाँच का निर्णय था कि गोली चलाना अनुचित था।

आतंकवादी फिर सक्रिय हो रहे थे। हिजली कांड के कुछ ही दिनों बाद चटगाँव में एक आतंकवादी ने एक पुलिस अधिकारी को जो संयोग से मुसलमान था गोली मार दी। इससे वहाँ हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया। पुलिस के प्रतिशोध ने शहर में गुंडों को छूट दे दी। उन्होंने दिन-दहाड़े लूट मार की जब कि अधिकारी निष्क्रिय रहे। नवम्बर में चटगाँव ज़िले में एक छद्म रूप का फ़ौजी क़ानून लागू कर दिया गया जो बाद में मिदनापुर और ढाका तक बढ़ा दिया गया। मिदनापुर में तीन अंग्रेज़ मैजिस्ट्रेट एक के बाद एक करके गोली से उड़ा दिए गए थे। कर्फ्यू आर्डर लगा दिया गया था, युवकों को बाइसिकिल के उपयोग का निपेध था, लोगों को परिचय पत्र लेकर आने जाने का आदेश था, क्रान्तिकारियों को शरण देने का जिन गाँवों पर सन्देह था उन पर सामूहिक दंड लगाए गए थे और राजनीतिक सन्दिग्ध लोगों को हफ्तों घर के अन्दर रहने की आज्ञा थी।

इस अवधि में अनेक क्रान्तिकारियों को मृत्युदंड देकर फाँसी पर लटका दिया गया। जनता के बढ़ते हुए रोप के आगे बंगाल कांग्रेस ने अपने को घृणास्पद स्थिति में पाया।

आधिकारिक रूप से दिल्ली-समझौते ने विराम सन्धि लागू की थी, लेकिन सरकार में और जनता में खाई दिन पर दिन बढ़ती चली जा रही थी।

नवम्बर में नेहरू कलकत्ता गए, जहाँ उन्होंने कई सामूहिक सभाओं में भाषण दिए और व्यक्तिगत लोगों तथा टोलियों से स्थिति पर अन्तरंग रूप से विचार-विमर्श किया, जो लोग उनसे मिले उन्हें वे सबसे अधिक आतंकवादी रीति की व्यर्थता और स्वाधीनता के कार्य को जो हानि पहुँचा रहे थे, उसे समझाने के लिए चिन्तित थे।

उनके कलकत्ता प्रवास की अंतिम संध्या को रेलवे स्टेशन जाने के कुछ ही पहले नेहरू को बताया गया कि दो युवक बंगाली उनसे मिलना चाहते हैं। वे आतंकवादी थे, और नेहरू ने, उस कमरे में जहाँ वे प्रतीक्षा कर रहे थे, आकर मुश्किल से बीस वर्ष आयु के दो युवकों को समक्ष पाया। उनके चेहरे तने हुए और घबराए थे, लेकिन जवाहरलाल उनकी दहकती चमकीली आँखों पर मुग्ध हो गए।

उनमें से एक बोला, "हम आपको सावधान करने आए हैं। आतंकवाद के विरुद्ध आपका प्रचार देश की हानि कर रहा है। उससे युवक हमसे दूर हो रहे हैं।"

नेहरू अपने विचारों पर ज़ोर देते हुए कि आतंकवादियों की कार्यवाहियों से स्वतंत्रता के कार्य को क्षति पहुँच रही है और राष्ट्रीय एकता तथा अनुशासन के निर्माण की प्रक्रिया कठिन हो रही है, उनसे स्पष्टता से बोले। उन्होंने तर्क दिया कि आतंकवाद छिटपुट हिंसा को प्रोत्साहन देता है और अविवेकपूर्ण हत्या से देश में दरारें गहरी पड़ेंगी। इससे सांप्रदायिक हिंसा पैदा होगी।

दोनों लड़के आश्वस्त नहीं हुए। वे बहस करने लगे और ग़ुस्से से प्रतिवाद किया। किन्तु नेहरू अपने विचार पर दृढ़ रहे और बदले में तेज़ी से बोले।

जाते-जाते वे लोग कहते गए, "हम आपको सावधान कर रहे हैं। अगर आप अपनी आलोचना जारी रखेंगे तो हम आपके साथ भी वही करेंगे जो कुछ और लोगों के साथ किया है।"

इलाहाबाद के रास्ते गाड़ी में नेहरू का ध्यान प्रायः उन दोनों लड़कों की ओर गया। अगर वे उनसे ज़्यादा नम्रता और धीमे से बातें करते तो शायद वे उन्हें विश्वास दिला सकते। लेकिन वे गाड़ी पकड़ने की जल्दी में थे और उनके तेज ग़ुस्से से भरे विरोध ने उन्हें चिढ़ा दिया था। वे फिर उनसे कभी नहीं मिले।

दिसम्बर में बंगाल कांग्रेस ने बरहमपुर में एक विशेष प्रान्तीय अधिवेशन बुलाया और सरकार को यथार्थतः दिल्ली समझौता तोड़ने का दोषी ठहराया। उसमें अखिल भारतीय कांग्रेस से आग्रह किया गया कि वह सरकार को एक औपचारिक सूचना दे, और ब्रिटिश सामान के बहिष्कार पर ज़ोर देकर सविनय अवज्ञा फिर चलाए। उसका तर्क था कि संभव है असहयोग आन्दोलन देश के नवयुवकों की शक्ति को विरोध के अहिंसात्मक रूप की ओर मोड़ दे। बंगाल कांग्रेस प्रत्याक्रमण की तैयारी कर रही थी।

भारत के दूसरे किनारे पर उत्तर पश्चिम सीमा में ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ के नेतृत्व

में लाल कुर्ती वाले स्थानीय अधिकारियों की चिन्ता बने हुए थे। दिसंबर के आरंभ में उन्होंने पेशावर ज़िले में स्वयंसेवकों को प्रशिक्षित करने के लिए एक कैंप लगाया। सीमान्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने गोलमेज़ कान्फ्रेंस में ब्रिटिश प्रधानमंत्री की घोषणा को असंतोषजनक बताया और खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ को बंबई जाकर गांधीजी के आने पर स्थिति पर विचार-विमर्श करने के लिए नियुक्त किया। इन परिणतियों से घबरा कर सीमा के अधिकारियों ने ग़फ़्फ़ार ख़ाँ और उनके भाई डाक्टर ख़ान साहब को बातें करने के लिए बुलाया। दोनों भाइयों ने कांग्रेस के बिना बातचीत करने से इनकार कर दिया।

प्रान्त पर तुरत अध्यादेश जड़ दिए गए और ख़ान बन्धु अपने प्रमुख साथियों सहित २४ वीं दिसंबर को, गांधीजी के आने के चार दिन पहले सरसरी तौर पर गिरफ्तार कर जेल भेज दिए गए।

जवाहरलाल को स्वयं दो दिन की और स्वाधीनता थी।

दिसंबर के आरंभ में वे बंबई में कर्नाटक ज़िले की यात्रा पर इलाहाबाद से चले गए थे, उनका मूल प्रयोजन हिन्दुस्तानी सेवा दल नामक कांग्रेस की स्वयंसेवक संस्था के प्रधान कार्यालय का निरीक्षण था। कमला फिर बीमार थीं और जवाहरलाल ने कर्नाटक के रास्ते में बम्बई में उनकी चिकित्सा और आवास की व्यवस्था कर दी। यहीं उन्होंने संयुक्त प्रांतीय सरकार द्वारा लगाए व्यापक अध्यादेशों के विषय में सुना। उनमें से एक के द्वारा बच्चों और संरक्षत्व में रहनेवाले बालकों के राजनीतिक अपराधों के लिए उनके मातापिता और अभिभावकों को दण्ड की व्यवस्था थी।

नेहरू ने कठोरतापूर्वक कहा, "बाइबिल के पुराने अभ्यास की उल्टी दिशा।"

तुरत ही बाद इलाहाबाद से पुरुषोत्तमदास टंडन की गिरफ्तारी का समाचार मिला। सरकार ने आक्रमण कर दिया है; और यह अनुभव करते हुए कि उनकी आवश्यकता उनके प्रान्त में है, नेहरू कमला को बम्बई में बीमार छोड़कर जल्दी चले गए।'

इलाहाबाद से कुछ मील छिवकी रेलवे स्टेशन पर नेहरू को इलाहाबाद की म्युनिसिपल सीमाओं में नज़रबन्द रहने और किसी सार्वजनिक सभा या समारोह में भाग लेने, जनता में भाषण देने, समाचार-पत्र या परचे में लिखने से निषेध करने का आदेश दिया गया। उन पर आदेश आधी रात को तामील किया गया जब वे इलाहाबाद के लिए शटल गाड़ी पर जाने के लिए बंबई की गाड़ी से उतर रहे थे। यह मज़े की बात है कि उस समय उनका एक पैर तब भी बंबई वाली गाड़ी में था।

उसी तरह का आदेश तसद्दुक़ अहमद शेरवानी सहित नेहरू के उन साथियों पर लगाया गया जो अभीतक छूटे हुए थे।

इलाहाबाद पहुँच कर नेहरू ने उस ज़िला मैजिस्ट्रेट को लिखा जिसने उन पर आदेश जारी किया था। उन्होंने उसे रूखे ढंग से सूचित किया कि उनका उससे ऐसा कोई आदेश लेने का इरादा नहीं है कि वे क्या करें और क्या न करें। उन्होंने बताया कि वे अपना सामान्य

कार्य नियमित ढंग से करेंगे और गांधीजी से मिलने के लिए और कांग्रेस वर्किंग कमेटी के अधिवेशन में भाग लेने के लिए, जिसके वे मंत्री हैं, शीघ्र बंबई जाने का इरादा करते हैं।

मैजिस्ट्रेट ने नेहरू के नाम की ग़लत वर्तनी जवाहिरलाल की थी, और इससे नेहरू बहुत खफ़ा हुए। उस अधिकारी के नाम अपने पत्र में उन्होंने भूल का निर्देश किया था और यह आशा व्यक्त की कि ऐसा फिर नहीं होगा।

"आप लोगों का मेरे खत के बारे में क्या ख्याल है ?" नेहरू ने अपने कुछ साथियों को उसे सुना कर पूछा।

"यह बहुत रूखा है" उनमें से एक साथी, श्रीप्रकाश ने कहा, जो अब मद्रास के गवर्नर हैं। "अगर यह खत अपने वर्तमान रूप में जाता है तो आप बम्बई न जा सकेंगे।"

जवाहरलाल मुस्कराए।

"मैं जा रहा हूँ," उन्होंने हठपूर्वक कहा, "और मुझे कोई नहीं रोकेगा।"

किन्तु श्रीप्रकाश का कहना ठीक था।

२६ वीं दिसम्बर को नेहरू और शेरवानी इलाहाबाद से बंबई की गाड़ी पर सवार हुए। छिवकी से चलने के कुछ ही बाद गाड़ी इलाहाबाद ज़िले की सीमा पर इरादतगंज नाम के एक छोटे स्टेशन पर रुक गई।

खिड़की में से बाहर झाँकने पर नेहरू ने रेल की पटरी के किनारे पुलिस की एक गाड़ी देखी। कुछ देर बाद कुछ पुलिस अधिकारी डब्बे में चढ़ आए और नेहरू और शेरवानी को गिरफ्तार कर लिया। गाड़ी लुढ़कती हुई नैनी जेल की ओर बढ़ी। उस दिन बॉक्सिंग डे का त्योहार था और जिस पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने उन्हें गिरफ्तार किया था वह अपने त्योहार से वंचित रह गया और गंभीर और रूठा लग रहा था।

उनका मुक़दमा ४ जनवरी १९३२ को जेल के अन्दर हुआ। उसी दिन तड़के कांग्रेस के अध्यक्ष वल्लभभाई पटेल के साथ गांधीजी गिरफ्तार कर लिए गए और बिना मुक़दमा चलाए राजबन्दी के रूप में बन्द कर दिए गए।

बंबई आने के शीघ्र बाद ही महात्माजी ने तार से वाइसराय से एक भेंट चाही और लार्ड विलिंग्डन ने दिल्ली से लंबे तार द्वारा स्वीकार कर लिया, बशर्ते गांधीजी बंगाल, संयुक्त प्रान्त और सीमान्त में सरकार द्वारा लागू अध्यादेश या उनके अन्तर्गत की हुई कार्यवाही पर वार्तालाप न करें।

चूंकि यथार्थतः यही बात थी जिसकी गांधीजी चर्चा करना चाहते थे उन्होंने वाइसराय को तदनुसार उसमें यह जोड़ते हुए जवाब दे दिया कि अध्यादेश सरकारी अत्याचार के क़ानून हैं। उन्होंने आगे कहा कि उनकी सलाह से कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अस्थायी रूप से एक प्रस्ताव पारित किया है जिसमें सविनय अवज्ञा की योजना की रूपरेखा है। "अगर हिज़ एक्सेलेंसी मुझसे मिलना उपयोगी समझते हैं," गांधीजी ने अन्त में लिखा, "तो इस आशा में कि वह अन्तिम रूप से त्याग दिया जायगा, उस प्रस्ताव की कार्यवाही हमारे वार्तालाप तक स्थगित रहेगी।"

अपने उत्तर में लार्ड विलिंग्डन ने "सविनय अवज्ञा को जारी करने की धमकी के अधीन" सरकार की बातचीत करने में अक्षमता बताई। गांधीजी के प्रत्युत्तर में यह ध्वनित था कि किसी भी हालत में सविनय अवज्ञा अनिवार्य और आसन्न है किन्तु उन्होंने आगे कहा, "मैं सरकार को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि कांग्रेस की ओर से पूरी चेष्टा की जायगी कि अभियान बिना किसी द्वेष के और कठोरतापूर्वक अहिंसात्मक ढंग से हो।"

दूसरे दिन तड़के, ४थी जनवरी को गांधीजी गिरफ्तार कर लिए गए। उन्होंने देश-वासियों के नाम एक सन्देश में कहा, "भगवान की दया अपार है। सत्य और अहिंसा से कभी विचलित न होओ, पीठ कभी न मोड़ो, और स्वराज्य प्राप्ति के लिए अपने प्राण और सर्वस्व का बलिदान कर दो।"

नेहरू और शेरवानी पर संयुक्त प्रान्तीय अधिकार अध्यादेश के अन्तर्गत समान अपराध—इलाहाबाद की सीमाएँ न छोड़ने की उन पर लगाई आज्ञा का उल्लंघन—का मुक़दमा चलाया गया। किन्तु जबकि शेरवानी को छः महीने का कारावास और १०० रु० का अर्थदंड हुआ, नेहरू को दो वर्ष का कारावास तथा ५०० रु० (न देने पर छः महीने और) का दंड मिला।

यह असमान सज़ाएँ सुन कर शेरवानी ने, जो मुसलमान थे, मैजिस्ट्रेट से पूछा, "क्या निष्पक्ष न्याय के निर्णय में भी धार्मिक भेदभाव होता है?"

मैजिस्ट्रेट को जिस चीज़ ने पीड़ा पहुँचाई थी वह उसके नाम नेहरू का रूखा पत्र था जिसे उसने "अपमानजनक" बताया।

सरकार ने कांग्रेस को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया था और १० जनवरी तक देश भर के प्रमुख कांग्रेसी जेल में थे। गांधीजी वास्तव में १८२७ के बंबई अध्यादेश के अन्तर्गत गिरफ्तार किए गए थे, जो फिर प्रचलित किया गया था। अध्यादेश के अन्तर्गत शासन का विस्तार भारत भर में कर दिया गया था, और मार्च में ब्रिटिश सेक्रेटरी आफ़ स्टेट फ़ार इंडिया, सर सैमुअल होर ने हाउज़ आफ़ कामन्स में बोलते हुए यह स्वीकार किया कि अध्यादेश "भारतीय जीवन के प्रायः प्रत्येक कार्यक्षेत्र पर छाए हुए हैं।"

पहले चार महीनों के भीतर ८०,००० के लगभग लोग जेल चले गए। अपने नेताओं से वंचित रहने पर भी कांग्रेस के सामान्य जनों ने, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और कर देने से इन्कार करने के साथ, सविनय अवज्ञा के विभिन्न रूपों में लड़ाई जारी रखी। लेकिन अधिकारियों के दमन की विशाल मशीन अबाध गति से चलती रही।

नेहरू की माता और उनकी दोनों बहनों विजयलक्ष्मी और कृष्णा समेत बहुत-सी भारतीय स्त्रियों ने आन्दोलन में भाग लिया, और विजयलक्ष्मी और कृष्णा एक-एक वर्ष का दंड पाकर शीघ्र ही जेल चली गई। महिलाओं के सु-विस्तृत भाग लेने को रोकने के लिए सरकार ने महिला राजनीतिक क़ैदियों के जेल जीवन को असाधारण रूप से कठोर बनाने का कुटिल परितोष प्राप्त किया। पंद्रह और सोलह वर्ष की लड़कियों को केवल

नारे लगाने और समूह में एकत्रित होने के लिए दो वर्ष की कठिन कारावास की सज़ाएँ दी गई थीं ।

सर सैमुअल होर ने पार्लमेंट में कहा, "इस बार संग्राम बराबर नहीं रहेगा।"

अप्रैल में राष्ट्रीय सप्ताह आया जिसमें पुलिस की निषेधाज्ञा रहने पर भी जुलूस निकाले गए जिन पर बाद में लाठियाँ चलाई गई। इनमें से एक में जवाहरलाल की माता बुरी तरह घायल हुई। यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, लेकिन स्वरूपरानी ने एक जुलूस में भाग लेने का हठ किया था। यह जुलूस पुलिस ने रोक दिया। जुलूस के लोग लम्बी पाँत में खड़े हो गए और एक सदय कांग्रेसी एक कुर्सी ले आया जिस पर स्वरूपरानी जुलूस के आगे बैठ गईं। स्वरूपरानी के निकट परिवेश के लोगों के साथ कुछ व्यक्तियों को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया, लेकिन वे छोड़ दी गईं।

इसके तुरत बाद पुलिस ने जुलूस वालों पर भयंकर लाठी वर्षा की और स्वरूपरानी पर केंद्रित होकर वृद्ध महिला को कुर्सी पर से ज़मीन पर गिरा दिया, जहाँ वे बार-बार डंडों से पीटी गईं। उनके माथे के एक घाव से खून बहने लगा और वे मूर्छित हो गई। जब रास्ता जुलूस वालों से साफ़ कर दिया गया तो स्वरूपरानी रास्ते के किनारे पड़ी मिलीं। उन्हें एक पुलिस अधिकारी ने उठाया और अपनी कार में आनन्द भवन ले आया।

स्वरूपरानी की मृत्यु की झूठी खबर सुनकर क्रुद्ध भीड़ ने कुछ समय के लिए अहिंसा छोड़ दी और पुलिस पर आक्रमण किया। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर गोली चला कर कुछ की हत्या कर दी।

कुछ दिनों बाद घटना का वृत्तान्त समाचारपत्र में पढ़कर नेहरू (जिन्हें एक साप्ताहिक पत्र ही मिलता था) बहुत दुखी और क्रुद्ध हुए।

उन्होंने लिखा, "धूल भरी राह में खून बहती मेरी बुढ्ढी माँ के खयाल ने मुझे परेशान कर दिया और कह नहीं सकता कि अगर मैं वहाँ होता तो क्या करता।"

लगभग महीने भर बाद, तब भी सिर पर पट्टी बाँधे स्वरूपरानी अपने बेटे से मिलने आईं। नेहरू इस बीच नैनी जेल से बरेली की जेल भेज दिए गए थे। वे गर्व से पट्टियाँ बाँधे हुए थीं मानो कि वे विशिष्टता की पट्टियाँ हों, और उनकी बातचीत प्रसन्न और सजीव थी। अपनी चोटों में माता को बेटे की आशंसा दिखाई पड़ी।

इस अवधि में नेहरू का स्वास्थ्य गिर रहा था। १९३२ में कई महीने उनका तापमान प्रति दिन बढ़ता रहा। अपने अच्छे स्वास्थ्य पर गर्व करने में प्रवृत्त वे इस ह्रास पर कुढ़ उठे और उसको दूर करने के लिए जाड़ों में देर तक धूप सेंकना शुरू किया जब उत्तर की तीखी सरदी सूर्य की गर्मी से षड्यंत्र रच लेती है। इससे उनमें नई कान्ति आ गई, उनका शरीर सुखद उत्साह, यहाँ तक कि उल्लास से चमक उठा।

इसके अतिरिक्त जेल में उनके भोजन का स्वभाव बदल गया। प्रायः सारे काश्मीरी ब्राह्मणों की तरह उन्होंने बचपन से मांसाहार किया था; लेकिन १९२० में असहयोग के उत्साह में उन्होंने बिलकुल शाकाहारी भोजन करना आरंभ कर दिया। वे कभी भी

मांस के बहुत अधिक शौक़ीन नहीं थे, और यह परिवर्तन उनकी रुचि का था। १९२६ में अपनी योरोप यात्रा में वे फिर मांसाहार करने लगे थे, लेकिन लौटने पर फिर यथार्थतः शाकाहारी हो गए। उनके भोजन में मांस की मात्रा अणुवीक्षणीय रहती। यह आदत चल रही है।

नेहरू मांसाहार के प्रति वितृष्णा का एक विचित्र कारण बताते हैं, जिसका आधार आहारीय से अधिक सुरुचि से है। उनका कहना है कि मांसाहार "मुझे अपरिष्कृत संवेग लगता है।"

गांधीजी की प्रेरणा के अन्तर्गत आरंभ में जवाहरलाल ने धूमपान छोड़ दिया था। यह त्याग की एक चेष्टा थी जिसका पालन उन्होंने, किसी नैतिक उन्नयन पाने के भाव से नहीं किन्तु प्रथमतः अपने रहन सहन के ढंग को सरल करने के लिए, पाँच या छः वर्ष तक किया। उन्हें लगा कि यह आत्म अनुशासन की एक रीति है।

बरेली की ग्रीष्म की गर्मी शक्तिहीन करनेवाली थी, और नेहरू के बिगड़े स्वास्थ्य को दृष्टिगत रखते हुए अधिकारियों ने उन्हें और गोविन्दवल्लभ पन्त को भी, जो संयुक्त प्रान्त के और अब केंद्रीय मंत्रिमंडल में गृहमंत्री हैं, देहरादून की अधिक स्वास्थ्यप्रद जलवायु को हटाने का निश्चय किया। देहरादून हिमालय की तलहटियों में बसा है।

उन्होंने छः सप्ताह नैनी में और चार महीने बरेली में बिताए थे। अब अपनी दो वर्ष की अवधि के प्रायः अन्त तक, साढ़े चौदह महीने और उन्हें देहरादून जेल में रहना था।

ज्योंही नेहरू और पन्त बरेली से चल रहे थे, एक अंग्रेज़, पुलिस का सुपरिटेंडेंट आगे आया और ज्योंही नेहरू ने पुलिस की कार में प्रवेश किया, उसने उन्हें एक पुलिन्दा थमा दिया।

उसने समझाया, "इसमें पुरानी सचित्र जर्मन पत्रिकाएँ हैं। मैंने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे हैं। सो मैंने सोचा कि शायद आप इन्हें देखना चाहें।"

यह सौम्य विचार था और इस चेष्टा से नेहरू प्रभावित हुए। पन्त और वे रात की ठंढी हवा में कार पर चलते हुए बरेली से पचास मील दूर राह के एक स्टेशन पर पहुँचे जहाँ वे देहरादून की गाड़ी में सवार हुए। जेल के अधिकारियों ने, जनता के प्रदर्शन के भय से, इस ढंग का निश्चय किया था।

अपेक्षाकृत लम्बे जेल प्रवास ने नेहरू को विचार और विश्लेषण का अवसर दिया।

बाहर सविनय अवज्ञा अस्थिर गति से चल रही थी, किन्तु यह निश्चित था कि पहले सरकार के हाथ में थी और कांग्रेस बचाव पर थी। सरकार ने मोतीलाल के पुराने निवास गृह, स्वराज्य भवन को अलग कर दिया जिसे उन्होंने कांग्रेस को दान कर दिया था और जो यह संगठन अपने प्रधान कार्यालय के रूप में उपयोग में ला रहा था। जेल में नेहरू ने सुना कि उनका अपना आनन्द भवन भी उनके पिता के आयकर के लिए शायद ज़ब्त कर लिया जायगा, जिसका एक अंश उन्होंने दे दिया था और जिसका शेष उन्होंने जब किसानों को कर न चुकाने की सलाह दी थी तो रोक लिया था। उन्हें लगा कि किसानों

को उनके कर रोकने की सलाह देकर अपना दे देना भद्दा और अनुचित है। उनकी माता को मकान से बाहर कर देने और ध्वज-दंड पर राष्ट्रीय तिरंगा हटा कर उसकी जगह यूनियन जैक लगने के खयाल ने उन्हें चिन्तित कर दिया। लेकिन जेल में इस बात पर विचार करते हुए उन्हें लगा कि राष्ट्रीय आधार पर यह बुरा नहीं होगा अगर उनका मकान ज़ब्त हो जाय, क्योंकि तब वे उन किसानों के समीप आ जायँगे जो बेदखल हो रहे हैं। घटनाएँ ऐसी हुईं कि उनका मकान ज़ब्त नहीं हुआ क्योंकि सरकार को कुछ रेलवे के शेयर मिल गए जो कुर्क कर लिए गए। नेहरू की और रणजीत की मोटरकार भी कुर्क कर ली गई और बेच दी गई।

जो साप्ताहिक समाचार पत्र उन्हें जेल में मिलता था उसे नेहरू उत्सुकता से पढ़ते थे और उससे बाहर के हालचाल के बारे में कुछ जान लेते थे। बीच-बीच में उनकी माता उनसे मिलतीं, और उनके दुर्बल शरीर और अपराजेय मन को देखकर उन्हें आनन्द होता जब कि उससे दुःख भी होता। तब एक दिन उन्होंने पढ़ा कि उनकी माता, उनकी पत्नी और बेटी के साथ—कमला इलाहाबाद लौट आई थीं–रणजीत से मिलने इलाहाबाद ज़िला जेल गईं। एक चिड़चिड़े वार्डर की सनक ने उनके बिना किसी अपराध के उनका अपमान किया और वे जेल के बाहर जल्दी खदेड़ दी गईं। संयुक्त प्रान्तीय सरकार ने इस घटना के विषय में जाँच करना तो दूर बड़ी अवज्ञा के साथ आचरण करना पसन्द किया।

जवाहरलाल को गुस्सा और दुःख हुआ। उनके निकट और प्रिय लोगों को इस प्रकार के आधिकारिक व्यवहार से बचने के लिए उन्होंने लगभग सात महीने तक भेंट बन्द कर दीं। यह उनके लिए और जो लोग थे उनके लिए भी कठोर था, लेकिन वह जो कुछ विरोध कर सकते थे उसका यही एक रूप था।

अपना आवेग खोकर सविनय अवज्ञा छिटपुट जारी थी। संयुक्त प्रान्त और बम्बई में करबन्दी के भूमि संबंधी अभियान बीच-बीच में उठ खड़े होते थे। गुजरात और कर्नाटक में वे अधिकतर केन्द्रित थे। यह कुछ देर के लिए चमक उठते थे। १९३२ के अप्रैल म दिल्ली में कांग्रेस अधिवेशन करने के प्रयत्न किए गए, किन्तु पाँच सौ व्यक्तियों तक सीमित रहकर, जिनमें से अधिकांश पुलिस ने गिरफ्तार कर लिए थे, यह भी प्रतीकात्मक प्रदर्शन से अधिक नहीं था।

इस बीच, जेल में रहने पर भी, गांधीजी निष्क्रिय नहीं थे। आसन्न साम्प्रदायिक निर्णय, जिसकी ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने धमकी दी थी, उनके दिमाग़ पर बोझ बना हुआ था विशेषत: अछूतों को पृथक् निर्वाचन स्वीकृत होना। उन्होंने मार्च के प्रारंभ में सर सैमुअल होर को लिखा।

गांधीजी ने सचेत किया, "दलित वर्गों के लिए प्रथक् निर्वाचन के निर्णय की स्थिति में मुझे आमरण अनशन करना होगा।"

नेहरू को इस पत्र-व्यवहार के विषय में कुछ पता ही नहीं था। गांधीजी के

विश्वासभाजन उनके सचिव महादेव देसाई तथा वल्लभभाई पटेल थे। दोनों ही उनके साथ जेल में थे।

पाँच सप्ताह की गुप्त सभा के बाद गोलमेज़ सम्मेलन का तीसरा अधिवेशन समाप्त हो गया। १७ अगस्त १९३२ को रैमज़े मैकडोनल्ड ने अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की साम्प्रदायिक निर्णय नाम से प्रसिद्ध सरकार की अस्थायी योजना की घोषणा की। दलित वर्गों (तथाकथित अछूतों) को पृथक् निर्वाचन ही नहीं मिला था, किन्तु उन्हें सामान्य मतक्षेत्रों में चुनाव लड़ने का अतिरिक्त अधिकार भी दिया गया था। यह शर्त थी कि बीस वर्ष के बाद पृथक् निर्वाचन स्वतः समाप्त हो जायगा।

गांधीजी के लिए यह समाचार बम के गोले की तरह नहीं आया। वे इस तरह की किसी चाल की अपेक्षा कर रहे थे। बहुसंख्यकों के भार को दूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार सवर्ण हिन्दुओं और अछूतों के बीच भेदभाव के लिए कोई और चेष्टा करेगी। अपने विचारों को पुनः व्यक्त करने में उन्होंने देर नहीं की। १८वीं अगस्त को गांधीजी ने ब्रिटिश प्रधान मंत्री को लिखा कि निर्णय के विरोध में वे अपना "आमरण अनशन" २०वीं सितंबर को आरंभ करेंगे। मैकडोनाल्ड ने ८वीं सितंबर के एक पत्र में खेद प्रकट किया कि जब तक विभिन्न भारतीय दल और संप्रदाय आपस में किसी विकल्प के लिए राज़ी नहीं होते तब तक ब्रिटिश सरकार का निर्णय बदला नहीं जा सकता। गांधीजी का उत्तर उनके अनशन के संकल्प को दुहराना था।

१२ सितम्बर को इस पत्र-व्यवहार के प्रकाशित होने से भारत में व्यापक चिन्ता और आश्चर्य हुआ, किन्तु उससे हिन्दू संप्रदाय के सब वर्गों को जिनमें कट्टर तत्व भी थे सक्रिय बनाने का सुपरिणाम हुआ कि इस संकट का कोई हल निकालें।

आजकल भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने कहा, "हिन्दू समाज की परीक्षा का समय है। अगर उसमें कोई जीवन है तो उसे महान और गौरवपूर्ण कार्य करना होगा।"

कई परम्परागत हिन्दू मन्दिर अछूतों के लिए खोल दिए गए, किन्तु इस चेष्टा से बुनियादी संवैधानिक समस्या हल नहीं हुई। अछूतों के कुछ प्रतिनिधियों सहित कट्टर और उदार संप्रदाय के कुछ नेता महात्मा गांधी से जेल में भेंट करने गए।

२०वीं सितम्बर को ११:३० प्रातःकाल अपना अनशन आरंभ करने के पूर्व गांधीजी ने अपना अन्तिम आहार नीबू का रस और मधु पानी के साथ लिया।

जेल में, खबर सुनकर जवाहरलाल महात्माजी का आघात देने की अनन्त क्षमता के ऊपर सोचते रहे। इस विचार से कि फिर गांधीजी को नहीं देख पाएँगे, कुछ वेदना के क्षणों के बाद जवाहरलाल इस भावना से क्रुद्ध हुए कि इस बार फिर गांधीजी ने कोई बुनियादी राजनीतिक प्रश्न न लेकर चुनाव संबंधी गौण प्रश्न उठाया है। वे हैरान थे कि किसी इतनी तुच्छ चीज़ को लेकर अपनी हत्या करने का व्यावहारिक मूल्य क्या है?

नेहरू ने मन ही मन सोचा "वे शायद यह भी सुझाते लगते हैं कि भगवान ने उपवास की वही विधि भी निर्दिष्ट कर दी थी। कैसा भयानक उदाहरण है!"

लेकिन शीघ्र ही क्रोध की जगह चिन्ता ने ले ली। नेहरू अपनी परेशानी का विश्लेपण करने बैठ गए। गांधीजी के निश्चय पर विचार करते हुए उनके ठीक बात के ठीक समय पर करने की रहस्यमय कौशल की याद आई। संभव है यह भी ठीक ढंग से हो जाय। मनुष्य को मृत्यु का बिना हिचके सामना करना ही होगा—गांधीजी की मृत्यु भी! एक विचित्र शान्ति उन पर छा गई।

गांधीजी के विचार भी नेहरू के साथ थे, क्योंकि सहज प्रवृत्ति से ही उन्होंने अपने से अल्पवय के व्यक्ति की भावनाओं को सोचा। महात्माजी के अपना अनशन प्रारंभ करने के तुरंत बाद, एक तार में गांधीजी का लहजा स्नेहपूर्ण और घनिष्ट था। उनके संदेश के पहले तीन वाक्य थे : "वेदना के इन सारे दिनों तुम मेरे मन की आँखों से सामने रहे हो। मैं तुम्हारी सम्मति जानने के लिए सबसे अधिक उत्सुक हूँ। तुम्हें पता है मैं तुम्हारी राय की कितनी क़द्र करता हूँ।"

२४वीं सितंबर को, अनशन के पाँचवें दिन, बहुतेरे लोगों के आने जाने के बाद एक समझौता हुआ जो गांधीजी और डाक्टर भी० रा० अम्बेडकर दोनों को स्वीकार्य था। अम्बेडकर दलित वर्ग के सबसे अधिक मुखर और समझदार नेताओं में से थे जो पृथक् निर्वाचन को छोड़ने पर राज़ी तो हो गए, लेकिन बड़े ऊँचे मूल्य पर। मैकडोनल्ड के निर्णय ने प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं में पृथक् निर्वाचन के आधार पर कुल ७१ स्थान रखे थे; इसे पूना समझौते* ने सामान्य निर्वाचन के आधार पर बढ़ाकर १४८ स्थान कर दिए। सरकारी घोषणापत्र (तीसरे गोलमेज़ सम्मेलन की सिफ़ारिशों सहित) में प्रकल्पित संघीय व्यवस्थापिका में दलित वर्ग को कुल स्थानों के १८ प्रतिशत रखे गए थे। मैकडोनल्ड ने समझौते को ब्रिटिश सरकार की तार द्वारा स्वीकृति भेजने में समय नहीं खोया, और २६ वीं सितंबर को गांधीजी ने अपना अनशन तोड़ दिया।

नेहरू जन्म से ही समझौतों और संधिपत्रों के विरुद्ध हैं, फिर भी उन्होंने चैन की साँस ली। उन्होंने गांधीजी को बधाई का तार भेजा जिसके प्रसंग से संबंधित वाक्य थे :

दबे कुचले लोगों के लिए कोई त्याग बहुत बड़ा नहीं है। सबसे नीचे के लोगों की स्वाधीनता से स्वाधीनता का निर्णय करना होगा किन्तु एकमात्र लक्ष्य पर छा जानेवाले अन्य प्रश्नों के खतरे को अनुभव करता हूँ। धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय लेने में असमर्थ हूँ। खतरा है आपके ढंगों से दूसरे लाभ न उठाएँ लेकिन जादूगर को कैसे सलाह देने की कल्पना करूँ। स्नेह।

अपनी प्रतिक्रियाओं में नेहरू स्पष्टतः सावधान थे, क्योंकि उन्होंने यह समझ लिया कि गांधीजी के अनशन उन कांग्रेसजनों को, जो सविनय अवज्ञा से ऊब रहे थे, एक सुविधाजनक बचाव का रास्ता मिल जायगा। पूना समझौता सम्मानपूर्ण बचाव का अनुच्छेद हो गया जिसके द्वारा आन्दोलन अभिप्रेरित क्रियाहीनता से समाप्त हो जायगा।

---

*पूना के निकट यरवदा जेल के होने से अभिहित। गांधीजी वहीं रखे गए थे।

इसमें वे कम ही न्यायसंगत थे क्योंकि सविनय अवज्ञा, जैसी चल रही थी, अपनी अंतिम साँस ले रही थी। किन्तु नेहरू उन विशेष सुविधाओं से परेशान थे जो सरकार गांधीजी को लोगों से मिलने और जेल के भीतर से बाहर हरिजन आंदोलन के नेताओं को आदेश देने के लिए दे रही थी। उनका संदेह सितंबर में पार्लमेंट में दिए एक उल्लेख से उत्पन्न हुआ। "अब अनेक कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की रुचि अस्पृश्यता के विरुद्ध अभियान में मुड़ गई।"

अस्पृश्यता-विरोधी कार्य का केन्द्रविन्दु दक्षिण भारत हो गया। अभियान को गांधीजी के जेल से चलाने से सविनय अवज्ञा में रुचि कम हो गई। फिर भी आन्दोलन उखड़ा-उखड़ा चलता रहा।

४ जनवरी १९३३ को इसकी पहली वर्षगाँठ हुई और कार्यकारी कांग्रेस अध्यक्ष राजेन्द्रप्रसाद के आदेशानुसार देश भर में सभाएँ करने का प्रयत्न किया गया था। राजेन्द्रप्रसाद गिरफ्तार कर लिए गए। मार्च में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में करने की चेष्टा की गई। स्वास्थ्य ख़राब रहने पर भी स्वरूपरानी ने उसमें जाने की हठ की। कलकत्ता जाते हुए रास्ते में वे आसनसोल पर गिरफ्तार कर ली गई और कुछ दिनों के लिए बन्द रखी गई। कुल मिलाकर लगभग एक हज़ार प्रतिनिधि अधिवेशन जाते हुए गिरफ्तार कर लिए गए होंगे; लेकिन हज़ार और पुलिस की नज़र बचाकर कलकत्ता में एकत्र हो गए। वे पुलिस के बार-बार लाठी चलाने से तितर बितर कर दिए गए, किन्तु इसके पहले उन्होंने कई प्रस्ताव पारित कर लिए थे। उनमें से बहुत से गिरफ्तार कर लिए गए, लेकिन कुछ दिनों तक बन्द रखने के बाद छोड़ दिए गए।

इस बीच गांधीजी के अस्पृश्यता अभियान की सफलता से कुछ कट्टर हिन्दुओं का रोष भड़कने लगा था। फिर से सोचने पर डाक्टर अम्बेडकर भी हरिजनों के चुनाव की प्रस्तावित सूची की रीति के विरोधी हो गए। जनमत को अपने पक्ष में दृढ़ करने के लिए, गांधीजी ने ८वीं मई से प्रारंभ होनेवाले इक्कीस दिन के "आत्म शुद्धि" के उपवास का निश्चय किया।

नेहरू को उपवास दुर्बोध चेष्टा लगी, किन्तु यह समझते हुए कि गांधीजी उस पर कृतसंकल्प हैं उन्होंने गांधीजी को उनके एक पत्र के उत्तर में तार भेजा।

नेहरू ने लिखा, "जो कुछ भी हो मेरा ध्यान और स्नेह आपके साथ हैं।"

८वीं मई को, उपवास के पहले दिन सरकार ने गांधीजी को छोड़ दिया और महात्माजी ने एक महीने के लिए सविनय अवज्ञा स्थगित करने की घोषणा कर उसका प्रतिदान किया। साथ ही सरकार से सारे राजनीतिक क़ैदियों को छोड़ने और अध्यादेशों को वापस लेने का अनुरोध किया। बाद में, कांग्रेस के कार्यकारी अध्यक्ष एम० एस अणे[1] ने इस स्थगन की अवधि को छः सप्ताह कर दिया। कांग्रेस शान्ति का हाथ बढ़ा रही थी।

---

१ बाद में बिहार के राज्यपाल।

गांधीजी ने पूना में एक मित्र के मकान में अपना उपवास जारी रखा और उसे पूरा किया। उपवास से उत्पन्न सामूहिक भावुकता नेहरू को मात्र पुनर्जागरणवाद लगा जिससे स्पष्ट विचार में बाधा आती है। गांधीजी हमेशा शुद्धि और त्याग का राग क्यों अलापते रहते हैं? निश्चय ही सही बात तो यह है कि लोग सोचें।

इस प्रकार ज्यों-ज्यों ग्रीष्म के बाद वर्षा आई और वर्षा के बाद शरद् आई नेहरू विचार-मग्न रहे। वे जानते थे कि सविनय अवज्ञा को स्थगित करना, चाहे कितना ही अल्प-कालीन हो आन्दोलन के लिए घातक प्रहार है। लोगों के साथ अविश्वास से काम नहीं चल सकता। आधे जून में सविनय अवज्ञा छः महीने के लिए और स्थगित कर दी गई। यह दफ़नाए जाने वाले मुर्दे को जीवन का आभास देने की चेष्टा थी।

अन्त दूर नहीं था। मध्य जुलाई में पूना में बुलाए एक सम्मेलन में गांधीजी को "शान्ति की संभावनाएँ खोजने के दृष्टिकोण से" वाइसराय से फिर चर्चा आरंभ करने का आदेश मिला। नेहरू इस समाचार से व्यग्र हो उठे। गांधीजी से मिलने से वाइस-राय के इनकार से आश्चर्य नहीं हुआ, किन्तु इससे देश का उत्साह और ठंडा पड़ गया। गांधीजी की दूसरी चेष्टा का भी यह उत्तर मिला।

इस पर गांधीजी ने सामूहिक सविनय अवज्ञा के स्थगित करने की घोषणा की किन्तु व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा की अनुमति दे दी। यह अपने आप में अर्थहीन चेष्टा थी जिसे सरकार ने निश्चित रूप से ठीक ही सन्धि का प्रस्ताव समझा। सामूहिक सविनय अवज्ञा अठारह महीने चली जिसमें लगभग १००००० लोग गिरफ्तार किए गए।

कारावास में नेहरू ने गांधीजी का अहमदाबाद के निकट अपना साबरमती आश्रम भंग करके व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा का नेतृत्व करने का निश्चय सुना। महात्माजी ने पहली अगस्त की तारीख निश्चित की जब वे आश्रम छोड़ेंगे और स्वतंत्रता प्राप्ति तक वहाँ कभी न लौटेंगे। ३१ वीं जुलाई की रात को गांधीजी चौंतीस अन्य आश्रम-वासियों के साथ गिरफ्तार किए गए। वे साबरमती से पूना के निकट यरवदा जेल ले जाए गए किन्तु ४ अगस्त को यरवदा गाँव छोड़कर पूना नगर की सीमा में रहने का आदेश देकर छोड़ दिए गए। उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया और फिर गिरफ्तार कर साल भर के लिए जेल में बन्द कर दिए गए।

जेल में गांधीजी ने उन विशेष सुविधाओं को चाहा जो उन्होंने पहले जेल में से हरि-जन आन्दोलन चलाने को प्राप्त की थीं। लेकिन स्थिति बदल गई थी और सविनय अवज्ञा यथार्थतः मर चुकी थी। सरकार उन्हें केवल सीमित सुविधाएँ देने को तैयार थी और विरोध में महात्माजी १६ वीं अगस्त को दूसरे "आमरण अनशन" के लिए तैयार हो गए। १८ वीं अगस्त को सरकार उनको इस शर्त पर छोड़ने को तैयार हो गई कि वे बाहर रह कर "सविनय अवज्ञा की सब कार्यवाहियाँ और भड़काने के काम छोड़ने" को तैयार हों। गांधीजी ने सप्रतिबन्ध छूटने से इन्कार कर दिया। २१वीं

अगस्त को वे एक स्थानीय अस्पताल में हटा दिए गए और दो दिन बाद जब उनकी हालत चिन्ताजनक हो गई तो सरकार ने उन्हें बिना प्रतिबन्ध छोड़ दिया।

इस अवधि में नेहरू एक बार फिर देहरादून से नैनी जेल को स्थानान्तरित किए गए। वहाँ रहकर उन्होंने सुना कि उनकी माँ बहुत बीमार हो गई हैं और अस्पताल में ले जाई गई हैं। उनकी अपनी सज़ा की अवधि समाप्त होने को थी। किन्तु ३० अगस्त १९३३ को अधिकारियों ने स्वरूपरानी की बीमारी का ध्यान रखते हुए उन्हें छोड़ देने का निश्चय किया। साधारणतः वे १२ वीं सितम्बर को छोड़े जाते।

नेहरू कारावास की छठी बार से भारत के बदलते रूप को देखने बाहर आए। जब वे प्रायः दो वर्ष पूर्व जेल गये थे तो उल्लसित और चुनौती के भाव में थे, अब उदास, खिन्न तथा थके थे। दमन ने अपना काम किया था। वे ठीक पाँच महीने तेरह दिन मुक्त रहे।

१५

—और फिर

"व्यक्ति जेल में जीवन की छोटी-छोटी बातों की कद्र करना सीखता है।" अनेक जेलों में से एक में रहते हुए उन्होंने लिखा।

२६ दिसंबर १९३१ से जब वे बम्बई जाते गिरफ्तार हुए थे और ४ सितंबर १९३५ तक जब वे अपनी सातवीं जेल अवधि के बाद अल्मोड़ा जेल से छोड़े गए थे, जवाहरलाल मुश्किल से नौ महीने स्वतंत्र रहे। अगर जेल में उन्हें सोचने का अवसर मिला तो उससे उनकी अवसाद-भावना भी गंभीर हो गई और अकेलेपन का भाव तीव्र हो गया। उनकी आँखों में अब सुपरिचित दूर की ओर देखने की दृष्टि स्थिति हो गई थी मानो कोई कल्पनाशील व्यक्ति दूरस्थित पर्वत अथवा क्षितिज देख रहा हो।

इस अवधि में चालीस के मध्य के आसपास, उन्हें अपने व्यवस्थित विचार और सिद्धांतों को अधिक स्पष्ट रूप से विश्लेषण करने का समय मिला। वे शरीर और मन से अधिक प्रौढ़ हो गए थे और उनकी बौद्धिक जिज्ञासा अब भी अतृप्त और प्रचुर थी, और १९३२ में थोड़े समय के अस्वास्थ्य के सिवा, जिस पर उन्होंने जल्दी क़ाबू पा लिया, वे शारीरिक रूप से लचीले और हृष्टपुष्ट थे। कोई भी शारीरिक रोग उनके अच्छे स्वास्थ्य के घमंड को चोट पहुँचाता है, यह वे स्वीकार करते हैं।

जेल जीवन के क्रम में एक यौगिक व्यायाम शीर्षासन था, जिसमें सिर के बल खड़े होकर हाथ की उँगलियाँ सिर के पीछे फैली रहती हैं, कुहनियाँ फ़र्श पर टिकी रहती हैं और शरीर उल्टा खड़ा रहता है। मूलतः यह मेरुदंड को अनुप्राणित करने के लिए होता है, और नेहरू इस व्यायाम से दिन का आरंभ करते, जैसा वे अब भी करते हैं। इस उल्टी स्थिति में वे प्रति दिन सवेरे पाँच से दस मिनट तक लगाते हैं।

जेल में उन्होंने शीर्षासन को न केवल शारीरिक रूप से स्फूर्तिदायक पाया किन्तु मनोवैज्ञानिक प्रेरणा का रूप भी पाया। थोड़ी विनोदात्मक स्थिति ने उनके विनोद को बढ़ा दिया।

वे याद करते हैं, "इसने मुझे जीवन के व्यतिक्रमों के प्रति कुछ अधिक सहनशील बना दिया।"

अमरीकन पत्रकार एडगर स्नो को जो उनके प्रधान मंत्री बनने के शीघ्र बाद आया था, उन्होंने उसके शारीरिक लाभ समझाए थे।

उन्होंने स्नो को बताया, "यह सामान्य स्थिति का बिलकुल उल्टा है। शरीर अपने

को नई स्थिति का अभ्यस्त बनाने के लिए विवश हो जाता है। व्यक्ति दिन भर बैठा या चलता रहता है और मेरुदण्ड को उलट पलट देना भूल जाता है।"

यौगिक व्यायाम में नेहरू की तीव्र रुचि थी। इसे वे प्रतिदिन प्रातःकाल जागकर कुछ मिनटों के लिए किया करते हैं। एक अंग्रेज पत्रकार, इयन स्मिथ ने, जो भारत में कुछ वर्षों तक ब्रिटिश स्वामित्व के स्टेट्समन के संपादक थे, और जो योग के परम भक्त हैं, एक बार नेहरू से भेंट में भारत के भावी प्रधान मंत्री और अपने को एक ही सेटी पर बैठे पाया, दोनों आदमी शान्तिपूर्वक प्राणायाम् कर रहे थे।

स्टीफ़ेन ने बताया, "इसमें राजनीति से ज्यादा मज़ा आया।"

चालीस के आरंभ के वर्षों में नेहरू में लड़कपन का आकर्षण और उत्साह बहुत कुछ चला जा रहा था। उनका पीला चेहरा आन्तरिक तनाव इंगित करता; किन्तु ध्यान-मग्न और प्रायः चिन्तनरत भूरी आँखें उस किसी बात से चमक उठतीं जो उन्हें प्रसन्न कर देती या उनका मनोविनोद करती, और चपल चेहरे पर एक स्मित आ जाती जो विनोदात्मक, चिढ़ानेवाली, कभी-कभी चिन्ता में डूबी और कोमल होती।

नेहरू का चेहरा परस्पर विरोधी उन भावों को परावर्तित करता है जो उनमें भरे हैं और उनके स्त्रैण और पौरुष के उन विशिष्ट लक्षणों को प्रगट कर देता है जिससे उनका चरित्र निर्मित है। आराम करते समय उनके चेहरे पर लगभग स्त्रैण कोमलता की रेखा रहती है, मुंह पर प्रयोजनीयता और झल्लाहट की विचित्र छाप थी। उनके चालीस का प्रारंभ हो चुका था और नेहरू के बाल पकने लगे थे और कम होते जा रहे थे। आज उनके सुडौल सिर के चँदले गुम्बद में बौद्धिकता और अविकार समाहित हैं। ऊपर के दृढ़ होंठ में महत्वाकांक्षा है। आँखें जो सामान्यतः गंभीर और धँसी रहती हैं कभी-कभी उत्फुल्लता की तरंग में घनी भौहों के नीचे से उनके पीले चेहरे से उभरने लगती हैं; किन्तु वे विचारक और विद्वान की उदास, संवेदनशील आँखें हैं।

इस संवेदनशीलता का कुछ नेहरू के जेल जीवन की प्रतिक्रिया में दिखाई दिया था जिसका अन्तिम क्रम तब तक सबसे लंबा था। यदि बाहर वातावरण में अहिंसा थी, तो अधिकारी क्षेत्रों और जेल में हिंसा बढ़ रही थी। स्त्रियों को राष्ट्रीय आन्दोलन में आने से हतोत्साह करने की चेष्टा में महिला क़ैदियों के साथ जानबूझ कर दुर्व्यवहार करने की नीति के अतिरिक्त राजनीतिक क़ैदी, विशेषतः अल्पवय के और उत्साही को ज़रा ज़रा से बहाने पर बेंत लगाए जाते थे। अप्रैल १९३३ में ब्रिटिश पार्लमेंट में एक अधिकारी प्रवक्ता ने स्वीकार किया कि १९३२ में पांच सौ से अधिक व्यक्तियों को सविनय अवज्ञा से संबंधित अपराधों के लिए कोड़े लगाए गए थे, और जेलों के एक प्रान्तीय इन्सपेक्टर जेनरल ने ३० जून १९३२ की एक गश्ती चिट्ठी में "सुपरिंटेंडेंट और जेल के अधीनस्थ कर्मचारियों को यह समझाया था कि तथाकथित सविनय अवज्ञा के क़ैदियों के साथ सुविधाजनक व्यवहार का कोई औचित्य नहीं है। इस वर्ग को यथास्थान रखने और कठोरता से पेश आने की ज़रूरत है।"

चूँकि नेहरू स्वयं क़ैदी थे, अतः मानव की मानव के प्रति क्रूरता के विरुद्ध असहाय थे, और वे पक्षियों और पशुओं की ओर मुड़े जिसे उन्हें राजनीतिक कारावास की जंगल-सभ्यता से साँस मिली। नैनी कारागृह और बरेली जेल में उनके कई साथी थे, लेकिन देहरादून में दो साथियों से आरंभ करके लगभग आठ महीने तक, जनवरी से अगस्त १९३३ में छूटने तक वे अकेले ही क़ैदी रहे जिससे कभी कभी वार्डर के सिवा कोई बात करनेवाला न था। तीनों जेलों में उन्हें अपने इर्द-गिर्द पशु पक्षियों के जीवन-क्रम को देखते रहने से कुछ सुख मिला।

उन्हें बरेली में बहुसंख्यक कबूतरों से सख्यभाव प्राप्त हुआ और नैनी में अक्सर वे हरे पंख, लाल चोंच के तोतों को देखते रहते जब वे झुंड के झुंड जेल में उड़कर आ जाते और बैरक की दीवारों के छेद में प्रसन्नतापूर्वक बैठ जाते। उनके आवेग कितने मानवीय और कितने अमिश्रित थे! एक बार वे एक मादा की कृपा प्राप्त करने के लिए दो नरों की भयानक लड़ाई देखकर विनोदित हुए। मादा निरुद्विग्न और शान्त पास ही बैठी लड़ाई के परिणाम की प्रतीक्षा कर रही थी।

देहरादून के इर्दगिर्द के जंगल और पहाड़ पक्षियों से भरे थे और नेहरू शाम को देर तक उनकी कर्णकटु चहचहाहट को प्रायः सुनते रहते। उनकी सजीव सामूहिक बोली के ऊपर कभी-कभी सामान्य कुकू के भारतीय रूप कोयल की करुण आवाज़ सुनाई पड़ जाती, जिसकी रहस्यात्मक उद्दीपक पुकार भारत में उतनी ही प्रसिद्ध है जितनी योरप में कुकू की। कुकू की दूसरी जाति, अपनी इतनी तीखी निरन्तर ऊँची होती कूक के कारण इतनी नहीं भाती। कभी-कभी उक़ाब और चीलें हवा में शान से ऊँचे चढ़ते हुए गोल चक्कर लगाते और फिसलती हवा में ऊँचे उड़ते। आकाश में होकर जाती हुई मुर्ग़ाबियों की सममिति भी उन्हें आकृष्ट करती और जब वे रूपाकार पंख चलाते निकल जाते तो वे उनके झुंड का अनुसरण करना चाहते।

इनके अतिरिक्त बरेली में बन्दर थे; और नेहरू ने जिनका हृदय सदा पीड़ित के प्रति सहानुभूतिपरक रहता, एक बार मज़े लेकर मनुष्य की अविचारपूर्ण क्रूरता पर बन्दरों की विजय देखी। बन्दर का एक बच्चा बैरकों के घेरे में रास्ता भूलकर क़ैदियों और वार्डरों के एक दल की पकड़ाई में आ गया। उन्होंने उसके गले में डोरी बाँधकर एक खंभे से बाँध दिया। उसकी आवाज़ से बड़े बन्दर आ गए, और उनमें से एक बड़ा झज्झू लाठी चलाते हुए पकड़नेवालों की चिन्ता न कर उन पर कूद पड़ा, उन्हें तितर-बितर कर भगा दिया और नन्हें बन्दर को गोद में लेकर चला गया। इसमें क़ानून का न्याय न हो, किन्तु आदर्श न्याय अवश्य था। नेहरू प्रमुदित हुए।

सारा पशु संसार उन्हें समानरूप से आकर्षित नहीं करता था। वे स्नेहशील फुर्तीली गिलहरियों के खेल देखना पसन्द करते थे। विश्वासी स्वभाव से वे अक्सर उनके पास चली आतीं जब वे बैठकर पढ़ते रहते। कभी-कभी वे बिलकुल चुपचाप बैठ जाते

और गिलहरी को अपने पैर पर चढ़ जाने देते और अपने घुटने पर कुतूहल भरी काली आँखें झपकाते ज़रा देर के लिए आराम करने देते।

देहरादून में एक दिन जेल के फाटक के पास खड़े एक वार्डर से बातें करते हुए नेहरू ने बाहर एक आदमी को डंडे से एक जानवर बाँधकर ले जाते देखा जो छिपकली और मगर के बीच का था।

वार्डर ने पूछा, "यह कौन-सा जानवर है।"

"यह गोह है," आदमी ने उसे स्थानीय नाम से बताया, "और आज मैं रात को अपने लिए इसकी तरकारी बनाऊँगा।" वह जंगल का आदिम निवासी था।

कुछ देर तक नेहरू इस जानवर के बारे में हैरान रहे। बाद में पशुविज्ञान की एक पुस्तक पलटते हुए उन्होंने उसके परिचय की खोज की।

कुछ अन्य क़ैदी, विशेषतः लम्बी अवधिवाले पालतू जानवर पालते। देहरादून में कुछ समय के लिए नेहरू ने एक उपेक्षित कुत्ते को पाल लिया, एक कुतिया को, जिसने एक झोल बच्चे पैदा किए। उनमें से तीन को उन्होंने रख लिया और पाला। उनमें से एक का जब बुरी तरह से मिज़ाज खराब हो गया तो नेहरू की बीमारों के लिए स्वाभाविक बेचैनी इस पिल्ले में प्रक्षेपित हुई। उन्होंने उसकी बड़ी सावधानी से परिचर्या की। उसकी आवश्यकताओं को देखने के लिए रातभर में प्रायः एक दर्जन बार उठते। सौभाग्य से वह अच्छा हो गया।

आज के दिन तक उनका पशुप्रेम चल रहा है और प्रधान मंत्री के दिल्ली निवास के उद्यान में दो मूल्यवान् प्रदर्शन पंडा रीछ हैं। नेहरू उन्हें देखने के लिए रोज़ समय निकाल लेते हैं। वे रेंगनेवाले जन्तुओं को कभी झेल नहीं पाए और उनकी कोठरी में अवांछनीय आगन्तुक साँप, बिच्छू और कनखजूरा थे, जिनमें से अन्तिम के लिए वे अत्यधिक असहानुभूति परक थे। एक रात को पैर पर कुछ चीज़ें रेंगने लगी। उन्होंने टार्च जलाई और कनखजूरा देखा। दूसरे ही क्षण वे बिस्तर से उछल पड़े।

जेल में उन्होंने बहुत पढ़ा—अधिकतर जानकारी के लिए—किन्तु यह लगता है कि अवचेतन रूप से जेल के संकुचित वातावरण से पलायन के लिए भी वे पर्यटन पुस्तकें पढ़ना पसन्द करते थे, और अपनी छोटी सी कोठरी में बैठकर दुनिया घूमना चाहते और उसे चीनी यात्री ह्वेनसांग (जो ईसा के बाद सातवीं शताब्दी में सम्राट हर्ष के शासन काल में भारत आया था), मार्कोपोलो, इब्नबतूता, स्वेनहेदिन और निकोलस रोयरिक की आँखों देखना चाहते। उनके साथ उन्होंने मध्य एशिया के स्टेप मैदान, समुद्र और पर्वत, तट से दूर के रहस्यमय प्रदेश और विस्तृत मरुप्रदेश की यात्रा कीं। गर्मियों में जब तापमान चढ़ जाता और गर्मी भयानक हो जाती तो जवाहरलाल सचित्र पुस्तकें निकाल कर हिमनदों को, खड़े ढालों को और बर्फ से ढँके हिमालय और आल्प्स की पर्वत श्रेणियों को टकटकी लगाकर देखते। इस पलायनशील प्रयोग में परिवेश से कुछ चैन मिलता। उन्हें पता चला कि भूचित्रावली (ऐटलस) मज़ेदार चीज़ हो सकती है।"

उनका कहना है कि उपन्यास उन्हें "मानसिक रूप से आलसी" बना देते हैं। लेकिन उन्होंने बड़े चाव से बहुत-सी गंभीर पुस्तकें, राजनैतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक और समाजशास्त्रीय पढ़ीं। उनको हँसी आई जब जेल अधिकारियों ने स्पेंगलर की पश्चिम का पतन (डिक्लाइन आव द वेस्ट) रोक दी। वह उन्होंने माँगी थी। स्पष्टतः उसके शीर्षक से उसे खतरनाक और राजद्रोही बताया गया। लेकिन बनारस जेल में ब्रिटिश सरकार का श्वेतपत्र जिसमें भारत के लिए संवैधानिक प्रस्ताव थे, "राजनीतिक दस्तावेज़" के तौर पर रोक लिया गया।

नेहरू को रेनहोल्ड नीबूर की पुस्तक नैतिक मनुष्य और अनैतिक समाज (मॉरल मैन ऐंड इमॉरल सोसायटी) स्फूर्तिदायक लगी, चूँकि उससे धर्म पर उनके अनेक विचारों को पुष्टि मिली। जेल में रहते हुए उन्हें एक रोमन कैथलिक मित्र ने कई कैथलिक पुस्तकें और पोप के पत्र भेजे जो उन्होंने ध्यानपूर्वक पढ़े। "धर्म" शब्द के सीमित लौकिक अर्थ में उन्हें पश्चिम में कैथलिकवाद ही जीवित धर्म लगा, जो, भावी जीवन के लिए जैसा कि हिन्दूधर्म और इस्लाम "संशय और मानसिक द्वंद्व से एक अच्छा सहारा, प्रदान करते है, ऐसा आश्वासन जो इस जीवन की कमियों को पूरा करे" देता है। दूसरी ओर उन्होंने सोचा कि प्रोटेस्टैंटवाद दोनों संसार की अच्छी से अच्छी वस्तु की कामना कर दोनों ही को खो देता है।

नेहरू के धर्म संबंधी अपने विचार, जैसा कि वे अपनी आत्म कहानी में व्याख्या करते हैं, बहुत कुछ चीनी ताओवाद के उस भाग के समीप रहता है, जिस मार्ग और जीवनविधि का अनुसरण किया जाय। प्रसंगतः यह उल्लेखनीय है कि ताओवाद का शिष्य माओ-ज़ू इतिहास में प्रथम शान्तिवादी प्रख्यात है। जवाहरलाल कहते हैं कि मनुष्य के जीवन के ढंग को धर्म से अधिक सदाचार से संबंधित होना चाहिए, समाज के कल्याण से, न कि मृत्यु के बाद अपनी व्यक्तिगत मुक्ति से। जैसा कि संगठित धर्म उपदेश देते हैं-नैतिकता प्रायः सामाजिक आवश्यकताओं से अधिक पाप ऐसे आध्यात्मिक विचारों पर आधारित रहती है, जब कि नेहरू के विचार में संगठित धर्म कालान्तर में निहित-स्वार्थ बन जाते हैं जो जड़ पकड़कर प्रगति में बाधक होते हैं। - धर्म-मनुष्य के दिमाग़ों को अँधेरा कर देता है क्योंकि उसका आधार मतवादिता और हठधर्मिता होता है और इसलिए स्पष्ट-विचार को वह हतोत्साह कर देता है और इस प्रकार नेहरू धर्म को लौकिक भाव से अनुभव करते हैं; पूजापाठ, मंदिर जाने, प्रार्थना पाठ उन्हें नहीं रुचते। लेकिन कर्म के सिद्धान्त से वे गीता पढ़ना, और स्वामी विवेकानन्द की रचनाएँ पढ़ना पसन्द करते हैं जो उसी तेजस्वी दर्शन का मत रखते हैं।

१९३९ में लंका की एक यात्रा में एक भारतीय परिचित ने नेहरू के लिए भारतीय ढंग से भोज का आयोजन किया और जैसा प्रायः हुआ करता है केले के पत्तों पर भोजन परोसा। भोज के असामान्य ढंग के कारण उसकी कोलम्बो के एक मंदिर से लगे हॉल में व्यवस्था की गई।

जब भोजन का समय आया तो आतिथेय ने सीधेसादे भाव से प्रस्ताव किया कि मन्दिर चला जाय।

नेहरू बिगड़ उठे। "मन्दिर!" वे बरस पड़े। "कौन सा मन्दिर? किस लिए?"

जब उनको परिस्थिति समझा दी गई, तभी वे शान्त हुए।

अनेक बार नेहरू ने कुछ भारतीय राजनीतिज्ञों की भाषणों में सर्वशक्तिमान का उल्लेख करने की आदत की निन्दा की है। यह बात नहीं है कि वे ईश्वर को नहीं मानते, लेकिन वे समझते हैं कि धर्म शुद्धरूप से व्यक्तिगत और निजी मामला है जिसका राजनीति में कोई स्थान नहीं है, विशेषतः भारतीय राजनीति में, जो सदा से धर्मान्ध अपील के लिए संवेदनशील रही है।

यह ज्ञात है कि कभी किसी क्षण के दबाव में नेहरू ने सर्वशक्तिमान के अस्तित्व में सन्देह प्रगट करनेवाले शब्द कहे हैं।

१९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह के दौरान जवाहरलाल स्वयं व्यक्तिगत सत्याग्रह में जाने के कुछ पहले गांधीजी से मिलने उनके आश्रम सेवाग्राम* गए। यह विदाई की भेंट थी, और शोक की भावना व्याप्त थी। ज्योंही नेहरू चलने के लिए उठे कि गांधीजी की पत्नी ने जिन्हें सब लोग बा कहते थे, उन्हें यह कहते हुए आशीर्वाद दिया, "भगवान् तुम्हारी रक्षा करें।"

जवाहरलाल तुरत मुस्कराकर उनकी ओर मुड़े। उन्होंने चिढ़ाते हुए पूछा, "बा, भगवान् कहाँ हैं? अगर वह कहीं है तो गहरी नींद में सो रहे होंगे।"

कस्तूरबा कुछ घबरा गई, लेकिन गांधीजी जो नेहरू को जानते थे, बड़ी ज़ोर से हँसे।

उन्होंने अमृत कौर‡ से कहा, "वह उन लोगों से भगवान् के अधिक निकट हैं जो अपने को उसका उपासक कहते हैं।"

नेहरू के एक मित्र, डा० कैलाशनाथ काटजू ने, जो अब संघीय मंत्रिमंडल में प्रतिरक्षा मंत्री हैं, इसी विषय पर विस्तृत व्याख्या की है। हिन्दू समीकरण अथवा अध्याहार रूप में उन्होंने इसे प्रकट किया है।

शब्द के उच्चभाव में वह (नेहरू) निश्चय ही धार्मिक व्यक्ति हैं। भगवद्गीता के भाव से, दूसरों के कल्याण के लिए कर्म में निरन्तर प्रवृत्ति, अपनी निज चिन्ता, सुविधा और महत्वाकांक्षा से रहित, फल प्राप्ति की कामना के बिना निष्काम कर्म ही सर्वोच्च धर्म का सार है, और इस भाव से जवाहरलाल धार्मिक मनुष्य हैं। वे साकार निरन्तर कर्म हैं।

---

* मध्य प्रदेश राज्य में, जो पहले मध्यप्रान्त विख्यात था।

‡ अब संघीय मंत्रिमंडल में स्वास्थ्यमंत्री और उसकी एकमात्र स्त्री सदस्या।

धर्म के सम्बन्ध में नेहरू के अपने विचार उपर्युक्त कथन से मिलते हैं, क्योंकि वे सहमतिपूर्वक अमरीकन दार्शनिक स्वर्गीय जॉन डिवी की धर्म की व्याख्या का उल्लेख करना पसन्द करते हैं। डिवी ने लिखा है, "किसी क्रिया के सामान्य और स्थायी मूल्य में विश्वास के कारण, बाधाओं के रहते और व्यक्तिगत हानि के होते हुए भी, आदर्श के प्रति उसमें लगे रहना ऊँचा धर्म है।

जवाहरलाल उल्लेख करते हैं कि यदि यही धर्म है तो निश्चय ही किसी को उससे आपत्ति नहीं हो सकती।

जेल में धर्म के अतिरिक्त और अधिक सांसारिक दर्शन नेहरू के दिमाग में रहते थे। १९१७ की बोल्शविक क्रान्ति ने पढ़ेलिखे भारतीयों में कुछ हलचल पैदा कर दी थी और नेहरू की योरोप और रूस यात्रा ने, जहाँ उन्होंने दसवें वार्षिक समारोह में भाग लिया था, उनकी दिलचस्पी और आगे बढ़ा दी थी। उस समय वे साम्यवाद के सिद्धान्त के बारे में कम जानते थे, और उनके कानों में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद विदेशी वाक्यांश लगता था। लेकिन उनके भारत लौटने पर, विशेषतः जब वे जेल में थे, उन्होंने मार्क्सवादी साहित्य का अध्ययन किया, उसे प्रचुरता से पढ़ा और गंभीरतापूर्वक मनन किया।

उन्नीसवीं सदी के नियमबद्ध प्रजातंत्र की धारणा से जो राजनीतिक समानता की झलक देती थी लेकिन बहुतेरी सामाजिक और आर्थिक असमानताओं पर पर्दा डाले रहती थी, नेहरू की विरक्ति क्रमशः बढ़ती जाती थी। वे इस साम्यवादी आलोचना से प्रभावित थे कि इस प्रकार की सरकार इस तथ्य को छिपाने का केवल प्रजातंत्रीय खोल है कि एक वर्ग दूसरों पर शासन करता है। वास्तव में यह धनिक तंत्र था, धनी और विशेष सुविधा प्राप्त लोगों की सरकार। मार्क्सवाद के प्रति नेहरू का रुख और समझ जानने के लिए इस आधार को ध्यान में रखना होगा।

जवाहरलाल को अहस्तक्षेप नीतिवाले अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को क्रियात्मक संदर्भ में व्याख्या करने से अधिक उसे स्पष्ट तर्कपूर्ण सिद्धान्त में घटित करते लगे। मार्क्स इनसे भिन्न था। जैसा कि नेहरू ने सराहना के रूप में पाया, वह विचार की वैज्ञानिक प्रणालीवाला व्यावहारिक दार्शनिक था। मार्क्स का मत था कि दर्शन को संसार की ही व्याख्या नहीं करना चाहिए, उसे उसको बदलने में भी प्रवृत्त होना चाहिए। उस अर्थ में मार्क्स "गतिशील" था, यह जवाहरलाल का प्रिय शब्द था।

जेल में नेहरू ने मार्क्स और एंजेल्स का "कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र" पढ़ा था। उन्होंने मार्क्स का डास कैपिटल भी पढ़ा था; और इतिहास के प्रति उसका वैज्ञानिक रुख, उसकी तर्कपूर्ण पद्धति से मानव समाज के विकास ने उन्हें उत्प्रेरित किया और स्फूर्ति दी। कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र जब कि स्वाधीनता, समता, और बन्धुत्व के रूप में व्यक्त फ्रांसीसी क्रान्ति के समता के सिद्धान्तों की निन्दा करता है उसने साम्यवाद का अपना ही सिद्धान्त विकसित किया और संसार के मजदूरों को एक होने को कहते

हुए उन पर यह तथ्य बैठा दिया कि वे अपने बन्धनों के सिवा कुछ न खोएँगे। उसे नाग, वैज्ञानिक साम्यवाद में घनीभूत करते हुए डास कैपिटल ने मार्क्स के विचारों को बहुत आगे बढ़ाया। नेहरू को मार्क्स अपने विचारों और आदर्शों में सुलझा हुआ लगता है। नेहरू बड़ी मशीन के रूप में मार्क्स के औद्योगिक विकास के विवेचन में विशेष रुचि रखते थे। मार्क्स निर्भ्रान्त प्रवक्ता नहीं थे। वे ग़लत सिद्ध हो चुके थे, विशेषतः योरोप की आसन्न क्रान्ति के बारे में किन्तु नेहरू ने उन्हें पहले तीसरे दशक के आरंभ में आर्थिक अंधड़ की उस पृष्ठभूमि में पढ़ा था जो इस समय संसार पर छाया हुआ था, और उस संदर्भ में मार्क्स के बहुत से तर्क युक्तियुक्त और प्रभावपूर्ण किन्तु विश्वासप्रद लगे।

१६ फरवरी १९३३ को जेल से इन्दिरा को लिखे एक पत्र में नेहरू यह प्रश्न पूछते हैं और उसका उत्तर देते हैं कि मार्क्सवाद क्या है?

वह इतिहास और राजनीति और अर्थशास्त्र और मानवजीवन और मानवी आकांक्षाओं की व्याख्या करने का एक ढंग है। यह एक दर्शन है जो मनुष्य के जीवन के बहुत अधिक कार्यकलाप के विषय में कुछ कह सकता है। यह भूत, वर्तमान और भविष्य के मानव इतिहास को भाग्य या क़िस्मत की कुछ भवितव्यता समेत नियमित तार्किक पद्धति से घटित करने की एक चेष्टा है। जीवन क्या इतना तर्कसिद्ध और नियमों और प्रणालियों में बँधा है, यह बहुत स्पष्ट नहीं लगता और बहुत लोगों ने इस पर संशय प्रगट किया है। किन्तु मार्क्स ने विगत इतिहास का सर्वेक्षण वैज्ञानिक के नाते किया और उससे कुछ परिणाम निकाले। उसने मनुष्य को बहुत आरंभ के काल से जीवन-यापन के लिए संघर्ष करते देखा, यह संघर्ष प्रकृति के विरुद्ध और मानव-बन्धुत्व के विरुद्ध भी था।

नेहरू का आग्रह था कि मार्क्स वर्ग संघर्ष का प्रचार नहीं करते, क्योंकि मार्क्स के एक पंक्ति लिखने के भी पहले से यह मानव समाज में व्याप्त रोग रहा है। लेकिन उनके "आधुनिक समाज की गति के आर्थिक नियम" के वक्तव्य ने भावी मार्क्सवादियों के उपयोग के लिए वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का अस्त्र दे दिया। लेनिन को अपने समर्थन में उद्धृत करते हुए नेहरू मार्क्सवाद को ऐसा सनातन सत्य मानने से इन्कार करते हैं जो बदला न जा सके। सम्भवतः एंजिल्स के शब्दों को प्रतिध्वनित करते हुए वे उससे सहमत हैं। "ख़ुदा का शुक्र है कि मार्क्स मार्क्सवादी नहीं था।"

इसी प्रकार जब कि सोवियत् राज्य में जो कुछ हो गया है उसकी सराहना करते हुए, विशेषतः विशाल पंचवर्षीय योजनाएँ जिन्होंने बोल्शेविकों को अपने देश के औद्योगीकरण में और लोगों के जीवन स्तर को उन्नत करने में सहायता दी, नेहरू भारत के लिए दूसरे देशों में सफलतापूर्वक उपयोग में लाए ढंगों को पूरी तौर पर अपनाने के स्वभावतः विरोधी थे। यह मामूली समझदारी है। जेल में उन्होंने अनुभव किया था कि केवल क्रान्तिकारी योजना ही भारत की भूमि और उद्योग संबंधी

दो समस्याओं को हल कर सकती है, किन्तु योजना देश की विशिष्ट स्थितियों, विकास और आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए।

मार्क्स की कल्पना इतिहास में क्रान्तिकारी, गतिशील है। किन्तु मार्क्स भारत में उतना ग़लत प्रमाणित नहीं हो रहा है जितना कि एशिया में। अन्तिम अवस्था में ब्रिटिश सहमति और स्वीकृति से गांधीजी ने सिद्ध कर दिया कि बिना हिंसा के राजनीतिक क्रान्ति संभव है। स्वतंत्र भारत में नेहरू यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे कि अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक कल्याण के उपयोगितावादी सिद्धान्त पर आधारित आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति बिना वर्ग संघर्ष या हिंसा के संभव है। मार्क्स ने जैसी कल्पना की थी, श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व के बीच की कोई अवस्था नहीं है। इसके स्थान पर राज्य अपने हाथ में बागडोर लेकर यह सुनिश्चित कर देगा कि किसी के लाभ के लिए श्रमिक या किसी वर्ग का शोषण नहीं होगा। जून १९३३ के समय में मार्क्सवादी संभावनाओं का विश्लेषण करते हुए नेहरू ने लिखा, "कोई शोषण करनेवाला वर्ग नहीं रह गया। यदि कोई शोषण है तो वह राज्य द्वारा सबके लाभ के लिए है।"

यथार्थतः यही चीज़ आज भारत में करने की नेहरू चेष्टा कर रहे हैं, जिससे यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि वह वास्तव में क्या हैं—बौद्धिक विश्वास से मार्क्सवादी, जो प्रजातंत्रीय साधनों और रीतियों से समाजवादी स्वर्णयुग लाना चाहते हैं। इस प्रक्रिया में वे प्रजातंत्र और मार्क्सवाद को यह सिद्ध करने की आशा में एक पग आगे ले जाना चाहते हैं कि राजनीतिक–आर्थिक क्रान्ति में उनका भागीदार के रूप में सह-अस्तित्व संभव है। यहाँ नेहरू अपने युग के इतिहास में एक अपूर्व आदर्श उपस्थित करते हैं प्रजातंत्रीय पद्धति से बद्ध मार्क्सवादी सिद्धान्त।

दूसरी और अधिक व्यक्तिगत बातें नेहरू के दिमाग़ को चिन्तनरत किए रहती थीं। जब वे जेल में थे तब उनकी माता और पत्नी, दोनों का स्वास्थ्य तेज़ी से बिगड़ चला। उन्होंने कमला को पुराने रोग के आक्रमण से पीड़ित बंबई में छोड़ा था, जब वे १९३१ में दिसंबर में गिरफ्तार हुए थे, और उसका ध्यान सदा बना रहता। अपने गिरे स्वास्थ्य के रहते भी उसने पिछले आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया था और १९३१ के नव वर्ष के दिन गिरफ्तार हो गई। किन्तु इस बार उनका तेज़ी से कमज़ोर होता शरीर उनके प्रबल उत्साह की चुनौती का सामना करने की स्थिति में न था। रोग ने उन्हें बिस्तर में पड़ जाने के लिए और कुछ समय के लिए इलाहाबाद छोड़कर उपचार के लिए कलकत्ता जाने पर बाध्य किया।

स्वरूपरानी यद्यपि वृद्ध और नाज़ुक थीं, उन्होंने जुलूसों का नेतृत्व करने और नगरों में और कभी कभी पास के गाँवों में सभाओं में भाषण कर आन्दोलन में भाग लेने का हठ किया। इस समय पर विवेचना करते हुए उनकी पुत्रियों में से एक ने लिखा, "यद्यपि उनका शरीर कमज़ोर था, उनका दिल शेरनी की तरह गर्व से भरा और मज़बूत था।" अप्रैल १९३२ के उन पर किये गए क्रूर आक्रमण ने अपना प्रभाव छोड़ दिया था और उनके

सदा कोमल स्वास्थ्य को गंभीर रूप से बिगाड़ दिया था। जब अगस्त १९३३ में नेहरू छूटे तो वे बहुत अधिक बीमार थीं, लेकिन उनके बिस्तर के पास उनके दिखाई पड़ने से वे आरोग्य लाभ करने लगीं और प्रसन्न हो गईं। धीरे धीरे वे नीरोग हो गईं।

इन्दिरा अब बढ़ती हुई बालिका थी। यह विचार कि उसके लिए वे बहुत कम समय निकाल पा रहे हैं, इस कष्टकर उपेक्षा भाव ने नेहरू को परेशान कर दिया। उन्होंने जेल से उसे पत्रों की माला लिखकर शिक्षित करने से इस बात को कुछ सीमा तक दूर करने का प्रयत्न किया था। वे विभिन्न जेलों से अक्टूबर १९३० और अगस्त १९३३ के बीच तीन वर्ष की अवधि में लिखे गए थे। उनमें से पहले का शीर्षक था "इन्दिरा प्रियदर्शिनी को उसके तेरहवें वर्ष दिवस पर।" वह दिन २६ अक्टूबर था और जेल नैनी थी। नेहरू का पहला पैराग्राफ़ लालसापूर्ण अभिवादन था :

अपने जन्मदिन पर तुम भेंट और शुभकामनाएँ पाने की अभ्यस्त हो। शुभकामनाएँ तुम्हें अब भी खूब मिलेंगी, लेकिन मैं नैनी जेल से क्या भेंट भेज सकता हूँ ? मेरी भेंट बहुत भौलिक या ठोस नहीं हो सकतीं। वे केवल हवा की मन की और आत्मा की ही हो सकती हैं, जैसा कि कोई अच्छी परी तुम पर निछावर करती——कुछ ऐसी चीज़ जो जेल की दीवारें भी नहीं रोक सकतीं।

इस जेल की माला का अन्तिम पत्र ९ अगस्त १९३३ को लिखा गया था, नेहरू के फिर जेल से बाहर आने के तीन सप्ताह पहले। यह फारसी शब्द तमाम शुद ! (समाप्त) से समाप्त हुआ था।

जेल में लिखे यह पत्र इस सीमा के कारण किन्हीं बातों में कमी से भरे हैं। कभी उनमें पुनरावृत्ति, विस्तार और भटकाव है। लेकिन विश्व इतिहास के विराट् चित्र माला के रूप में थोड़े से संदर्भ-ग्रंथों और कुछ ही प्राप्य नोटबुकों से अंकित यह प्रयास प्रभावपूर्ण है, जो अपनी इयत्ता और गुण में लेखक के मस्तिष्क के असाधारण विस्तार और सीमा को प्रतिबिम्बित करता है। अनिवार्यतः उनमें सजीव आन्तरिकता तथा स्नेह भरा हुआ है।

लखनऊ में कुछ दिनों माता के पास रहकर नेहरू जब एक बार सन्तुष्ट हो गए कि वे अच्छी हो रही हैं तो वे पूना को गए, जहाँ गांधीजी रह रहे थे। दो वर्ष से अधिक हो गए थे जब उन्होंने बम्बई के जहाज़ों के घाट पर गांधीजी को विदा दी थी, जब वे २९ अगस्त १९३१ को गोलमेज़ सम्मेलन के लिए गए थे।

यह अनुभव करते हुए कि उनके कुछ ढंगों और कामों से नेहरू परेशान, और कभी कभी दुखित हुए थे गांधीजी ने प्यार से उनका स्वागत किया। उनके बीच अविश्वास की कोई दीवार नहीं थी लेकिन अस्पष्ट संदेशों का जाला था जिसे साफ़ करना होगा। गांधीजी को किसी विचारधारा का कोई सचेतन उपयोग न था। व्यक्तिगत अनुभव के व्यावहारिक आधार पर वे अपने ही राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक परिणामों पर पहुँच चुके थे। उसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे नेहरू को सैद्धान्तिक रूप से पिछड़े

लगते थे। फिर भी वहुत कुछ सीधे रचनात्मक और भिन्न मत लिए महात्माजी अनिवार्यतः विद्रोही और क्रान्तिकारी थे।

उन्होंने अपने से कनिष्टवय से पूछा, "जवाहरलाल तुम परेशान क्यों हो ?"

नेहरू ने उनके सामने अपना मन और हृदय खोलकर रख दिया। वे उत्सुक थे कि भारत समाजवादी मार्ग पर चले और कराची अधिवेशन के मूल अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव में निहित कांग्रेस का आर्थिक कार्यक्रम सामने आए। आर्थिक या राजनीतिक लक्ष्यों में कोई न तो कमी होना चाहिए, न अनुपयुक्त कोमलता दिखाना चाहिए।

दोनों व्यक्तियों में वहुत-सी और लंवी वातचीत हुई। नेहरू ने शीघ्र ही अनुभव किया कि सैद्धान्तिक रूप से राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही स्तरों पर एक खाई उन्हें अलग किए हुए है। सदा की भाँति, गांधीजी अपने प्रिय शिष्य के साथ कुछ दूरी तक जाने को तैयार थे, लेकिन उनके सीमाचिह्न वँधे थे और उनके निर्देश चिह्न मार्ग पर कठोरता से निश्चित दिशा का संकेत करते थे।

"एक निश्चित राजनीतिक लक्ष्य पर ज़ोर देने के लिए तुम परेशान क्यों हो ?" गांधीजी ने पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य पर आग्रह की ओर निर्देश करते हुए पूछा।

नेहरू ने समझाया, "क्योंकि संघर्ष को जारी रखने के लिए जनता को एक प्रेरणादायक राजनीतिक आदर्श की ज़रूरत है।"

"मानता हूँ, लेकिन लक्ष्य को निश्चित करके उसे दुहराया क्यों जाय ? निश्चित ही महत्वपूर्ण और तुरन्त की आवश्यकता तो उसे प्राप्त करने की रीति और साधन हैं।"

वहस को आर्थिक स्तर पर ले जाते हुए नेहरू वोले, "निहित स्वार्थों को निश्चित-रूप से विनिहित करना होगा।"

गांधी वोले, "मैं फिर मानता हूँ, निहित स्वार्थों के वास्तविक संशोधन के विना जनता की दशा कभी सुधारी नहीं जा सकती। लेकिन यह मतपरिवर्तन द्वारा होना चाहिए, न कि ज़वर्दस्ती से।"

इन लंवी वातों के अन्त में नेहरू को लगा कि महात्माजी अपने विचारों में उदार रहे थे। जवाहरलाल के दृष्टिकोण से सहमत होने के लिए वे जितनी दूर जा सकते थे उतनी दूर गए थे। और आखिरकार गांधीजी के शब्द भंडार में मतपरिवर्तन विनम्र और विचारशील दवाव से वहुत भिन्न नहीं है। महात्माजी का अपना ही ढंग है।

वाद में पत्रों की एक सरणि में उन्होंने अपने विचारों की व्याख्या की और उन्हें स्पष्ट किया। १३ सितंवर १९३३ की तारीख को पूना से नेहरू को लिखे एक पत्र में गांधीजी अपनी आशावादिता की पुष्टि करते हैं।

मैं कहना चाहूँगा कि मुझमें पराजय का भाव नहीं है, और यह आशा कि हमारा यह देश तेज़ी से अपने लक्ष्य की ओर वढ़ रहा है, उतनी ही चमक से जल रही है जितनी १९२० में थी; मुझमें सविनय अवज्ञा के प्रभावपूर्ण होने में पक्का विश्वास है।

नेहरू पुनः आश्वस्त हुए। किन्तु, गांधीजी से जव वे वातें कर रहे थे तव भी उन्हें

लगा कि महात्माजी इस बात में अनिश्चित हैं कि उनको स्वयं क्या करना चाहिए। क्या वे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा करने के बाद फिर जेल जायँ और हरिजन आन्दोलन चलाने के लिए उन्हीं सुविधाओं की माँग करें, और यदि यह अस्वीकृत हो जायँ तो फिर "आमरण" अनशन करें? या वे जेल जाने से विरत रहें और मुक्त व्यक्ति की भाँति हरिजन आन्दोलन चलाएँ? या फिर वे कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायँ और "उनसे युवापीढ़ी" को अपना स्थान लेने दें?

नेहरू ने पहले विकल्प को पुनर्जीवित कर चूहे-बिल्ली का ढंग अपनाने में कोई अच्छाई या लाभ न देखा। जब कांग्रेस अभी ग़ैरकानूनी है तो गांधीजी का इससे अलग होना ठीक नहीं है। इसके बाद इन लोगों को दूसरा विकल्प रह जाता है, जिसे नेहरू और उनके सहकर्मियों ने अनिच्छापूर्वक स्वीकार किया। व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा कर गांधीजी को अभी जेल नहीं जाना चाहिए।

गांधीजी से बातचीत के दौरान नेहरू ने बहस की थी कि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा और सामूहिक सविनय अवज्ञा में कोई अन्तर नहीं है, दोनों प्रकार की अवज्ञा का अन्तर्भूत सिद्धान्त सरकार के अधिकार को सुचिन्तित चुनौती है। लेकिन गांधीजी को उसमें उससे कुछ अधिक दृष्टिगत हुआ। उन्होंने लिखा:

मेरा ख्याल है कि मूलभूत अन्तर तुम्हारी अपनी ही स्वीकृति में है कि "यह अनिवार्यतः व्यक्तिगत विषय है।" सामूहिक सविनय अवज्ञा और व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा में प्रमुख भेद यह है कि व्यतिगत सविनय अवज्ञा में प्रत्येक व्यक्ति संपूर्ण स्वतंत्र इकाई है और उसके पतन से दूसरों पर प्रभाव नहीं पड़ता; सामूहिक सविनय अवज्ञा में एक भी पतन सामान्यतः शेष लोगों पर बुरा प्रभाव डालता है। इसके अतिरिक्त सामूहिक सविनय अवज्ञा में नेतृत्व आवश्यक है, व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा में प्रत्येक अवज्ञाकारी अपना नेता होता है। फिर और सामूहिक सविनय अवज्ञा में असफलता की संभावना रहती है; व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा में असफलता असंभव है। अन्ततः, कोई राज्य सामूहिक सविनय अवज्ञा का सामना कर सकता है, लेकिन अभी तक कोई राज्य ऐसा नहीं मिला जो व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा का सामना कर सके।

यह गांधीवादी तर्क का विशिष्ट और सुन्दर नमूना है, मुख्यतः प्रकल्पनात्मक पूर्वानुमानित तथ्यों पर आधारित अपरिवर्तनीय परिणाम परिकल्पित करना। महात्माजी के अनुसार असफलता परिणाम में नहीं किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की निर्दिष्ट कार्यक्षमता अथवा अक्षमता में होती है। सामूहिक रूप से व्यक्ति असफल हों किन्तु एक उद्देश्य लेकर एक व्यक्ति असफल नहीं हो सकता। महात्मा जी को साध्य से साधन प्रायः महत्वपूर्ण लगते थे।

सितंबर १९३३ में गांधीजी वर्धा के सत्याग्रह आश्रम में चले गए, जहाँ नवंबर में अपनी हरिजन यात्रा पर जाने के पहले उन्होंने छः सप्ताह तक स्वास्थ्यलाभ किया। इस तीर्थयात्रा में वे देश के पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण के प्रत्येक कोने में गए, जब तक कि

उनका यायावर उद्देश्य बनारस में २९ जुलाई १९३४ को समाप्त न हुआ। इस यात्रा में, जिसमें लगभग नौ महीने लगे थे, महात्माजी ने १२,५०० मील की यात्रा की। कभी कभी पैदल चले, कभी रेलगाड़ी, कार, बैलगाड़ी से गए और अपनी यात्रा में लगभग ८००००० रुपए हरिजन कार्य के लिए जमा किए।

बीस महीने के अलगाव के बाद नेहरू को भारत एक प्रकार की विस्तृत थकान और जड़ता से व्याप्त लगा। यह थकान हताशा की नहीं, शासन के दमन की थी। यद्यपि भारतीय राष्ट्रीयता की पेशी में लचक थी किन्तु शारीरिक रूप से वह शान्त थी, यद्यपि उसके प्राण काँप रहे थे और हिल रहे थे। देश अध्यादेश के शासन की छाया के नीचे रह गया था और नेहरू स्वयं फिर पकड़े जाने की आसन्नता के प्रति सचेत रहते थे।

शंका की इस भावना ने उन्हें स्थिर होना कठिन कर दिया और उनमें जल्दबाजी का एक भाव भर दिया। वे जेल को लौटने के लिए बिलकुल ही इच्छुक नहीं थे, क्योंकि व्याप्त स्थिति में यह कार्य निरर्थक था और उन्हें कुछ आवश्यक घरेलू और राष्ट्रीय कार्य करना था।

उनकी छोटी बहिन कृष्णा का विवाह संबंध गांधीजी के अपने प्रान्त के एक गुजराती, आक्सफ़र्ड शिक्षित बैरिस्टर गु० पु० हठीसिंह से निश्चित हो गया था, और नेहरू उत्सुक थे कि उनके गिरफ्तार होने के पहले ही विवाह हो जाय। विवाह इलाहाबाद में बड़ी सादगी से अक्टूबर के तीसरे सप्ताह में हो गया।

अक्टूबर के मध्य में संयुक्त प्रान्त के कांग्रेस कार्यकर्ता राजनीतिक स्थिति पर विचार करने के लिए इलाहाबाद में एकत्र हुए। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ग़ैरक़ानूनी होने से वह आधिकारिक रूप से नहीं हुई किन्तु कार्यकर्ताओं की सभा गोपनीय नहीं रही। नेहरू ने जो कुछ जेल से बाहर आने के बाद समझा था इन सभाओं ने उन्हें दिखा दिया कि राष्ट्रीय आन्दोलन घोर संकट की अवस्था में पहुँच गया है। कोई तुरन्त कार्यवाही की योजना बनाना संभव नहीं था क्योंकि गत्यवरोध व्याप्त था। वे जो एकमात्र चीज़ कर सकते थे वह अपने दीर्घकालीन लक्ष्य को स्पष्ट रखना था।

इस प्रकार इलाहाबाद की सभाएँ अपना आर्थिक लक्ष्य समाजवाद स्वीकार कर सन्तुष्ट हो गई। राजनीतिक रूप से उन्होंने सविनय अवज्ञा वापस लेने के विरुद्ध अपने को व्यक्त किया, जो एक खोखली चेष्टा थी क्योंकि आन्दोलन अन्तिम सिरे पर था और देश भर में अध्यादेश शासन था। आर्थिक स्तर पर यह सन्दिग्ध है कि उनमें से बहुतों को यह पता था कि समाजवाद से क्या तात्पर्य है, सिवा इस स्पष्ट विश्वास के कि अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक कल्याण को सुनिश्चित कर वह धनी और निर्धन के बीच की दूरी को कम कर देगा।

इस अवस्था में नेहरू का प्रयोजन दुहरा था। वे अपने साथियों के आगे राजनीतिक और आर्थिक लक्ष्य स्पष्ट और निश्चित करके रखना चाहते थे, और कांग्रेसियों को उनके आशय से शिक्षित करके वे उनके मूल्य और महत्व का उन्हें अनुभव कराना चाहते थे।

समाजवाद धुंधले रूप में छा रहा था और परवर्ती वर्ष में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में और नरेन्द्रदेव के समान अनुभवी लोगों सहित, यूसुफ़ मेहरअली, अशोक मेहता, डा० राममनोहर लोहिया और मीनू मसानी सदृश युवा लोगों समेत एक समाजवादी दल बन गया। इस दल के साथ सहानुभूति रखते हुए भी जवाहरलाल इसके सदस्य नहीं बने, संभवतः वे इन लोगों की गांधीजी की प्रतिक्रियावादी रूप में यदाकदा तीव्र आलोचना को नापसन्द करते हों। उन्हें लगता था कि गांधीजी अपने आध्यात्मिक और रहस्यवादी ढंग के रहते भी इन "बातूनी समाजवादियों" से अधिक यथार्थवादी क्रांतिकारी हैं।

किन्तु यह विरोधाभास है कि वे मार्क्सवादी समाजवाद के मत के प्रचार में अपने सहकर्मियों को फुसलाकर, यहाँ तक कि विवशकर मार्क्सवादी साहित्य का अध्ययन कराने के लिए परेशान रहे।

श्रीप्रकाश से जो अब मद्रास* के गवर्नर हैं, और समाजवादी नहीं हैं, एक बार एक दल से बात करने के लिए कहा गया जिसे नेहरू ने समाजवाद पर वादविवाद के लिए बुलाया था। उन्होंने इतने मुक्तरूप से भाषण किया जैसे वे अपने सतर्क विचारों को व्यक्त करते।

नेहरू ने अपने अक्खड़पन से पूछा, "तुम कैसे समाजवादी हो?"

श्रीप्रकाश हक्काबक्का हो गए।

"निश्चय ही मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ, शायद फ़ेबियन हूँ।"

जवाहरलाल चिढ़ गए।

नवम्बर में नेहरू बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी गए जहाँ उन्होंने हिन्दू सांप्रदायिकता के आचरण और प्रचार में प्रतिक्रियावादी ऊँचे स्वर के लिए अपने हिन्दू श्रोताओं को फटकारा। यह सही है कि मुस्लिम सांप्रदायिकता भी थी, लेकिन नेहरू ने कहा कि इस तरह की सांप्रदायिकता को हिन्दू श्रोताओं के सामने बुरा कहने का क्या तुक है? किन्तु उनकी झिड़की से लोगों को बुरा लगा।

कुछ प्रतिकार भावना से, कुछ स्पष्टीकरण के लिए, उन्होंने हिन्दू और मुस्लिम सांप्रदायिकता की बुराई पर कई लेख लिखने का निश्चय किया। उनका मुख्य बिन्दु था कि चूँकि सांप्रदायिकता निहित स्वार्थों से संबद्ध है, यह प्रतिक्रियावादी शक्तियों के संयोग से ही चल सकती है। लेखों ने विस्तृत रुचि उत्पन्न कर दी और कुछ चर्चा को उत्प्रेरित किया। इन लेखों के दौरान नेहरू ने पहली बार राजनीतिक और सांप्रदायिक मतभेदों को ठीक करने के लिए संविधान सभा के विचार का प्रतिपादन किया, ऐसा प्रस्ताव जो बाद में, भारत के स्वाधीनता के सन्निकट होने पर, व्यवहार में लाया गया।

इस अवस्था में जवाहरलाल अपने भाषणों और लेखों से अपने देशवासियों को

---

* अब श्रीप्रकाश बंबई के गवर्नर हैं।

शिक्षित करने के सिवा कम ही कुछ कर सकते थे। वे यह करने के लिए तब तक कृत संकल्प थे जब तक फिर जेल न भेज दिए जायँ।

हरिजन यात्रा में गांधीजी के लिए भारी भीड़ें टूट पड़ती थीं। दिसम्बर के शुरू में नेहरू उनसे मध्यप्रान्त में जबलपुर में मिले, जहाँ कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्यों को औपचारिक रूप से एकत्रित होने के लिए आमंत्रित किया गया था। यहाँ, और थोड़े ही समय बाद दिल्ली में जहाँ वे गांधीजी और अपने साथियों से फिर मिले, नेहरू ने देखा कि कांग्रेस अँधेरे में भटक रही है। वर्किंग कमेटी में आपस में मतभेद था कि सविनय अवज्ञा वापस ली जाय या नहीं। गांधीजी उसके जारी रखने के पक्ष में थे जिसके अर्थ थे कि व्याप्त विकट स्थिति को और बढ़ाया जाय, देश राजनीतिक रूप से रुका रहे जबकि गांधीजी अपना हरिजन अभियान चलाते रहें।

न तो गांधीजी और न वर्किंग कमेटी के उनके साथियों ने नेहरू के समाजवादी विचारों के प्रचार को अच्छा माना। दिसम्बर के अन्त की ओर मद्रास के एक समाचारपत्र से भेंट में गांधीजी ने नेहरू को अप्रत्यक्ष रूप से यह कहते हुए फटकारा कि उनका विश्वास है कि जवाहरलाल कांग्रेस को "नए तरीकों" के हवाले नहीं कर देंगे। देश की देहाती और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के वांछित रूप में वे जमींदारी प्रथा का समर्थन करने लगे। इस विशिष्ट ढंग से गांधीजी कांग्रेस में सन्तुलन ठीक रखने का प्रयत्न कर रहे थे किन्तु नेहरू को महात्माजी का ढंग बहुत पुराना और अपने निजी विचारों से बहुत अलग लगा। उन्हें क्रोध और व्यथा हुई और थोड़ी देर के लिए वे वर्किंग कमेटी से त्यागपत्र देने को भी सोचते रहे। लेकिन शान्त मन होने पर उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें काम करते रहना चाहिए और कुछ ही समय बाद १२ फरवरी १९३४ को उनकी गिरफ्तारी ने इस खास तरह की उलझन को सुलझा दिया।

जनवरी आई, और उनके साथ एक और कठिन समस्या आई। स्वतंत्रता दिवस २६ जनवरी को था, और चूँकि कांग्रेस अभी तक अवैध संस्था थी, इस दिवस को मनाने का अर्थ बहुसंख्यक गिरफ्तारियों को आमंत्रित करना था। जवाहरलाल कलकत्ता जाने की योजना बना रहे थे, कुछ तो वहाँ पुराने सहकर्मियों से मुलाक़ात करने के लिए लेकिन मूलतः कमला के डाक्टरों से उपचारात्मक सलाह के लिए। जाने के पहले उनमें और उनके संयुक्त प्रान्त के सहकर्मियों में स्वतंत्रता दिवस मनाने के संबंध में एक समझौता हुआ जो उन लोगों के अपने और देश के विभाजित मन को प्रतिबिंबित करता था। यह तय हुआ कि कुछ किया जाय लेकिन इस बात पर कोई सहमति नहीं थी कि क्या हो।

प्रकृति ने उन्हें कुछ समय के लिए उनकी उलझनों से अलग हटाने में मध्यस्थता की। १५ जनवरी १९३४ के तीसरे पहर नेहरू जब इलाहाबाद में अपने मकान के बरामदे में खड़े थे तो एक गड़गड़ाहट के दोलन से उनका सन्तुलन बिगड़ गया। इस दोलन ने फर्श को हिला दिया, दरवाज़ों और खिड़कियों को झकझोर डाला। रास्ते

के उस पार देखने पर उन्हें स्वराज्य भवन की कई टाइलें छत से खिसकती दिखाई दीं। ज़मीन की यह हलचल दो या तीन मिनट रही, और नेहरू यह तो समझ गए कि यह भूकम्प है किन्तु उसकी गुरुता का अनुमान नहीं लगा सके।

उत्तर पूर्व भारत में बिहार इस भयंकर उथलपुथल का केन्द्र था जिसने कुछ ही मिनटों में क़स्बों और गाँवों को गड्डमड्ड कर दिया, दस लाख से अधिक मकान नष्ट कर दिए और हज़ारों आदमियों की मौत हो गई। कुल मिलाकर १०,०००,००० व्यक्तियों की जनसंख्या के ३०,००० वर्गमील ध्वंस हो गए।

अब भारत के राष्ट्रपति और उस समय बिहार में कांग्रेस के सबसे प्रमुख नेता राजेन्द्रप्रसाद जेल में थे, लेकिन १७ जनवरी को भारतीय सरकार ने उन्हें छोड़ दिया। जनता के कार्यकर्ताओं के बिना शासनतंत्र को संकट का सामना करना कठिन था, और सहायता कार्य में यह अतिरिक्त तत्परता या कुशलता की बात भी न थी। दूसरी ओर कांग्रेस से सतर्क सरकार घबराई हुई थी कि यदि उसके कार्यकर्ताओं को खुली छूट दे दी गई तो वे स्थिति से राजनैतिक लाभ उठाएँगे।

चार दिन कलकत्ते में बिताने के बाद जवाहरलाल ने आदरणीय रवीन्द्रनाथ टैगोर से उनके उद्यान में लगनेवाले विश्वविद्यालय में सरसरी भेंट की। वे वहाँ दो बार जा चुके थे लेकिन कमला की यह पहली यात्रा थी। इस समय वे इन्दिरा को शान्तिनिकेतन भेजने की योजना बना रहे थे। वह अपने स्कूल का अध्ययन शीघ्र समाप्त करनेवाली थी।

लगभग तीस वर्ष की दूरी से पृथक् नेहरू और टैगोर में पारस्परिक समझ और स्नेह का बन्धन था। प्रबल राष्ट्रवादी होने पर भी गांधीजी के दर्शन में बहुत कुछ था जो कवि को स्वीकार नहीं था, विशेषतः महात्माजी का उत्सर्ग और तपस्या का सिद्धान्त। टैगोर भरेपूरे और आह्लादमय जीवन में आस्था रखते थे। किन्तु कवि और महात्मा एक दूसरे को समझते थे।

एक बार टैगोर ने गांधीजी का मजाक उड़ाया, 'आप दूसरी गिरफ्तारी की चिकित्सा की तैयारी कर रहे हैं। मैं चाहता हूँ वे एक चिकित्सा मुझे देते।"

गांधीजी ने प्रत्युत्तर दिया "लेकिन आप के ढंग ठीक नहीं हैं।"

बिहार के भूकंप ने दोनों व्यक्तियों में एक और बहस छेड़ दी। इस भयंकर संकट में गांधीजी को भगवान का क्रोध दिखाई पड़ा, अछूतों के प्रति मनुष्य के अत्याचार दैवी दंड का एक स्वरूप। "बिहार का घोर संकट," उन्होंने हरिजन में लिखा, "अस्पृश्यता के पाप के कारण है।"

टैगोर ने विरोध किया। उन्होंने इसे "घटना का अवैज्ञानिक दृष्टिकोण" कहा, और लोगों के उसे उसी रूप में मान लेने की निन्दा की। उन्होंने इस सब की "अवज्ञा" का उल्लेख किया। किन्तु गांधीजी नहीं माने। नेहरू अवश्य टैगोर के विचार से पूर्णरूप से सहमत थे।

कलकत्ता से लौटते हुए नेहरू राजेन्द्रप्रसाद से ग़ैर-सरकारी सहायता कार्य पर बातें

करने के लिए पटना रुक गए। पटना से चालीस मील उत्तर उन्होंने मुज़फ्फरपुर नगर का सर्वेक्षण किया, जहाँ मलवा बिखरा पड़ा था और बचे हुए लोग भयावह अनुभव से घबराये थे। बिहार की सहायता के लिए धन संग्रह करने के काम में पूरी तरह लगाने के लिए नेहरू इलाहाबाद लौट आए।

इसके कुछ ही दिनों बाद इलाहाबाद में भूकंप सहायता समिति ने जवाहरलालको क्षतिग्रस्त क्षेत्रों का दौरा करने के लिए नियुक्त किया, और दस दिनों तक वे इन फटे और दुःखी ज़िलों में दौरा करते रहे। उत्तरी बिहार के हरे भरे मैदान ऐसे झुलस और उलट पलट हो गए थे मानों किसी पागल दैत्य का काम हो। पटना से अस्सी मील नीचे गंगा के तट पर बसा हुआ मुंगेर नगर सूना, ध्वस्त और उजाड़ पड़ा था। यहाँ नेहरू ने सहायता कार्य में तेज़ी लाने के लिए फ़ावड़ा कुदाली उठाकर लोगों के साथ काम करके अपना अनुसरण करने को प्रेरित किया। बिहार मूलतः किसानों का प्राण है और ग़ैरसरकारी सहायता कार्य अधिकतर देहातों में केंद्रित रहा।

११ फरवरी को नेहरू मात्र शारीरिक थकान से टूटे और श्रान्त लौटे। उनका स्वरूप ऐसा भयानक हो गया था कि उनके परिवार के लोगों और मित्रों को देखकर आघात लगा। उन्होंने दौरे की एक रिपोर्ट लिखने का प्रयत्न किया, लेकिन थकान और नींद उनपर छा गई। बाद के चौबीस घंटों में उन्होंने नींद में कम से कम बारह घंटे लगा दिए।

दूसरे दिन अपराह्ण में देर से जैसे ही कमला और उन्होंने चाय समाप्त की, एक पुलिस इंस्पेक्टर को लेकर एक कार आई। यह अनुभव करते हुए कि उनकी आज़ादी समाप्त हो गई, जवाहरलाल उससे मिलने के लिए बढ़े।

वे बोले, "मैं बहुत दिनों से आपका इन्तजार कर रहा था।"

पुलिस अधिकारी घबरा उठा और क्षमायाचना करता सा लगा।

"वारंट कलकत्ता से है," उसने लज्जाहीनता से कहा।

कलकत्ता के अपने चार दिन के प्रवास में जवाहरलाल ने तीन सभाओं में भाषण दिए थे जिनमें उन्होंने मूलतः आतंकवादी आन्दोलन की निन्दा की थी और बंगाल सरकार के हाल के कामों की भी उग्र आलोचना की थी। इनसे मुक़दमे में उन पर तीन अभियोग लगाए गए थे।

अब वे पुलिस अधिकारी की ओर से कमला की तरफ़ मुड़े जो उनको ध्यान से देख रही थी। एक क्षण बाद उनके लिए कुछ कपड़े इकट्ठी करने के लिए वह बरामदे से चली गई। जेल उनके दैनिक कार्यक्रम का एक भाग बन गई थी। लेकिन जब जवाहरलाल उससे विदा लेने ऊपर गए तो वह उनसे ज़ोरों से लिपट गई, और उनके जेल जाने के अनुभव में पहली बार मूर्छित हो कर गिर पड़ी। उसकी संवेदना पर हक्काबक्का होकर उन्होंने उसे उठा लिया। कुछ क्षण बाद वह होश में आई। क्या कमला को यह पूर्वसूचना हुई कि अन्त निकट है?

उस रात को नेहरू इलाहाबाद से कलकत्ते ले जाए गए। १६ फरवरी को चीफ़ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट ने उन्हें दो साल की सज़ा दी। यह उनकी जेल की सातवीं यात्रा थी।

उन्होंने विचार किया कि वास्तविक भार तो उन पर नहीं है। "वह तो सदा की भाँति, स्त्रियाँ उठाएँगी—मेरी रोगी माता, मेरी पत्नी, मेरी बहनें।"

कमला मृत्यु की ओर अग्रसर हो रही थी, किन्तु जवाहरलाल ने उस समय यह अनुभव न किया।

●

१६

"व्यथा : ध्रुवतारा"

प्रेसीडेंस जेल से, जहाँ वे मुकदमे के दौरान रखे गए थे, नेहरू कलकत्ते की ही अलीपुर जेल में ले जाए गए, और वहाँ दस फीट लंबी नौ फ़ीट चौड़ी छोटी सी कोठरी में रखे गए।

कोठरी से जेल की रसोई की चिमनियाँ दिखाई पड़ती थीं जिनमें दिन के अधिकतर समय धुआँ निकला करता। अपने अन्य जेल निवासों से अलीपुर की तुलना करते हुए नेहरू लाल ईंटों की दीवारों की उदास दृष्टि और अन्तहीन धुएँ के उद्‌गार वाले नीरस परिवेश से स्तब्ध रह गए थे। उनको प्रसन्न रखने के लिए कोई वृक्ष या हरियाली नहीं थी, लेकिन अपने जेल के सूने आँगन की दीवारों से ऊपर वे अधिक भाग्यशाली पड़ोसी के आँगन के दो पेड़ों के सिरे देख सकते थे। वह बिना पत्तियों के रूखा और सूखा था। लेकिन धीरे-धीरे पतली शाखों पर पत्तियाँ निकल आईं और जेल की दीवार के ऊपर हरियाली की रेखा आ गई।

पहले पहल नेहरू को अपने आँगन के बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। संध्या और रात के अधिकतर भाग, सूर्यास्त से सूर्योदय तक, वे अपनी कोठरी में बन्द कर दिए जाते। उस तंग जगह में इधर से उधर चहलक़दमी करते हुए उन्हें एक भालू की याद कर हुआ जिसे उन्होंने चिड़ियाघर में अपने कठघरे में इधर से उधर चलते देखा था। अपनी ऊब को मिटाने के लिए वे पढ़ते थे, और सिर के बल खड़े होकर अपने चारों ओर की उल्टी दुनिया का ध्यान करते हुए शीर्षासन का अभ्यास करते। यह सन्तुलन को ठीक रखने का एक ढंग था।

एक महीने बाद बंधन कुछ ढीले कर दिए गए। तब नेहरू को प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल मुख्य दीवार के किनारे किनारे इधर से उधर चलने दिया जाता। कलकत्ते के समान बड़े औद्योगिक नगर का शोर और दूसरी आवाजें जेल में अक्सर आती रहतीं—ट्रामों की खड़खड़ाहट, आवाज़ों की भनभनाहट पड़ोस के मकान के ग्रामोफ़ोन का संगीत, और यदाकदा बंगाली गीत का करुण विलाप। कुछ चिड़ियों ने जेल की दीवारों के भीतर अपने घोंसले बनाए थे और नेहरू एक चील के घोंसले में विशेषरूप से रुचि रखते थे जो नवजात बच्चों से भरा था। उनका घर एक वृक्ष पर था जो उनके पड़ोसी के आँगन पर झाँकता था। नेहरू नन्हीं चीलों को बड़ा होते देखने में वक्त काट देते।

समाचारों के लिए वे मुख्यतः कलकत्ता से प्रकाशित एक अँग्रेज़ी साप्ताहिक पर निर्भर थे, जेल के गुप्त साधन और भेंट करनेवाले लोग इस स्वल्प सामग्री में कुछ और जोड़ देते। योरोप के और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की जानकारी के लिए वे मैन्चेस्टर गार्जियन भी पढ़ा करते। देश और विदेश दोनों ही जगह समाचार उदास थे।

३० जनवरी, १९३३ को जब जवाहरलाल गिरफ़्तार हुए थे तब हिटलर को जर्मन गणतंत्र का चांसलर नियुक्त होकर अधिकार प्राप्त किए एक वर्ष से अधिक हो चुका था। फ़ूरार (अधिनायक) के अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर आगमन से ज्यों ज्यों नाज़ीवाद की छाया योरोप पर फैली डिक्टेटर (तानाशाह) उभरने लगे। उस समय के लगभग जब नेहरू गिरफ्तार किए गए फ्रांस में फ़ासिस्ट दंगे शुरू हो गए। वहाँ एक राष्ट्रीय सरकार गठित हुई। मार्च १९३३ में उसी महीने जब पार्लमेंटरी शासन आस्ट्रिया में समाप्त हुआ वह जर्मनी में समाप्त हो चुका था। आस्ट्रिया का नक़ली डिक्टेटर डोलफ़ुस यह सोचता प्रतीत होता था कि आस्ट्रिया के समाजवादी लोग नाज़ियों से अधिक बड़ा ख़तरा हैं। फरवरी १९३४ में उसके तोपख़ाने ने वियना में कर्मचारियों के नए घरों के ब्लाक पर गोलाबारी की। यह संभवतः संसार भर में कर्मचारियों के सबसे अच्छे निवास थे, और चार दिन जो संग्राम चलता रहा उसमें लगभग एक हज़ार पुरुष, स्त्री और बच्चे मारे गए। जुलाई में आस्ट्रिया के नाज़ियों ने डोलफ़ुस की हत्या कर दी।

स्पेन में, जहाँ से शाह अल्फोंजो १३वाँ १९३१ में खदेड़ बाहर किया गया था, मैनुअल अज़ाना, जो दक्षिण-पंथियों को निर्बलता के साथ रोकने का प्रयत्न कर रहा था, १९३३ के शरद् में शासन से अलग कर दिया गया। गिल रोबल्स ने अलेक्ज़ांद्रो लेरू के साथ शासन पर अधिकार किया और स्पेन में आतंक छा गया। मूर सैनिकों ने अस्तूरिया के मज़दूरों की सरकार को रक्तस्नान में कुचल दिया। फरवरी १९३६ में भाग्यचक्र ने फिर पलटा खाया जब वामपंथियों ने विजय में सफ़ाया कर दिया। पाँच महीने बाद, जुलाई में, स्पेन फिर गृहयुद्ध में डूब गया।

जापान अपनी विस्तारवादी प्रवृत्ति में सितंबर १९३१ में लग गया, जबकि उसने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया, और लीग आफ़ नेशंस के क्षीण विरोधों के रहते भी वह मंचूरिया को "स्वतंत्र" मंचूकुओ गणतंत्र में परिवर्तित करने में सफल हो गया। आक्रमण से लाभ होने लगा था। निरस्त्रीकरण सम्मेलन का विषादग्रस्त नाटक जो १९३२ में जेनेवा में हुआ था १९३५ तक घिसटता रहा, किंतु हिटलर ने जर्मन प्रतिनिधि मंडल को अक्टूबर १९३३ में वापस आने की आज्ञा दी तो वह मर गया।

१९२९ और १९३३ के बीच संसार आर्थिक रूप से बीमार भी था। भाव गिर गए थे, मुद्राएँ लड़खड़ा रही थीं, चारों ओर बेकारी और अभाव फैले हुए थे। नई और पुरानी दोनों दुनिया में मन्दी फैली हुई थी। १९३३ में १५,०००,००० से ऊपर लोग अमरीका में बेकार थे। जून १९३३ में विश्व आर्थिक सम्मेलन उपयुक्त रूप से ही लन्दन के भूगर्भीय अजायबघर में हुआ, लेकिन किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचे बिना ही जुलाई में भंग हो गया।

युद्ध को अब भी पाँच वर्ष थे, लेकिन उसकी छाया योरोप पर उतर आई थी।

विदेशों के समाचार से नेहरू हताश हो रहे थे। उन्होंने १९२७ में योरोप यात्रा के समय से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का निकट से अध्ययन किया था। देश में भी वैसा ही अवसाद व्याप्त था।

नेहरू के वाद गांधीजी विहार गए थे। उन्होंने कांग्रेस कार्यकर्ताओं से सहायता कार्य में सरकार के साथ सहयोग करने को कहा था। कांग्रेस ने भूकम्प-पीड़ितों की संख्या का अनुमान लगभग २०,००० लगाया था, लेकिन सरकार ने ठीक से गणना करने में असमर्थ होकर कुल संख्या कम रखी, यद्यपि कोई आधिकारिक संख्या प्रकाशित नहीं हुई।

जव गांधीजी ने विहार का दौरा किया तो कुछ कांग्रेसवाले राजनीतिक गत्यवरोध का कोई हल निकालने पर विचार करने के लिए दिल्ली में एकत्र हुए। इस सभा की अध्यक्षता डाक्टर एम० ए० अंसारी ने की और जिन लोगों ने वादविवाद में भाग लिया उनमें अव पश्चिमी वंगाल के मुख्य मंत्री डा० विधानचंद्र राय, और वंवई के प्रमुख वकील श्री भूलाभाई देसाई थे जो वाद में असेंवली में कांग्रेस पार्लमेंटरी पार्टी[1] के नेता थे। सम्मेलन ने अस्थायी रूप से निश्चय किया कि गांधीजी और वर्किंग कमेटी की सहमति के वाद, अव मोतीलाल की पुरानी स्वराज्य पार्टी को पुनरुज्जीवित करने और नवंवर १९३४ में निर्धारित चुनाव में लड़ने का समय आ गया है। गत्यवरोध को भंग करने के प्रयत्न में सविनय अवज्ञा को वन्द करने के साथ ही केन्द्रीय असेंवली पर अधिकार करने की राष्ट्रीय चेष्टा आ आरंभ होना आवश्यक था।

एक ओर राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने और दूसरी ओर स्वशासन की ओर सावधानी से वढ़ने की व्रिटिश सरकार की नीति ने कांग्रेस की मशीन को अस्थायी रूप से ठप कर दिया था। तीनों गोलमेज़ सम्मेलनों के वाद सरकार की प्रस्तावित सिफ़ा-रिशों को लेकर श्वेतपत्र तव तक प्रकाशित हो चुका था और चर्चिल के विरोध के रहते हुए वह मार्च १९३३ में व्रिटिश पार्लमेंट द्वारा अनुमोदित हो चुका था। इसके वाद हाउज़ आव कामन्स और हाउज़ आव लार्ड्स के सदस्यों की एक संयुक्त प्रवर समिति लॉर्ड लिनलियगो की अध्यक्षता में स्थापित की गई। लॉर्ड लिनलियगो वाइसराय के रूप में लॉर्ड विलिंग्डन के उत्तराधिकारी हुए। अप्रैल १९३३ से नवंवर १९३४ तक प्रायः निरन्तर अधिवेशन कर समिति की १५९ वैठकें हुईं जिनमें १२० गवाहों के वयान हुए। उसकी रिपोर्ट के साथ विधेयक परिविधान पुस्तक में २४ जुलाई १९३५ को पहुँचा। उसमें ४७३ अनुच्छेद और १६ अनुसूचियाँ थीं। पार्लमेंट में उसका पारित होना अत्यन्त उग्र और विरोधपूर्ण था। वहसों में हैन्सार्ड (व्रिटिश पार्लमेंट की रिपोर्ट) के चार हज़ार पृष्ठ लगे जिसमें कुल शब्द संख्या १५,५००,००० से अधिक थी। इतनी थोड़ी

---

१ स्वराज्य पार्टी नाम से भी ज्ञात।

बात के लिए इतने अधिक लोगों ने इतना अधिक कभी नहीं कहा था। भारत सरकार का १९३५ का अधिनियम पूरी तौर पर कभी लागू नहीं हुआ।

मोटे तौर पर अधिनियम ने जो १ अप्रैल १९३७ को कार्यरूप में आया एक अखिल भारतीय संघ की परिकल्पना की थी जिसमें कुछ शर्तें और नियमों के साथ रजवाड़े और गवर्नरों के स्वायत्त प्रान्त सम्मिलित थे, किन्तु शर्तें और नियम कभी पूरे नहीं हुए। यह प्रान्तों को स्वायत्त शासन भी प्रदान करता था, प्रांतीय गवर्नर परिनिरीक्षण का कार्य और प्रान्तीय शासन को सरसरी तौर पर बर्खास्त करने का अधिकार रहता था, इस प्रकार वह प्रान्तीय स्वायत्त शासन को इच्छानुसार अनुलंघित कर सकता। प्रान्तीय शासन जुलाई १९३७ के अन्त से आरंभ होने को था।

इस बीच केंद्रीय असेम्बली के चुनाव नवंबर १९३४ के लिए निर्धारित थे। ४ अप्रैल को अंसारी, देसाई और राय विधानसभाओं में जाने के अपने निश्चय के लिए गांधीजी के समर्थन के लिए उन्हें मनाने पटना आए। उनके बिना जाने ही महात्माजी ने २ अप्रैल को ही सविनय अवज्ञा वापस लेने का निश्चय पहले ही कर लिया था। "यदि पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने के लिए साधन रूप में सफल हो तो सविनय अवज्ञा का उत्तरदायित्व वहन करने को" अपने ही लिए रख छोड़ा था।

जैसा कि उनका स्वभाव था उन्होंने मिलनेवालों की बातें ध्यान से सुनीं और २ अप्रैल के अपने निश्चय पर चर्चा की। ५ अप्रैल को अंसारी के नाम एक पत्र में, यह दुहराते हुए कि विधान सभाओं में जाने की उपयोगिता के संबंध में उनके विचार "कुल मिलाकर वही हैं जो १९२० में थे," गांधीजी ने केंद्रीय असेंबली के लिए चुनाव लड़ने के उनके प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी। ७वीं अप्रैल को महात्माजी ने सविनय अवज्ञा वापस लेने के निश्चय की घोषणा करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया और कांग्रेस-जनों को अस्पृश्यता निवारण, हाथकताई का प्रचार, और सांप्रदायिक एकता का प्रसार जैसे "राष्ट्र निर्माण" के कार्यों में लगने को कहा।

अंसारी और उनके साथियों ने इस निश्चय का स्वागत किया जो राष्ट्रीय संघर्ष को व्यवस्थापिकाओं के भीतर बाहर चलानेवाला दुहरे कार्यक्रम का द्योतक समझा गया। किन्तु नेहरू ने इसके विपरीत सोचा। गांधीजी के निर्णय का पहला समाचार उन तक जेल सुपरिंटेंडेंट द्वारा पहुँचा जिसने उन्हें संयोगपूर्वक ही बताया कि महात्माजी ने सविनय अवज्ञा वापस ले ली है।

नेहरू को यद्यपि निराशा हुई किन्तु उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ। समाचार अप्रिय था किन्तु यह केवल कुछ समय की ही बात थी कि सविनय अवज्ञा समाप्त हो जाती। जेल के भीतर वे स्थिति का मूल्यांकन करने में गांधीजी से कम महत्व की स्थिति में थे, जिसे महात्माजी ने अपनी सहज प्रवृत्ति मूलक समझ से माप लिया होगा। नेहरू व्यवस्थापिकाओं में जाने के निश्चय से भी प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने सदैव इनको अवास्तविक और देश की महत्वपूर्ण आवश्यकताओं और समस्याओं से असंबंधित समझा। किन्तु यह

प्रयत्न भी, लोगों पर छाए विशाल राजनीतिक अवसाद के साथ अनिवार्य था, और उसका शायद कुछ शैक्षिक मूल्य निकले।

कुछ दिनों बाद, उन्हें मिलनेवाले साप्ताहिक समाचार पत्र को देखते हुए वे गांधीजी के ७वीं अप्रैल के वक्तव्य को पढ़कर विस्मय और व्याकुलता से भर उठे। उन्होंने वक्तव्य को एक बार पढ़ा। सविनय अवज्ञा को बन्द करने के गांधीजी के निश्चय से उन्हें कोई विवाद नहीं था। लेकिन महात्मा जी ने अपने निश्चय के कैसे अजीब कारण दिए हैं। प्रगटतः शायद उनकी अपने आश्रम में वहाँ के निवासियों और साथियों से बातचीत हुई होगी। उनसे उन्होंने एक "पुराने मूल्यवान् मित्र" के बारे में जाना, जो कट्टर सत्याग्रही था और अब जेल के निष्क्रिय जीवन से अपनी निजी क्रियाशीलता को अधिक पसन्द करता था। इस उदाहरण से गांधीजी स्तब्ध रह गए लेकिन प्रभावित हुए थे। इस प्रवृत्ति में नया कुछ नहीं था, क्योंकि समस्याओं के प्रति उनका मत सदा हठवादी रहा। वे सामान्य सिद्धान्तों को व्यक्तिगत या निजी अनुभवों और निरीक्षणों से व्युत्पादित करते।

उन्होंने स्वीकार किया, "मैं अंधा था। नेता का अंधा होना अक्षम्य है। मैंने एकदन देखा कि अभी तो मुझे सविनय अवज्ञा चालू रखने में एकमात्र प्रतिनिधि बनना होगा।"

नेहरू को यह बात बेतुके ढंग की आध्यात्मिक और रहस्यात्मक लगी। कांग्रेस को और उन्हें गांधीजी के एक आश्रमवासी के दोषों और असफलताओं से क्या मतलब है, और क्या राष्ट्रीय आन्दोलन किसी एक व्यक्ति की सनक के आधार पर चलाया जा सकता है? वे क्रुद्ध और उग्र हो उठे।

उन्होंने क्रोध भरी स्पष्टवादिता में भभक कर लिखा, "मुझे यह बुद्धि का अपमान और राष्ट्रीय आंदोलन के नेता का अचंभे का काम लगा।"

उनकी प्रतिक्रियाएँ इतनी गहरी और और दुर्दान्त थी कि उन्हें लगा मानों निष्ठा की वे डोरियाँ जो उन्हें बहुत वर्षों से गांधीजी से बाँधे थीं टूट गई हैं। एकाकीपन उन्हें परेशान किए हुए था और अपनी जेल की कोठरी की मरुभूमि में उनके मन में एक बार फिर गांधीजी के साथ उनके विचित्र संबंध को टटोलने लगा। गांधीजी, जो मृदु थे किन्तु उत्तप्त भी थे, निकट थे किन्तु कभी कभी बहुत दूर थे।

इन मतभेदों से अवगत महात्माजी ने एकबार नेहरू से उन्हें स्वभावगत मानकर दूर करने के लिए कहा था। लेकिन नेहरू को उनके दृष्टिकोण के अन्तर स्वभावगत से कहीं अधिक लगे। यह केवल दृष्टिकोण में मतभेद नहीं था किन्तु तरीक़ों में मतभेद था। नेहरू अपने लक्ष्यों को स्पष्ट और परिमापित रखना चाहते थे। गांधीजी का दर्शन था कि मेरे लिए एक क़दम काफ़ी है। वे लक्ष्यों से अधिक साधनों से संबंधित थे, क्योंकि लक्ष्य साधनों से निःसृत होते हैं। सही साधनों से सही लक्ष्य उत्पन्न होते हैं।

महात्माजी यह दुहराने के अनुभवी थे, "साधनों का ध्यान रखो और लक्ष्य अपने आप ठीक हो जायगा।"

किन्तु जवाहरलाल के लिए विचार की स्पष्टता प्रमुख पूर्वप्रतिबंध था और उन्हें लक्ष्य के संबंध में अस्पष्टता न केवल निन्दनीय किन्तु प्रमुख पाप लगा। यह समझौते के लिए अत्यन्त तत्पर संभ्रमित मन का संकेत करता है, जो अंतिम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्नों को पक्का करने से अधिक दूसरा निकट प्रयत्न साधने के लिए अधिक चिंतित हो, जहाँ रहस्य और आवेग प्रमुख हों वहाँ न तो विचार की स्पष्टता हो सकती है न प्रयोजन का निश्चय।

इस समय जवाहरलाल जेल में बर्नार्ड शॉ के नए नाटक पढ़ रहे थे, और उन्हें जीवन के सनातन और अस्थायी मूल्यों का क्रमशः प्रतिनिधित्व करते ईसामसीह और पाइलेट की बहस में उसके नाटकीय महत्व के साथ **ऑन द रॉक्स** की प्रस्तावना में एक समानता मिली जिससे उन्हें सुख मिला। बारबार उन्होंने वह वक्तृता पढ़ी जिसमें ईसामसीह पाइलेट को भय और विश्वासहीनता के लिए झिड़कते हैं:

सम्राट सीज़र का भय, वह आदर्श जिसका तुमने स्वयं निर्माण किया है और मेरा भय, अकिंचन आवारा, तिरस्कृत और अपमानित खुदा के शासन के अतिरिक्त प्रत्येक चीज़ का भय; रक्त और लोहे और सोने के अतिरिक्त किसी चीज़ में अनास्था। रोम का प्रतिनिधित्व करनेवाले तुम सार्वभौम कायर हो खुदा के राज्य का प्रतिनिधित्व करनेवाले मैंने सब कुछ सहा है, सब कुछ खो दिया है और अक्षय मुकुट जीत लिया है।

यह संभव नहीं है, नेहरू ने यह पढ़कर सोचा 'क्या संभव नहीं है कि गांधीजी कम क्षणिक और उनके अपने मूल्यों से अधिक तत्वतः शक्तिशाली मूल्यों को निर्देशित करते हों? इस विचार ने उन्हें संयत किया किन्तु बेचैनी और कुछ कटुता बनी रही।

अनेक समस्याओं और जिज्ञासाओं को उपस्थित करते हुए इस संकट ने नेहरू को विशिष्ट ढंग से अपनी स्थिति की विवेचना करने को प्रेरित किया। उन दिनों उन्हें लगा मानों वे "अकेलेपन के बड़े भारी उजाड़ में" रह रहे हों। वे किसका सहारा लें?

उन्होंने याद किया, "मैंने जो बहुत से मुश्किल सबक़ सीखे थे, उनमें सबसे मुश्किल और सबसे कष्टप्रद अब मेरे सामने है कि यह संभव नहीं है कि किसी महत्वपूर्ण समस्या में किसी पर विश्वास करे। जीवन में अकेले यात्रा करना होगा; किसी पर विश्वास करना हृदय को चूर चूर करना होगा।"

यह विचार महत्वपूर्ण है क्योंकि यह उस जीवन-दर्शन का आरंभ प्रदर्शित करता है जो आज नेहरू को संचालित करता है। वे इतिहास और जल्दबाज़ी की भावना से जिस प्रकार आक्रान्त हैं, वे (और सब को छोड़कर किपलिंग के साथ) इस बात पर सहमत हैं कि 'जो अकेला यात्रा करता है वह सबसे तेज़ यात्रा करता है।' प्रधान मंत्री और लाखों लोगों के आराध्य के रूप में, निश्चित लक्ष्यों पर ध्यान केंद्रित हुए नेहरू अनुभव करते हैं कि वे अपने विचारों को कार्यान्वित करने की स्थिति में हैं और स्पष्टतः उन्हें अपने जीवन में उपलब्ध करने को उत्सुक हैं। इसीलिए चलता है उनका अतिशय आत्मविश्वास और आत्मकेन्द्रिता, उनकी चीज़ों को अपने आप और इस

प्रकार शक्ति अपने हाथों में रखने की प्रवृत्ति, उनके इर्दगिर्द के बहुत से लोगों से उनका अधैर्य, कुछ में उनका अविश्वास कुछ में असहिष्णुता, उनका अपने से ही सलाह लेने का स्वभाव जो कभी कभी मौन की सीमा पर पहुँच जाता है। इसमें से कुछ तो उस अहंमन्यता पर आरोपित हो सकता है जो अप्रिय नहीं है, जिसके कारण वे अपने विपय में अच्छी सम्मति रखते हैं और अपना ऊँचा मूल्यांकन करते हैं। किन्तु अधिकांश में और मूलत: यह उन देशवासियों की निष्ठापूर्वक सेवा भावना से उत्पन्न होता है जिन्हें वे उत्कटतापूर्वक स्नेह करते हैं और जिनमें उन्हें अक्षुण्ण विश्वास है। नेता और साथी लोग धोखा दे सकते हैं, लेकिन भारत की जनता धोखा नहीं देगी।

वाहर की घटनाओं पर वे अकेले घंटों सोचते रहे। यदि वे मुक्त होते तो घटनाओं और व्यक्तियों का संघात उन्हें शीघ्र ही अपने से वाहर निकाल कर नए कामों में मग्न कर देता। जेल में उन्हें अपने ऊपर छाए संदेह और निराशा को दूर करना कठिन लगा। लेकिन धीरे धीरे उनके मन और शरीर के लोच ने अकेलेपन की भावना को हटाकर अपना प्रभाव प्रगट किया।

और तव कमला उनसे मिलने आईं। वे अस्वस्थ थीं और चिकित्सा के लिए कलकत्ता आई थीं। उनकी आँखों के नीचे कालिख छा गई थी; वह सदा ही कोमल लगतीं लेकिन उनकी उनकी वीमारी ने—यद्यपि वह भीतर ही भीतर उन्हें खाए जा रही थी—वाहरी तौर पर उनके रूप में कुछ ही परिवर्तन किया था। वे प्रफुल्ल थीं, और वाहर की घटनाओं के क़िस्सों से भरीं हुई थीं, और उनका प्रेम और प्रसन्नता जवाहरलाल मे संचारित हो गए। उन्हें लगा कि वह अपने साथ क्रांति लाई हैं और उसकी उष्णता ने उनके मन और मस्तिष्क को प्रकाशित कर दिया। उनका मन फिर हल्का होगया। उन्हें कभी उसके इतना निकट नहीं लगा जितना कि उस दिन जेल में लगा था।

कलकत्ता की नम जलवायु जवाहरलाल के अनुकूल नहीं थी। वे उसके चिपचिपे स्पर्श में मुरझा गए। ज्यों ज्यों ग्रीष्म आगे वढ़ा, वढ़ती गर्मी ने उन्हें मन्द कर दिया और उनका वज़न कम होने लगा।

मई में एक दिन सवेरे उनसे अपना सामान वाँधने को कहा गया, चूँकि उनका कहीं स्थानान्तरण हो रहा था।

उन्होंने पूछा, "मैं कहाँ जाऊँगा?"

उन लोगों ने वताया, "देहरादून को।"

नेहरू अप्रसन्न नहीं हुए। वे देहरादून पसन्द करते थे जो पहाड़ों में वसा था। और फिर वे कमला के समीप हो जायंगे। कार पर स्टेशन जाते हुए कलकत्ते की रात की काली हवा मलहम-सी लगी। भारी भीड़ ने उन्हें मुग्ध किया।

उन्हें देहरादून छोड़े नौ महीने हो गए थे। लेकिन लौटकर उन्हें जेल की स्थिति वदली मिली। इस वार एक उपयोग में न आ रहा पशुओं का शेड उनके रहने के लिए साफ कर उनकी कोठरी के काम आया। इसमें एक छोटा वरामदा और पचास

फीट लम्बा सटा हुआ आँगन था। लेकिन दीवारें जो उनके आने के कारण ऊँची कर दी गई थीं, लगभग पंद्रह फ़ीट ऊँची थीं और उन्होंने पहाड़ों का पुराना दृश्य बिलकुल रोक दिया था। इन पहाड़ों का दृश्य ही उनके लिए देहरादून जेल में प्रमुख क्षतिपूर्ति करने वाला था। इस बार उन्हें आँगन से बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी।

नेहरू को पहाड़ों का अभाव खला। देहरादून के पिछले प्रवास में, उन्हें देखते हुए, उन्हें मिंग सम्राट के गीतकार, चीनी कवि लि ता' इ-पो की पंक्तियाँ याद आईं :

पक्षियों के वृन्द ऊँचे उड़ गए हैं;
बादलों का समूह, भी भटकता चला गया है,
और मैं दूर पर ऊँचे चिग-तिंग शिखर के साथ अकेला बैठा हूँ,
हम एक दूसरे से कभी नहीं ऊबते, पर्वत और मैं।

अपनी कोठरी और आँगन में बन्द नेहरू बाहर हरी घास मृदु श्यान्त धरती और दूर पर सफ़ेद चमकते पर्वतों की कायमूर्ति की कल्पना कर लेते। वे अकेले रह गए थे, और उन्हें मनुष्यों और प्रकृति के साथ की लालसा थी।

वर्षा आई। तापमान में ताज़गी लानेवाली गिरावट आई और हवा नवजीवन के मन्द स्वर से भर गई। कभी कभी जब वार्डर के आने के लिए उनके आँगन का लोहे का द्वार खुलता तो नेहरू घास की हरियाली,फूल और धूप में वर्षासीकरों से चमकती पत्तियोंवाले वृक्षों की एक झलक पा जाते। जब कभी संभव हुआ वे जेल में फूल उगाना और उनकी देखभाल पसन्द करते, अपनी उदास कोठरी में खिले फूलों के गुच्छे से उल्लास भर देते।

नेहरू दो चीज़ों से परेशान थे—कमला की बीमारी से, जो अब उन्होंने अनुभव किया कि उससे कहीं अधिक गंभीर हो गई है जितना उन्होंने अनुमान लगाया था और राजनैतिक घटनाक्रम से। उन्हें देहरादून में एक दैनिक समाचार पत्र मिलता था और राष्ट्रीय धारा में बहाव से उनकी चिन्ता वास्तविक और तीव्र थी।

उन कांग्रेसजनों के अतिरिक्त जिन्होंने स्वराज्य पार्टी को पुनर्जीवित करने की योजना बनाई, दूसरा प्रमुखतः तरुण लोगों का दल, कांग्रेस में ही समाजवादी पार्टी संगठित करने में लग गया। इस प्रकार गांधीजी इनके बीच के दल को सँभालने के लिए रह गए जो सहयोगनिहित संविधानवाद को लौटने में रुचि नहीं रखता था किन्तु जिसे समाजवाद से बहुत प्रेम नहीं था। इस बीच के दल की नेहरू की "नरम संवैधानिक" व्याख्या अनुपयुक्त नहीं थी।

सरकार ने गांधीजी की चेष्टा का प्रतिदान कांग्रेस संगठनों पर से कुछ अपवाद के साथ रोक उठा कर किया। इन अपवादों का प्रभाव सीमा प्रान्त और बंगाल पर हुआ जब कि खुदाई ख़िदमतगार[1] या सीमान्त लाल कुर्ती और हिन्दुस्तानी सेवादल जैसी कुछ

[1] १९३१ में यह कांग्रेस का नियमित संगठन बन गया था।

समान या संवद्ध इकाइयाँ अभीतक कुछ प्रान्तों में निषेधाज्ञा में थीं। १९३४ के मध्य जून तक अधिकांश प्रान्तों में निषेधाज्ञा उठा ली गई थी। सरकार राजनीतिक क़ैदियों को छोड़ने में भी शीघ्रता कर रही थी।

जेल के बाहर नेहरू के मत को प्रत्यावर्तित करनेवाला एकमात्र दल समाजवादी पार्टी थी जिसका संगठन मई १९३४* में हुआ था। उसी महीने पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की स्वराज्यवादियों के कौंसिल प्रवेश के कार्यक्रम पर चर्चा करने के लिए सभा हुई। इस कार्यक्रम का नरेन्द्रदेव और जयप्रकाश के नेतृत्व में समाजवादियों ने उग्र विरोध किया। किन्तु गांधीजी की विजय हुई, स्वराज्यवादियों का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया गया और कांग्रेस की ओर से अपने लिए सत्याग्रह के अधिकार सुरक्षित रखने का उनका अपना निश्चय भी स्वीकृति पा गया।

पटना की कार्यवाहियाँ पढ़ते हुए नेहरू फिर संदेहों से आक्रान्त हो गए। यह गांधीजी का भाषण था जिसने विरोधियों को चुप कर दिया था, और नेहरू को उसका लहजा तानाशाही लगा। उन्हें लगा कि गांधीजी वस्तुतः कह रहे थे, "अगर तुम मेरा नेतृत्व चाहते हो तो तुम्हें मेरी शर्तें माननी होंगी।" इसके सिवा नेहरू को यह बात बुरी लगी कि गांधीजी ने समिति के निर्णय की प्रतीक्षा नहीं की थी, किन्तु अक्खड़पन से अपना सामान जमा कर हरिजन यात्रा पर चल पड़े। नेहरू को लगा कि ऊपर से बहुत अधिक दबाव है, नीचे से बहुत कम मुक्त और समझदारी का पर्यालोचन है।

इसके बाद की घटनाओं ने नेहरू को और भी दुखी किया। सांप्रदायिकता और प्रतिक्रिया का बोलबाला था। कांग्रेस के अन्दर ही पंडित मदन मोहन मालवीय और श्री एन० एस० अणे द्वारा प्रतिनिधित्व किए तत्व थे जो हरिजनों की ओर से गांधीजी द्वारा संशोधित भी सांप्रदायिक निर्णय के कटु विरोधी थे। अपने रुख के लिए वे कुछ ठीक भी थे क्योंकि भारत सरकार के १९३५ के अधिनियम में निर्णय जैसा सन्निविष्ट था उससे हिन्दू बहुमत के विरुद्ध अल्पसंख्यकों के पक्ष में पलड़े बहुत अधिक झुके थे। अल्प संख्यकों को न केवल उनके अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया था, किन्तु मतदाता उन्नीस धार्मिक और सामाजिक प्रवर्गों में विभाजित कर दिए गए थे—जैसे मुस्लिम, सिख, ईसाई, दलित वर्ग, योरोपियन, ऐंग्लोइंडियन, ज़मींदार, व्यवसाय और उद्योग आदि—और इनमें से प्रत्येक को प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया था। यह "अलग अलग कर दो और शासन करो' की नीति प्रतिहिंसा के साथ थी। दूसरी ओर जैसे पंजाब और बंगाल में, जहाँ हिन्दू अल्पसंख्या में थे, उन्हें अपनी संख्या के आधार से कम प्रतिनिधित्व दिया गया था। उदाहरण के लिए पंजाब में हिन्दुओं को जनसंख्या के २८.३ प्रतिशत होते हुए प्रान्तीय व्यवस्थापिका में २४.६ स्थान दिए

---

* इसका पहला अखिल भारतीय अधिवेशन पटना में १० मई १९३४ को हुआ। बाद में पार्टी की शाखाएँ कई प्रांतों में संगठित हुईं।

गए थे। इसी प्रकार बंगाल में जहाँ वे जनसंख्या के ४४.८ प्रतिशत थे उन्हें योरोपियन लोगों की तुलना में केवल ३२ प्रतिशत स्थान मिले। योरोपियनों को अणुवीक्षणीय अल्पसंख्या में होते हुए २५० में से २५ स्थान मिले थे।

हिन्दू-मुस्लिम तनाव बढ़ गया। दोनों संप्रदायों के बीच भावना इतनी बुरी तरह गिर गई कि हिन्दूमहासभा के एक प्रसिद्ध नेता ने सरकार को मुस्लिम लालकुर्ती और उनके नेता खान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ाँ पर से निषेवाज्ञा न उठाने के लिए यथार्थतः बधाई दी थी। इसे पढ़कर नेहरू बहुत ग़ुस्से में भर उठे थे, उनकी स्थिति की विवशता ने इस क्रोध को और तीव्र कर दिया।

वे कांग्रेस वर्किंग कमेटी के एक प्रस्ताव से भी विचलित हो उठे थे जो नई समाजवादी पार्टी को निर्देश किया गया था, जिसमें "निजी संपत्ति की ज़ब्ती और वर्गयुद्ध की आवश्यकता की उत्तरदायित्वहीन चर्चा" की निन्दा की थी। नेहरू को लगा कि यह अभियोग अनुचित था क्योंकि किसी उत्तरदायी समाजवादी ने ज़ब्ती की हिमायत नहीं की थी, यद्यपि पार्टी के सदस्यों ने वर्गयुद्ध की स्पृहणीयता नहीं किन्तु उसके अस्तित्व का प्रायः उल्लेख किया था। इस प्रस्ताव का अर्थ था कि इस विचार के रखनेवाले व्यक्तियों के लिए कांग्रेस संगठन में स्थान नहीं था। प्रस्ताव में आगे कहा गया था कि "वर्किंग कमेटी की यह सम्मति भी है कि ज़ब्ती और वर्गयुद्ध कांग्रेस के अहिंसा सिद्धान्त के विपरीत हैं।" यह ध्यान देना रुचिकर है कि नेहरू को कोई कारण नहीं दिखाई पड़ा कि ऐसे लोग कांग्रेस के सदस्य क्यों न रहें।

कारावास से उत्पन्न कुंठा ने उनमें राजनैतिक और एकान्तभय की भावना उत्पन्न कर दी। नेहरू को स्वप्न दिखाई देने लगे। उन्होंने एक बार स्वप्न देखा कि अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ पर चारों ओर से आक्रमण हो रहा है और वे उन्हें बचाने के लिए लड़ रहे हैं। वे थककर और चूर चूर हो कर जाग गए। उनका तकिया आँसुओं से भीग गया था। स्पष्टतः उनकी स्वाभाविक अवस्था बहुत अच्छी नहीं थी। वे दुःस्वप्नों से बेचैन हो जाते थे और कभी कभी जागकर अपने को नींद में चिल्लाता पाते। एक रात को उन्होंने स्वप्न देखा कि उनका गला घोटा जा रहा है और उनके चिल्लाने से दो वार्डर घबरा कर भागते हुए उनकी कोठरी की ओर आ गए।

कमला के स्वास्थ्य के समाचार ने उन्हें और परेशान कर दिया, इससे उनमें विवशता का भाव और बढ़ गया। जून १९३४ में नेहरू ने अपनी आत्मकहानी लिखना आरंभ किया, कुछ तो अपने विचार लिखकर मानसिक धुंध को दूर करने के लिए और कुछ उस उदासी से अपने मन को अलग हटाने के लिए जो उन पर छा रही थी। बाद में जोड़े गए लेख* और कुछ मूल पाठ में छोटे परिवर्तनों के, सिवा उन्होंने पूरी किताब जेल में लिखकर फरवरी १९३५ में पूरी की।

---

* २५ अक्टूबर १९३५ को ब्लैक फारेस्ट में बादेनवीलर में लिखा गया।

१९३४ भर कमला का स्वास्थ्य गिरता गया। और जुलाई के अन्त में वह तेज़ी से गिरा और उनकी हालत संकटापन्न हो गई। ११ वीं अगस्त की रात को नेहरू पुलिस के पहरे में देहरादून से इलाहाबाद लाए गए और वहाँ उन्हें बताया गया कि अपनी रुग्ण पत्नी को देखने के लिए वे अस्थायी रूप से छोड़े जा रहे हैं। वे ग्यारह दिन तक मुक्त रहेंगे।

उन्होंने कमला को क्षीण, चूर चूर और निर्बल उसकी निस्तेज छाया पाया। पहली बार उनके मन में आया कि यह मर तो नहीं जायगी, और वे उन दिनों की याद करने लगे जब वह नन्हीं सी बहू के रूप में दिल्ली से इलाहाबाद आई थी। तब वह कैसी निर्मल दिखाई पड़ती थी। वह लड़की सी थी, लेकिन प्रबल पसन्द और नापसन्दी और सम्मति का उसका अपना मन था, जिसे वह स्पष्टता से और कभी मुँहफट ढंग से व्यक्त कर देती थी। उनके विवाह के आरंभिक वर्षों में, वे जिस प्रकार अल्पवय थे—विवाह के समय नेहरू छब्बीस वर्ष के थे और कमला सत्रह की—वे तरुणावस्था की तीव्र सम्मति और उग्रता से प्रायः झगड़ते थे। उनकी ओर देखते हुए जवाहरलाल ने ध्यानपूर्वक सोचा था कि इन वर्षों में वह कम ही बदली है। कमला कभी गृहिणी की तरह की नहीं थी और जब इन्दिरा बढ़कर स्त्री हुई तो वे दोनों प्रायः भूल से बहिन समझ ली जाती थीं। लेकिन नेहरू को अनुभव हुआ कि वे विवाह के बाद के अठारह वर्षों में बहुत बदल गए हैं।

इन्दिरा भी अपने शान्तिनिकेतन के स्कूल से आ गई थी। अब वह भी लगभग सत्रह की थी जो कमला अपने विवाह के समय थी और अपनी माता की तरह शान्त गंभीर स्वभाव की थी, किन्तु उसमें अपने पिता की कुछ चिन्तनशीलता और प्रयोजनीयता थी।

घर में एक और अशक्त व्यक्ति था। अब साठ पारकर स्वरूपरानी रोगी रहती थीं। पिछले तीन साल में अधिकतर उनके बेटे के जेल में रहने, और उनकी लड़कियों के निरन्तर जेल के भीतर बाहर रहने, जबकि उनकी पुत्रवधू का स्वास्थ्य धीरे धीरे गिरता जाता, स्वरूपरानी अकेला और कठिन जीवन बितातीं। जो कुछ शान्ति के क्षण उन्होंने अनुभव किए वे तब थे जब जवाहरलाल जेल के बाहर कुछ दिन उनके साथ बिता पाते। उनकी हाल की आज़ादी के लिए सरकार ने कोई सीमा निर्धारित नहीं की और किसी दिन उन्हें वापस जेल ले जाय, इस तथ्य ने माता और पुत्र के जीवन में एक अनिश्चय का तत्व डाल दिया था और दोनों के लिए इस विचित्र स्थिति के साथ व्यवस्थित करना कठिन कर दिया था।

जेल से बाहर आते समय नेहरू ने सरकार को कोई वचन नहीं दिया था लेकिन उन्हें लगा कि उन लोगों ने जो मोहलत दी है उस अवधि में राजनीतिक कामों में लगना अनुचित होगा। जब वे जेल में थे तब बहुत बातें हो गई थीं जिन्होंने उनको परेशान ही नहीं, दुखी भी कर दिया था। गांधीजी वर्धा में थे, और नेहरू ने उन्हें अपने विचार

लिख भेजने में विलम्ब नहीं किया। १३ अगस्त १९३४ के पत्र में लगभग दो हज़ार शब्द थे किन्तु वे उनमें पिछले तीन वर्ष के संशय, भय और असमंजस को घनीभूत करते हैं और कुछ अंश जवाहरलाल के अपने राजनीतिक दर्शन के चिन्तन को व्यक्त करते हैं। उन्होंने लिखा :

जब मैंने सुना कि आपने सविनय अवज्ञा आन्दोलन वापस ले लिया है तो मुझे दुःख हुआ। शुरू में मेरे पास संक्षिप्त घोषणा पहुँची। बहुत बाद मैंने आपका वक्तव्य पढ़ा और उससे मुझे जीवन का सबसे बड़ा आघात लगा। मैं सविनय अवज्ञा वापस लेने पर अपने को सांत्वना देने के लिए प्रस्तुत था। लेकिन ऐसा करने के लिए जो कारण आपने दिए और भावी कार्यक्रम के लिए जो सुझाव दिए उनसे मुझे अचंभा हुआ। मुझमें सहसा और तीव्र भावना हुई कि मुझमें कुछ टूट गया है, एक कड़ी जिसकी मैं बहुत क़द्र करता था, तड़क गई है। इस विस्तृत संसार में मुझे भयानक रूप से अकेला लगा। प्रायः बचपन से लेकर ही मुझे सदा कुछ अकेलापन लगा है। लेकिन कुछ बन्धनों ने मुझे शक्ति दी, कुछ दृढ़ सहारों ने मुझे खड़ा किया। वह अकेलापन कभी दूर नहीं हुआ। लेकिन कम हो गया। लेकिन अब सूखे मरुद्वीप पर पड़ा मैं अकेला लगा।

इंसानों में अपने को स्थिति के अनुसार बनाने की असीम क्षमता है और इस प्रकार मैंने भी कुछ हद तक अपने को नई स्थिति के अनुकूल बना लिया है। इस विषय पर मेरी भावना जो प्रायः शारीरिक वेदना के समान थी, दूर हो गई, धार कुंद हो गई। लेकिन एक आघात के बाद दूसरे आघात से घटनाओं के क्रम ने धार को बहुत तेज़ कर दिया और मेरी भावना या मेरे मन को कोई शान्ति या विश्राम नहीं लेने दिया। मुझे फिर आत्मिक एकान्त की संवेदना का अनुभव हुआ, संगति से विच्छिन्न एक अजीब क़िस्म के अजनबी होने का, न केवल उन चीज़ों की संगति से जो मेरे पास से निकल गई, लेकिन उनके साथ भी जिनकी प्रिय और निकट साथी समझकर क़द्र करता था। इस बार मेरा जेल का रहना मेरे स्नायुओं के लिए पिछले किसी जेल प्रवास से बड़ी परीक्षा हो गया। मेरी क़रीब क़रीब यही इच्छा होती थी कि सारे अख़बार मुझसे दूरकर दिए जायँ ताकि मैं इन बार-बार की चोटों से बचा रहूँ।

इस हालत के लिए प्रत्यक्ष रूप से वर्किंग कमेटी ज़िम्मेदार नहीं है। किन्तु फिर भी वर्किंग कमेटी को ज़िम्मेदारी लेना होगा। यह नेता और उनकी नीति होती है जो उनके अनुयायियों के कामों का निश्चय करती है। यह न तो ठीक और न न्यायोचित है कि अनुयायियों के सर दोष मढ़े। हर भाषा में कारीगर के औज़ारों में खोट निकालने की कहावत है। कमेटी ने जानबूझकर हमारे आदर्शों और लक्ष्यों की व्याख्या में अस्पष्टता को प्रोत्साहित किया था और प्रतिक्रिया के दिनों में इससे न केवल संभ्रम अवश्यंभावी था किंतु नैतिक पतन, और अवसरवादी नेता का अविर्भाव भी।

मैं विशेषरूप से राजनीतिक लक्ष्यों का उल्लेख कर रहा हूँ जो कांग्रेस का विशेष

अधिकार-क्षेत्र है। मैं अनुभव करता हूँ कि सामाजिक और आर्थिक विषयों पर कांग्रेस को स्पष्टतया सोचने के समय में बहुत देर हो गई है, लेकिन मैं यह समझता हूँ कि इन समस्याओं पर समझने बूझने में वक़्त लगता है और कांग्रेस पूरी तौरपर अभी उतना आगे बढ़ने में समर्थ नहीं है जितना आगे मैं उसे चाहता हूँ। लेकिन यह लगता है कि वर्किंग कमेटी विषय के बारे में कुछ जाने या न जाने वह पूरी तौर से इन लोगों की निन्दा करने और उन्हें अलग करने को तैयार है जिन्होंने किसी विषय का अध्ययन किया है और जिनके कुछ अपने विचार हैं। उन विचारों को समझने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता जो कुख्यात है कि संसार के कुछ बहुत अधिक संख्या के योग्यतम और आत्म-बलिदान करनेवाले लोगों के विचार हैं। वे विचार सही हों या ग़लत लेकिन वर्किंग कमेटी को उनकी भर्त्सना करने के पहले वे कम से कम समझने योग्य तो हैं। सुविचारित तर्क का भावुकता की अपील से या ऐसी हल्की उक्ति से कि भारत में स्थितियाँ भिन्न हैं और जो आर्थिक नियम दूसरी जगहों के लिए उपयोगी हैं यहाँ लागू नहीं होते, उत्तर देना शोभनीय नहीं है। इस विषय पर वर्किंग कमेटी का प्रस्ताव समाजवाद के मूल तत्वों की ऐसी आश्चर्यजनक अनभिज्ञता प्रगट करता है कि उसे पढ़ना और इस बात को सोचना कि वह भारत से बाहर पढ़ा जायगा व्यथादायक है। यह लगता है कि कमेटी की भारी इच्छा है कि वाहियात बातें करके भी किसी तरह विभिन्न निहित स्वार्थों को आश्वस्त कर दिया जाय।

समाजवाद के विषय के साथ व्यवहार करने का एक विचित्र ढंग है शब्द का बिलकुल भिन्न भाव से प्रयोग। अँग्रेजी भाषा में इस शब्द के स्पष्टतः निश्चित अर्थ हैं। व्यक्तिगत लोगों को शब्दों को अपने विचित्र अर्थ लगाने से विचारों के आदान प्रदान में काम नहीं चलता। एक व्यक्ति जो अपने को इंजिन ड्राइवर कहे और फिर कह दे कि उसका इंजिन लकड़ी का है और बैलों से चलता है इंजिन-ड्राइवर शब्द का ग़लत प्रयोग करता है।

गांधीजी का १७ अगस्त का जवाब हल्की झिड़की के लहजे में है।

तुम्हारा आवेशपूर्ण और हृदयस्पर्शी पत्र उससे अधिक लंबे उत्तर के योग्य है जितना कि मेरी शक्ति साथ देगी।

मैंने सरकार से पूरी कृपा की अपेक्षा की थी। फिर भी तुम्हारी उपस्थिति ने कमला और प्रसंगतः मामा के लिए वह किया है जो कोई दवाइयाँ या डाक्टर न कर सकते। मुझे आशा है कि तुम उन बहुत कम दिनों से अधिक रह पाओगे जितने की तुम्हें आशा है।

मैं तुम्हारे गहरे शोक को समझता हूँ। अपनी भावनाओं को पूरी तरह और मुक्त रूप से व्यक्त करने में तुम बिलकुल सही हो। लेकिन मुझे पूरा विश्वास है कि हमारे सामान्य दृष्टिकोण से लिखे शब्दों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से तुम्हें पता चल जायगा कि उस खेद और निराशा का कोई कारण नहीं है जो तुम्हें हुआ है। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि तुमने मुझे साथी रूप में नहीं खो दिया है। मैं वैसा ही हूँ जैसा तुम मुझे १९१७ में और

और बाद में जानते आए हो। सबकी भलाई के लिए मुझमें वही उत्साह है जिसका तुम्हें पता है। मैं देश के लिए शब्द के अँग्रेजी भाव में पूर्ण स्वतंत्रता चाहता हूँ। और प्रत्येक प्रस्ताव जिसने तुम्हें व्यथा पहुँचाई है उस भाव को दृष्टिगत रख कर बनाया गया है। मुझे प्रस्तावों और उनके इर्दगिर्द के संपूर्ण विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेनी होगी।

लेकिन मैं कल्पना करता हूँ कि मुझमें वक्त की जरूरत जानने की खूबी है। और यह प्रस्ताव उसके उत्तर में हैं। निःसन्देह यहाँ पर ढंगों और साधनों पर बल देने का हमारा मतभेद आ जाता है। मेरे लिए यह उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने कि लक्ष्य, और एक अर्थ में इसलिए अधिक महत्वपूर्ण कि उनपर हमारा कुछ नियंत्रण है; जब कि यदि हम साधनों पर नियंत्रण खो देंगे तो लक्ष्य के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं रहता।

"उत्तरदायित्वहीन चर्चा "के विषय में प्रस्ताव को शान्त मन से फिर से पढ़ो। उसमें समाजवाद के विषय में एक भी शब्द नहीं है। समाजवादियों का सबसे बड़ा ख़याल रखा गया है, जिनमें से कुछ को मैं अन्तरंग रूप से जानता हूँ। क्या मैं उनके त्याग को नहीं जानता हूँ? यह जरूर है कि अगर मैं इतना तेज नहीं चल सकता हूँ तो मैं उनसे रुककर मुझे साथ ले चलने के लिए कहूँगा ही। असल में यह मेरा रवैया है। मैंने कोष में समाज-वाद के अर्थ देखे हैं। उससे मैं उससे आगे नहीं बढ़ा जहाँ पहले था। मैंने परिभाषा पढ़ी। उसके संबंध में पूरी बात जानने के लिए क्या पढ़ने को कहते हो? मैंने मसानी की दी हुई एक किताब पढ़ी है, और अब मैं नरेन्द्रदेव की बताई एक किताब पढ़ने में अपना सारा खाली समय लगा रहा हूँ।

तुम वर्किंग कमेटी के सदस्यों पर कठोर हो। वे जैसे भी हैं हमारे साथी हैं। अन्ततः हम प्रतिबन्धमुक्त संस्था हैं। अगर वे विश्वास के योग्य नहीं हैं तो उनको बदलना पड़ेगा। लेकिन जो कष्ट और लोगों ने उठाए हैं उसमें उनकी असमर्थता के लिए उन्हें दोष देना ग़लत है।

विस्फोट के बाद मैं निर्माण चाहता हूँ। इसलिए, अब अगर हम न मिल सकें, तो मुझे ठीक ठीक बता दो कि तुम मुझसे क्या कराना चाहते हो और किसे समझते हो कि तुम्हारे विचारों का सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व करेगा।

लेकिन उसके लिए समय न था।

जवाहरलाल के आने से कमला कुछ सुधर गई थी और उसकी चिकित्सा करने-वाले डाक्टरों को आदेश था कि उसकी हालत की दैनिक विज्ञप्ति सरकार को भेजें। २३वीं अगस्त को नेहरू के छूटने के ग्यारहवें दिन सुपरिचित पुलिस की गाड़ी आई और एक पुलिस के अधिकारी ने उन्हें बताया कि उनका अवकाश समाप्त हो गया है और जेल लौटने का समय आ गया है। उन्होंने अपना कुछ सामान उठाया और कमला से, अपनी बहनों से, अपने मित्रों और संबंधियों से जो वहाँ थे, और अन्त में अपनी माता से विदा ली। ज्योंही वे पुलिस की कार में घुसे कि स्वरूपरानी, अपनी व्यथा दबाने में असमर्थ, हाथ फैलाए उनके पास भागती हुई आईं, और वेदना और आवेग से उनका चेहरा विकृत था।

जवाहरलाल ने लिखा, "उनका वह चेहरा बहुत दिनों तक मेरे दिमाग़ में घूमता रहा।"

इस बार वे देहरादून नहीं बल्कि इलाहाबाद में नैनी जेल ले जाए गए ताकि अपनी पत्नी के निकट रहें। वह पुरानी कोठरी जिसमें वे रहते थे अब एक नज़रबन्द ने दख़ल कर ली थी जो बिना मुक़दमा चलाए या दंड दिए बंद रखा गया था। जवाहरलाल जेल के दूसरे भाग में रखे गए। नैनी में पिछले कारावास में उनके बहनोई रणजीत ने, जो उनके साथ थे, फूलों की क्यारी लगाई थी, और नेहरू उसे फिर देखने की आशा कर रहे थे। लेकिन उनकी रहने की नई जगह फूलों या हरियाली से रहित थी।

यह बात नहीं थी कि इससे कुछ अन्तर आता था क्योंकि उनका मन कमला में लगा हुआ था और उन्हें यह पूर्वाभास था कि उसके स्वास्थ्य में जो थोड़ा सुधार हुआ है वह बना नहीं रहेगा। दो सप्ताह तक उन्हें उसकी चिकित्सा करनेवाले डाक्टरों से दैनिक विज्ञप्ति मिलती रही। लेकिन उसके बाद वे बन्द हो गईं, यद्यपि कमला का स्वास्थ्य बिगड़ रहा था। उसके बाद जेल में अनिश्चय के साथ हर घंटा वेदना का था।

दो कारण थे कि जिनसे ब्रिटिश अधिकारी इस समय नेहरू को छोड़ने के लिए अनिच्छुक थे। अक्टूबर में कांग्रेस अपना अधिवेशन बंबई में कर रही थी, और नवंबर में असेंबली के चुनाव होनेवाले थे जिनमें स्वराज्यवादी भाग ले रहे थे। जेल के बाहर नेहरू बाधक तत्व होते।

फिर गिरफ्तार होने के एक महीने बाद जवाहरलाल थोड़ी देर के लिए अपनी पत्नी के पास घर ले जाए गए। कमला की हालत गंभीर थी। जेल के अधिकारियों ने उन्हें बताया कि वे सप्ताह में दो बार अपनी पत्नी को देखने के लिए जाने दिए जायँगे। उन्हें दिन तक बता दिए। लेकिन जब दिन आए तो कुछ नहीं हुआ, और नेहरू की चिन्ता इस क्रूर और लापरवाही के ढंग से व्यथा में परिवर्तित हो गई।

अक्टूबर के प्रारंभ में वे लोग उन्हें फिर कमला को देखने के लिए ले गए। प्रतीक्षा के बीच की इस अवधि में कई मध्यस्थ लोगों ने इंगित किया कि अगर जवाहरलाल जेल की शेष अवधि में राजनीति से अलग रहने का वचन दें तो वे छोड़ दिए जाएँगे। किन्तु नेहरू राजी नहीं थे।

प्रकटत: इन प्रयत्नों की कुछ ख़बर कमला को मिली, जिसे जवाहरलाल ने स्तब्ध हालत में और तेज़ बुख़ार में पाया। अपनी संक्षिप्त भेंट के बाद वे जाने को तैयार हुए तो उसने उनकी ओर मुस्करा कर अपने पास झुकने का इशारा किया।

उसकी आवाज़ में फुसफुसाहट थी। "तुम्हारे सरकार को आश्वासन देने के बारे में यह मैं क्या सुन रही हूँ? ऐसा मत करना।"

यह निश्चय किया गया कि कमला को पहाड़ों में भुवाली नाम की जगह में सैनेटोरियम में ले जाया जाय। उसके जाने के एक दिन पहले उसे ज़रा सी देर को देखने के लिए नेहरू फिर जेल के बाहर ले जाए गए। वह प्रफुल्लित और प्रसन्न थी और उसकी हालत

के बदलने से जवाहरलाल उल्लसित हुए। लेकिन वे सोच में पड़ गए कि पता नहीं फिर वह कब देखने को मिले ?

लगभग तीन सप्ताह बाद कमला के समीप रहने के लिए नेहरू नैनी से अल्मोड़ा जेल को स्थानान्तरित कर दिए गए। भुवाली रास्ते में पड़ती थी : और नेहरू रास्ते में रुके, कमला के स्वास्थ्य में सुधार से वे प्रसन्न हुए और इर्दगिर्द ऊँचे पहाड़ों में ज्यों ही आगे बढ़े और पर्वतीय पवन की तीव्र गंध उनके चेहरे पर लगी उनका हृदय उत्साह-पूर्ण हो गया।

दूर पर हिमालय की चमकती चोटियों और बीच में हल्के जंगलोंवाले पर्वतों में जेल एक चोटी पर स्थित थी। वहाँ नेहरू अधिक शाहाना जेल निवास में रहे—इक्यावन फ़ीट लम्बा और सत्रह फ़ीट चौड़ा एक हाल था जो सिर्फ कीड़ों से खाई छत से और बेढंगे, टूटे, ऊबड़खाबड़ फर्श के कारण बदसूरत था। लगभग चालीस गौरैयों ने छज्जे में खतरनाक ढंग से घोंसले बनाए थे, वे उनकी साथी हो गईं। बीच बीच में उड़ता हुआ बादल छत की दरार से और पंद्रह जंगले लगी खिड़कियों पर टँगी फटी नारियल की चटाई में से घुस आता और उस के पीछे नम ठंडी बूंद छोड़ जाता।

किन्तु उनके इर्दगिर्द शोभा थी। बादलों को उड़ते हुए, जो रूपाकार वे बनाते या आकार ग्रहण करते, कभी विचित्र पशुओं की भाँति, कभी बड़े विशाल बनते, बढ़ते हुए महासागर की भाँति उनकी लहरों पर लहर आते देखते हुए वे अपनी टूटी-फूटी बैरेक में या पास के आँगन में घंटों बिता देते। कभी-कभी जेल की दीवारों के ठीक बाहर हवा देवदार के वृक्षों में से सीटी बजाती बहती और समुद्रतट भूमि पर आती हुई बेला का आभास देती।

वायु में सम्मोहन था किन्तु दुःख भी था। कमला का समाचार खराब था और उसकी हालत के उलट-फेर से निरंतर सन्ताप और चिन्ता बनी रहती थी। नेहरू मुक्त होने के लिए उत्कंठित-से हो उठे।

सितंबर में गांधीजी ने अक्टूबर अधिवेशन के बाद कांग्रेस से अवकाश ग्रहण करने के निश्चय की घोषणा की। उन्होंने अपने साथियों से मतभेद बताया। उन्होंने माना कि उनके विचारों से पूर्णतया सभी तो असहमत नहीं हैं यद्यपि वे खुली तौर से उनका विरोध करने के लिए अनिच्छुक हैं। इस परिस्थिति में उन्हें लगा कि कांग्रेस से अलग होने से उनके साथी "अपने विवेक के आदेशों को कार्य रूप प्रदान करने को" मुक्त होंगे और वे निर्बाध रूप से सत्याग्रह के अपने निजी अनुभवों का पालन करते रहेंगे। उनके वक्तव्य से ध्वनित होता था कि यदि वे लोग उन्हें नेता के रूप में रहने देना चाहते हैं तो उनके नेतृत्व का "श्रद्धापूर्वक बिना आपत्ति किए और समझदारी से" अनुगमन करना होगा।

जेल से नेहरू बंबई अधिवेशन की कार्यवाहियों का अनुसरण करते रहे जो २६ वीं अक्टूबर को डा० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में आरंभ हुआ। उन्होंने कांग्रेस से अहिंसक

असहयोग के आधार ग्रहण किए रहने को कहा। जवाहरलाल कार्यवाहियों में बहुत अधिक उत्सुक नहीं थे, किन्तु जब कांग्रेस ने देश के संविधान का निश्चय करने के लिए संविधान सभा के विचार को स्वीकार किया तो वे प्रसन्न हुए। १९३३ की थोड़े दिनों की स्वाधीनता के काल में उन्होंने लिख कर इस विचार का प्रचार किया था। ऐसा करते हुए कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के श्वेतपत्र को अस्वीकार कर दिया।

इनके सिवा कांग्रेस ने पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा किए निश्चयों का अनुमोदन किया, विशेषतः उनका जो पार्लमेंटरी बोर्ड और स्वदेशी के लागू करने से संबंधित थे। उसने कांग्रेस टिकट पर चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों को अपने चुनाव अभियान में सांप्रदायिक तत्व के अपना आधार बनाने का निषेध किया। व्यवस्थापिका को चुने सदस्यों को भी यह आवश्यक था कि सांप्रदायिक निर्णय के प्रश्नों पर निष्पक्ष रहें। उसे सब पार्टियों के साथ समझौते द्वारा संशोधित करने का प्रयत्न करेगी। सांप्रदायिक निर्णय के इस रुख से पंडित मदन मोहन मालवीय और श्री अणे ने त्यागपत्र दे दिए। वे चाहते थे कि कांग्रेस उस निर्णय को चुनाव का आधार बनाए। उन्होंने कांग्रेस-राष्ट्रीयतावादी नाम से सांप्रदायिक निर्णय को आधार बनाते हुए एक नया दल संगठित कर लिया।

"शांतिपूर्ण और संवैधानिक" तरीक़ों के स्थानपर "सत्य और अहिंसक' तरीक़ों के मत को मनवाने में असफल होकर १८वीं अक्टूबर को गांधीजी ने आधिकारिक रूप से अपने अवकाश ग्रहण की घोषणा की। संस्था से अपना संबंध विच्छेद करते हुए उन्होंने अपने भाषण में अपने को अनवधानता का दोषी ठहराया। उन्होंने कहा, "कांग्रेस से मेरा अवकाश ग्रहण करना इस अनवधानता के लिए प्रायश्चित समझा जाय यद्यपि यह संपूर्णतः अचेतन था। मैं जिस बात को लक्ष्य कर कह रहा हूँ वह सविनय अवज्ञा की क्षमता का विकास है। उस अवज्ञा में जो पूर्णतः सविनय हो बदला लेने की भावना होना ही नहीं चाहिए।"

इस प्रकार गांधी जी ने अस्थायी रूप से कांग्रेस से विदा ली। नेहरू को ठीक ही यह लगा कि यह काम विशेष महत्व का नहीं है क्योंकि गांधी जी, अगर नहीं चाहें भी तो उस संस्था की प्रमुखता से छुटकारा नहीं पा सकते। उन्हें अन्त तक उत्तरदायित्व निभाना होगा।

नवंबर में केंद्रीय असेम्बली के चुनाव हुए जिनमें कांग्रेस लगभग १३० की सभा में ४४ स्थान जीतने में सफल हुई। मालवीय और अणे के नेतृत्व में राष्ट्रीयतावादी कांग्रेस ने ११ स्थान लिए जब कि निर्दलीय लोगों ने जिनमें जिन्ना सम्मिलित थे २२ स्थान प्राप्त किए। योरोपियन और ग़ैर-सरकारी लोग जिन पर सरकार विश्वास कर सकती थी क्रमशः ११ और १३ थे। इस प्रकार दूसरे राष्ट्रीयतावादी दलों के साथ मिल कर कांग्रेस मतदान में सरकार को बराबर हरा सकती थी।

चुनावों और बंबई में कांग्रेस के अधिवेशन के बाद जेल से बाहर जाने के लिए कभी

उत्सुक न रहने वाले नेहरू को कुछ ऐसा लगा कि वे छोड़ दिए जाएँगे। लेकिन ऐसा हुआ नहीं।

बंबई कांग्रेस अधिवेशन के शीघ्र बाद सीमा प्रांत के नेता खान अब्दुल ग़फ्फार खाँ उस शहर में एक भाषण देने के लिए गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें दो वर्ष के कारावास का दंड मिला। अपने मुमूर्षु पिता के पास योरोप से भागते हुए सुभाषचन्द्र बोस—वे बहुत विलंब से पहुँचे—को अपनी गतिविधि पर बहुत अपमानजनक निषेधाज्ञाएँ मिलीं।

यह शांति के पूर्व लक्षण नहीं हो सकते थे। उदास हृदय से नेहरू ने अनुभव किया कि कमला की नाजुक हालत रहने पर भी सरकार ने उन्हें जेल में रखने का दृढ़ निश्चय किया है और उसके जल्दी ही बाद अधिकारियों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वास्तव में उनके यही इरादे थे। १४ वीं नवंबर को उन्होंने जेल में अपनी दूसरी वर्षगाँठ मनाई। वे पैंतालीस के थे।

अलमोड़ा जेल में जब वे एक महीना रह चुके थे तो कमला को देखने के लिए नेहरू भुवाली ले जाए गए, और उसके बाद मई १९३५ तक जब वह चिकित्सा के लिए योरोप चली गई, क़रीब-क़रीब हर तीसरे सप्ताह उसे देखने की अनुमति मिला करती थी। यद्यपि यह भेंट संक्षिप्त ही रहती थीं लेकिन जवाहरलाल के लिए वे अमूल्य थीं। वे कमला से काफी लंबी बातें करते और मिलने से दोनों प्रसन्न हो जाते। लेकिन मृत्यु की आसन्नता उस पर मँडराती रहती और यह विचार उन्हें यंत्रणादायक होता कि एक दिन उनका वियोग होगा ही।

जनवरी का और उसके साथ ही बर्फ का आगमन हुआ, जो देवदार वृक्षों को सफ़ेदी से आच्छादित कर देती जिससे धूप में वे परियों और देवियों के स्पर्श से चमकते और स्वर्गोपम लगते। जनवरी के मध्य में एक दिन उन्हें प्रातःकाल बंबई से एक तार मिला जहाँ स्वरूपरानी स्वास्थ्य सुधार के लिए गई हुई थीं। उसमें जवाहरलाल को सूचित किया गया था कि उनकी माता को पक्षाघात का आक्रमण हुआ है। अनेक चिन्तायुक्त रातों और दिन को वे जीवन और मृत्यु के बीच मँडराती रहीं, और अंत में अच्छी हो गईं। किंतु वे पूर्ववत् कभी नहीं हुईं।

कमला की हालत बिगड़ रही थी, और यह निश्चय किया गया कि आगे चिकित्सा के लिए वह योरोप जायँ। मई के प्रातःकाल जाने के निर्धारित दिन उसे विदा देने जवाहरलाल को भुवाली आने दिया गया। दोनों ने साहसपूर्ण स्मित के साथ विदा ली। स्वरूपरानी अपनी छोटी बेटी कृष्णा के साथ वहाँ थीं। नेहरू अपनी पत्नी को ले जाने वाली गाड़ी को पहाड़ से मुड़ते देखते रहे। तब वे अपनी माता और बहिन से विदा लेने के लिए मुड़े। उनकी आँखें उदास किन्तु सूखी थीं। जब वे उन लोगों से अलग होकर उन्हें अलमोड़ा जेल ले जाने वाली अपनी राह देखती गाड़ी की ओर मुड़े उनका चेहरा यकायक क्लान्त और श्रान्त लगा और उनकी चाल थकी और मन्द लगी। वे कुछ घंटों में बुड्ढे लगने लगे थे।

अलमोड़ा जेल में लौट कर मुवाली बरावर जाते रहने से वंचित होकर नेहरू को जेल जीवन पहले से अधिक कष्टकर लगा। पहली जून को क्वेटा में पिछले दिन भूकम्प का समाचार आया जिसमें लगभग २५०० लोग नष्ट हो गए थे। गांधी जी ने, जिन्होंने पहले के विहार के भूकम्प को अस्पृश्यता का पाप वताया था, सवसे हाल के संकट के लिए प्रार्थना का आह्वान देखा। गांधी जी ने **हरिजन** में लोगों को सलाह दी, "हम प्रार्थना करें।"

समझ में आने वाली वात न थी कि सरकार ने कांग्रेस के सहायता कार्य करने वालों को क्वेटा में प्रवेश करने से रोक दिया, और इससे वहुत सी अफवाहें फैल गईं जो किसी प्रकार अधिकारियों के लिए गौरवपूर्ण नहीं थीं। यह लगा कि जैसे सेना-पुलिस की मनोवृत्ति स्थायी हो गई है।

नेहरू ने लिखा, "प्रायः यही लगता था कि भारत में ब्रिटिश सरकार स्थायी रूप से अधिकांश लोगों के साथ युद्धरत है।"

४ सितंवर १९३५ को नेहरू अपनी अवधि समाप्त होने के साढ़े पाँच महीने पहले अलमोड़ा से यकायक छोड़ दिए गए। कमला जो जर्मनी के ब्लैक फारेस्ट के वैडनवीलर में थी, फिर संकटपूर्ण वीमार पड़ गई। जवाहरलाल इलाहावाद भागे, जहाँ वे दूसरे दिन पहुँच गए और उसी दिन तीसरे पहर वे हवाई जहाज़ से कराची, वग़दाद, कैरो, सिकन्दरिया से ब्रिंडिसी और वास्ले होते हुए योरोप के लिए चल पड़े। नवीं सितवर की शाम को वे वैडनवीलर पहुँच गए।

कमला ने अपनी पुरानी वीर मुस्कराहट से उनका स्वागत किया। वह उपायातीत रोगी लगती थी, और यह स्पष्ट था कि वह वड़ी वेदना में है। वे एक दूसरे से कम ही वोल सके। यद्यपि दूसरे दिन वह कुछ खिल गई, किंतु यह लगता था कि उसका जीवन धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा है। वह कमज़ोर तो हो गई लेकिन आसन्न संकट से वच गई।

कमला की निरुपाय हालत से जवाहर लाल पीड़ित थे। वह कुछ कर ही नहीं सकते थे। वे कभी-कभी उसे पढ़ कर सुनाया करते और उनका ऐसा करना उसे अच्छा लगता। लेकिन सुनने की चेष्टा से वह थक जाती थी। एक पुस्तक जो उन्होंने पढ़ कर सुनाई और उसे अच्छी लगी वह पर्ल वक की द गुड अर्थ थी। वीच-वीच में वह अपनी आत्म-कहानी की पांडुलिपि पढ़ कर सुनाते और उससे विचार विमर्श करते।

ज्यों-ज्यों दिन वीतते गए उसकी हालत में सुधार होने लगा। उसके पीले सूखे चेहरे और शरीर से वीमारी और व्यथा दिखाई देती, किंतु किसी आगन्तुक को उसके दीप्त स्मितमय मुख से यह सोचने का धोखा होता कि उसकी अवस्था वहुत संकटापन्न नहीं है।

जवाहरलाल क़स्वे म एक छोटे से आवास में रहते थे, और प्रतिदिन सवेरे और अपराह्न में कमला की शैया के पास कुछ घंटे विताने चल कर सैनटोरियम आते। कभी-कभी वे पिछली स्मृतियों की याद करते और वहुत दिनों की भूली-विसरी चर्चा छेड़ देते। जवाहरलाल के हृदय में पिछली उपेक्षाओं को पूरा करने की वड़ी चिन्ता थी और वे उसे अधिक गहन वातें वताना चाहते जो उनके मन को परेशान किए थीं। लेकिन कमला

निरुपाय रोगी की भ्रांत आशा में जीवन से चिमटते हुए भविष्य के विषय में भी बातें करती। अपने ऊपर संयम रखते हुए जवाहरलाल शान्त रहते। उन्होंने सोचा, "कभी-कभी उसकी आँखों में देखते हुए मुझे एक अजनबी अपनी ओर झाँकता लगता।"

उन्होंने उन अवसरों की याद की जब अपने पिता के साथ राजनीतिक झगड़ों में मोतीलाल का मिजाज़ भड़क कर वाक्रोष का रूप ले लेता तो कमला उनके पास खड़ी रहती। अपने पिता की मृत्यु, लंका को उनके थोड़े दिन के अवकाश और उनके संबंधों की बढ़ती हुई शक्ति और समझ की याद की। कमला ने मोतीलाल की मृत्यु के पहले ही १९३० के महान् उथल-पुथल में अपने तेज को सिद्ध कर दिया था, जब बीमार और बुख़ार में होने पर भी वह रोज़ रात को ठंडी, हवा भरी इलाहाबाद की सड़कों पर निकली थी, और कभी-कभी पुलिस से रोके गए जुलूस के आगे घंटों बैठी रहती थी। ऐसी ही एक रात को एक मित्र उसके लिए एक कम्बल ले आए और घंटे भर बाद लौटकर कमला को एक साड़ी पहने काँपते पाया और कंबल उसके पास बैठी एक वृद्धा के अच्छी तरह लपेटा हुआ था।

जवाहरलाल ने मन में सोचा कि वह अपने को अपने और संसार के आगे योग्य सिद्ध करना चाहती थी। उसके मन को पूरी तरह न समझते हुए उनके सामने कोई चारा न था। लेकिन कमला ने दोनों तरह से अपने को प्रमाणित कर दिया था। उन्होंने पिछले पाँच वर्षों में यह समझ लिया था कि राष्ट्रीय आन्दोलन में वह अपनी क्षमता दिखाना चाहती थी और अपने पति की छायामात्र नहीं बनना चाहती थी। उसके दुबले पतले छायामात्र शरीर में ओज की एक चिनगारी, यहाँ तक कि गत्यात्मकता थी, लेकिन रोग ने उसे मन्द कर दिया।

एक महीने नेहरू बैडनवीलर में रहे और इस अवधि में कमला ने इतना काफी स्वास्थ्य लाभ कर लिया कि डाक्टरों ने उन्हें सलाह दी कि वे थोड़े समय के लिए निश्चिन्त होकर इंगलैण्ड जा सकते हैं, जहाँ वे आठ वर्ष से नहीं गए थे और जहाँ मित्रगण उनके आने पर ज़ोर डाल रहे थे। इन्दिरा स्विट्ज़रलैंड में बेक्स में पढ़ रही थी। उन्होंने उसे साथ में इंगलैंड ले जाने का निश्चय किया।

वे लंदन में बारह दिन रहे। यह समय वही था जब नेहरू का १९३६–१९३७ के लिए निर्वाचित कांग्रेस अध्यक्ष का चुनाव हुआ था, और इससे संभवत: नेहरू की यात्रा और संपर्क का महत्व बढ़ गया था। वे इंगलैण्ड जाकर सदा प्रसन्न होते थे, और उन लोगों में भी जो राजनीतिक रूप से उनसे मतभेद रखते थे। जिस स्वागत और सद्भाव से उनका अभिनंदन हुआ उससे वे प्रसन्न हुए और उसका उनके मन पर प्रभाव पड़ा। भारत में ब्रिटिश अधिकारियों के कारनामों पर उन्हें इंगलैंड में "आत्मा की अस्पष्ट कचोट" सी लगी।

लेकिन इस सबके पीछे समझदार और नासमझ ब्रिटिश राय भारत से थोड़ी थकी और ऊबी लगी। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने उसके संवैधानिक प्रगति के वचन के साथ कुछ लोगों की आत्मा पर मलहम का काम किया। कांग्रेस ने सहयोग

क्यों नहीं किया ? यद्यपि टोरी, लिवरल और सोशलिस्ट कुछ मतभेद रखते थे, किन्तु, नेहरू को लगा कि वे पार्टी के पक्षपातों और लक्ष्यों की तंग घिरियों में पड़े लगे। उन्हें लगा कि भारत में वड़ा विप्लव अथवा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध ही उन्हें अपनी मानसिक जड़ता से हिला सकते हैं।

जितना वहुत लोगों ने अनुमान किया था युद्ध उससे अधिक निकट था। १९३५ की जनवरी में एक जनमत संग्रह से सार जर्मनी को मिल गया था, और मार्च तक हिटलर को वर्साई संधि के सैनिक अनुच्छेदों को अग्राह्य कर राइनलैंड पर अधिकार करने का साहस हो गया था। मई में कोनराड हीनलीन की अधीनता में चेकोस्लोवाकिया में नाज़ी सवसे प्रवल जर्मन दल हो गया। पाँच महीने वाद दूसरी अक्टूवर को लीग को दर्प दिखा कर इटली ने अवीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। लीग ने विलंव से आक्रमणकारी के विरुद्ध आर्थिक प्रतिवन्ध लगाए। १ मई १९३६ को दूचे की सेनाएँ भागते हुए हाइले सिलासी का पीछा करते हुए अदीस अवावा में प्रवेश करने वाली थीं और इटली का राजा इथियोपिया का सम्राट वनने वाला था।

अपने संपर्कों से प्रमुदित किन्तु योरोप की घटनाओं के प्रवाह से चिन्तित होकर नेहरू लंदन से वैडनवीलर लौटे।

व्लैक फारेस्ट में जाड़ा आ चुका था। वृक्ष सफेदी में लिपटे हुए थे, लेकिन ज्योंही वड़ा दिन निकट आया कमला की हालत फिर विगड़ गई और उन लोगों के सामने एक और संकट मँडराने लगा। वातावरण की शान्तता और ठंडक ने नेहरू को प्रभावित किया। उन्होंने सोचा कि शीत का दृश्य "मुझे वहुत कुछ मृत्यु की शान्ति के समान लगा, और मैं सारी पिछली आशाजनक आशावादिता खो वैठा।"

कमला अच्छी होने लगी और वोली कि उसे वैडनवीलर से हटा दिया जाय। वहाँ अधिक दिनों तक रहने ही ने नहीं किन्तु दूसरे रोगी की मृत्यु ने उसे उदास कर दिया था। वह एक आयरिश वालक था जो उसे कभी-कभी फूल भेजा करता था और वीच-वीच में मिल जाया करता था। उसके देहान्त ने उसे उदास और चिन्तारत कर दिया था।

कांग्रेस का अधिवेशन १९३६ में होने वाला था और नेहरू जिन्होंने लन्दन में रहते अपने अध्यक्षपद के चुनाव का समाचार सुना था, उलझन में पड़ गए। वे भारत लौटें या अध्यक्षपद से त्यागपत्र दे दें ? उन्होंने इस वारे में कमला से वात की।

"तुमको जाना ही चाहिए," उसने ज़ोर दिया। "तुम्हारे इस्तीफ़ा देने का कोई सवाल नहीं उठता। अप्रैल के वाद तुम मेरे पास लौट कर आ सकते हो।"

जनवरी के अन्त में उन लोगों ने कमला को वैडनवीलर से स्विट्जरलैंड में लासैन के निकट एक सैनटोरियम में हटा दिया। इससे पहले नेहरू ने लन्दन और पेरिस की एक और जल्दी की यात्रा की।

अपने नए परिवेश में कमला में सुधार होता लगा। यद्यपि उसकी दशा में कोई साक्षात् परिवर्तन नहीं था किन्तु किसी तात्कालिक संकट की संभावना नहीं दिखाई दी।

संभवतः कुछ मन्द प्रगति देखते हुए डाक्टरों को लगा कि उसकी दशा जैसी है वैसी ही कुछ समय तक चलती रहेगी। जवाहरलाल लौटें या रुके रहें ? भारत में मित्रगण लौटने के लिए ज़ोर दे रहे थे, किन्तु संशय से विच्छिन्न, उनका मन अनिश्चित था।

एक वार फिर उन्होंने कमला से इस मसले पर बात की और डाक्टरों से सलाह ली। यह निश्चित हुआ कि वे २८ वीं फरवरी को लाउसेन से भारत को हवाई जहाज़ से जाँय। जब यह सब तय हो चुका था, तो जवाहरलाल को लगा कि कमला बेचैन है। उसने कुछ कहा नहीं, लेकिन उन्होंने समझ लिया कि उनकी सन्निकट विदा उसे परेशान किए हुए है। उन्होंने उसे आश्वस्त करना चाहा। वह कुल दो या तीन महीनों के लिए अलग रहेंगे। अगर उसे उनकी अविलंब आवश्यकता होगी तो तार पाकर वे हफ्ते भर में आ जायेंगे।

जवाहरलाल के जाने के चार या पाँच दिन पहले डाक्टर उन्हें अलग ले गया और उनसे एक सप्ताह या दस दिन के लिए जाना स्थगित करने का आग्रह किया। वह इससे अधिक कुछ न बोला। इन्दिरा तभी अपने बेक्स के स्कूल से माता-पिता के पास कुछ दिन बिताने आई थी। नेहरू ने अपना कार्यक्रम फिर से ठीक करने में विलम्ब नहीं किया।

उन्होंने सोचा कि कमला में कोई सूक्ष्म परिवर्तन आ गया है और यद्यपि ऊपरी तौर पर उसकी दशा में परिवर्तन नहीं आया है उसका मन जीवन के अस्पष्ट सीमान्त और उसके पार भटकता लग रहा था। जो बन्धन उसे संसार से बाँधे हुए थे वह उन्हें दूर करती लग रही थी, और सन्निकट परिवेश से अधिकाधिक अलग होती जा रही थी। कमला समाप्त हो रही थी।

अन्तिम कुछ दिनों में जब जवाहरलाल उसके पलंग के पास बैठे देख रहे थे तो उसने बताया कि कोई उसे बुला रहा है। बीच-बीच में वह अपने कमरे के दरवाज़े या कोने की ओर इशारा करती और किसी आकृति या छाया या शकल को कमरे में आते बताती। जवाहरलाल को कुछ न दिखाई पड़ता।

२८ वीं फरवरी को तड़के जब इन्दिरा और उसके पिता उसके समीप बैठे देख रहे थे तो कमला ने हल्की सी उच्छ्वास ली और अन्तिम साँस ली। डाक्टर भी उनके साथ था।

योरप से कमला की भस्म के कलश के साथ उड़ कर भारत आते जवाहरलाल अकेलेपन और थकान की भावना से अभिभूत थे। वह अब नहीं है, कमला नहीं रही, यही उनके मन में बराबर आता।

लन्दन में रहते हुए उन्होंने अपनी आत्मकहानी की संपूर्ण पांडुलिपि अपने प्रकाशकों को दे दी थी। वे उन अवसरों को सोचते जब उन्होंने कमला को कुछ अध्याय और पांडुलिपि के अंश पढ़ कर सुनाए थे। वह उसे पूरा कभी नहीं पढ़ पाएगी।

हवाई जहाज़ बग़दाद रुका। सहसा भावुकता में नेहरू तार देने की मेज़ पर गए। उन्होंने लन्दन के प्रकाशकों को पुस्तक का समर्पण देते हुए तार दिया। वह था "कमला को जो अब नहीं रही।"

१७

युद्ध की भूमिका

मार्च १९३६ में इन्दिरा के साथ मोंट्रू में कुछ दिन विताने के वाद नेहरू भारत लौटे।

उनकी वापसी की यात्रा में एक विचित्र प्रसंग हो गया। मोंट्रू में उनके पास लाउसेन स्थित इटली का प्रदूत (कांसल) मिला, जो उनके पास उनकी पत्नी की मृत्यु पर सिन्योर मुसोलिनी की गहरी समवेदना पहुँचाने विशेप रूप से आया था। जवाहरलाल को थोड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि वे फासिस्ट अविनायक से न कभी मिले थे और न उसके साथ उनका कोई पत्र-व्यवहार हुआ था।

इस विचित्र चेष्टा पर विचार करते हुए उन्हें याद आया कि कुछ सप्ताह पहले रोम के एक मित्र ने यह वताने को लिखा था कि मुसोलिनी उनसे मिलना चाहता है। उस समय रोम नेहरू के यात्राक्रम में नहीं था, किन्तु अव उन्होंने देखा कि उनका हवाई जहाज़ इटली की राजवानी होकर जायगा। मुसोलिनी की अस्वाभाविक शिष्टता में क्या कोई प्रयोजन है? जवाहरलाल के सन्देह पुष्ट हो गए जव कुछ दिनों वाद दूचे से मिलने का निमंत्रण दुहराया गया—इस वार ज़रा अविक आग्रह के साथ, यद्यपि उनकी अशिष्ट दिखाई पड़ने की इच्छा नहीं थी, उनकी मुसोलिनी से मिलने की कोई वड़ी उत्सुकता नहीं थी, और किसी भी अवस्था में अवीसीनिया के विरुद्ध इटली के युद्ध से भेंट के द्वेपजनक अर्थ लगाए जा सकते हैं। फ़ासिस्ट लोग इससे राजनीतिक लाभ उठा सकते हैं। नेहरू ने नम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया।

अतः उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ जव भारत के मार्ग में अपराह्न में रोम पहुँचने पर उनसे इटली का एक उच्च अविकारी मिला जिसने उन्हें मुसोलिनी के मंत्रिमंडल के प्रधान का एक पत्र दिया। पत्र में लिखा था कि दूचे उस दिन संध्या को छः वजे उनसे मिल कर प्रसन्न होंगे। नेहरू ने नम्रता से संकोच प्रकट किया और वहस के उत्तर में वताया कि निमंत्रण के संवंव में उनकी प्रतिक्रिया पहले ही भेजी जा चुकी थी। अविकारी आग्रह करता रहा और अन्त में विनय की कि उसकी नौकरी चली जायगी। नेहरू दूचे से केवल कुछ मिनटों के लिए ही मिल लें। मुसोलिनी केवल व्यक्तिगत सान्त्वना ही अभिव्यक्त करना चाहता है। भेंट के विपय में समाचारपत्रों में कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा।

एक घंटे तक वहस होती रही, दोनों ही ओर विनम्रता से किन्तु वढ़ते हुए तनाव की भावना के साथ। अन्त में नेहरू की वात रही। दूचे को सूचित करने के लिए कि

भारतीय नेता को खेद है कि वह आ नहीं सकता उनके महल को एक सन्देश टेलीफोन से भेज दिया गया। बाद में उस दिन शाम को नेहरू ने एक व्यक्तिगत पत्र मुसोलिनी को उनके सान्त्वना सन्देश के धन्यवाद में और खेद प्रगट करते हुए कि उनका निमंत्रण स्वीकार न कर सके, लिख दिया। इस प्रकार भेंट नम्रतापूर्वक किन्तु चुनौती के स्वर के साथ समाप्त हुई।

नेहरू इस दृढ़ विश्वास के साथ भारत लौटे कि देश और विदेश दोनों ही जगह विचारों के पुनर्मूल्यांकन का समय आ गया है। योरप में हलचल थी और स्वस्तिक की छाया संसार पर पड़ने के साथ बर्बरता का धूमिल प्रकाश घना हो गया। जब कि फ़ासिस्ट सेनाएँ विषैली गैस फैलाती हुई अदीस अबाबा पर घिर रही थीं, नाज़ियों के जूतों की आवाज़ योरोप में गूंज रही थी। जापान कुछ ही महीनों के अन्दर चीन पर दूसरे और अधिक विस्तृत आक्रमण की तैयारी कर रहा था। इडेन ने होर का स्थान ले लिया था, लेकिन लंदन और पेरिस दोनों अहस्तक्षेप की नीति पर प्रतिबद्ध थे। इडेन ने हाउज आफ कामंस में कहा था, "युद्ध को स्थगित करना युद्ध को बचाना है।" किन्तु युद्ध बचा नहीं और जब नेवाइल चेंबरलेन ने अपने छाते सहित रोम में दूचे से भेंट की तो इडेन ने इसका अनुभव किया।

नेहरू को लगा कि नाज़ीवाद साम्राज्यवाद और जातिवाद का प्रत्यक्ष और उग्र रूप है, जिनके विरुद्ध कांग्रेस संघर्ष कर रही है। प्रगतिशील शक्तियों को इस लिए उनके साथ खड़ा होना होगा जो साम्राज्यवाद और जातिवादी प्रतिक्रिया के विरोधी हैं। किंतु यहाँ भारत सहित नेहरू एक उलझन में फँस गए। पराधीन देश की दृष्टि में उसके शासनकर्ता से अधिक कोई बड़ा साम्राज्यवाद नहीं होता। इसलिए अगर भारत को फ़ासिज्म की बुराइयों के विरुद्ध ब्रिटेन का साथ देना है तो ब्रिटेन को अपना साम्राज्य-वाद दूर करना होगा। केवल स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में ही, स्वेच्छा से, भारत फ़ासिस्टवाद और नाज़ीवाद के विरुद्ध युद्ध में ब्रिटेन और फ्रांस का साथ दे सकता है। यह दृष्टिकोण जो नेहरू कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में अभिव्यक्त करने वाले थे, युद्धकाल में कांग्रेस की विदेश नीति का आधार बननेवाला था।

पिछले पाँच वर्षों में जवाहरलाल ने कारावास में जो लंबी-लंबी अवधि बिताई थीं उनसे जवाहरलाल भारतीय दृश्य के दर्शक बन गए थे। उन्होंने उन्हें देश के क्रमिक रूप को देखने, अध्ययन करने, विश्लेषण करने और मूल्यांकन करने का अवसर दिया था। कुल मिला कर चित्र ने उन्हें हताश कर दिया क्योंकि राजनीतिक रूप से कांग्रेस ऐसी जगह पहुँची हुई लगी जहाँ से सक्रियता का एक ही पलायनवादी मार्ग, विधान सभाओं में प्रवेश रह गया था। समाजवादी दल के आविर्भाव ने उनके सहकर्मियों को प्रेरणा देना तो अलग रहा, उन्हें विभक्त कर दिया था, और गांधीजी तक समाजवादी लोगों के कामों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। इधर के वर्षों में ब्रिटिश राज कभी भी इतनी दृढ़ता से नहीं चला था। देश में और विदेश में भी प्रतिक्रियावाद का राज था, और

भारत में पद और अवसरवादिता के लिए जो क्षेत्र प्रांतीय स्वायत्तता ने प्रस्तुत किए थे उनके विस्तृत होने के साथ जैसे-जैसे निहित स्वार्थ जड़ जमा बैठे, सांप्रदायिक तनातनी बढ़ गई।

जब कि अखिल भारतीय संघ, जिसमें रजवाड़े और प्रान्तों के एक संघीय शासन में संयुक्त होने की कल्पना थी, वह इन दोनों इकाइयों के बीच सहयोग पर अपेक्षित था और विविध रोकों और संरक्षणों पर आधारित था। प्रान्तीय स्वायत्तता १ अप्रैल १९३७ से लागू होने वाली थी। यहाँ भी मंत्री जब कि जनता द्वारा चुनी विधान सभा के प्रति उत्तरदायी थे, सारे प्रान्तीय शासन का केंद्र मुख्य मंत्री न होकर सम्राट द्वारा नियुक्त और सम्राट के प्रतिनिधि रूप में गवर्नर था। इस हैसियत में वह अपने ही अधिकार से हस्तक्षेप कर सकता, रोक सकता या विधि निर्माण कर सकता। वह मंत्रिमंडल को निलंबित या बर्खास्त तक कर सकता था। सिद्धान्त रूप से सारे प्रांतीय विभाग जनता द्वारा चुने मंत्रियों के अधिकार में थे। व्यवहार में यह गवर्नर को छूट थी कि मंत्रियों के निर्णयों को रद्द कर दे, यद्यपि उस दशा में सारा मंत्रिमंडल इस्तीफ़ा ही क्यों न दे दे।

इसी प्रकार केंद्र में, संघीय शासन* के अन्तर्गत भी, समस्त वास्तविक अधिकार सम्राट के प्रतिनिधि स्वरूप वाइसराय या गवर्नर जेनरल में केंद्रित थे। अधिकार का मूल वास्तव में सम्राट था, जो अपने प्रान्तीय या केंद्रीय प्रतिनिधियों द्वारा किसी भी हालत में उसका उपयोग कर सकता था। इसके अतिरिक्त केंद्र में संघीय व्यवस्थापिका इस प्रकार प्रकल्पित थी कि रजवाड़ों के प्रतिनिधियों को राष्ट्रीय आकांक्षाओं के विरुद्ध ठोस प्रतिभार बनाए थी। अधिनियम के अनुसार संघीय व्यवस्था में काउंसिल आफ स्टेट नाम से एक ऊपरी सभा और असेम्बली नाम से नीचे की सभा थी। यद्यपि रजवाड़ों द्वारा शासित राज्यों की जनसंख्या कुल भारत की जनसंख्या की चौथाई थी, उन्हें काउंसिल आफ स्टेट में २/५ स्थान प्राप्त थे (२६० में से १०४) और असेंबली में एक तिहाई (३७५ में से १२५)।

वास्तव में संघीय विधान कभी अस्तित्व में नहीं आया, कुछ तो रजवाड़ों सहित जनता के विरोध के कारण, और कुछ युद्ध छिड़ जाने के कारण। इसका परिणाम यह हुआ कि केंद्र में दो सभाओं की पुरानी व्यवस्थापिका, उसमें भी काउंसिल आफ स्टेट और असेंबली थी, प्रायः स्वतंत्रता आने तक चलती रही।

१९३६ में लोगों का ध्यान मूलतः आगामी प्रांतीय स्वायत्तता पर केंद्रित था। क्या कांग्रेस व्यवस्थापिकाओं के लिए चुनाव लड़े जो १९३७ के आरंभ के महीनों में होने के लिए निर्धारित थे, और यदि सफल हो जाय तो क्या पद ग्रहण कर प्रान्तों में सरकार बनाए? नेहरू इस मत के थे कि कांग्रेस चुनाव तो लड़े, लेकिन किसी भी हालत में पद

---

* यह कभी लागू नहीं हुआ।

ग्रहण न करे। उन्होंने यह मत लखनऊ अधिवेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में व्यक्त किए जो अप्रैल १९३६ में हुआ था। उन्होंने सचेत किया : बिना अधिकार के उत्तर-दायित्व ग्रहण करना सदैव भयावह है। इस संविधान में संरक्षणों और निहित अधिकारों और गिरवी रखी हुई पूंजी से, जहाँ हमको अपने विरोधियों के बनाए नियम कायदे पालन करना होगा, और भी बुरा होगा। साम्राज्यवादी कभी-कभी सहयोग की बात करता है, लेकिन जिस प्रकार का सहयोग वह चाहता है वह सामान्यतः आत्म समर्पण के नाम से विख्यात है, और जो मंत्रिगण पद ग्रहण करेंगे उन्हें बहुत कुछ उसके समर्पण के मूल्य में करना पड़ेगा जिसके लिए वे सार्वजनिक रूप से जनता के सामने खड़े रहते। यह एक अपमानजनक स्थिति है जिसे आत्म-सम्मान को ही स्वीकार करने से रोकना चाहिए। हमारे महान् संगठन को इसका साथ देने के अर्थ हमारे अस्तित्व की पृष्ठभूमि और उसका आधार ही छोड़ देना है।

उनके सारे साथी इन दृष्टिकोण के प्रति प्रेम नहीं रखते थे। बहुत लोगों को लगा कि यह बहुत निरपेक्ष और उपदेशात्मक है। लखनऊ से नेहरू को न तो प्रतिसमर्थन और न शान्ति मिली। कांग्रेस कुल मिला कर कोई अनमनीय रुख लेनें को तैयार न थी। उसने स्थिति की प्रतीक्षा करना अच्छा समझा और न तो राजनीतिक आर्थिक और न सामाजिक रूप से उसने दृढ़ निश्चित, कड़ा, अनमनीय रुख लिया, जैसा कि जवाहरलाल चाहते थे।

फ़ासिस्टवाद से वे परेशान थे। वह अपने बेढंगेपन, उजड्डपन और हिंसा के कारण उन्हें अरुचिकर लगता था। नेहरू योरप से समाजवाद में अपना विश्वास पक्का कर लौटे। उसे वे अस्पष्ट मानवीय मत न मान कर सुगठित वैज्ञानिक आर्थिक दर्शन मानते थे जो भारत के राजनीतिक और सामाजिक गठन में विस्तृत क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए व्यावहारिक रूप से समर्थ है। अपने विश्वास की अभिपुष्टि करते हुए वे यह मानने को तैयार थे कि पूरी की पूरी कांग्रेस उनके साथ चलने को तैयार नहीं है। उन्होंने लखनऊ में कहा :

इस प्रकार समाजवाद मेरे लिए मात्र एक अर्थव्यवस्था का सिद्धान्त नहीं है; वह एक सजीव मत है जिसमें मेरा सारा दिल और दिमाग़ लगा है। मैं भारतीय स्वतंत्रता के लिए इसलिए सन्नद्ध हूँ क्योंकि मेरी राष्ट्रीयता विदेशी शासन नहीं बर्दाश्त कर सकती; मैं इसके लिए इस कारण से और भी लगा हुआ हूँ क्योंकि मेरे लिए वह सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के लिए यह एक अपरिहार्य क़दम है। मैं चाहता हूँ कि कांग्रेस एक समाजवादी संगठन बने और संसार की उन अन्य शक्तियों के साथ रहे जो नई सभ्यता के लिए कार्यप्रवण हैं। लेकिन मैं यह अनुभव करता हूँ कि आज कांग्रेस जिस प्रकार संगठित है उसमें बहुसंख्यक लोग इतने आगे बढ़ने को तैयार नहीं होंगे।

इसी अवसर पर नेहरू ने औद्योगीकरण की आवश्यकता पर अपना विश्वास व्यक्त किया, और यह मानते हुए कि खादी और ग्रामोद्योगों का भारत की अर्थ-व्यवस्था में अपना

स्थान है, उन्हें लगा कि यह संक्रान्तिकाल के अस्थायी उपाय हैं न. कि देश की महत्वपूर्ण समस्याओं के हल। उनका कार्य महत्वपूर्ण होने पर भी गौण है।

एक बार और उन्होंने संविधान वनाने के लिए एकमात्र उपयुक्त और प्रजातांत्रिक संविधान सभा के तंत्र में अपना विश्वास व्यक्त किया, जिसके प्रतिनिधियों को उसके बाद ब्रिटिश सरकार से समझौता करने के लिए स्वतंत्रता हो। लेकिन वर्तमान अवस्था में वे चाहेंगे कि कांग्रेस चुनाव लड़े। अगर वह जनता तक अपना संदेश पहुँचाना चाहती है, जिसमें से केवल ३५,०००,००० * ही चुनाव के योग्य हैं।

अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने उस निष्क्रियता की कटुतापूर्वक भर्त्सना की जो कांग्रेस पर छाई हुई थी। "हमने वहुत कुछ जनता से संपर्क खो दिया है," उन्होंने स्वीकार किया। "कांग्रेस की सदस्य-संख्या पाँच लाख से नीचे है, वह ४,५७,००० है।"

उनका भाषण आदर के साथ सुनते हुए कांग्रेस उनके नेतृत्व का हर वात में अनुसरण करने के लिए तैयार नहीं थी। वह भारत सरकार के अधिनियम की निन्दा करने और चुनाव लड़ने के विचार पर उनके साथ थी। किन्तु पदग्रहण के प्रश्न को उसने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को उपयुक्त अवसर पर निर्णय लेने को छोड़ दिया।

और न कांग्रेस ने आर्थिक समस्याओं को उस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से लिया जो जवाहरलाल चाहते थे। भूमिसंवंधी कार्यक्रम पर उसके प्रस्ताव ने "किसान के लिए सरकारी अधिकारियों और ज़मीदारों के अत्याचार और उत्पीड़न से छुटकारा" और "सामंती और अर्धसामंती करों से मुक्ति" ऐसे उदार और श्लाघ्य सिद्धान्तों को दुहराया ही।

यह स्पष्ट था कि अधिकांश कांग्रेसजन पुराने नेतृत्व का समर्थन करते थे और इतनी तेज़ी से और इतनी दूर जाने को तैयार नहीं थे जितना नेहरू चाहते थे। गांधीजी यद्यपि आधिकारिक रूप से कांग्रेस से अलग हो गए थे लेकिन वे अधिवेशन में उपस्थित थे। उन्होंने कार्यवाहियों में कोई भाग न लिया लेकिन वे इस वात के लिए सतर्क थे कि वर्किंग कमेटी या अंतरंग समिति के अधिकांश सदस्य उनके विचार व्यक्त करें। सिद्धान्त रूप से कांग्रेस के अध्यक्ष को अपनी समिति मनोनीत करने का अधिकार था। किंतु जवाहरलाल को जल्दी ही पता चल गया कि पुराने लोग दृढ़ता से उनके विरुद्ध एकत्रित हैं, और अंतरंग समिति की सदस्यता के लिए उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। समिति के पंद्रह सदस्यों में से एक (सुभाष वोस) जेल में था जव कि दस पुराने विचारों के थे। नरेंद्रदेव, जयप्रकाश नारायण और अच्युत पटवर्धन सहित नेहरू ने अपने को अल्पसंख्या में पाया। इन लोगों को वे अन्तरंग समिति में लेने में समर्थ हुए थे। उन्होंने त्यागपत्र देना चाहा किन्तु वने रहने के लिए उन पर दवाव डाला गया जो उन्होंने विश्वास से अधिक कर्तव्य भावना से किया।

मुहम्मद अली ने उनको १९२९ में ही सचेत किया था, "जवाहरलाल, किसी दिन

---

* यह कुल जनसंख्या का मोटे तौर पर १४ प्रतिशत था, और मूलतः संपत्ति पर आधारित था। भारत सरकार अधिनियम १९१९ के अनुसार मतदाताओं की संख्या ८,७४४,००० थी।

तुम्हारे साथी तुम्हारा साथ छोड़ देंगे।" और उन्होंने नाटकीयता के साथ यह और जोड़ा, "तुम्हारे ही कांग्रेस वाले तुम्हें फाँसी पर लटका देंगे।"

नेहरू ने इसे दुःखपूर्ण भविष्यवाणी सोच कर हँस दिया।

कांग्रेस के अन्दर अब वे यथार्थ रूप से वर्किंग कमेटी के क़ैदी थे, लेकिन देश में उनकी उपस्थिति और नाम का जादू अब भी जनमत को प्रभावित करता था, विशेप रूप से युवकों में। समाजवादी दल के सदस्य न होने पर भी अब तक नेहरू का दृढ़ विश्वास हो चला था कि भारत में काम करने का लक्ष्य समाजवादी राज्य था। उस समय के बाद उन्होंने दृढ़ता से इस मत का प्रचार किया यद्यपि अपने दिमाग़ में उन्हें ही स्पष्ट नहीं था कि भारतीय स्थितियों में समाजवाद को किस प्रकार व्यवहृत किया जाय और इस दर्शन को किन शब्दों में बताया जाय कि वह जनता की समझ में आ जाए।

वे मार्क्स से आकर्षित हुए किन्तु मार्क्सवादियों की रूढ़िवादिता, उनकी असहनशीलता और हिंसा को नापसन्द करते थे। जिस मानवीय उदार परंपरा में वे उत्पन्न हुए थे उसका कुछ भाग अभी तक उनके साथ लगा हुआ था, यद्यपि कुछ समय बाद उन्होंने उसकी बाहरी सज्जा को अलग कर दिया।

एक मित्र ने भविष्यवाणी की, "तुम्हारा अन्त ट्राट्स्की की तरह होगा।" नेहरू ने धीरे से मुस्करा दिया।

नेहरू यद्यपि योग्य और कड़े प्रशासक हैं, उनके कांग्रेस के मंत्रित्व ने सिद्ध कर दिया कि इस काल में वे कांग्रेस की मशीन के नियंत्रण में रुचि नहीं रखते थे। उस समय वे सांगठनिक नियंत्रण को महत्व नहीं देते थे, और यह विचार उनके मन में कभी नहीं आया। उनमें काम करने की अद्भुत क्षमता थी जो उन्होंने देश और कांग्रेस पर मुक्त रूप से व्यय की। उनमें अनुशासन और समय की पाबंदी का कड़ा भाव था; और अपने भड़कीले मिज़ाज के होते भी जो जल्दी ही उड़ जाता था, वे अपने सहकर्मियों में अपना उत्साह भर सकते थे और उनसे एक दल की तरह काम करा सकते थे। वे क्रियाशीलता में प्रसन्न रहते और उनके लिए भीड़ उत्प्रेरक और स्फूर्तिदायक रहती।

नेहरू प्रायः कहा करते, "मैं जीवन के तूफ़ान के केंद्र में रहना चाहता हूँ।"

वे समाजवादी थे किन्तु वे सामूहिक मानव की अपेक्षा व्यक्तिगत मानव का सम्मान करते थे जिसे उनके मित्र अर्न्स्ट टोलर ने नाटक रूप दिया है। वह मानते थे कि अल्प सुविधा प्राप्त लोगों की रक्षा के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए किन्तु उसे ऐसा प्रजातांत्रिक ढाँचे के अन्दर करना चाहिए जहाँ कि व्यक्ति सर्वशक्तिसंपन्न शासन के दानव के नीचे न दब जाय।

जिसका महत्व है वह जनता है।

उन्होंने प्रायः बार बार कहा है "जनता को जहाँ तक ले जाओ वह चली जाएगी। यह तो निहित स्वार्थ हैं जो प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकाते हैं। यह लोग और भ्रान्त स्वार्थ-पूर्ण चिन्तन।"

यदि नेहरू अपने विदेश प्रवास से समाजवाद में विश्वास पक्का करके लौटे तो अब सदा से अधिक इस बात में उनका विश्वास था कि भारत अपने को अंतर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में देखे, जिससे अलग रहना अवास्तविकता है। प्रथक् रहने के अर्थ द्वीप बनाकर रहना है, किसी देश को अन्तर्राष्ट्रीय विचारों, प्रगति और कामों से अलग रखना है। यह आवश्यक है कि भारतीय समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में रखना और देखना चाहिए।

साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत का संघर्ष फ़ासिस्टवाद के विरुद्ध उदार जगत के संघर्ष का एक भाग था। यह एक संयुक्त संघर्ष था। लखनऊ के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने प्रस्ताव किया कि इथियोपिया के लोगों को एक सराहना और सहानुभूति का सन्देश भेजा जाय, जो मुसोलिनी की फ़ासिस्ट सेनाओं का वीरता से सामना कर रहे हैं। यह किया गया और नवीं मई अबीसीनिया दिवस के रूप में मनाया गया, जब अबीसीनिया के साथ सहानुभूति और इटली की निन्दा के प्रस्ताव पारित किए गए।

कारागृह ने उनके अन्तरीक्षण की प्रवृत्ति को तीव्र कर दिया था और जेल में उनकी अन्तिम कालावधि ने कष्टों, चिंताओं और निराशाओं से उनमें की अन्तर्मुखता को प्रबल कर दिया था।

१९३५ में जब वे जेल में थे तब उन्होंने लिखा था "मैं अंतर्मुखी नहीं था, लेकिन जेल-जीवन तेज़ कॉफ़ी और कुचले की तरह अन्तर्मुखी बना देता है।"

जेल में वे अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता मापने के मक्डूगल के घन की रूपरेखा बनाने में घंटों बिता दिया करते थे।

उन्होंने मन ही मन सोचा, "मैं उसकी ओर टकटकी लगा कर देखता रहता हूँ कि एक भाव में और दूसरे भाव में कितने बहुशः परिवर्तन हैं। वे जल्दी जल्दी होने लगते हैं।'

यह अन्तर्मुख और बहिर्मुख अपने संबंध में लिखे एक लेख में प्रतिबिंबित हुए थे जो उन्होंने इस समय लिखा था और "चाणक्य" उपनाम से बंगाल के एक पत्र मॉडर्न रिव्यू में प्रकाशित किया था। आत्म विश्लेषण में यह एक सुन्दर और उद्घाटक निबंध है, जिसमें ये अपने मिजाज़ की कौंध, चीजों को कराने की उद्दाम इच्छा, प्रजातंत्र की शिथिल गति से उनका अधैर्य, उनका अहं और गर्व, जिसमें से पहले को वह "पहले ही से उग्र" बताते।

वे विचारते, "वे आराम नहीं कर सकते, क्योंकि जो शेर की सवारी करता है, उतर नहीं सकता।"

भविष्य की ओर देखते हुए और उसमें अपने को प्रक्षेपित करते हुए जवाहरलाल अपने विषय में लिखते हैं, "साधारण समय में वे कुशल और सफल शासक होते, लेकिन इस क्रान्तिकारी युग में अधिनायकत्व सदा द्वार पर रहता है और क्या यह संभव नहीं है कि जवाहरलाल अपने को अधिनायक समझ बैठें? उसमें जवाहरलाल और भारत के लिए खतरा है।"

यह एक भविष्य की चेतावनी थी। किन्तु विश्लेषण की स्पष्टता उनके गुणों और अवगुणों में अन्तर्दृष्टि की सचेतनता को उद्घाटित करती है। वे शेर पर से उतर न सकें लेकिन इस बात पर दृढ़ संकल्प लगते हैं कि वह उनको लेकर भाग न जाय।

लखनऊ अधिवेशन पर जवाहरलाल की व्यथा बनी रही। वर्किंग कमेटी के बहुसंख्यक लोगों पर, जो उनके विचारों के विरोधी थे, खीझते हुए वे अपने समाजवादी विचारों के प्रचार में लगे रहे, और इससे बदले में एक संकट उपस्थित हो गया। कुछ सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया। गांधीजी के बीच-बचाव से अस्थायी विराम संधि हो गई।

नेहरू को इस बहाने पर धीरे-धीरे चलने की सलाह दी गई कि देश का उत्साह टूट गया है। इस विचार से वे सहमत नहीं थे। जून में गांधीजी को लिखे एक पत्र में उन्होंने इस विचार से मतभेद प्रगट किया। उन्होंने लिखा, "पिछले महीनों के मेरे अपने थोड़े से अनुभव ने इस विचार की पुष्टि नहीं की है। जहाँ कहीं मैं गया हूँ वहाँ यथार्थ में मुझे फड़कती जीवनता मिली है और मैं जनता के उत्साह से आश्चर्य में पड़ गया हूँ।"

इस अवसर पर नेहरू के और वर्किंग कमेटी के अधिक कट्टरपंथी साथियों के विचारों में तीव्र मतभेद था। १७वीं और १८वीं जुलाई को स्पेन में गृहयुद्ध छिड़ जाने से, जिसका विद्रोहियों की ओर से जेनरल फ्रांको नेतृत्व कर रहे थे, नेहरू ने कांग्रेस से प्रगतिशील शक्तियों के साथ संयुक्त मोर्चा स्थापित करने का आग्रह किया। उनके समाजवादी उद्गारों ने बहुत से कांग्रेस वालों को घबड़ाए रखा। यह कानाफूसी हुई कि महात्माजी और नेहरू के बीच मतभेद बढ़ता जा रहा है और यह बताया गया कि गांधीजी ने कहा है, "जवाहरलाल की बातों से मेरे जीवन का काम नष्ट हुआ जा रहा है।"

गांधीजी ने २५वीं जुलाई के "क्या हम प्रतिद्वंद्वी हैं ?" शीर्षक एक लेख में शीघ्र ही इसका प्रत्याख्यान किया। उन्होंने लिखा :

जहाँ तक मैं जानता हूँ, जवाहरलाल इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भारत की स्वतंत्रता हिंसात्मक साधनों से नहीं प्राप्त हो सकती और वह अहिंसात्मक साधनों से उपलब्ध हो सकती है। और इसे मैं तथ्य रूप में जानता हूँ कि लखनऊ में वे "स्वतंत्रता के संघर्ष में हिंसा के पक्ष में नहीं थे।" इसमें सन्देह नहीं कि हममें मतभेद हैं। वे स्पष्ट रूप से उन पत्रों में व्यक्त कर दिए गए थे जो हम लोगों के बीच कुछ वर्ष पहले पत्राचार हुआ था। किंतु उनसे हम लोगों के पारस्परिक संबंध पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा है। हम जैसे सदा रहे हैं, उसी प्रकार से कांग्रेस ध्येय के समर्थक हैं। मेरे जीवन का काम जवाहरलाल के कार्यक्रम से नष्ट नहीं हुआ है, नष्ट नहीं हो सकता है, और इस बात के लिए न मैंने यह कभी विश्वास किया है कि उसे "ब्रिटिश सरकार की दृढ़ता और दमन" से ही हानि पहुँची है। मेरा दर्शन, अगर कोई मेरा दर्शन कहा जा सकता है, किसी बाहरी शक्ति से कार्य में हानि की संभावना को नहीं मानता। हानि तो तब ठीक है और तभी आती है जब उद्देश्य ही बुरा हो, और यदि वह अच्छा हो तो उसके समर्थक सच्चे न हों, दुर्बल हृदय हों या गन्दे हों।

वर्किंग कमेटी में कट्टरपंथी दल का नेतृत्व करने वाले रूखे, मुँहफट वल्लभभाई पटेल थे, जो १९५० में अपनी मृत्यु पर्यन्त नेहरू के समाजवादी कार्यक्रम और विचारों पर रोक का काम करते रहे। गांधीजी की तरह पटेल गुजराती थे; यद्यपि वे लन्दन के प्रशिक्षित वकील थे किन्तु उनमें किसानों की सी विलक्षण भौतिकता थी, जो किसी तरह शास्त्रीय सिद्धान्तों से प्रभावित नहीं होता।

अप्रैल १९३६ में लखनऊ अधिवेशन के बाद कांग्रेस के सामने मुख्य काम चुनाव के लिए तैयारी था और अगस्त के अन्त में वर्किंग कमेटी कांग्रेस का चुनाव घोषणापत्र तैयार करने के लिए बंबई में एकत्रित हुई। इस दस्तावेज़ ने, जो बाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा स्वीकृत हुआ, पूर्ण स्वतंत्रता को राजनीतिक लक्ष्य दुहराया, ब्रिटिश द्वारा लादे गए संविधान की निन्दा की और स्वतंत्रता का अधिकार-पत्र और संविधान बनाने के लिए एक मात्र माध्यम संविधान सभा में अपने विश्वास पर ज़ोर दिया। उसने समान अधिकार के सन्दर्भ और नागरिक स्वाधीनता का आग्रह किया और जनता के हित के लिए विस्तृत आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम की घोषणा की। उसने वचन दिया कि कांग्रेसजन "ऐक्ट के साथ" किसी प्रकार का सहयोग करने के लिए "व्यवस्थापिकाओं में" नहीं जाएंगे, किन्तु उसका सामना करने और उसे समाप्त करने के लिए जायँगे।

यद्यपि एक समय नेहरू ने कांग्रेस के अध्यक्षपद से त्यागपत्र देकर चुनाव अभियान में लगने की योजना बनाई थी, लेकिन अब उन्हें लगा कि गांधीजी चाहते हैं कि वे बने रहें। पटेल भी बम्बई प्रान्त के पूर्वी खानदेश ज़िला के गाँव फ़ैज़पुर में होने वाली आगामी कांग्रेस के अध्यक्ष पद के मनोनीत व्यक्तियों में से थे। नेहरू को लगा कि वे अपनी स्थिति स्पष्ट कर दें। ज्यों ही अधिवेशन निकट आया उन्होंने यदि कांग्रेस चाहे तो कांग्रेस अध्यक्ष होने की अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया, लेकिन, उन्होंने कहा कि उनके देशवासियों को यह "समझ लेना चाहिए कि मेरा ध्येय क्या है, क्या विचार मुझे प्रेरित करते हैं और मेरे कार्यों के प्रेरक तत्व क्या हैं।"

गांधीजी राजनीति से अलग रहे और चुनाव अभियान में कोई भाग न लिया, लेकिन उनकी सलाह उनके साथियों को तुरत मिलती थी। नेहरू और वल्लभभाई पटेल के बीच मतभेद —यद्यपि अस्थायी रूप से टूट चुके थे—बने रहे, लेकिन गांधीजी ने सौजन्यतापूर्वक उन्हें कोई जल्दबाज़ी का काम करने या चेष्टा करने से रोकते हुए उन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक शान्त कर दिया।

एक दिन सितंबर के अंत में जवाहरलाल, पटेल और राजेन्द्रप्रसाद गांधीजी से मिलने मध्यप्रान्त में वर्धा के निकट सेवाग्राम गाँव गए तो उन्होंने उन्हे आंत्र पीड़ित दो रोगियों की चिकित्सा में खोए पाया। वे लोग कुछ समय तक प्रतीक्षा करते रहे, किन्तु गांधीजी परिचर्या में लगे रहे।

पटेल ने अन्त में कहा, "यदि आप के पास समय नहीं है तो हम लोग जायें।"

गांधीजी ने मुस्करा कर इनकार किया। उन्होंने समझाया, "मैं अपने रोगियों की चिकित्सा समाप्त कर लूं।"

नेहरू ने प्रतिवाद किया, "लेकिन क्या यह शाह कैन्यूट के लहरों के रोकने के प्रयत्न की भाँति नहीं है ?"

गांधीजी हँसे, "इसी लिए तो हम लोगों ने तुम्हें शाह कैन्यूट बना दिया है," उन्होंने मज़ाक से कहा, "जिससे कि तुम लहरों को रोक सको।"

पटेल ने अध्यक्ष पद से अपनी अभ्यर्थिता वापस ले ली किन्तु ऐसा करते हुए उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि उनकी चेष्टा के यह अर्थ नहीं हैं कि वे जवाहरलाल के सब विचारों का समर्थन करते हैं। उन्होंने स्वीकार किया, "कुछ महत्वपूर्ण बातों में मेरे विचार जवाहरलाल के विचारों के विपरीत हैं।" पटेल ने कहा, "अध्यक्ष को अधिनायकत्व के अधिकार नहीं हैं......कांग्रेस किसी व्यक्ति को चुन कर अपने अधिकार नहीं त्याग देती, वह कोई भी क्यों न हो। मैं प्रतिनिधियों से जवाहरलाल के पक्ष में मतदान के लिए कहता हूँ। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने के लिए और देश की विभिन्न शक्तियों को उपयुक्त मार्ग पर चलाने के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति हैं।" यह नेहरू के लिए स्पष्ट इंगित था कि वे अपने विचारों को अपने साथियों के विचारों के साथ अधिक समझौते के साथ व्यवस्थित कर लें। अपने अध्यक्षीय भाषण में "योरप में फ़ासिस्टवाद के विजयपूर्ण मार्ग" की निन्दा करने के बाद नेहरू ने कहा, "आज कांग्रेस भारत में पूर्ण प्रजातंत्र के लिए कटिबद्ध है और प्रजातंत्रीय राज्य के लिए संघर्ष कर रही है, समाजवाद के लिए नहीं। वह साम्राज्यवाद विरोधी है और हमारी राजनीतिक और आर्थिक संरचना में महान् परिवर्तनों के लिए उद्योगशील हैं। मेरी आशा है कि घटनाक्रम समाजवाद की ओर ले जायगा; क्योंकि मुझे भारत के आर्थिक रोगों का वही इलाज लगता है।" उन्होंने आग्रह-पूर्वक कहा कि कांग्रेसजन व्यवस्थापिकाओं में भारत सरकार के ऐक्ट से सहयोग के लिए नहीं किन्तु उससे संघर्ष करने के लिए जा रहे हैं। किन्तु उन्होंने अपने व्यक्तिगत विचार दुहराए कि कांग्रेस की नीति का एकमात्र तर्कसम्मत परिणाम है कि पद ग्रहण से कोई मतलब न रखा जाय।

जुलाई में स्पेन में गृहयुद्ध छिड़ने के तुरत बाद ही नेहरू ने सारी प्रगतिशील शक्तियों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने का तर्क उपस्थित किया था, और अब उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट की :

हमारे सामने वास्तविक लक्ष्य देश में सारी साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों का दृढ़ संयुक्त मोर्चा बनाना है। अतीत में और आज निस्संदेह कांग्रेस इस प्रकार का संयुक्त जनप्रिय मोर्चा रहा है, और अनिवार्यतः कांग्रेस को ही संयुक्त कार्यवाही का आधार और केंद्र बिन्दु बनना होगा। इस तरह के मोर्चे में संगठित रूप से मजदूरों और किसानों का सक्रिय भाग लेना इसकी शक्ति को बढ़ाएगा और उसका स्वागत करना होगा। उनके और कांग्रेस के बीच सहयोग बढ़ता रहा है और पिछले साल की यह विशिष्ट बात रही

है। इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना होगा। आज भारत की सबसे अनिवार्य और महत्वपूर्ण आवश्यकता साम्राज्यवाद के विरुद्ध सारी शक्तियों और तरुणों के इस संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे की है। कांग्रेस के भीतर ही सबसे अधिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व है, और उनके दृष्टिकोण में विभिन्नता और भेद होते हुए भी उन्होंने सामान्य हित के लिए सहयोग और कार्य किया है।

स्पष्टत: यह किसानों और मज़दूरों के निकटतर सहयोग के आधार पर कांग्रेस की संरचना को विस्तृत और सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न था—प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस के "समाजवादीकरण" का।

एक बार फिर सामान्य अधिवेशन ने पदग्रहण के निश्चय को स्थगित रखा। सभा की यह सम्मति थी कि इस प्रकार का निर्णय चुनाव के बाद करना सबसे अच्छा है।

फ़ैज़पुर अधिवेशन के बाद कांग्रेस के नेता चुनाव अभियान पर केंद्रित हो गए। नेहरू इस ओर अप्रैल से व्यस्त थे। तब से लेकर फरवरी १९३७ तक उन्होंने बीच-बीच में लगभग १३० दिन देश का दौरा करने में लगाए जिसमें लगभग ६५,००० मील का भ्रमण किया। उनके परिवहन साधनों में हवाई जहाज़, बैलगाड़ी, स्टीमर, नौकाएँ, डोंगियाँ, हाथी, ऊँट, बाईसिकल और घोड़े थे। बीच-बीच में गाँवों से होकर वे पैदल गए।

उनके काम का दिन कभी-कभी बीस घंटों तक का होता, जिसमें उन्होंने एक हज़ार से लेकर एक लाख तक की बारह सभाओं तक में भाषण दिए। दक्षिण में और महाराष्ट्र के समान कुछ ज़िलों में श्रोताओं में अधिकतर स्त्रियाँ थीं। उन्होंने किसानों, औद्योगिक कर्मचारियों, सौदागरों, व्यापारियों, व्यवसायियों, विद्यार्थियों, वकीलों, डाक्टरों, कारीगरों और भंगियों से बातचीत की। कुल मिला कर उनकी उपस्थिति और आवाज़ दो करोड़ लोगों तक पहुँची।

एक दिन पंजाब में जवाहर लाल नेहरू लगभग एक हज़ार लोगों की भीड़ से घिर गए। जिन्होंने उनका अभिनंदन भारतमाता की जय के नारों से किया।

उन्होंने पूछा, "इसके क्या अर्थ होते हैं ?"

उन्हें पता नहीं था।

नेहरू ने फिर पूछा, "यह किस माता की जय कर रहे हो ?"

एक किसान ने उत्तर दिया, "धरती माता की।"

नेहरू ने प्रश्न किया, "किसकी धरती ? अपने गाँव की धरती ? अपने प्रान्त की ? भारत की ? संसार की ?"

वे फिर चुप रहे और तब किसी ने सुझाया कि नेहरू ही इस बात को समझाएँ।

नेहरू ने समझाया। उन्होंने बताया कि भारत माता भारतवर्ष है और हम सब उसके बच्चे हैं, वे और दूसरे भारतीय जो उत्तर दक्खिन पूरब और पच्छिम में बसते हैं। वे जब जय कहते हैं तो वे भारत के लोगों, भारत माता के बेटे बेटियों की जय मनाते हैं।

नेहरू ने उनसे पूछा, "यह बेटे-बेटियाँ कौन हैं ? वे तुम लोग हो, तुम सब, और मैं भी।

इस प्रकार जब तुम जय पुकारते हो तो तुम अपनी जय के साथ भारत भर के बहन भाइयों की जयकार करते हो। यह याद रखो। भारतमाता तुम हो और यह तुम्हारी ही जय है।"

ध्यानपूर्वक उनकी बातें सुनने के बाद वे बोले, "आप ठीक कहते हैं।" और उन किसानों के मन्द, भारी मस्तिष्क में एक प्रकाश दीप्त हो उठा और उनके चेहरों पर लालिमा छा गई।

चुनाव में कांग्रेस की भव्य सफलता रही। कुल १५८५ स्थानों में से जिनमें केवल ६५७ सामान्य प्रतिद्वंद्विता के लिए थे, प्रवर्गीय नहीं, कांग्रेस ने ७१५ स्थान जीते। उसने मद्रास, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बिहार और उड़ीसा के पाँच प्रान्तों में निरपेक्ष बहुमत प्राप्त किए। बंबई में उसने प्राय: आधे स्थान जीत लिए और अन्य राष्ट्रीयतावादी दलों के समर्थन से बहुमत बनाने में समर्थ हुई। आसाम में १०८ में से ३५ स्थान प्राप्त कर यह सबसे प्रबल पार्टी सिद्ध हुई और यहाँ भी बाहरी समर्थन से मिलाजुला मंत्रिमंडल बनाने की स्थिति में थी। प्रधानत: मुस्लिम उत्तर पश्चिम सीमाप्रांत में ५० स्थानों में से कांग्रेस ने १५ जिनमें से १५ मुस्लिम क्षेत्रों से थे, और कुछ मुस्लिम राष्ट्रीयतावादियों की सहायता से वह मंत्रिमंडल बनाने में सफल रही। इस प्रकार कांग्रेस का भारत के ग्यारह प्रान्तों में से आठ पर नियंत्रण रहा। वह केवल पंजाब, बंगाल और सिंध में अल्पसंख्या में रही, और बंगाल में उसने २५० में से ६० स्थान जीत कर आशा से अधिक किया। कांग्रेस की सबसे प्रभावशाली सफलता मद्रास में देखी गई जहाँ उसने जस्टिस पार्टी* को खदेड़ दिया जो १९२२ से सत्ता का उपभोग करती रही थी। कांग्रेस द्वारा प्राप्त १५९ स्थानों के विरुद्ध जस्टिस पार्टी को केवल २१ ही मिले।

बाद में पाकिस्तान के निर्माता जिन्ना ने भी मुस्लिम लीग के प्रधान के रूप में राजनीतिक सूचियों में प्रवेश किया। यह विश्वास करने का कारण है कि इस स्थल पर जिन्ना ने ईमानदारी से कांग्रेस के साथ सहयोग और मेल के साथ, "वह जिस काम की भी हो," प्रांतीय स्वायत्तता के लिए, काम करने की आशा की। कांग्रेस के साथ मिल कर लीग ने संघीय राज्य की निन्दा की, यद्यपि वह कुछ और कारणों से हो सकता है। केंद्र में एक प्रबल संघीय सरकार मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों की स्वायत्तता को व्यर्थ कर सकती है।

मार्च में दिल्ली में अपने अनुयायियों के समक्ष भाषण देते हुए उन्होंने कहा: "हिन्दू और मुसलमान अलग अलग संगठित होना चाहिए, और एक बार संगठित होने पर वे एक दूसरे को अच्छी तरह समझेंगे, और तब हमें समझौते का सालों इन्तजार नहीं करना पड़ेगा। मैं आठ करोड़ लोगों का जिम्मा लेता हूँ और अगर वे अधिक संगठित रहेंगे तो वे राष्ट्रीय संघर्ष में और भी उपयोगी सिद्ध होंगे।"

बाद के दस वर्षों में कांग्रेस और मुस्लिम लीग में मतभेद जमकर निष्ठुर संघर्ष और

---

* यह पार्टी अब्राह्मण थी।

विभाजन का रूप ले चुके थे। दिसम्वर १९४० में लीग की पाकिस्तान या विभाजित भारत के राजनीतिक लक्ष्य की घोषणा से दरार और भी कठोर हो गई। अगस्त १९४७ में स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ पाकिस्तान अस्तित्व में आ गया।

जव प्रांतीय मंत्रिमंडलों के गठन का अवसर आया तो कांग्रेस ने ऐसा करने से इनकार कर दिया जव तक कि सरकार यह स्पष्ट न कर दे कि प्रांतीय स्वायत्तता के क्षेत्र में गवर्नर या वाइसराय का हस्तक्षेप न होगा। यह विचार मार्च १९३६ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा पारित एक प्रस्ताव में व्यक्त किया गया था, जिसमें यह कहा गया था कि कांग्रेस उन प्रान्तों में पद ग्रहण करे जहाँ उसकी वैधानिक वहुसंख्या है,उसे ऐसा नहीं करना चाहिए जव तक व्यवस्थापिका में कांग्रेस पार्टी के नेता को आश्वासन नहीं मिल जाता और वह उसे सार्वजनिक रूप से यह कहने को समर्थ नहीं है कि गवर्नर अपने हस्तक्षेप के विशेपाधिकारों का उपयोग नहीं करेगा "या मंत्रियों के संवैधानिक कार्यों में उनके पद की अवहेलना नहीं करेगा।"

कांग्रेस और सरकार में इधर से उधर और उधर से इधर वहुत संविवार्ता हुई, और गतिरोध अन्त में वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो के एक अस्पष्ट आश्वासन से हुआ। लॉर्ड लिनलिथगो १९३६ में लॉर्ड विलिंगडन के उत्तराधिकारी होकर आए थे। जून १९३७ में प्रकाशित अपने एक वक्तव्य में लॉर्ड लिनलिथगो ने गांधीजी का सुझाव स्वीकार किया था कि "जव गवर्नर और उसके मंत्री में वादविपय गंभीर मतभेद का होगा तभी उनकी साझेदारी के अलग होने का प्रश्न उठ सकता है।"

इसके शीघ्र वाद वंवई, मद्रास, संयुक्त प्रान्त, विहार, मध्य प्रान्त और उड़ीसा, छः प्रान्तों, में कांग्रेस मंत्रिमंडल गठित हुए और वाद में कांग्रेस का शासन आसाम और सीमाप्रदेश में फैल गया। यह मंत्रिमंडल नववंर १९३९ तक पदासीन रहे जव कांग्रेस भारतीय प्रतिनिधियों को उल्लेख के विना ब्रिटिश सरकार के भारत को युद्ध में प्रवृत्त करने के विरोध में प्रशासनिक क्षेत्र से अलग हो गई।

नेहरू पदग्रहण करने के निर्णय से प्रसन्न नहीं थे। सुभाप वोस के साथ उन्होंने उन दक्षिण-पक्षीय नेताओं का विरोध किया था जिन्होंने यह दलील पेश की थी कि मंत्रिमंडलों के गठन से कांग्रेस नए संविधान के विरुद्ध संघर्प में अपनी स्थिति सुधार सकती है। लेकिन सदा की भाँति उन्होंने निश्चय होने पर उसको निष्ठापूर्वक स्वीकार कर लिया।

अपने आप से निर्णय को तर्कसिद्ध करते हुए नेहरू ने कहा, "पदग्रहण के अर्थ गुलामी के संविधान का लेशमात्र स्वीकार करना नहीं होते हैं। इसके अर्थ संघ के लागू होने के विरुद्ध व्यवस्थापिका के भीतर और वाहर, अपनी पूरी शक्ति के साथ संघर्प है। हमने नई जिम्मेदारियों और कुछ खतरे से भरा नया क़दम उठाया है। लेकिन अगर हम अपने लक्ष्यों के प्रति सच्चे हैं और सदा सचेत हैं, तो हम इस क़दम से भी इन खतरों पर विजय प्राप्त करेंगे और वल प्राप्त करेंगे। सदैव सतर्कता ही स्वाधीनता का मूल्य है।"

जवाहरलाल के हिसाव से कांग्रेस दुहरी नीति के लिए प्रतिवद्ध थी—स्वतंत्रता के

लिए संघर्ष जारी रखना और साथ ही साथ कांग्रेस के सत्ताहीन रहते उन प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के द्वारा आर्थिक सुधार के रचनात्मक कार्यों को करना। वे विशेष रूप से किसानों के लिए भूमि संबंधी सहायता में रुचि रखते थे। इसमें प्रणाली में ही सुधार होना था। योजना में भी उनका ध्यान लगा हुआ था। उन्होंने यह समझ लिया कि वास्तविक शक्ति अब भी ब्रिटिश गवर्नरों के और अन्तिम रूप से सम्राट् के सर्वोच्च प्रतिनिधि के रूप में वाइसराय के हाथ में है। कांग्रेस के अधिकार की सीमाओं के बारे में उन्हें कोई भ्रम नहीं थे।

१९३६ में नेहरू अपने तूफानी दौरे पर चले। दूरस्थित गाँवों और गँवटियों में जाकर, बहुत भीतर के देहातों में यात्रा करते हुए, तमिल और पंजाबी, मराठा, सिख, गुजराती, सिंधी, असामी और उड़िया में भारत के विविध रूपों का दर्शन करते हुए, और अनन्त रूपों और विचित्रताओं में विभिन्न संस्कृतियों में प्रतिबिंबित—"किसी प्राचीन मूल्यांकन की भाँति," जवाहरलाल ने सोचा।

वे भारत की खोज कर रहे थे। स्वतंत्रता के पहले के इन दस वर्षों में नेहरू को भारत की धरती में अपनी जड़ें गहरी जमानी थीं, और अपने देशवासियों को कर्तव्य, अनुशासन और सेवा का संदेश देते हुए उनसे न केवल असीम स्नेह किन्तु अपने पारस्परिक देश की प्राचीन जीवन्त कहानी में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना था। जीवन और संस्कृति का प्रवाह कितना कालातीत और अखंड है। कृषक-भारत का विशाल जनसमूह अपढ़ है, फिर भी यह ज्ञात करना हृदयस्पर्शी और उत्तेजित करनेवाला है कि उनमें से सबसे अधिक अज्ञान अपने मानस में पुराणों, परंपराओं, महाकाव्यों और रामायण और महाभारत की चित्रशाला लिए घूमता है। वे पददलित, दुखी और दरिद्रता में डूबे हुए हैं। फिर भी उनमें मृदुता और विनम्रता और कभी-कभी जीवित गौरव है। नेहरू लिखते हैं, "कभी कभी जब मैं किसी देहाती रास्ते या गाँव के बीच से होकर जा रहा होता तो सुन्दर प्ररूप के आदमी या सुन्दर स्त्री को देखकर आश्चर्य में पड़ जाता था, जिससे मुझे प्राचीन काल के भित्ति-चित्र का स्मरण हो आता।" प्ररूप स्थायी है।

इन देशव्यापी यात्राओं में नेहरू न छोटे समूहों से लेकर एक लाख की भीड़ तक में भाषण दिए। किसानों की समस्या उनकी ग़रीबी में जड़ जमाए थीं; और ऋण की छाया, महाजन में, अन्यायपूर्ण लगान और कर और पुलिस के अत्याचार सदा उनके साथ थे। आरंभ में नेहरू उन्हें भारत के संबंध में अपने गाँव ही की बात न सोच कर सारे देश के विषय में समझाने में संलग्न थे। कभी-कभी वे उनसे भारत के बाहर की भी जापान द्वारा चीन की लूटखसोट की, अबीसीनिया में इटली के अत्याचारों की, स्पेन की, योरप में फासिस्टवाद का खतरा, रूस की प्रगति, अमरीका की आश्चर्यजनक आर्थिक प्रगति की बातें बताते।

प्रांत में जन प्रशासन के समाचार से लोग उन्हें जोश में भरने लगे। प्रांतीय स्वायत्तता वास्तविक शक्ति को न जताए, लेकिन इससे देश भर में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन आ

गया था। गाँव में किसानों और क़स्बों और शहरों में श्रमिकों में एक नया विश्वास आया लगता और वे और अधिक उन्नति की आशा में लगते थे।

गुरुता की भावना और इस अनुभव से कि सरकारी पद पर उनके दिन अधिक नहीं हों, कांग्रेस प्रशासन विभिन्न कारणों से वह सब न कर पाए जिसकी उन्होंने योजना बनाई थी। वे सरकारी कार्य में नए थे और अनिवार्यतः कुछ अदक्षता और अयोग्यता भी थी। लेकिन बहुत कुछ ऊर्जा और उत्साह और ग़लतियों से सीखने की तत्परता भी थी। योजना-बद्धता और सुधारों में एक प्रान्त में ही नहीं दो या अधिक प्रान्तों में समन्वय की आवश्यकता थी। इसमें केंद्रीय सरकार की कड़ाई प्रमुख बाधक बन सकती थी। सुरक्षित भारतीय और ब्रिटिश नौकरशाही की कट्टरता एक और रोड़ा थी।

किन्तु अधिक आवश्यक समस्याएँ जैसे कि खेतिहरों के कर्ज़ को लिया गया और परेशान किसानों के ऋण के बोझ को हल्का करने का क़ानून बनाया गया। कारखानों में मजदूरों की हालत में सुधार किया गया और सफाई और जनस्वास्थ्य को विस्तृत करने के प्रयत्न किए गए। बुनियादी शिक्षा नाम से प्रसिद्ध सामूहिक शिक्षा प्रणाली आरंभ की गई। कांग्रेस मंत्रिमंडल के चले जाने के बाद इनमें से सभी सुधार शेष नहीं रह गए, अर्थाभाव और अन्य अड़चनों से बहुत सी योजनाएँ पूरी न हो सकीं।

सुधार और सामान्य उन्नति की संभावनाओं की खोज में विश्वसनीय सांख्यिकी और अन्य संबंधित आधारसामग्री के अभाव से नेहरू आश्चर्य में पड़ गए थे। अगस्त १९३७ में कांग्रेस की प्रांतीय सरकारें बनने के शीघ्र बाद वर्किंग कमेटी ने मंत्रियों से देश की प्रमुख समस्याओं की जाँच करने और उन्हें सुलझाने के तरीक़े और साधन सोचने के लिए विशेषज्ञों की एक अन्तर्प्रान्तीय समिति बनाने का सुझाव देते हुए एक प्रस्ताव पारित किया था। अपूर्ण आधार सामग्री और विश्वसनीय सांख्यिकी के अभाव में यह दुर्जेय कार्य था। किन्तु बड़े पैमाने पर योजनाबद्धता के लिए कांग्रेस की, मूलतः जवाहरलाल की प्रेरणा और प्रोत्साहन के अन्तर्गत यह चेष्टा महत्वपूर्ण थी।

१९३८ के अन्त में कांग्रेस के अनुरोध पर एक राष्ट्रीय योजना आयोग की स्थापना का विचार उत्पन्न हुआ। नेहरू इस संस्था के अध्यक्ष थे जिसमें उद्योगपतियों, मज़दूर नेताओं और अर्थ शक्तियों की श्रेणियों के पंद्रह सदस्यों के साथ प्रांतीय सरकारों के और कुछ रजवाड़ों के प्रतिनिधि थे। कमेटी इस तथ्य से अक्षम थी कि केंद्र में जनशासन नहीं था और इसलिए केंद्र पर राष्ट्रीय निर्देशन नहीं था। नई दिल्ली में अधिकारियों से सहयोग नहीं मिल रहा था।

केंद्रीय सरकार के उदासीन ही नहीं विरोधी रुख के रहते भी नेहरू के निर्देशन में समिति देश के लिए दस वर्ष की योजना बनाने में लग गई। योजना का सामान्य उद्देश्य औद्योगिक और कृषि उत्पादन बढ़ाकर और अधिक न्यायसंगत धन का बँटवारा करके भी जनता का जीवन स्तर उपयुक्त करने का था। यह हिसाब लगाया गया कि यदि जीवन का स्तर वास्तव में उन्नत करना है तो राष्ट्रीय पूंजी में ५०० से ६०० प्रतिशत

वृद्धि करना होगी। किन्तु यह बहुत्व ही महत्वाकांक्षी लक्ष्य लगा, और समिति ने दस वर्ष में २०० से ३०० प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा।

योजना समिति ने अपना काम कभी पूरा नहीं किया क्योंकि जब वह अपनी विभिन्न उपसमितियों की रिपोर्टों पर विचार ही कर रही थी कि अक्टूबर १९४० में नेहरू गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें चार वर्ष की जेल की सज़ा दे दी गई। वे दिसंबर १९४१ में छोड़े गए थे और अगस्त १९४२ में फिर गिरफ्तार हुए जब १५ जून १९४५ तक बिना मुक़दमा चलाए बन्द रखे गए। यह उनके कारावास का अन्तिम क्रम था। घटनाओं के भीड़-भरे प्रवाह ने योजनाबद्धता का काम अपूर्ण रखा। नेहरू सूत्रों को १९५० में ही सँजो सके जब प्रधान मंत्री के रूप में उन्होंने भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना का समारंभ किया। किंतु इसके पूर्व के असफल प्रयत्न का शैक्षणिक मूल्य था क्योंकि इससे देश भर में योजना के प्रति रुचि बढ़ी।

प्रान्तीय स्वायत्तता का एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम राष्ट्रीय प्रयास को देश व्यापी रहने से प्रान्तीय मार्ग पर उन्मुख करना हुआ। आन्तरिक संघर्ष विशेष रूप से सांप्रदायिक मोर्चे पर बढ़ गए, जहाँ मुस्लिम लीग के साथ मिली-जुली सरकार बनाने से कांग्रेस के इनकार ने जिन्ना और उनके अनुयायियों को ख़फ़ा कर दिया। कांग्रेस ने दलील दी कि वह मुस्लिम लीग के सदस्यों सहित, मुस्लिम प्रतिनिधियों को अपने प्रांतीय मंत्रिमंडलों में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रित करने को तैयार है बशर्ते वे कांग्रेस पार्टी के सदस्य बन जायँ। जिन्ना ने चतुरता से इसे "हिन्दू कांग्रेस" द्वारा मुसलमानों को पद का लालच देकर लीग की निष्ठा से अलग करने का फंदा समझ लिया। कांग्रेस के जो भी मतलब रहे हों, यह नीति दाँव पेंच की गंभीर भूल हुई क्योंकि इससे मुसलमान नेताओं और जनता में शिकायत, कुंठा और अलगाव की भावना बढ़ गई। इस भावना का लाभ उठाकर जिन्ना धार्मिक मतभेदों को तीव्र कर और मुस्लिम पैग़म्बर की तरह अपने सहधर्मियों को पाकिस्तान के कल्पनालोक में ले जाने में समर्थ हुए।

यदि कांग्रेस ने चुनावों के बाद लीग के साथ अधिक कुशलता से व्यवहार किया होता तो संभवतः पाकिस्तान कभी अस्तित्व में न आता। विभाजित हिंदू और मुस्लिम भारत कुंठा की गाथा के रूप में हैं। निश्चय ही जिन्ना ने पाकिस्तान का निर्माण किया। लेकिन कांग्रेस ने अपनी भूलों और करतूतों के पाप से उसका निर्माण संभव किया। चुनाव में मुस्लिमलीग के कम परिणामों से कांग्रेस ने मुस्लिम लीग की मिले-जुले मंत्रिमंडल बनाने की चेष्टाओं की उपेक्षापूर्ण अस्वीकृति की। लीग के प्रत्याशियों ने कुल मुस्लिम वोटों में ५ प्रतिशत से कम मत प्राप्त किए और उत्तर पश्चिम सीमा के प्रचुर मुस्लिम प्रांत में एक भी स्थान प्राप्त करने में समर्थ न हुए। इसका परिणाम लीग को राजनीतिक बयाबान में खदेड़ना तो नहीं हुआ बल्कि मुसलमानों को दावों और अधिकारों के सबसे बड़े नेता के रूप में जिन्ना के हाथ मजबूत करना हुआ।

चुनावों के बाद ही नेहरू ने कहा, "देश में दो ही पार्टियाँ हैं, कांग्रेस और ब्रिटिश।"

जिन्ना ने उलट कर जवाब दिया, "नहीं, तीसरी भी है—मुसलमान।"

दोनों व्यक्तियों में स्वभावगत बहुत कुछ समान था, दोनों ही झगड़ालू, भभक पड़ने वाले, गर्विष्ट, भावना प्रवान और अधिकार सूचक थे। किन्तु जिन्ना अधिक हिसावी और चतुर थे। राजनीतिक दाँव-पेंच में वे श्रेष्ठतम थे—कांग्रेस की प्रत्येक भूल पर झपट पड़ने में और उससे लाभ उठाने में तत्पर। और इस अवधि में कांग्रेस ने अनेक भूलें कीं।

अक्टूबर १९३७ में लखनऊ में लीग के समक्ष भाषण करते हुए उन्होंने घोषणा की कि "वहुसंख्यक संप्रदाय ने स्पष्टतया यह दिखा दिया है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिए है।"

गांधीजी विरोध करने को तैयार हो उठे। उन्होंने लिखा, "जो कुछ मैंने पढ़ा है, आप का पूरा भाषण युद्ध घोषणा है।" वह युद्ध घोषणा थी।

परवर्ती महीनों में जिन्ना और नेहरू में तीखा पत्र व्यवहार हुआ जिससे कांग्रेस और लीग में खाई और अधिक वढ़ ही गई। नेहरू को विवाद अवास्तविक लगा, क्योंकि उन्हें यह लगता कि जिन्ना के नेतृत्व में लीग देश की स्वतंत्रता की माँग करने से मुसलमानों को विशेषाधिकारों की माँग में अधिक रुचि रखती है। किंतु जिन्ना चतुरता से राष्ट्रीयतावादियों और ब्रिटिश के बीच संतुलन वनाने वाले की स्थिति में अपने को रखने की चाल चल रहे थे। इस प्रक्रिया में वे मुस्लिमलीग को कांग्रेस की तरह का जन संगठन वना रहे थे।

१९४२ में गांधीजी ने अंग्रेज़ों से कहा, "भारत छोड़ो।"

"विभाजन करो और छोड़ दो," जिन्ना की सलाह थी।

अगर वे अंग्रेज़ों की सहायता नहीं करते तो उनके काम में अड़चन भी नहीं डालते थे। वे काँग्रेस का विरोध करने में अंग्रेज़ों की कठपुतली नहीं वनना चाहते थे, लेकिन उन्होंने इस वात का इंगित किया कि अगर उनके हाथ में वागडोर दी जाय तो वे ऐसा करने को तैयार हैं। जिन्ना और अंग्रेज़ दोनों एक ही चाल में थे—कांग्रेस को अलग कर उसे निर्वल वना दिया जाय।

दोनों की समझ में आया कि आखिरी दाँव में एक हार जायगा। दोनों ने वहुत देर में समझा कि दोनों ने एक भस्मासुर खड़ा कर दिया है जिसकी पकड़ से दोनों ही सही सलामत नहीं वच सकते हैं। अंग्रेज़ों को सहसा वास्तविकता का सामना हुआ, पाकिस्तान की कल्पना सृष्टि का नहीं। और क्रम में पाकिस्तान ने अपनी प्रकल्पित दृढ़ मूर्ति से अपने को कटी छँटी अपच्छाया में पाया। लेकिन कांग्रेस को भी विभाजित भारत के रूप में मूल्य चुकाना पड़ा।

इस वीच योरप में युद्ध की घटाएँ घिर रही थीं। १९३६ के ग्रीष्म में हिटलर ने फ्रांको के फ़ैसिस्ट विद्रोहियों को सहायता भेजी और दूसरे वर्ष के सितंवर में उसका मुसोलिनी से समझौता हो गया और रोम-वर्लिन धुरी की स्थापना हुई। स्पेन के गृहयुद्ध की लम्वी पीड़ा अपने दुःखपूर्ण मार्ग पर घिसटती रही। अप्रैल १९३७ में गेर्निका का नाश हुआ

और दो वर्ष बाद गोरिंग गर्व के साथ कह सका कि "जेनरल फ्रांको की समस्त विजय जर्मन स्वयंसेवकों की सहायता से हुई।" इटली के भाड़े के टट्टू भी थे, लेकिन फ़ासिस्ट अस्त्रशस्त्रों के पराक्रम का मार्च १९३७ में ग्वादालाइ आरा में पता चला जब सरकारी सेनाओं ने मुसोलिनी के सिपाहियों को तहस नहस कर दिया।

सर्वसत्तावाद पागल हो रहा था। जुलाई १९३७ में जापान ने मुमूर्षु लीग आफ़ नेशंस की अवज्ञा में चीन पर अपना दूसरा आक्रमण कर दिया, और वर्ष के अंत तक उसने नानकिंग पर अधिकार कर लिया और वूहू तट से यांग्टसी का मालिक बन बैठा। अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ के विरोधी समझौते पर हस्ताक्षर कर जापान रोम-बर्लिन धुरी में सम्मिलित हो गया।

मार्च १९३८ में हिटलर ने आस्ट्रिया ले लिया, और उसके बाद ही कुछ समय में चेकोस्लोवाकिया। नेवाइल चेंबरलेन की कल्पना का वह "दूर देश" संसारके समाचारों में प्रमुख हो उठा, ज्योंही हिटलर ने सुडेटन जर्मनों को रश्ख में लौटाने की माँग की। सितंबर में म्युनिख आया और युद्ध की लंबी रात के पूर्व की छाया योरप पर छा गई।

नेहरू ने इन दुःखद घटनाओं को बढ़ी हुई अमंगल की आशंका से देखा।

१९३८ का वर्ष उनकी माता की मृत्यु के रूप में एक व्यक्तिगत दुःख लेकर आया। स्वरूपरानी लंबे अरसे से बीमार थीं और पक्षाघात के दो आक्रमणों ने उन्हें अपंग कर दिया था, यद्यपि वे अपने से संबंधित चीज़ों में अपनी रुचि साहसपूर्वक बनाए रहीं। अपने बच्चों विशेषतः अपने बेटे के लिए, उनकी उत्कंठा, ऐसी प्रबल रुचि थी जो उन्हें बल प्रदान करती रही। एक रात को जब उनका बेटा और बेटियाँ उनके गिर्द थे तो उन्हें पक्षाघात का तीसरा आक्रमण हुआ और दूसरे दिन तड़के जब यह लोग उनके पलँग के पास उन्हें देख रहे थे, वे शान्तिपूर्वक चल बसीं।

"यह भी गई," ज्योंही स्वरूपरानी ने अंतिम साँस ली जवाहरलाल ने फुसफुसाकर अपनी बहनों से कहा।

यह अब से सात वर्ष पहले की बात थी जब वे अपनी माता के साथ अपने पिता के पलँग के पास बैठे थे।

विदेश में युद्ध के बादल घने हो रहे थे। म्यूनिख के पहले ग्रीष्म में नाज़ी सरकार ने उन्हें जर्मनी आने का निमंत्रण भेजा। उसने अपने रुख़ की प्रस्तावना में यह आश्वासन दे दिया था कि वह उनके नाज़ीवाद के विरोध से अवगत है। जवाहरलाल ने इनकार कर दिया और उसके स्थान पर वे बीच में ब्रिटेन होते हुए चेकोस्लोवाकिया और स्पेन गए।

वे १९३८ के मध्य जून में बार्सिलोना आए और कुछ मंत्रियों—प्रधानमंत्री नेग्रिन मैड्रिड गए हुए थे—से मिलने के बाद कृष्णमेनन के साथ जो उन दिनों लंदन में इंडिया लीग को चला रहे थे, मोर्चे पर गए। हेडक्वार्टर्स में जेनरल लिस्टर ने उनका स्वागत किया जो उस क्षेत्र की कमान सँभाले हुए थे। पहले के एक संगतराश लिस्टर ने जनता की सेना के नए अधिकारी के रूप में नेहरू को बहुत प्रभावित किया। उनकी ओर और

अपने साथियों की ओर देखते हुए नेहरू ने सोचा कि भारत में अंग्रेज़ पेशेवर सिपाही का यह मज़ाक कि भारतीयों को उच्च सेना की कमान लेने के लिए बरसों सिखाना पड़ेगा तथ्यहीन है। नेहरू ने अंग्रेज अकड़ू खाँ को संबोधित करते हुए कहा, "इस पुराने नमूने पर अफ़सोस है जो पोलो और ब्रिज और क़वायद के मैदान में इतना चुस्त रहता है, लेकिन आज इतना असंगत है।" स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री के रूप में जब सेना के भारतीय-करण का प्रश्न आया तो उन्हें यह स्मरण रखना था।

नेहरू अंतर्राष्ट्रीय ब्रिग्रेड देखने गए जिसमें ६० प्रतिशत स्पेन निवासी थे, और अनेक स्वयंसेवकों से बातें कीं। एक अन्य ब्रिगेड के हेडक्वार्टर में एक स्पेनी अफ़सर ने भारत और भारतीय स्वतंत्रता की शुभकामना में जाम पिया।

बार्सिलोना में लिस्टर से मिलने के अतिरिक्त नेहरू देल वायो से मिले जो उन दिनों गणतंत्र के विदेश मंत्री थे। उनकी सजीवता और दृढ़ता से प्रभावित होकर उनसे वे तत्काल आकर्षित हो गए। लिस्टर की ही तरह देल वायो पेशेवर नहीं थे। क्रान्ति में विदेश मंत्री बनाए जाने के पूर्व वे पत्रकार थे। नेहरू ने स्पेनवासी से कई बार बातचीत की और उसे राष्ट्रीय झंडा भेंट किया। कई महीने के बाद, सितंबर में, वे देल वायो से फिर मिले, इस समय जेनेवा में। देल वायो ने जवाहरलाल से पूछा कि क्या गणतंत्र स्पेन को खाद्य भेजना भारत के लिए संभव होगा, और जवाहरलाल ने भारत लौट कर तुरत यह किया। वे भावुकतापूर्वक स्पेन से अनुप्राणित हो उठे थे और बंबई में जब उन्होंने खाद्य के जहाजों को वहाँ जाने के लिए कहा तो उनके चेहरे से आँसू बहने लगे।

एक अन्य व्यक्तित्व जिससे वे मिले और हृदयग्राही लगा वह बास्क में खान के कर्मचारी की बेटी प्रसिद्ध महिला नेता ला पासिओनारा थी। वह "अधेड़ उम्र की और गिरस्तन सी, बड़े बच्चों की माँ थीं" थी। पहले-पहल वह उससे एक छोटे कमरे में मिले जहाँ वह जोश में और उग्रता से गीतात्मक स्पेनी भाषा के धारा प्रवाह में बोली जिसका कुछ ही जवाहरलाल समझे। वे उसके जोश और आवेग से प्रभावित हो गए। उन्होंने लिखा, "वह उन जन सामान्य की और स्त्री की प्रतीक थीं जिन्होंने युगों से कष्ट उठाए थे और शोषित किए गए थे और अब स्वतंत्र होने के के लिए दृढ़ संकल्प थे।"

अपने शौर्य और दृढ़ता से, अपने सजीव साहस और विद्रोह से स्पेन ने नेहरू को मोह लिया। तथाकथित अहस्तक्षेप समिति में पाँच शक्तियाँ थीं, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और रूस। इनमें से पिछली तीन एक या दूसरे पक्ष को सहायता दे रही थीं। फ्रांको की विजय के साथ गृहयुद्ध १९३९ के मार्च में समाप्त हो गया. किन्तु नेहरू को १९३८ के उस स्वर्णिम जून में यह लगा कि संभवतः गणतंत्रवादी जीत जाएँगे।

यदि वे स्पेन से जोश में भर उठे थे तो ब्रिटेन और चेकोस्लोवाकिया और योरप में व्याप्त मनोवृत्ति से हतोत्साहित हुए थे। जुलाई में लन्दन और पेरिस में उन्होंने गणतंत्र-वादी स्पेन की ओर से सभाओं में भाषण दिए। पेरिस में वे उसी मंच पर आए जिस पर ला पासिओनारा बोली। मई १९३८ में आस्ट्रिया के हड़प लेने के दो महीने से कम ही के

अन्दर हिटलर ने अपने सैनिक चेक सीमा पर जमा कर लिए थे, और फ्रांस और ब्रिटेन के वैमनस्य के अंत के फलस्वरूप यद्यपि यह बाद में वापस बुला लिए गए थे, आक्रमण की गंध फिर बहुत कुछ वातावरण में व्याप्त थी।

इन शरद् के महीनों में घटनाओं का पीड़ाजनक आश्चर्य से अनुसरण करते हुए नेहरू लंदन, पेरिस, जेनेवा, सूडेटनलैंड और प्राग के बीच आकर्षित रहे। चेकोस्लोवाकिया में उन्होंने लार्ड रंसीमन के कुटिल दाँवपेंच ध्यानपूर्वक देखे जो एक ही समय हेनलीन को शान्त करने की और, जैसा नेहरू ने व्यक्त किया है, "चेक लोगों की कमर तोड़ने की चेष्टा कर रहे थे। म्यूनिख के लिए मार्ग प्रशस्त हो रहा था।

लन्दन में उन्होंने इस अवसर पर पदच्युत इडेन के साथ, लार्ड हैलिफैक्स और सारी पार्टियों के कुछ अधिक प्रमुख राजनीतिज्ञों से बातचीत की। उन लोगों के रुख ने उनका दिल तोड़ दिया, क्योंकि वे उनके फ़ासिस्ट विरोधी और नाज़ी विरोधी विचारों से नम्र उपेक्षा या हल्के तिरस्कार के साथ मिले।

उन लोगों ने उन्हें याद दिलाई, "और भी बहुत-सी चीजें ध्यान देने की हैं।"

बातें तो थीं। लेकिन जब उन्होंने ब्रिटिश लेबर पार्टी को यह बताने का प्रयत्न किया कि फ़ासिस्ट विरोधी होना साम्राज्यवाद विरोधी होने के समान है, और यह कि भारतीय स्वतंत्रता के प्रति उनकी बात बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए तो उसका उसी प्रकार के मौखिक फेरफार से सामना हुआ।

८ सितम्बर १९३८ के मैंचेस्टर गार्जियन को एक पत्र में नेहरू को अपना रुख स्पष्ट करने में समय लगा। उसका अन्तिम पैराग्राफ़ विदेशों की घटनाओं के प्रति कांग्रेस की बात का सार उपस्थित करता है :

भारत में हम लोग फ़ासिस्टवाद या साम्राज्यवाद नहीं चाहते हैं, और हम सदा से अधिक इस बात के विश्वस्त हैं कि दोनों निकटरूप से सजातीय हैं और विश्वशांति और स्वाधीनता के लिए ख़तरा हैं। भारत ब्रिटेन की वैदेशिक नीति पर रोष प्रकट करता है और वह उसमें उसके साथ नहीं है, और हम अपनी पूरी शक्ति के साथ उस बन्धन को तोड़ने का प्रयत्न करेंगे जो हमें इस प्रतिक्रिया के स्तंभ से जोड़े हुए है। ब्रिटिश सरकार ने हमें पूर्ण स्वतंत्रता के लिए एक ऐसी अतिरिक्त दलील दी है जो उत्तर देने योग्य नहीं है। हमारी समस्त सहानुभूति चेकोस्लोवाकिया के साथ हैं। अगर युद्ध होता है तो उनकी फ़ासिस्ट समर्थक सरकार होते हुए भी ब्रिटिश लोग अनिवार्यतः उसमें घसीटे जाएँगे। लेकिन उस स्थित में भी फ़ासिस्ट और नाज़ी राज्यों के लिए अपनी स्पष्ट सहानुभतियों के साथ यह सरकार किस प्रकार प्रजातंत्र और स्वतंत्रता के हेतु अग्रसर होगी? जब तक यह सरकार टिकी रहती है, फ़ासिस्टवाद सदा ही ड्योढ़ी पर रहेगा।

भारत के लोग युद्ध के संबंध में किसी विदेशी निर्णय को मानने का इरादा नहीं रखते हैं। वे स्वयं ही निर्णय कर सकते हैं और निश्चय ही वे ब्रिटिश सरकार के नादिरी हुक्म

को स्वीकार नहीं करेंगे। उस सरकार पर वे क़तई अविश्वास करते हैं। भारत इच्छा-पूर्वक अपनी पूरी शक्ति प्रजातंत्र और स्वाधीनता की ओर लगा देगा, किंतु हमने यह शब्द अक्सर बीस वर्ष और उससे अधिक सुने हैं। केवल स्वाधीन और प्रजातांत्रिक देश अन्यत्र स्वाधीनता और प्रजातंत्र की सहायता कर सकते हैं। यदि ब्रिटेन प्रजातंत्र के पक्ष में है तो उसका पहला काम भारत से साम्राज्य को हटाना है। भारत की नज़र में वही घटनाओं का क्रम है, और उसी क्रम से भारत के लोग जुटे रहेंगे।

म्यूनिख में चेकोस्लोवाकिया के प्रति विश्वासघात के दो महीने बाद नेहरू इस बात के प्रति सचेत रहकर भारत लौटे कि युद्ध कुछ समय की ही बात है। २८वीं सितंबर को हाउज़ आफ़ कामंस के दर्शकों की दीर्घा में से उन्होंने नेवाइल चेम्बरलेन को नाटकीयता के साथ यह घोषणा करते सुना था कि उन्हें हिटलर से तत्काल उससे और मुसोलिनी और दलादिए से म्यूनिख में मिलने का निमंत्रण मिला है। भावुक, संकीर्ण, दुराग्रही और हिटलर के साथ पहली भेंट से पराभूत चेम्बरलेन का नेहरू पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। एक सप्ताह पहले जवाहरलाल ने लीग आफ़ नेशंस को चेकोस्लोवाकिया पर वाद-विवाद करते सुना था, और इस प्रक्रिया में उसका अपना और उस देश का अंत्येष्टि गान सुना था।

नेहरू ने अनुभव किया कि ब्रिटेन और जर्मनी के बीच, एक सड़ते हुए किन्तु तब भी हठीले साम्राज्यवाद और हेकड़ी वाले नाज़ीवाद के बीच युद्ध होने पर भारत को अपने रुख को स्पष्ट कर देना होगा। गांधीजी यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बारीकियाँ कम ही समझते हैं उन्होंने पहले ही इस बात पर ज़ोर देकर कि अन्तर्राष्ट्रीय अन्तराधीनता न कि राष्ट्रीय स्वाधीनता उनका लक्ष्य है, कांग्रेस की विचारधारा के लिए एक आधार दे दिया है। स्वतंत्रता मूलतः एक लक्ष्य के लिए साधन है। महात्माजी ने बल दिया था मेरी भारत की सेवा में मानवता की सेवा सन्निहित है। अकेली स्वाधीनता संसार के राज्यों का लक्ष्य नहीं है। यह स्वेच्छापूर्वक अन्तरावलंबन है। संसार का बुद्धिमान व्यक्ति आज ऐसे निरपेक्ष स्वतंत्र राज्य की इच्छा नहीं करता, जो एक दूसरे के साथ युद्ध करते रहें, किन्तु अन्तरावलंबित मित्र राज्यों का संघ चाहता है। इस कार्य की संसिद्धि दूर हो सकती है। मैं अपने देश के लिए बहुत बड़ी माँग नहीं रखना चाहता लेकिन मुझे विश्वजनीन स्वतंत्रता के लिए अपनी तत्परता प्रगट करने में बहुत बड़ा या असंभव कुछ नहीं दिखाई देता। स्वतंत्रता के लिए बिना ज़ोर दिए मैं नितान्त स्वतंत्रता की सक्षमता की इच्छा करता हूँ।

नेहरू इसी आधार पर कांग्रेस की विचारधारा को ढालने में लग गए और कुल मिलाकर कांग्रेस नीति ने उस दिशा का अनुसरण किया जो उन्होंने **मैन्चेस्टर गार्जियन** के अपने पत्र में इंगित की थी। एशिया में नेहरू की ही प्रेरणा से भारत की सहानुभुति जापान के क्रूर आक्रमण के विरुद्ध अपने संघर्ष में चीन के साथ थीं। किन्तु कांग्रेस के सभी नेता चीन के लक्ष्य के कारण सहानुभूतिपरक नहीं थे।

इनमें से सबसे अधिक प्रमुख सुभाष बोस थे, जो फरवरी १९३८* में गुजरात में हरिपुरा कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष निर्वाचित हो चुके थे और इस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे।

१९३८ में जब कांग्रेस ने कुछ डाक्टरों का एक चिकित्सादल सामान के साथ चीन भेजा तो बोस ने इस आधार पर विरोध किया कि भारत को जापान को विरोधी बनाने का कोई काम नहीं करना चाहिए। किन्तु जनता के समर्थन के साथ जवाहरलाल की इच्छा प्रबल रही। बोस नेहरू के नाज़ियों और फ़ासिस्टों के विरुद्ध भाषणों और कार्यों के प्रति उसी प्रकार उदासीन थे। वे नाज़ियों और फ़ासिस्टों के प्रबल क्रूर तरीक़ों की सराहना करते थे। फरवरी १९३८ में हरिपुरा में अपने अध्यक्षीय भाषण में बोस ने कहा कि भारत को किसी देश या किन्हीं लोगों को अपना विरोधी नहीं बनाना चाहिए। उन्होंने कहा, "इससे कोई मतलब नहीं कि उनके अपने राजनैतिक विचार क्या हैं, हमें प्रत्येक देश में पुरुष और स्त्रियाँ मिलेंगे जो भारत की स्वाधीनता के प्रति सहानुभूति करते हैं। इस बात में मैं सोवियत राजनयिकता से एक पाठ लेना चाहता हूँ।"

नेहरू इससे भिन्न सोचते थे। कांग्रेस और जनता सभी उनके नेतृत्व का अनुगमन करते। शीघ्र ही बोस कांग्रेस-उच्च-कमान के साथ खुले रूप में संघर्ष पर उतर आए। उसकी इच्छाओं के विरुद्ध उन्होंने त्रिपुरी में अगले वार्षिक अधिवेशन के सभापतित्व के लिए आधिकारिक प्रत्याशी को चुनौती दी और दूसरे निरन्तर वर्ष के लिए अध्यक्ष रूप में विजयी हुए। किन्तु बोस की विजय अल्पकालीन थी और यद्यपि उन्होंने मार्च १९३९ में त्रिपुरी अधिवेशन की अध्यक्षता की, उनके विद्रोही कार्यों ने कांग्रेस अन्तरंग को उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने पर विवश कर दिया। अगस्त १९३९ में वर्किंग कमेटी ने बोस को किसी निर्वाचन-सापेक्ष पद के लिए तीन वर्ष तक अयोग्य घोषित करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया।

योरप पर युद्ध के बादल जमा हो रहे थे। १५ मार्च १९३९ को जर्मन सेनाएँ प्राग में घुस गई और चेकोस्लोवाकिया का अस्तित्व समाप्त हो गया। ७ अप्रैल को गुड फ्राईडे के दिन मुसोलिनी ने अल्बानिया पर आक्रमण कर दिया। इसके बाद हिटलर ने अपना ध्यान डान्ज़िग और पोलैंड की ओर मोड़ा और युद्ध के किनारे पर योरप काँप उठा। अगस्त में जर्मनी ने रूस से संधि की। बर्लिन ने मास्को के साथ अनाक्रमण संधि की। पोलैंड के आक्रमण के लिए रंगमंच तैयार था। १ सितंबर १९३९ के प्रातःकाल हिटलर ने चोट की।

योरप में जब युद्ध आरंभ हुआ तो नेहरू चुंकिंग में थे। कुछ समय उत्तर पश्चिम में आठवीं पैदल सेना के साथ बिताने और जो उस समय उस क्षेत्र में काम कर रहा था उस कांग्रेस के चिकित्सा दल से मिलने की इच्छा कर वे कलकत्ता और कुनमिंग होते

* १९३७ में कांग्रेस का कोई वार्षिक अधिवेशन नहीं हुआ था।

हुए मध्य-अगस्त में चीन की युद्धकाल की राजधानी को गए थे। चीन में केवल तेरह दिन विताकर, उसमें से अधिक से अधिक चुंकिंग में विताकर, लड़ाई छिड़ जाने से विवश उन्होंने अपनी यात्रा बीच में ही समाप्त कर दी। वे बहुत हलचल के दिन थे जिनमें पाँच हवाई हमले हुए जिन्हें नेहरू ने अँधेरी खाई में से देखा। चीनियों के कठोर, अचल शान्त भाव ने, उसी प्रकार उनकी असीम श्रमशीलता ने नेहरू को प्रभावित किया। उन्होंने उन्हें "असाधारणरूप से सयाने लोग" समझा। वे कारखानों, ग्रीष्म विद्यालयों, सैनिक अकादमियों, तरुणकैंपों और काम चलाऊ विश्वविद्यालयों को देखने गए। उन्हें विशेषरूप से चीन के गृहउद्योगों और ग्राम सहकारी आंदोलन के विकास में रुचि थी।

उनके आतिथेय जेनरलसिमो और श्रीमती च्यांग काइशेक थे। उन दोनों ने ही उनका बड़ी सदाशयता से स्वागत किया और उन्होंने उनसे और अन्य चीनी नेताओं और प्रमुख व्यक्तियों से बहुत बार बातचीत की। नेहरू श्रीमती च्यांग काइशेक की ज़िन्दादिली से मोहित थे और चीनी गाउन पहनकर उन्होंने उनके और जेनरलसिमों के साथ फोटो खिचवाई। एक व्यक्ति जिससे मिलने को वे आकुल थे वह चुंकिंग में न था। उस समय श्रीमती सुन यात-सेन हांगकांग में थीं।

लौटकर नेहरू ने भारत को युद्ध में प्रतिबद्ध पाया। जिस दिन हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण किया था, उसी दिन वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने बिना किसी भारतीय नेता या व्यवस्थापिका से सलाह लिए घोषणा कर दी थी कि भारत युद्धरत है। नाज़ीवाद से लड़ते हुए ब्रिटिश अपना खुद का साम्राज्यवाद छोड़ने को तैयार नहीं था। ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की थी कि वह प्रजातंत्र और स्वाधीनता के लिए लड़ रही है।

"किसकी स्वाधीनता ?" नेहरू ने पूछा। प्रश्न भारत भर में गूँजता रहा।

१८

अरण्य में

अगस्त के प्रारंभ में अपने चुंकिंग जाने के पूर्व नेहरू ने वर्किंग कमेटी की एक सभा में भाग लिया जिसमें युद्ध के प्रति कांग्रेस का रुख स्पष्ट किया गया था। समिति ने जो प्रस्ताव स्वीकृत किया था वह अधिकतर उनका काम था। उसमें कहा गया था :

इस विश्व में संकट के वर्किंग कमेटी की सहानुभूति उन लोगों के साथ है जो प्रजातंत्र और स्वाधीनता का पोषण करते हैं, और कांग्रेस ने बार बार योरप, अफ्रीका और एशिया-पूर्व के आक्रमण की, और उसी प्रकार चेकोस्लोवाकिया और स्पेन में ब्रिटेन द्वारा प्रजातंत्र के प्रति विश्वासघात की निन्दा की है।

ब्रिटिश सरकार की पिछली नीति तथा हाल की घटनाओं ने यह अच्छी तरह प्रदर्शित कर दिया है कि यह सरकार प्रजातंत्र और स्वाधीनता की हिमायत नहीं करती और किसी भी समय इन आदर्शों के प्रति विश्वासघात कर सकती है। भारत ऐसी सरकार का साथ नहीं दे सकता या अपने साधनों को प्रजातांत्रिक स्वाधीनता के लिए दे सकता है जो उसको स्वीकार नहीं की जाती और जिसके साथ विश्वासघात किया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में स्वाधीन भारत ही उनके विरुद्ध युद्ध में भाग ले सकता है जो स्वाधीनता और प्रजातंत्र के लिए खतरा बने हैं। एक साम्राज्यवाद में बँधे भारत के लिए यह असंगत है कि वह दूसरे ढंग के साम्राज्यवाद और सैनिकवाद से युद्ध करे।

नेहरू १४वीं सितंबर की वर्किंग कमेटी की सभा में भाग लेने के लिए समय रहते भारत लौट आए, और यहाँ भी उनका ही हाथ था जिसने युद्ध पर प्रमुख प्रस्ताव का मसविदा तैयार किया। विशिष्टतापूर्वक उन्होंने इसे केवल सशस्त्र सेनाओं के रूप में नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संकट के रूप में देखा जो मानवता पर छा गया और उन्होंने समिति को प्रस्ताव में इसे सम्मिलित करने के लिए प्रेरित किया। इसे अन्तिम रूप लेने में चार दिन लगे।

गांधीजी ने अकेले ही यह तर्क देते हुए आपत्ति की कि ब्रिटिश को जो भी समर्थन देना है वह बिना शर्त देना चाहिए और वह अहिंसात्मक होना चाहिए। नेहरू का यह विचार नहीं था। उनके दिमाग़ में आक्रमण के विरुद्ध बचाव के सशस्त्र संघर्ष में अहिंसा के सिद्धांत की राह में आने का प्रश्न ही नहीं था। नाज़ीवाद के विरुद्ध युद्ध में भारत को ब्रिटेन का समर्थन करना चाहिए किन्तु वह ऐसा स्वाधीन राष्ट्र के

रूप में ही कर सकता था। स्वतंत्र भारत के भावी दृश्य के जिस प्रस्ताव का उन्होंने मसविदा तैयार किया वह देखना रुचिकर है। उसमें कहा गया है :

यदि यह युद्ध यथापूर्वस्थिति, साम्राज्यवादी अधिकृत क्षेत्रों, उपनिवेशों, निहित स्वार्थों और विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए है तो भारत को इससे कोई मतलव नहीं है किन्तु यदि प्रश्न प्रजातंत्र और प्रजातंत्र पर आधारित विश्व व्यवस्था का है तो भारत की उसमें वहुत अधिक दिलचस्पी है। और यदि ग्रेट ब्रिटेन प्रजातंत्र के रक्षण और प्रसारण के लिए संघर्ष करता है तो उसे अपने अधिकृत क्षेत्रों से अनिवार्यतः साम्राज्यवाद समाप्त करना होगा, भारत में पूर्ण प्रजातंत्र स्थापित करे, और भारतीय जनता को विना किसी वाहरी हस्तक्षेप के एक संविधान सभा द्वारा अपना संविधान वनाकर आत्मनिर्णय का अधिकार होना ही चाहिए और वह अपनी नीति निर्धारित करे—— जो संकट योरप पर छाया है वह मात्र योरप का नहीं है किन्तु सारे विश्व की मानवता का है और दूसरे युद्ध संकटों की तरह वर्तमान संसार की मूल संरचना को अक्षत रखकर नहीं टलेगा। अच्छी हो या वुरी हो संसार की पुनर्रचना संभाव्य है। भारत समस्या का मूलतत्व है, क्योंकि भारत आधुनिक साम्राज्यवाद का मुख्य उदाहरण रहा है और संसार की कोई पुनर्रचना इस महत्वपूर्ण समस्या की उपेक्षा कर सफल नहीं हो सकती। अपने विस्तृत साधनों से विश्व के पुनर्गठन की किसी योजना में भारत को महत्वपूर्ण भाग लेना होगा। किन्तु भारत यह स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में ही कर सकता है, जिसकी शक्ति इस महान् लक्ष्य की प्राप्ति में मुक्त हो गई हैं। आज स्वतंत्रता अविभाज्य है और संसार के किसी भाग में साम्राज्यवाद को वनाए रखने की प्रत्येक चेष्टा से अनिवार्यतः नया संकट उत्पन्न हो जायगा।

इसी सभा में वर्किंग कमेटी ने वदलती हुई युद्धस्थिति से उत्पन्न सभी समस्याओं को समझने वूझने के लिए नेहरू, आज़ाद और पटेल की एक उपसमिति वनाई। चूंकि गांधीजी के विचारों को वर्किंग कमेटी का समर्थन नहीं प्राप्त था इसलिए महात्माजी ने अनुभव किया कि कांग्रेस के रुख की स्पष्टतम व्याख्या करनेवाले नेहरू को उसकी व्याख्या करने और प्रचार करने की सवसे अधिक स्वतंत्रता देनी चाहिए। वास्तव में उपसमिति ने मार्च १९४० तक छः महीने काम किया, जव रामगढ़ अधिवेशन हुआ, उसकी पहली कार्यवाही प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों को "उपयुक्त समय से पहले विकसित अवस्था को लाने के लिए" जल्दी में न वोलने या काम करने की सलाह देना था। इस वीच अगर समझौते की गुंजायश हो तो कांग्रेस समझौते के लिए तैयार थी। लेकिन ब्रिटिश सरकार के कड़े रुख ने स्थिति परिवर्तन के लिए आधार संकीर्ण कर दिया। वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो और लंदन में ब्रिटिश अधिकारियों, दोनों ही की दृष्टि में वर्तमान समय भारत को स्वतंत्रता की माँग रखने के लिए उपयुक्त नहीं था। इस प्रकार दोनों पक्षों में अनवन अनिवार्य थी।

नेहरू ने उत्तर दिया, "हमने कोई माँग सौदेवाज़ी के भाव से नहीं रखी है।

उन्होंने इस बात को विस्तृतरूप से यह बताते हुए समझाया :

हमें उस विश्व-स्वाधीनता का विश्वास होना चाहिए और हमें भारत को उस विश्व-स्वाधीनता के चित्र में देखना ही होगा। तभी हमारे लिए और हमारे दिल-दिमाग़ के लिए युद्ध का कोई अर्थ होगा, क्योंकि तब हम किसी ऐसे उद्देश्य के लिए संघर्ष करेंगे जो न केवल हमारे लिए किन्तु विश्व की सारी जनता के लिए सामान्य होगा। चूँकि हम समझते हैं कि बहुसंख्यक ब्रिटिश लोगों के वही विश्व-आदर्श हैं जो भारत में हम बहुत से लोगों के हैं, इसलिए हम लोगों ने उन आदर्शों की उपलब्धि के लिए अपने सहयोग के लिए कहा है। किन्तु यदि यह आदर्श न रहें तो हम किस बात के लिए लड़ेंगे? केवल स्वतंत्र और सहमत भारत उन आदर्शों के लिए अपनी शक्ति लगा सकता है जिनकी स्पष्ट घोषणा हो और जिन पर कार्यवाही की जाय।

सितंबर के अन्तिम सप्ताह में लॉर्ड लिनलियगो ने गांधीजी और नेहरू सहित पचास से अधिक राजनीतिक नेताओं को "विस्तृत और स्पष्ट चर्चा" के लिए मिलने को बुलाया। अधिक से अधिक चर्चा विस्तृत और स्पष्ट रही लेकिन कांग्रेस और सरकार के बीच कोई झुका नहीं।

अपनी स्पष्टवादिता के साथ नेहरू ने वाइसराय के सामने अपने विचार दुहराए।

एक अवसर पर लिनलियगो ने आपत्ति की, "थोड़ा आहिस्ता मिस्टर नेहरू, मैं धीमा ऐंग्लो-सैक्सन दिमाग़ आपकी तीव्र बुद्धि के साथ नहीं चल सकता।"

इस बातचीत से कुछ लाभ नहीं हुआ और अक्टूबर के प्रारंभ में कांग्रेस ने अपने विचार दुहराए। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि ब्रिटिश अधिकारियों ने, रजवाड़ों और अल्पसंख्यकों, विशेषतः मुसलमानों को यह तर्क देते हुए कि सांप्रदायिक एकता के बिना राजनीतिक उन्नति असंभाव्य है, कांग्रेस के विरुद्ध भड़काने पर केंद्रित किया। ऐसा करने में उन्होंने जिन्ना के हाथ मज़बूत किए। आगामी वर्षों में उन्होंने अपने अवसरों का चतुरतापूर्वक लाभ उठाया।

तनाव की इस बढ़ती स्थिति में कांग्रेस को अपने आठ मंत्रिमंडलों को पद पर बनाए रहने में बहुत कठिनाई हुई। किंतु यहाँ पर वह एक रणनीति की भूल कर बैठी। सरकार को मंत्रिमंडल बर्खास्त करने पर विवश करने के बजाय उसने अपने आप उन्हें वापस ले लिया जिसके परिणाम स्वरूप वह जिन्ना और अंग्रेजों के लिए मैदान खाली छोड़कर खुद अधिकारच्युत हो गए।

नवंबर १९३९ तक कांग्रेस मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र के साथ आठ प्रांतों में गवर्नर का शासन चलने लगा। शेष तीन में मिलेजुले मुसलमान (मुस्लिम लीग नहीं) शासन कर रहे थे। जिन्ना अपने अवसर का लाभ उठाने में तेज़ थे। उन्होंने मुसलमानों और उन समस्त लोगों से जो कांग्रेस के विरोधी थे, कांग्रेस मंत्रिमंडलों के चले जाने को मुक्ति दिवस के रूप में मनाने को कहा और २२वीं दिसंबर समारोह के लिए

नियत की। मुसलमान जनता ने, जो अब अधिकतर उनकी अनुयायी थी, बड़े उत्साह से समर्थन दिया।

जिन्ना ने कहा, "प्रजातंत्र के मतलब यही हैं कि हिन्दुस्तान भर में हिन्दू राज हो। और उन्होंने लॉर्ड मॉर्ले की वात को दुहराया, "कनाडा का फ़र का कोट हिन्दुस्तान की वहुत ज़्यादा गर्म आवहवा में काम नहीं आएगा।"

जनवरी १९४० में गांधीजी ने जिन्ना का सहयोग प्राप्त करने का एक और प्रयत्न किया।

जिन्ना का उत्तर अवज्ञापूर्ण था।

उन्होंने कहा, "आप भारतीय राष्ट्र मानकर चलते हैं, जिसका अस्तित्व ही नहीं है।"

वे पाकिस्तान की घोषणा के लिए अपने को तैयार कर रहे थे जो मुस्लिमलीग ने मार्च १९४० में अपने लाहौर अधिवेशन में शीघ्र ही की। इस अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए जिन्ना ने अपनी नई खोज के सिद्धान्तों को दुहराया कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग क़ौम हैं और इसलिए दोनों को अपने लिए भारत को विभाजित कर देना चाहिए। लाहौर में लीग ने पाकिस्तान का झंडा ऊँचा किया।

जिन्ना ने घोषणा की, "पृथ्वी पर कोई शक्ति पाकिस्तान को नहीं रोक सकती।"

लाहौर में मुस्लिमलीग के अधिवेशन के प्रायः एक ही समय कांग्रेस का रामगढ़ में अधिवेशन हुआ। मौलाना आज़ाद ने, जिन्होंने इस अधिवेशन की अध्यक्षता की, युद्धकार्यों के प्रति सहयोग या असहयोग के दृढ़ निश्चय पर ज़ोर दिया।

आज़ाद ने कहा, "आज हम जिस हालत में हैं हमें यह तय करना है कि इस ओर आगे वढ़ें या पीछे हटें। एक वार जो तय कर लिया जाय उससे पीछे नहीं हटना है। रुकने को कहने के मतलव पीछे हटना है और हम पीछे हटने से इनकार करते हैं। इसलिए हम आगे ही वढ़ सकते हैं।"

लेकिन किस तरह? नेहरू गांधीजी की इस भावना के साथ सहमत थे कि युद्ध-काल में कांग्रेस को किसी वड़े स्तर पर ब्रिटिश अधिकारियों को परेशानी में डालने से वचना चाहिए। लेकिन वे गांधीजी के इस विचार से सहमत नहीं थे कि यदि समर्थन देना है तो वह विना शर्त और अहिंसक होना चाहिए। इस अवसर पर भी गांधीजी, यह तर्क देते हुए कि सीमित, संगठित स्तर पर अहिंसापूर्ण कार्यवाही संसार की सम्मति को भारत के पक्ष में करेगी, व्यक्तिगत सत्याग्रह की वात सोच रहे थे।

सविनय अवज्ञा का यथार्थतः रामगढ़ में निश्चय हो गया था लेकिन कांग्रेस ने उसे कार्यरूप देने में और सरकार की ओर से किसी इंगित की प्रतीक्षा में, कोई निश्च-यात्मक क़दम लेने से रोक कर कांग्रेस का द्वार खुला रखा था। जैसा कि गांधीजी ने कहा: "लंदन से प्रश्न उठा है कि कांग्रेस ने वातचीत और समझौते के लिए द्वार वन्द कर दिया

है या नहीं। प्रस्ताव से मैं यह समझता हूँ कि कांग्रेस ने द्वार बन्द नहीं किया है। उसे लार्ड ज़ेटलैंड ने बन्द कर दिया है।

उसके तुरन्त बाद मई १९४० में स्कैंडिनेविया के देशों, हालैंड, बेल्जियम और फ्रांस के विरुद्ध हिटलर के बड़े पैमाने के ब्लिट्ज़क्रीग हवाई हमले हुए। डंकर्क की वीर गाथा ने अंग्रेजों को समाप्ति के तट पर भयंकर रूप से ला खड़ा किया और इस परिस्थिति में कांग्रेस को कापुरुषों के समान स्थिति से लाभ उठाना असंभव कर दिया। वह केवल अपना हाथ रोक ही सकती थी।

कुछ लोगों ने इससे भिन्न समझा। उनमें सुभाष बोस थे जिन्होंने कांग्रेस से अलग होकर अग्रगामी दल (फार्वर्ड ब्लाक पार्टी) संगठित कर लिया था। उनका कहना था कि इंग्लैंड का संकट भारत के लिए सुअवसर है। दृढ़ निश्चय और निर्मम देशभक्त शीघ्र ही भारत छोड़कर बर्लिन और बाद में सिंगापुर गए जहाँ उन्होंने जापानी सैन्यवादियों और नाज़ियों से मैत्री स्थापित कर ली। उन्हें अपने मित्रों के बारे में कोई अनुताप नहीं था बशर्ते उनकी सहायता उनके देश को मुक्त करने में सहायक होती। इस बात में उन्होंने विंस्टन चर्चिल का अनुकरण किया जिन्होंने इसी समय में यह घोषणा की थी कि वे इंग्लैंड की रक्षा के लिए शैतान तक से हाथ मिलाने के लिए तैयार हैं।

जुलाई के आरंभ में कांग्रेस वर्किंग कमेटी दिल्ली में मिली और उदार श्री राजगोपालाचारी के शान्त प्रभाव में उसने अपनी माँगें हल्की कर दीं। उसने भारतीय स्वतंत्रता की स्वीकृति की माँग की और इसके प्रमाण स्वरूप ब्रिटिश अधिकारियों से राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए कहा, जिसमें केंद्र में विभिन्न पार्टियाँ सम्मिलित हों। यह समझौते और अनुबंध से हो सकता था और उसमें लंदन में ब्रिटिश पार्लमेंट को परेशानी में पड़कर तत्काल संवैधानिक परिवर्तन न करने पड़ते। बाद में अवश्य ही वैधानिक परिवर्तन करने पड़ेंगे किन्तु प्रमाण स्वरूप यह रुख़ मिलने पर कांग्रेस ने पूर्णरूप से युद्ध प्रयत्नों में सहयोग देने की इच्छा प्रगट की।

अगर कहीं दिल्ली में अधिक कल्पना प्रवण वाइसराय होता और लंदन में अधिक संवेदनशील सरकार होती तो इतिहास ने दूसरी ही दिशा ली होती। किन्तु लॉर्ड लिनलियगो यद्यपि अच्छी नीयत के थे, किन्तु वे साहसपूर्ण दूरदर्शिता में अक्षम थे। नेहरू ने वाइसराय का यथातथ्य किन्तु क्रूरतापूर्वक भी वर्णन किया है :

शरीर से भारी और दिमाग़ से मन्द, चट्टान की तरह ठोस और प्रायः चट्टान ही की तरह जागरूकता के अभाव सहित, पुराने ढंग के अंग्रेज अभिजात-शासक के गुण-दोष लिए हुए, उन्होंने निष्कपटता और प्रयोजनीय सत्यनिष्ठा के साथ उलझन से निकलने का प्रयत्न किया। किन्तु उनकी परिसीमाएँ बहुत अधिक थीं; उनका दिमाग़ पुराने ढर्रे पर काम करता था और किसी भी नए ढंग पर पीछे हट जाता था; उनकी दृष्टि शासक वर्ग की उन परंपराओं से परिसीमित थी जिनसे वे आए थे। वे सिविल सर्विस के और अपने इर्द गिर्द रहनेवालों की आँखों और कानों से देखते और

सुनते थे, जो लोग मौलिक राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों की बातें करते उनक
वे अविश्वास करते थे; वे उन लोगों को नापसन्द करते थे जो ब्रिटिश साम्राज्य और
उसके प्रमुख प्रतिनिधि के उच्च आदर्शों की उचित सराहना नहीं करते।

लंदन में मिस्टर एल० एस० ऐमरी लॉर्ड ज़ेटलैंड की जगह भारत के सेक्रेटरी
आफ़ स्टेट के पद पर आए और अपने पूर्ववर्ती से मानसिक रूप से अधिक नमनशील
और शक्तिशाली थे, किन्तु वे चर्चिल के समझौता न चाहनेवाले रुख़ को नरम करने मे
असमर्थ रहे। नेहरू को याद आया कि चर्चिल ने १९३० जनवरी के ज़माने में कहा
था, "देर सवेर तुम्हें गांधी और भारतीय कांग्रेस को और उन सब बातों को कुलचना
होगा जो उनका लक्ष्य है।" ब्रिटिश प्रधान मंत्री भारतीय स्वाधीनता के दृढ़ विरोधी थे।
उन्होंने चेतावनी दी थी, "भारत में अपने साम्राज्य को छोड़कर इंग्लैंड सदा के लिए
महान् शक्ति के रूप में न रहेगा।"

८ अगस्त १९४० को लॉर्ड लिनलिथगो ने कांग्रेस के प्रस्ताव पर ब्रिटिश सरकार की
प्रतिक्रिया बताई। वाइसराय कुछ प्रतिनिधि भारतीयों को अपनी अंतरंग कौंसिल में
सम्मिलित करने के लिए आमंत्रित करेंगे और युद्ध सलाहकार समिति गठित करेंगे।
किसी संगठन या दल को जिसकी सत्ता प्रत्यक्षतः अविसस्या में लेकिन अल्पसंख्यक
को मान्य न हो सरकार हस्तांतरित करने का प्रश्न नहीं था। किसी भी स्थिति में
संवैधानिक प्रश्नों के निर्णय का अवसर नहीं था जिसके लिए युद्ध-समाप्ति की प्रतीक्षा
आवश्यक है।

अँग्रेज़ सरकार न केवल शासन छोड़ने के लिए अनिच्छुक थी, किन्तु यह लगा कि
वह मानों राष्ट्रीयतावादियों के विरुद्ध अल्पसंख्यकों और रजवाड़ों के भार का उपयोग
कर विभाजन को प्रोत्साहित करने के लिए दृढ़ थी। कांग्रेस ने वाइसराय की घोषणा
को इसी भाव से समझा। यहाँ तक कि नेहरू को भी, जो दिल्ली प्रस्ताव पर सुखी नहीं
थे, ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रिया क्रूर आघात के समान लगी। उन्होंने बहुत दिनों
से यह अनुभव किया था कि स्वतंत्रता संघर्ष, कठोर श्रम और कष्ट के बाद आएगी,
और उन्होंने दिल्ली की सभा के तुरत बाद अपने मन की बात कही थी: "युद्ध और
संघर्ष की इस दुनिया में हम स्वाधीनता का मूल्य चुकाने से बच नहीं सकते। इससे
अलग सोचना अपने को धोखे में रखना है। अन्तिम रूप से भविष्य भारत के लोगों
के बल और कांग्रेस की संगठित शक्ति पर निर्भर करेगा। इसलिए हमारी सारी शक्ति
उस संगठित बल के बढ़ाने में लगना चाहिए।"

अब ब्रिटिश सरकार ने अपना रुख़ दिखा दिया था। वे अब समझौते के मार्ग से
अलग हो रहे थे। संघर्ष अनिवार्य लग रहा था। नेहरू का मन कुछ पिछले महत्व-
पूर्ण महीनों की ओर गया। इन्होंने नाज़ीवाद और फ़ासिस्टवाद की अपनी ही निन्दा
की बातों के बारे में सोचा और सोचा कि किस प्रकार से भारत के लोग उस घृणा और
जातिवाद, रक्तपात और अस्त्रशस्त्र के सिद्धान्त से प्रवृत्ति से ही सहमे थे। जब हालैंड

और बेल्जियम को आतंक घेरे हुए था तो वे कितनी गहनता से हिल उठे थे ! उसके बाद डंकर्क की घटना घटी और कांग्रेस ने, इंग्लैंड के आसन्न संकट को समझते हुए, दृढ़तापूर्वक उनका विरोध किया था जो कहते थे कि इंग्लैंड का संकट भारत के लिए सुअवसर है। नेहरू ने सोचा कि यद्यपि इंग्लैंड के शासकवर्ग ने उनके देशवासियों के साथ बुरा व्यवहार किया है, भारतीय लोगों के हृदय में अंग्रेजों के लिए बुराई नहीं है, जो खतरे का, यहाँ तक कि मिट जाने का सामना वीरतापूर्वक कर रहे हैं। फ्रांस के पतन के पहले ब्रिटिश शासक फ्रांस और इंग्लैंड के संघ का प्रस्ताव करने के लिए बहुत कल्पनाशील थे। लेकिन भारत के विषय में उनका दिमाग़ बन्द था और उनका हृदय कठोर था। लेकिन ऐसा क्यों था ?

वाइसराय की घोषणा के शीघ्र बाद नेहरू ने लिखा :

मुझे खेद है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद और सभी साम्राज्यवादों के प्रति विरोध-भावना के रहते भी इंग्लैंड को स्नेह करता हूँ, भारत और इंग्लैंड के बीच रेशमी बन्धन की भावना को बनाए रखना चाहता हूँ। वे बन्धन केवल स्वाधीनता में ही रह सकते हैं। निःसन्देह मैं भारत की स्वाधीनता भारत के ही हित में चाहता था, लेकिन मैं उसे इंग्लैण्ड के हित में भी चाहता था। वह आशा चूर-चूर हो गई है, और लगता है कि भाग्य ने हमारे लिए कुछ और ही भविष्य रच दिया है; सौ बरस पुराना विरोध बना रहेगा और भावी संघर्षों से बढ़ेगा, और अलगाव जब आएगा, आएगा वह अवश्य, तो वह भी मित्रता में नहीं विरोध में ही होगा।

इसमें उनकी भूल थी।

दिल्ली प्रस्ताव के बाद गांधीजी ने कांग्रेस की राजनीति में भाग लेने से छुट्टी ले ली थी। दिल्ली में उन्होंने फिर इस बात का समर्थन किया था कि कांग्रेस का युद्धकार्यों में समर्थन सर्वथा अहिंसक और केवल नैतिक सहायता" के रूप में होना चाहिए। लेकिन न तो नेहरू और न उनके अन्य साथी उनके विचार को स्वीकार करने को प्रस्तुत थे और यदि भारत के लिए स्वतंत्रता स्वीकार होती है और मान ली जाती है तो वे हिंसात्मक युद्ध प्रयत्न के लिए पूरा सहयोग देने की सीमा तक चले गए थे।

अपने नेता से संबंध तोड़कर और अंग्रेजी सरकार से अपने श्रम के लिए झिड़की खाकर कांग्रेस और अधिक निष्क्रिय नहीं रह सकती। जैसा कि नेहरू ने व्यक्त किया, "दृढ़ कार्यवाही अनिवार्य हो गई, क्योंकि कभी कभी आचरण करने में चूक करना ही असफलता रहती है।" १८ अगस्त को वर्धा में वर्किंग कमेटी ने सभा कर यह उल्लिखित किया कि "कांग्रेस के प्रस्तावों को ठुकरा देना ब्रिटिश सरकार का भारत को बलपूर्वक अधीन बनाए रहने के निश्चय का प्रमाण है।" एक महीने बाद बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की अध्यक्षता करते हुए मौलाना आज़ाद ने घोषणा की कि वाइसराय का प्रस्ताव "नज़र डालने लायक़" नहीं है। कमेटी ने बाद में गांधीजी के मस्विदा बनाए प्रस्ताव को पारित किया जिसमें उसने अहिंसा में अपना विश्वास

प्रगट किया, और भारत के लोगों को युद्ध से अहिंसात्मक ढंग से अलग रहने को प्रवोव करने के अपने विचार को घोषित किया। यह ध्यान देना चाहिए कि बंबई प्रस्ताव ने जब कि भारत की स्वतंत्रता के आन्तरिक संघर्ष में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से अहिंसा के व्यवहार को स्वीकार किया, वह वाहरी आक्रमण से प्रतिरक्षा में या आन्तरिक अव्यवस्था में ही अहिंसा के विस्तार में उस स्थिति से आगे नहीं वढ़ी थी। किन्तु वह गांधीजी का विचार रहा और जैसा वाद की घटनाओं ने सिद्ध किया उन्होंने प्रस्ताव की उसी रूप में व्याख्या की।

कांग्रेस गांधीजी के पास लौट आई थी। वास्तव में बंबई प्रस्ताव जनता से किसी प्रकार के युद्ध प्रयत्नों में सहयोग देने से इनकार करने का आह्वान था। प्रस्ताव में कहा गया था, "स्वतः आरोपित प्रतिवन्ध आत्म विश्वास की सीमा तक नहीं लिया जा सकता है।" सितंबर के वाद गांधीजी वाइसराय से शिमला में मिले, और वाद में उन दोनों में पत्रों का आदान प्रदान हुआ। लॉर्ड लिनलिथगो ने इंग्लैंड में शान्तिवादियों का व्यवहार और उनके भाषण और कार्य स्वातंत्र्य पर परिसीमाएँ समझाई :

जब कि अन्तःकरणानुयायी आपत्ति करनेवाले को लड़ने के कर्तव्य से मुक्त कर दिया जाता है और उसे अपने मन को खुले तौर पर स्वीकार करने की अनुमति दी जाती है, उसे अपने विरोध को दूसरे लोगों को समझाने की चेष्टा की अनुमति नहीं दी जाती, चाहे वे सैनिक हों या युद्धसामग्री वनानेवाले हों कि वे राजनिष्ठा का परित्याग करें या अपना काम वन्द कर दें। स्पष्टतः भारत के हित में ही यह संभव नहीं हो सकता कि युद्ध-प्रयत्न के हस्तक्षेप में राज़ी हो जाया जाय जिसमें इतनी विस्तृत भाषण स्वतंत्रता भी है जिसके लिए आपने माँग की है।

सेवाग्राम से प्रकाशित एक वक्तव्य में गांधीजी ने टिप्पणी की :

वाइसराय वहुत ही नम्र थे किन्तु वे झुक नहीं रहे थे और वे अपने निर्णय के सही होने में विश्वास करते थे, और सदा की भाँति राष्ट्रीय भारत में आस्था नहीं रखते थे। अंग्रेज़ युद्धक्षेत्र में आश्चर्यजनक ढंग से असाधारण वीरता प्रदर्शित कर रहे हैं। लेकिन उनमें नैतिक क्षेत्र में खतरा उठाने की वीरता का अभाव है। मैं प्रायः आश्चर्य करता हूँ कि ब्रिटिश राजनीति में नैतिकता के क्षेत्र के लिए कोई स्थान है भी।

भाषा की विनम्रता संबंधों के टूटने को छिपा नहीं सकी। किसी ढंग की सविनय अवज्ञा अनिवार्य लगी, और चूँकि कांग्रेस ने घोषणा कर रखी थी कि सरकार को परेशान करने का उसका कोई इरादा नहीं है, इस प्रकार का प्रदर्शन व्यक्तिगत आधार पर किया जायगा, सामूहिक आधार पर नहीं। यही गांधीजी ने यथार्थ में सुझाया था जब १३वीं अक्टूबर को वर्किंग कमेटी वर्धा में हुई थी। व्यकिगत सत्याग्रह करने के लिए पहले स्वयंसेवक विनोवा भावे चुने गए थे जिन्होंने वाद में भूदान आंदोलन के समान प्रेरणा दी और उसका नेतृत्व किया।

१७ अक्टूबर १९४० को विनोवा ने व्यक्तिगत सत्याग्रह अभियान का समारंभ

उस समय मध्य प्रान्त में वर्धा से कुछ मील दूर एक गाँव में युद्ध विरोधी भाषण देकर किया। चार दिन बाद वे गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें तीन महीने का कारादंड मिला। विभिन्न स्पष्ट की हुई अवस्थाओं द्वारा आयोजन चलाया जाने को था और इस प्रक्रिया में लगभग ३०,००० पुरुषों और स्त्रियों को जेल हुई।

किन्तु आन्दोलन का प्रतीकात्मक मूल्य से अधिक कोई महत्व नहीं था और वह अनिवार्यतः निषेधात्मक था। उसका सीमित स्वरूप मूलतः सरकार को परेशान न करने की कांग्रेस की इच्छा पर प्रतिबद्ध था; किन्तु जैसा कि गांधीजी ने स्वीकार किया देश में सांप्रदायिक संबंधों की दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था से भी सावधानी उपयुक्त थी। जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग प्रत्यक्षतः युद्ध प्रयत्न में सहयोग न करते हुए, उसके विरुद्ध कुछ न करने में सचेत थी। जिन्ना ने सरकार के अव्यक्त आश्वासन का स्वागत किया कि कोई भी आन्तरिक या अन्तिम, भावी संविधान बिना लीग की स्वीकृति के नहीं स्वीकृत किया जायगा। इस बीच उनके लिए मैदान खुला और साफ होने से उन्होंने अपने दो राष्ट्र के सिद्धान्त का प्रचार किया।

१९४० के वर्ष के अन्त तक नेहरू सहित कांग्रेस वर्किंग कमेटी के ग्यारह सदस्य, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के १७६ सदस्य, २९ भूतपूर्व मंत्री और ४०० से अधिक केंद्रीय और प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं के सदस्य जेल में थे। आजाद नव वर्ष के पूर्व-दिवस पकड़े गए और उन्हें अठारह महीने का कारादंड हुआ।

यह निश्चय हुआ था कि नेहरू ७ वीं नवंबर से अपने प्रान्त के इलाहाबाद जिले में व्यक्तिगत सत्याग्रह करें। लेकिन जब वे गांधी जी से मिल कर वर्धा से लौट रहे थे तो अधिकारियों ने उन्हें छेवकी रेलवे स्टेशन पर गिरफ्तार कर घटना के होने में शीघ्रता कर दी। प्रकटतः उनका अपराध तीन भाषण थे जो उन्होंने उस महीने के आरंभ में गोरखपुर ज़िले में किसानों को दिए थे।

नेहरू का मुक़दमा गोरखपुर जेल में एक अंग्रेज़ मैजिस्ट्रेट के आगे हुआ जिसने उन्हें चार वर्ष की जेल की सजा दी। जवाहरलाल की वक्तृता अपने बचाव से अधिक शासकों के अभियोग होने के कारण प्रभावशाली और स्मरणीय वक्तव्य है। यह उसके अंतिम अंश हैं:

महोदय, मैं आपके सामने राज्य के विरुद्ध कुछ अपराधों के लिए एक व्यक्ति के रूप में विचारार्थ उपस्थित हूँ। आप उस राज्य के प्रतीक हैं। किन्तु मैं व्यक्ति से अधिक भी कुछ हूँ। वर्तमान क्षण में मैं भी एक प्रतीक हूँ, भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतीक, ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होने और भारत की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प। यह आप मेरा न्याय, और भर्त्सना नहीं कर रहे हैं, किन्तु भारत के लाखों करोड़ों लोगों की भर्त्सना कर रहे हैं और वह काम गर्वपूर्ण साम्राज्य के लिए भी कठिन है। यद्यपि मैं आपके सामने विचार के लिए खड़ा हूँ, शायद ऐसा न हो कि ब्रिटिश साम्राज्य ही विश्व के न्याया-लय के आगे विचारार्थ उपस्थित हो। आज संसार में क़ानूनी अदालतों से बड़ी शक्तियाँ

कार्यरत हैं; स्वाधीनता और आहार और सुरक्षा की मूल प्रेरणाएँ हैं जो लोगों के विशाल समुदाय को प्रेरित कर रही हैं, और उनसे इतिहास ढाला जा रहा है। इस इतिहास का भावी लेखक शायद यह कह सकता है कि सबसे बड़ी परीक्षा के अवसर पर ब्रिटेन की सरकार और ब्रिटेन की जनता विमुख रही क्योंकि वे बदलते हुए संसार के अनुसार अपने को न बना पाए। वह उन साम्राज्यों के भाग्य पर चिन्तन करे जिनका इस कमज़ोरी के कारण सदैव पतन हुआ और उसे विधि का विधान कहे। कुछ कारणों के अनिवार्यत: कुछ परिणाम होते हैं। हमें कारणों का पता है; परिणाम निर्ममता से उनके पीछे आ रहे हैं।

मेरे लिए यह छोटी बात है कि इस मुक़दमे में या बाद में मेरा क्या होता है। व्यक्तियों की कोई गिनती नहीं है, वे उसी तरह आते-जाते रहते हैं जैसे मैं अपना समय आने पर चला जाऊँगा। भारत में ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा सात बार मेरा विचार हुआ है और मुझे दंड मिला है, और मेरे जीवन के अनेक वर्ष जेल की दीवारों में दबे पड़े हैं। आठवीं बार और या नवीं बार और, और कुछ बरस ज़्यादा कोई फर्क नहीं डालते।

लेकिन हिन्दुस्तान का या उनके बेटे बेटियों का क्या होता है यह छोटी बात नहीं है यही समस्या मेरे सामने है, और महोदय, वही अंतिम रूप से आपके आगे है। अगर ब्रिटिश सरकार सोचती है कि वह उनका शोषण जारी रख सकती है और उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके साथ वैसे ही खिलवाड़ कर सकती है जैसा अतीत में इतने दिनों से करती आई है तो यह उसकी भारी भूल है। उसने उनके स्वभाव को ग़लत समझा है और इतिहास बेकार पढ़ा है।

मैं यह और कहना चाहता हूँ कि गोरखपुर में विचार होने से मुझे प्रसन्नता है। गोरखपुर का किसान वर्ग मेरे प्रांत में सबसे ग़रीब है, सबसे अधिक दिनों से कष्ट उठा रहा है। मुझे यह प्रसन्नता है कि गोरखपुर ज़िले में मेरे आने से और उसके लोगों की सेवा से यह मुक़दमा हुआ है।

जेल में नेहरू का आठवाँ क्रम एक साल से कुछ ही अधिक रहा क्योंकि ४ दिसंबर १९४१ को, पर्ल हार्बर के तीन दिन पहले, ब्रिटिश सरकार ने नेहरू और आज़ाद सहित सत्याग्रह के उन सारे क़ैदियों को छोड़ दिया जिनके अपराध "स्वरूप में प्रतीकात्मक या औपचारिक" थे। इस अवधि में जवाहरलाल ने, उन्हें जो समाचारपत्र और पुस्तकें उपलब्ध थीं, उनकी सहायता से युद्ध का और भारत में घटनाओं के क्रम का अनुसरण किया। व्यक्तिगत सत्याग्रह अभियान के अतिरिक्त देश में कम ही कुछ हुआ। लेकिन विदेश में युद्ध का ज़ोर बढ़ गया।

ब्रिटेन का संग्राम नेहरू की गिरफ्तारी के समय यथार्थत: समाप्त हो गया था और ब्रिटेन को ध्वंस करने की जर्मनी की योजनाएँ नष्ट हो गई थीं। २८ अक्टूबर १९४० को इटली के सैनिकों ने ग्रीस पर आक्रमण कर दिया और जिस तरह उन्होंने आक्रमणकारियों से युद्ध किया। नेहरू ने पराक्रमी ग्रीसवासियों के भाग्यों का ध्यानपूर्वक अनुसरण किया

टूचे अपने प्रथम लज्जाजनक साहसिक कार्य पर चला था। हंगेरी और रूमानिया धुरी के केंद्र में खिंच आए थे और यह स्पष्ट था कि हिटलर बाल्कन राज्यों में घुसने की सोच रहा था। ६ अप्रैल १९४१ को नाज़ी सेना ने यूगोस्लाविया होकर ग्रीस पर धावा करने के लिए यूगोस्लाविया पर आक्रमण कर दिया। मई के अन्त तक जर्मन सेनाएँ क्रीट में थीं।

इटली के पीछे हटने के साथ ब्रिटिश सेनाएँ उत्तरी अफ्रीका में आगे बढ़ीं। २२ वीं जनवरी को तोब्रुक का पतन हुआ, और छठी फरवरी को बेनगाज़ी पर अधिकार कर लिया गया। प्रायः साथ ही साथ इटालियन लोगों ने सोमालीलैंड में हथियार डाल दिए और मई में हाइले सेलासी अदीस अबाबा लौट आए : मुसोलिनी का उत्तरी अफ्रीका का साम्राज्य ध्वस्त हो गया।

लेकिन एक बार और मित्र राष्ट्रों के भाग्य में उतार आया। मार्च के अन्त में रोमेल ने लीबिया की कमान सँभाली, और जिस प्रकार ग्रीस में उसी प्रकार उत्तरी अफ्रीका में जर्मन लोगों ने उसे फिर से ले लिया जो इटालियन खो बैठे थे। २२ जून १९४१ को हिटलर ने रूस पर आक्रमण कर दिया। नेहरू स्मरण करते हैं, "हम उत्सुकतापूर्वक युद्ध की स्थिति में नाटकीय परिवर्तनों का अनुसरण करते रहे।"

अन्य महत्वपूर्ण, यद्यपि कम नाटकीय घटनाएँ भी हो रही थीं। नेहरू ने रूज़वेल्ट की चार स्वाधीनताएँ पढ़ीं और उसके कुछ ही बाद अगस्त १९४१ में चर्चिल और रूज़वेल्ट के बीच ऐटलांटिक चार्टर पर हस्ताक्षर के समाचार आए। उनके आठ सूत्रों में से एक इस बात पर बल देता था कि समस्त लोगों को अपने ढंग की सरकार चुनने का अधिकार होना चाहिए, और प्रभुसत्तात्मक और आत्मशासन उन लोगों को मिलना चाहिए जो उनसे बलपूर्वक वंचित किए गए हैं। नेहरू ने इन सूत्रों को विनोदी संशय के साथ पढ़ा। क्या यह भारत के लिए लागू है? उन्हें शीघ्र ही पता चल गया। चर्चिल से व्यंग्यपूर्ण, कठोर, और ज़ोर की नकार मिली।

कारावास से छूट कर नेहरू एक नए तनाव के वातावरण में डूब गए, क्योंकि ७वीं दिसंबर को पर्ल हार्बर की बमबाज़ी से न केवल अमरीका और जापान के युद्ध में प्रवेश का संकेत मिला किन्तु उससे झगड़ा भारतीय सीमाओं पर शीघ्र ही आ गया। दूर के दृश्य से युद्ध वास्तविकता हो गई। क्या अब ब्रिटेन अपने कड़े रुख से लचेगा और केंद्र में राष्ट्रीय सरकार बनाने के लिए सम्मानित सहयोग का द्वार खोलेगा? लेकिन इसका अभी तक कोई चिह्न नहीं था।

नेहरू के छूटने के शीघ्र बाद जब वर्किंग कमेटी २३वीं दिसंबर को बारदोली में मिली तो उसके सामने बदली हुई बाहरी स्थिति थी, किन्तु भीतरी स्थिति वही थी। इस प्रकार से वह "उन लोगों के प्रति जिन पर आक्रमण हुआ है और जो अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे हैं सहानुभूति" दुहराने और कांग्रेस नीति के सिद्धान्त स्वरूप १६ सितंबर १९४० के बंबई प्रस्ताव का अनुमोदन करने के अतिरिक्त कुछ न कर सकी।

वारदोली में वाद-विवाद के वीच गांधीजी को पता चला कि वंबई प्रस्ताव की कांग्रेस द्वारा सामान्य व्याख्या उनकी व्याख्या से कुछ भिन्न ही थी। उन्होंने सोचा था कि प्रस्ताव ने वाहरी युद्ध के विषय में भी कांग्रेस को अहिंसा के प्रति प्रतिवद्ध कर दिया है, जव कि उनके साथियों, प्रमुखतः नेहरू, आजाद और पटेल के विचार में अहिंसा केवल उनके आन्तरिक राजनीतिक संघर्ष के संवंध में स्वीकार की गई थी और कभी भी वाहरी लड़ाई की मंशा से नहीं थी। जैसा कि उन्होंने वताया, वास्तव में कांग्रेस ने उस सिद्धान्त को भारत की सशस्त्र सेना और पुलिस के लिए भी लागू नहीं किया। कांग्रेस वालों ने अक्सर सेना के अधिक शीघ्रता के साथ भारतीयकरण पर जोर दिया है और जवाहरलाल के पिता खुद स्कीन कमेटी के सदस्य थे जिसने सेना के भारतीयकरण और पुनर्गठन की जाँच की थी। लेकिन गांधीजी ने यह स्वीकार किया कि उन्होंने वंबई के प्रस्ताव का ग़लत अर्थ लगाया था, किन्तु वे इस वात के लिए व्यग्र थे कि उनके विचार माने जायँ। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा, "यह मेरा निश्चित मत है कि केवल अहिंसा भारत और विश्व को आत्मनाश से वचा सकती है।" किंतु यह विचार उनके साथियों को पूर्णरूप से मान्य नहीं था। वे असहमति से सहमत रहे। एक वार फिर गांधीजी ने कांग्रेस का नेतृत्व छोड़ दिया।

इस वीच जापानी दक्षिण पूर्वी एशिया में तेजी से आगे वढ़ रहे थे, और प्रशान्त मोर्चे पर हांगकांग का वड़े दिन के रोज़ पतन हुआ और दो महीने से कम ही, वाद में १५ वीं फरवरी को सिंगापुर ने आत्म समर्पण कर दिया। अव जापानियों को डच साम्राज्य में सुमात्रा, वोर्नियो, जावा और इंडोनेसिया में घुसने का रास्ता खुला था। जनवरी के अंत तक जापानी न्यूगिनी में उतर आए।

इसके पहले, दिसंवर मध्य में, कीड़ों की तरह जंगलों में चुपचाप चलते हुए रेंगते हुए, जव कि ब्रिटिश और चीनी फौजें उनके आगे पीछे हट रही थीं तव चारों ओर फैलते हुए जापानियों ने अपना ध्यान वर्मा की ओर किया। ८ मार्च १९४२ को रंगून चला गया और जैसे जैसे शरणार्थी और सैनिक हिन्द-वर्मा सीमा पर उमड़ पड़े तव भारत को अनुभव हुआ कि लड़ाई उनके द्वार पर आ गई है।

फरवरी में मार्शल च्यांग काई शेक अपनी पत्नी के साथ भारत आए और अंग्रेजों से यथार्थ राजनीतिक शक्ति भारत को देने की अपील करने के साथ भारत से भी स्वाधीनता के सर्वमान्य प्रयोजन में साथ आने को कहा "क्योंकि केवल स्वाधीन विश्व में ही चीनी और भारतीय अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं।"

नेहरू, जो प्रसिद्ध पति-पत्नी से चुंकिंग में मिल चुके थे, उनसे प्रायः दिल्ली में और फिर कलकत्ता में मिले, जहाँ कि जेनरलसिमो और उनकी पत्नी गांधी जी से मिलने आए। च्यांग ने गांधी जी को युद्ध में अहिंसा विस्तृत करने से रोकने का प्रयत्न किया।

उन्होंने कहा "मेरा विश्वास है कि आपकी सविनय अवज्ञा निष्क्रियता मात्र नहीं है।

लेकिन जापानी सक्रिय सविनय अवज्ञा की बात शायद न सुनें, और अहिंसा के प्रचार को ही असंभव कर दें।"

गांधीजी प्रतिनिवृत्त नहीं हुए।

कांग्रेस के विचारों की नेहरू की व्याख्या से च्यांग पति-पत्नी अधिक प्रभावित हुए। किन्तु यदि अंग्रेजों ने जेनरलसिमो और उनकी आलंकारिक पत्नी पर कांग्रेस के सामने अपने बुनियादी रुख को बदल कर युद्ध प्रयत्नों में सहयोग पर भरोसा किया था तो उन्हें निराश होना था।

बर्मा के पतन ने भारत से चीन के सीधे संभरण मार्ग को काट दिया था और अब भारत निकट और दूर पूर्व में प्रजातंत्रीय सेनाओं के लिए जनशक्ति और युद्ध सामग्री का भंडार रहते हुए भारतीय महासागर में मित्र शक्तियों की रक्षा का आधार बन गया था। ११ वीं मार्च को रंगून के आत्मसमर्पण के तीन दिन बाद चर्चिल ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार ने युद्ध मंत्रिमंडल द्वारा स्वीकृत एक योजना के साथ सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स को भारत भेजने का निश्चय किया है। यह सर स्टैफ़र्ड का लक्ष्य होगा कि वे पता लगाएँ कि यह योजना "समुचित और क्रियात्मक" परिणाम में स्वीकृति प्राप्त करेगी और "इस प्रकार समस्त भारतीय विचार और शक्ति को" जापान के विरुद्ध युद्ध में "केंद्रित करने को बढ़ावा देगी।"

क्रिप्स गांधीजी, नेहरू और जिन्ना सहित सब भारतीय नेताओं से सुपरिचित थे। वे १९३९में सर्वदलीय पार्लमेंट के शिष्टमंडल के दौरे की भविष्णुता का पता लगाने भारत आए थे। कांग्रेस के नेता –और जिन्ना भी–उनकी निष्ठा और योग्यता का सम्मान करते थे, और गांधीजी उनकी ओर गहन धार्मिक आस्था के व्यक्ति होने के नाते आकृष्ट हुए। उनका उग्र समाजवाद नेहरू के साथ की कड़ी था।

क्रिप्स, जो उस समय हाउस आफ कामंस के नेता थे, इसके पूर्व उसी वर्ष रूस से लौटे थे जहाँ वे एक नाटकीय किन्तु अपरंपरागत परिस्थिति में राजदूत बनाए गए थे। उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा ऊँची थी। अगर कांग्रेस को कोई भी ब्रिटिश सरकार की नेकनीयती का विश्वास दिला सकता था तो वह यही व्यक्ति था।

किंतु क्रिप्स शिष्टमंडली अनेक प्रतिबंधों के अंतर्गत काम कर रही थी। उनमें से कुछ गंभीर थे। वे भारत के नेताओं के साथ वाइसराय को साथ रख कर नहीं किंतु उनसे स्वतंत्र रह कर समझौता कर रहे थे और यह सुप्रसिद्ध था कि लार्ड लिनलिथगो ने अपने को अलग रखने का विरोध किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार ने इस मिशन को सौजन्यपूर्वक नहीं देखा। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन अपनी कमजोरी के कारण समझौता कर रहा था, शक्तिपूर्ण स्थिति के कारण नहीं, जिससे उसकी नीयत और सदाशयता दोनों ही भारतीय दृष्टि में संदेहजनक थीं। क्रिप्स एक नपी-तुली योजना भी लेकर आए थे जिसमें संशोधन की गुंजाइश नहीं थी। उसे जैसी की तैसी स्वीकार या अस्वीकार करना था। और वे बराबर छूट भागने की अनुपयुक्त जल्दी में थे। वे एक अनम्य योजना लेकर

आए थे जो कि उन्हें लगा कि भारतीय नेताओं को निश्चित समय के अन्दर मनवा सकेंगे। सर स्टैफ़र्ड अपने सहकारियों के साथ २२ वीं मार्च को दिल्ली पहुँचे और उनका मिशन ११ वीं अप्रैल को समाप्त हो गया था। बिलकुल यह लगा कि मानो वे जल्दी-जल्दी अपने मुक़दमे की बहस कर रहे हों।

योजना में एक स्पष्ट प्रमुख प्रतिबंध था कि वह कांग्रेस के अखंड भारत के स्वप्न और मुस्लिम लीग के विभक्त भारत की माँग के बीच समझौता उपस्थित करती थी। जहाँ तक भविष्य का प्रश्न था युद्धकालीन मंत्रिमंडल ने युद्ध समाप्ति पर डोमिनियन पद स्वीकार करने का वचन दिया था, और यह सुझाया था कि तब तक एक भारतीय संविधान सभा स्वयं नया संविधान बनाए। इस तरह से कांग्रेस के अखंड भारत की बात प्रकटतः संतुष्ट की गई थी। किंतु साथ ही साथ नए संविधान द्वारा उन्हें भारत से अलग अलग प्रान्तों को प्रथक् होने का अधिकार भी दिया गया था। यह मुस्लिम लीग से संधि का मार्ग था।

लेकिन आसन्न वर्तमान में क्या हो ? इस संबंध में कांग्रेस केंद्र में एक राष्ट्रीय सरकार या विभिन्न दलों के भारतीय प्रतिनिधियों की गठित अंतरंग समिति चाहती थी जिसमें वाइसराय वैधानिक सम्राट के पद पर प्रतिष्ठित रहें। "हम कांग्रेस को सत्ता पाने के लिए इतने स्वार्थपरक नहीं हैं," आज़ाद ने कहा, "लेकिन हम इस बात के लिए अनुरक्त हैं कि सारी भारतीय जनता सत्ता और स्वाधीनता प्राप्त करे।"

वाद विवाद से पता चला कि जो कुछ योजना का आसन्न भविष्य का उद्देश्य था उसे वाइसराय की अन्तरंग सभा में विभिन्न पार्टियों के कुछ अतिरिक्त प्रतिनिधियों की नियुक्ति से विस्तृत करना था। किन्तु न तो वह अतिरिक्त सदस्य और न कुल मिला कर अन्तरंग समिति कोई वास्तविक अधिकार प्रयोग करती। सारे अधिकार वाइसराय में निहित रहते जो लंदन में एक मात्र इंडिया आफिस के प्रति उत्तरदायी होते।

एक स्थल पर यह समझौता हुआ कि प्रतिरक्षा मंत्री भारतीय होना चाहिए, किन्तु फिर उसके कार्य कैंटीन, लेखन सामग्री और मुद्रण, जनसंपर्क, विदेशी शिष्ट-मंडल की सामाजिक व्यवस्थाएँ और सैनिकों की सुख सुविधा ऐसे सीधे सादे विषयों तक सीमित होंगे।

नेहरू ने रोष में कहा, "यह बिलकुल वाहियात है।"

कांग्रेस ने ब्रिटिश प्रधान सेनाध्यक्ष के सामान्य अधिकारों पर किसी प्रतिबन्ध के लिए दबाव नहीं डाला। यदि कुछ था भी तो वह उनको और प्रधान सेनाध्यक्ष को युद्ध मंत्री के रूप में अतिरिक्त अधिकार देने को प्रस्तुत थी। किंतु उसका आग्रह था कि यथार्थ राजनीतिक अधिकार पूर्णरूप से भारतीयों के हाथों में रहे।

आज़ाद ने अंतिम पत्र में क्रिप्स को लिखा, "भारत सरकार इस बात का अनुभव नहीं करती कि युद्ध लोकप्रिय आधार पर ही लड़ा जा सकता है।"

कांग्रेस ही एकमात्र नहीं थी जिसने योजना अस्वीकार कर दी। माडरेट (उदार

पंथियों) और मुस्लिम लीग सहित प्रत्येक अन्य पार्टी ने सलाह की, यद्यपि विभिन्न कारणों से योजना को अस्वीकार कर दिया।

यहाँ तक हुआ कि जब सर स्टैफर्ड क्रिप्स जाने की तैयारी में थे तो नेहरू ने जो बराबर हताश रूप से इस आशा में थे कि शिष्टमंडल सफल जाय, एक वक्तव्य प्रकाशित किया कि अगर जापानी लोग देश पर आक्रमण करें तो भारतीय लोग छापामार ढंग अख्तियार करें।

उन्होंने कहा, "हम आक्रमणकारी के आगे आत्मसमर्पण नहीं करेंगे। जो कुछ हो गया है उसके होते हुए हम लोग भारत में अंग्रेज़ों के युद्ध-प्रयत्नों में बाधा नहीं देना चाहते।"

किन्तु उनके लिए घटनाएँ बहुत उग्र सिद्ध हुईं। क्रिप्स मिशन ने जो बड़ी-बड़ी आशाएँ उत्पन्न कर दी थीं, उसकी असफलता से पैदा हुई निराशा उसकी प्रतिक्रिया थी। देश में लाखों लोगों पर रोष भरी निराशा की भावना छा गई, और जापानियों के अंग्रेजी फौज की नाक नीची करने के लिए उनकी विजय पर बहुत लोग प्रसन्न होते थे। जनवरी १९४१ में सुभाष बोस ने कलकत्ता में अपने घर में उन पर नज़रबन्दी रखने वाले पुलिस वालों को चकमा दिया था और उत्तर पश्चिम सीमा से रूस में और वहाँ से बर्लिन को चले गए थे। भारत में हज़ारों आदमी पहले बर्लिन से और फिर मलाया से चालू आज़ाद हिन्द रेडियो लगा कर उनको सुना करते थे। एक ओर क्रिप्स मिशन की असफलता और दूसरी ओर जापानी सेनाओं की असामान्य सफलताओं से उत्पन्न भावुक जटिलताओं का सामना करना नेहरू के लिए कठिन हो गया। फिर भी अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी अप्रैल के अन्त में जब इलाहाबाद में हुई तो उसने देश को इन घटना प्रवाहों के विरुद्ध सचेत किया :

किसी राष्ट्र का कुछ भी कहना क्यों न हो, समिति इस विचार को नहीं मानती कि भारत को किसी विदेशी राष्ट्र के हस्तक्षेप या आक्रमण द्वारा स्वतंत्रता मिल सकती है। अगर आक्रमण होता है तो उसका सामना करना ही होगा। इस प्रकार का प्रतिरोध अहिंसात्मक ढंग से ही हो सकता है क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने जनता द्वारा किसी और प्रकार से राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के संगठन में रुकावट डाली है। इसलिए समिति लोगों से अपेक्षा करती है कि वे आक्रामक सेनाओं के साथ पूर्ण असहयोग करें और उन्हें कोई सहायता न दें। हमें आक्रमणकारी के आगे घुटने नहीं टेकना है और न उसके आदेश पालन करना है। हमें उसकी कृपा की आशा नहीं करना है और न उसके लोभ में पड़ना है। अगर वह हमारे घरों और खेतों पर अधिकार करना चाहता है तो हम उन्हें देने से इनकार कर देंगे, चाहे उनका सामना करने में हमें मरना ही क्यों न पड़े। आक्रमणकारी के प्रति इस प्रकार के असहयोग और अहिंसात्मक प्रतिरोध की नीति की सफलता कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम पर और विशेष रूप से देश के सब भागों में आत्मनिर्भरता और आत्मरक्षा के कार्यक्रम पर बहुत अधिक निर्भर है।

इस प्रस्ताव का मसविदा नेहरू के हाथ की खूबी था, लेकिन उसमें गांधीजी के विचार थे। मीटिंग के कुछ दिनों पहले गांधीजी ने यह आशा व्यक्त की थी "कि आगामी अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी अहिंसात्मक पद्धति पर लौटेगी और अहिंसात्मक असहयोग के विषय में स्पष्टतः संभव आदेश देगी।" अभी तक नेहरू ने इस बात का प्रतिरोध किया था कि बाहरी आक्रमण के विरुद्ध प्रतिरक्षा के स्तर पर अहिंसा प्रक्षेपित हो। अब उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। लिनलिथगो के अगस्त प्रस्ताव में निहित झिड़की के बाद कांग्रेस ने जैसा कि पहले किया था, क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद एक बार फिर वह गांधीजी की ओर मुड़ी।

अब से लेकर अगस्त तक जब कि गांधीजी और नेहरू सहित सारी वर्किंग कमेटी को जेल हुई थी पहल और नेतृत्व गांधीजी के हाथ में रहना था। मई के आरंभ में हरिजन के पृष्ठों में लिखते हुए गांधीजी ने अंग्रेजों को भारत से चले जाने की प्रार्थना की, इसके द्वारा "भारत छोड़ो" अभियान की सूचना दी जो बाद में जारी हुआ।

भावना यद्यपि कम अहम्मन्य भाषा में थी किन्तु कुछ हद तक गांधीजी के आदेश की वाक्यावली लांग पार्लमेंट के प्रति क्रामवेल के दृप्त शब्द प्रतिध्वनित करती थी : "तुम जो कुछ नेक काम करते रहे उसके लिए यहाँ बहुत बैठ चुके। मैं कहता हूँ चले जाओ और हमारा पिंड छोड़ो। खुदा के लिए जाओ।" गांधीजी ने कहा, हमें भगवान् भरोसे छोड़ दो, और अराजकता होने दो, लेकिन तुम चले जाओ।

अपने लगभग दो सौ वर्ष के इतिहास में ब्रिटिश शासक कभी इतने विभाजित और जनता से कभी इतने अलग नहीं थे। ब्रिटिश जनसेवाओं (सर्विसेज़) के फौलादी चौखटों ने जिसकी प्रथम विश्व युद्ध के शीघ्र बाद लॉयड जार्ज ने प्रशंसा की थी, कर्ज़न के शासन में अपने सुनहले दिन देखे थे। उसमें अब ज़ंग लगना शुरू हो गई थी और कुछ जगहों में गलन भी। जैसे-जैसे संचार-व्यवस्था बढ़ी और राजनीतिक जाग्रति फैली, यहाँ तक कि सीधे सादे गाँव के आदमी ने भी सफ़ेद चमड़ी की शान के आगे झुकना बन्द कर दिया था, और गांधीजी के सत्याग्रह के संदेश ने, मानवीय गौरव और स्वतंत्रता की अपील से लाखों लोगों के मन को प्रज्वलित कर दिया था।

अब युद्ध के दबाव और राजनीतिक हलचल से प्रशासकीय सेवाएँ स्पष्ट टूट फूट के चिह्न दिखा रही थीं। सरकारी तंत्र समय की चेतावनी और परिवर्तनों के अनुसार अपने को सरलता से ढालने में बहुत ही जड़ था। मद्रास शहर में जापानी जहाजी बेड़े के आने की बेठिकाने की अफ़वाह ने—बाद में जो झूठी सिद्ध हुई—बहुत से उच्च पदाधिकारियों से सुरक्षा के लिए भागदौड़ करा दी और कुछ बन्दरगाह के सुविधा साधनों को आतंक में नष्ट करवा दिया। जैसी कि नेहरू ने टिप्पणी की थी, "यह लगता था कि भारत का नागरिक (सिविलियन) प्रशासन घबराहट से परेशान है।"

इसी प्रकार बंगाल में प्रशासकों द्वारा गाँव के घर उनके मालिकों से घबराहट में तुरत खाली करवा लिए गए थे। पूर्वी बंगाल में जहाँ आर्थिक जीवन बहुत अधिक नाव

के व्यापार और आने जाने पर निर्भर करता है, इस डर से कि यह नावें जापानियों के हाथ न पड़ जायँ, अधिकारियों द्वारा हज़ारों की संख्या में नष्ट करा देने से व्यापक संकट उत्पन्न कर दिया और यह बाद में उन कारणों में प्रमुख था जिसने बंगाल के अकाल को गंभीर कर दिया। गांधीजी ने कहा, "एक बंगाली का उसकी नाव से अलग होना उसके जीवन से विलग होने के ही बराबर है। इसलिए जो लोग उसकी नाव छीन लेते हैं उन्हें वह अपना शत्रु समझता है।"

इस अवधि में नेहरू बहुत दुखी थे। वे धुरी शक्तियों की विजय नहीं चाहते थे, क्योंकि वे जानते थे कि उससे निश्चित संकट है। जैसा कि उन्होंने अपने अन्तिम मुक़दमे में अभियुक्त रूप से कहा था "मेरा ख़याल है कि भारत में बहुत कम लोग ऐसे हैं, चाहे वे भारतीय हों या अंग्रेज़, जिन्होंने बरसों से फ़ासिस्टवाद या नाज़ीवाद के विरुद्ध निरन्तर अपनी आवाज़ इतनी बुलन्द की है जितनी मैंने की।" भारत पर जापानी आक्रमण के विचार ने उन्हें परेशान कर दिया किन्तु विचित्र ढंग से उसने उन्हें पुलकित भी किया। उन्हें कभी-कभी लगता कि कोई भी चीज़ जो हमारे देशवासियों की श्मशान की शान्ति सी स्मरणातीत शान्ति को हिला दे उस भारी जड़ता से अच्छी है जो उनको घेरे है। अगर जापानी आए तो उनका प्रतिरोध होगा और कांग्रेस ने लोगों से ऐसा करने को कहा था। नेहरू उस प्रतिरोध को निर्भीक और उग्र चाहते थे, लेकिन महात्माजी का विचार स्वीकार कर उन्होंने अपने से यह पूछ कर कि निश्शस्त्र नागरिक-जनता के पास अहिंसक असहयोग छोड़ कर रक्षा करने का और क्या साधन है, उन्होंने उसका विचित्र ढंग से समाधान किया।

वे थके थे और उनका मन परेशान था। मई में उन्होंने उन समस्याओं से जो उन्हें घेरे थीं, छुटकारा पाने के लिए अपने प्रिय हिमालय की तराइयों में शांति और विश्राम के लिए जाने का निश्चय किया। नेहरू की प्रिय कविताओं में वाल्टर डि ला मेअर की एक कविता है जो वे उद्धृत करना चाहते हैं,

> हाँ, मेरे मन में यह पर्वत उठ खड़े होते हैं:
> उनके संकट संध्या के गुलाब से रंजित हैं,
> और फिर भी मेरी प्रतिच्छाया मेरी आँखों पर बैठती है
> और उनकी प्रशान्त बर्फ़ के लिए तृषित है।

वे हिमालय की हरी सुगंधित भीतरी घाटियों में कुलू गए जहाँ उन्होंने उस जादूभरी अपरिमितता में पैदल चल कर और चढ़ाई चढ़ कर एक पखवारा व्यतीत किया। उन्हें बहुत बड़े समय तक ऐसा दूसरा अवकाश नहीं मिला।

इलाहाबाद लौट कर नेहरू को पता लगा कि सरकार ने रफ़ी अहमद क़िदवई सहित उनके कुछ निकट साथियों को गिरफ्तार कर लिया था। क़िदवई बाद में कांग्रेस मंत्रि-मंडल में खाद्य मंत्री हुए। संयुक्त प्रांत की प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष कृष्णदत्त पालीवाल भी कारागार में थे। वे उन अनेक लोगों में से थे जिन्हें सरकार ने भारत रक्षा

क़ानून के अन्तर्गत अपने जाल में खींच लिया था। इस अधिनियम ने अधिकारियों को सरसरी तौर पर गिरफ्तारी और कारादंड के अधिकार दिए हुए थे।

गांधीजी के हरिजन के लेख और 'भारत छोड़ो" नारा देश में हलचल पैदा कर रहे थे। नेहरू ने महात्मा जी के भाषण और लेखों में एक नया आग्रह और आवेग देखा, और अनुभव किया कि इससे अन्त में किसी तरह की क्रिया होगी ही। किन्तु नेहरू हैरान थे कि गांधीजी किस प्रकार की क्रिया की कल्पना कर रहे हैं।

वे इस विकास से घबराए हुए थे, क्योंकि एक मात्र सक्रिय कार्य सामूहिक सविनय अवज्ञा थी और वह ऐसे समय युद्ध प्रयत्नों में बाधा पहुँचाएगी जब कि भारत स्वयं आक्रमण के गंभीर संकट में है। संसार व्यापी संकट के संदर्भ में गांधीजी के वक्तव्यों में राष्ट्रीयता की ज़ोरदार बातों का भी नेहरू अनुमोदन नहीं करते थे। उन्हें यह लगा कि महात्माजी का उपागम बहुत संकुचित है और अधिक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों की उपेक्षा कर रहा है जिनकी इस समान संकट के काल में उपेक्षा नहीं की जा सकती।

वे कई बार सेवाग्राम गए और अपने संशयों और आशंकाओं पर गांधीजी से चर्चा की।

गांधी जी इस बात पर उनसे सहमत थे कि संभवत: उन्होंने कुछ अन्तर्राष्ट्रीय बातों की उपेक्षा की है, और इस भूल के निराकरण का वचन दिया, जिसे बाद में उन्होंने पूरा किया। किन्तु कार्य के मूल प्रश्न पर वे नहीं डिगे।

गांधी जी ने आन्तरिकता से समझाया, "हम अपने देश में ब्रिटेन की निरंकुश अत्याचारी नीति के आगे निष्क्रियता से झुक नहीं सकते। अगर उसे चुनौती देने के लिए हम कुछ नहीं करते तो हमारे देशवासी बिलकुल हतोत्साह हो जायंगे, और युद्ध का जो भी परिणाम हो, हम स्वतंत्रता के समय में वर्षों पिछड़ जायंगे। इसके सिवा, अगर हम अपने शासकों के आगे झुक जायंगे तो आक्रमणकारियों के आगे भी झुक जायंगे। निष्क्रियता हमें पंगु बना देगी। कार्यशीलता हमारी प्रकृति को पुष्ट करेगी।"

लोगों की उदासीन निष्क्रियता के सामने जवाहरलाल सहमत होने को प्रवृत्त हुए।

"लेकिन" उन्होंने बहस में कहा, "नैतिक आधार पर कार्य या संघर्ष कितना ही उचित हो, क्या इससे युद्ध-प्रयत्न में बाधा नहीं पड़ेगी? और ऐसे समय में जब भारत पर संकट है?"

गांधी जी ने उनसे अनुरोध किया, "भगवान् पर भरोसा रखो। तुम और हम जो बदलना चाहते हैं वह युद्ध का नैतिक आधार है। भारत औपनिवेशिक शासन का प्रतीक है। यदि हम अस्वाधीन रहते हैं तो संसार के दूसरे गुलाम देशों के लिए क्या आशा हो सकती है? तब तो सचमुच यह युद्ध व्यर्थ ही लड़ा जाएगा।"

पहले की ही तरह वे बहस करते रहे।

६ जुलाई को वर्किंग कमेटी वर्धा में सम्मिलित हुई। गांधी जी उपस्थित थे। जवाहरलाल के साथ जिन्हें वे अपनी योजनाओं में अपने साथ रखना चाहते थे, अपनी

वार्ता के परिणाम स्वरूप गांधी जी बहुत कुछ इस बात से सहमत होने तक पहुँच गए कि अगर भारत स्वतंत्र घोषित कर दिया जाय और अन्तःकालीन सरकार बना दी जाय तो वह सरकार स्वाधीनता के संघर्ष में और आक्रामक के विरुद्ध अपने सारे साधनों को लगा देगी और भारत की रक्षा में संयुक्त राष्ट्र के साथ पूर्ण सहयोग करेगी। इसके अर्थ थे कि बाहरी आक्रमण के प्रतिरोध में महात्माजी शक्ति के उपयोग के लिए सहमत हो गए थे।

यह विचार ११ वीं जुलाई को पारित वर्किंग कमेटी के प्रस्ताव में समाविष्ट था, जिसमें "ब्रिटेन के विरुद्ध दुर्भावना की व्यापक बढ़ती और जापानी सेनाओं की सफलता पर संतोष" का निर्देश था। प्रस्ताव में कहा गया था :

कांग्रेस वर्किंग कमेटी इस परिणति को गंभीर आशंका से देखती है क्योंकि यह अगर रोका नहीं गया तो अनिवार्यतः आक्रमण को निश्चेष्ट स्वीकृति की ओर ले जायगा। कमेटी की धारणा है कि समस्त आक्रमण का प्रतिरोध किया जाय, क्योंकि उसके आगे झुकने के अर्थ भारतीय जनता का अधः पतन होगा और उसकी पराधीनता निरन्तर बनी रहेगी। कांग्रेस मलाया, सिंगापुर और बर्मा के अनुभव से बचने के लिए चिंतित है और जापान या किसी विदेशी शक्ति द्वारा भारत पर छेड़छाड़ या आक्रमण के प्रतिरोध का निर्माण करने को इच्छुक है। कांग्रेस ब्रिटेन के विरुद्ध वर्तमान दुर्भावना को सद्भावना में बदल देगी और विश्व के राष्ट्रों और जनता को स्वतंत्रता प्राप्त करने और उसके कष्टों और विपत्तियों में संयुक्त प्रयत्नों में तत्पर सहयोगी बनाएगी। यह तभी संभव है जब भारत स्वतंत्रता की दीप्ति का अनुभव करे।

प्रस्ताव में "भारत छोड़ो" नारे की व्याख्या की :

ब्रिटिश शासन के भारत से हटने के प्रस्ताव से कांग्रेस की ग्रेट ब्रिटेन अथवा मित्र शक्तियों के युद्ध के चलाने में किसी भी तरह से परेशान करने, या किसी ढंग से भारत पर आक्रमण को प्रोत्साहन देने की, या चीन पर जापानियों या धुरी गुट से सम्बद्ध किसी शक्ति द्वारा दबाव बढ़ाने की इच्छा नहीं है। और मित्र शक्तियों की प्रतिरक्षा क्षमता को संकट में डालने का भी कांग्रेस का इरादा नहीं है। इसलिए जापानियों को या अन्य आक्रमण को दूर करने और प्रतिरोध के लिए और चीन की रक्षा या सहायता के लिए कांग्रेस मित्र राष्ट्रों की सशस्त्र सेनाओं को, यदि वे चाहें तो, भारत में रखने के लिए सहमत है।

भारत से अंग्रेजों के शासन के हटाने के प्रस्ताव के अर्थ भारत से सारे अंग्रेजों के भौतिक रूप से चले जाने के कभी नहीं थे, और निश्चय ही उन लोगों से जो भारत को अपना देश बना लें और यहाँ दूसरे लोगों के साथ समानता के भाव से नागरिक के रूप में रहें। यदि इस प्रकार का सद्भावनापूर्ण हटना होता है तो उसका परिणाम भारत में स्थायी अन्तःकालीन सरकार की स्थापना, और आक्रमण रोकने और चीन की मदद में संयुक्त राष्ट्र के साथ सहयोग होगा।

प्रस्ताव के अंतिम पैराग्राफ में वह चेतावनी दी गई थी कि यदि उसकी अपील असफल रही तो कांग्रेस को विवश होकर कार्यवाही करना होगा, और स्पष्टतया सामूहिक सत्याग्रह की संभावना का निर्देश किया :

तव कांग्रेस अनिच्छापूर्वक उन समस्त अहिंसात्मक शक्तियों का उपयोग करने के लिए विवश होगी जो उसने १९२० से एकत्रित की हैं जव कि उसने देश के राजनीतिक अधिकारों और स्वाधीनता के प्रति समर्थन के लिए अहिंसा को अपनी नीति के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार का व्यापक संघर्ष अनिवार्यतः महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलेगा।

अव यह स्पष्ट था कि कांग्रेस अनिश्चित काल के लिए निष्क्रिय चुप्पी में रहने को प्रस्तुत नहीं थी, और जव तक अंग्रेज़ सरकार जल्दी प्रतिक्रियाशील न होती तो सामूहिक सत्याग्रह अनिवार्य था, यद्यपि गांधीजी ने स्वयं अपनी सोची हुई कार्यवाही के ढंग को नहीं वताया था।

मीटिंग के शीघ्र वाद गांधीजी ने एक ब्रिटिश समाचार पत्र के संवाददाता को वताया था, "अभी तक मैं योजनावद्ध कार्यक्रम लेकर तैयार नहीं हूँ, किन्तु यह मेरा सवसे वड़ा आन्दोलन होगा।"

देश को उन्होंने कोई विशिष्ट सलाह नहीं दी लेकिन उनका दिमाग़ सामूहिक सत्याग्रह के पथ पर चल रहा था। समाजवादी नेता नरेन्द्रदेव वताते हैं कि वे गांधीजी से सेवाग्राम में इस समय के लगभग मिले थे जव वे नेहरू के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

महात्मा जी ने पूछा, "सत्याग्रह के विचार की जवाहर पर क्या प्रतिक्रिया होगी?"

नरेन्द्र देव ने उत्तर दिया, "मेरे विचार से, यदि सत्याग्रह का निश्चय होता है तो जवाहरलाल अलग नहीं रहेंगे।"

लेकिन नरेन्द्रदेव आगे वताते हैं कि नेहरू की समझ ने इस निर्णय का कभी अनुमोदन नहीं किया। जव वे एक साथ अहमद नगर क़िले[1] में वन्द थे तो समाजवादी नेता ने वताया कि जवाहरलाल ने यह सम्मति व्यक्त की कि यह क़दम वहुत जल्दी में उठाया गया है।

नेहरू ने कहा, "अमरीकियों के दवाव से अंग्रेजों को झुकाना संभव हो सकता था।"

संभावनाओं का यह अनुमान चर्चिल के युद्ध संस्मरणों द्वारा भ्रान्त सिद्ध हो जाता है, जिसमें व्यक्त है कि अंग्रेज़ प्रधान मंत्री राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की भारत के पक्ष में अपीलों पर कठोरता के साथ कुंठित रहे।

७ अगस्त १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी अव ऐतिहासिक रूप से विख्यात "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पर विचार करने के लिए सम्मिलित हुई। भारत और संयुक्त राष्ट्र के हित, दोनों ही के लिए तत्काल भारत की स्वतंत्रता को मान्यता देने और भारत

---

१. वंवई राज्य में।

में ब्रिटिश शासन की समाप्ति पर विचार करने के बाद प्रस्ताव ने विशिष्ट रूप से घोषित किया कि जनता के सब वर्गों का प्रतिनिधि अन्तःकालीन सरकार का मूल उद्देश्य मित्र-शक्तियों के साथ, अपनी सशस्त्र और अहिंसात्मक शक्तियों के साथ भारत की रक्षा और आक्रमण का प्रतिरोध होगा।"

प्रस्ताव ने जोर दिया, "स्वतंत्रता लोगों के संयुक्त संकल्प और उस पर आधारित बल से भारत को प्रभावपूर्ण ढंग से आक्रमण कर प्रतिरोध करने में समर्थ करेगी।" बाहरी आक्रमण के प्रतिरोध में बल के प्रयोग को स्वीकार करने में गांधीजी जवाहरलाल के साथ कुछ दूर आगे बढ़ गए थे।

लेकिन प्रस्ताव का मर्म उसके अन्तिम पैराग्राफ में था, जिसमें ब्रिटिश शासन को भारत से हटने की बात दुहराई गई थी। अन्त में प्रस्ताव में कहा गया था :

एक ऐसी साम्राज्यवादी और निरंकुश सरकार, जो राष्ट्र पर प्रभुता जमाए है और उसे उसके अपने हित में और मानवता के हित में कार्य करने से रोकती है, उसके विरुद्ध अपने संकल्प का दावा करने से राष्ट्र को रोक रखना कमेटी के लिए अब और न्याय संगत नहीं है। इसलिए कमेटी भारत की स्वाधीनता और स्वतंत्रता के अविच्छेद्य अधिकार की रक्षा के लिए, गांधी जी के नेतृत्व में अहिंसक ढंग द्वारा सामूहिक संघर्ष आरंभ करने की स्वीकृति का प्रस्ताव करती है।

यह महात्मा जी के निश्चय पर छोड़ दिया गया था कि ऐसी कार्यवाही कब की जाय।

"सामूहिक संघर्ष प्रारंभ कर उस (कमेटी) का कांग्रेस के लिए सत्ता प्राप्त करने का कोई इरादा नहीं है। सत्ता, जब आएगी, तो भारत की समस्त जनता की होगी" प्रस्ताव में कहा गया था।

प्रस्ताव को प्रस्तुत करते हुए नेहरू ने कुछ विस्तार के साथ उस पृष्ठभूमि को समझाया जिससे वह उत्पन्न हुआ था। इस मंजिल तक पहुँचने में उन्होंने और गांधीजी ने लंबा रास्ता तय किया था। नेहरू ने कहा, "प्रस्ताव किसी भी तरह किसी के लिए चुनौती नहीं है। अगर अंग्रेज सरकार प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है तो वह सब ओर से, भीतरी और बाहरी स्थिति को, भले के लिए, बदलेगी। आप जानते हैं कि गांधी जी ने भारत में स्थित अंग्रेजी और दूसरी फौजों का बना रहना स्वीकार कर लिया है।"

आज़ाद ने, जो अध्यक्षता कर रहे थे, और गांधीजी ने गंभीर किन्तु दृढ़ बातें कहीं। दोनों ने इस बात पर जोर दिया कि उनका दूसरा क़दम सरकार के प्रतिनिधि स्वरूप वाइसराय से निवेदन करना और संयुक्त राष्ट्र के प्रधान व्यक्तियों से ऐसे सम्मानित समझौते के लिए अपील करना होगा, जो भारत की स्वाधीनता को स्वीकार करते हुए आक्रमणकारियों के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र के लक्ष्य में सहायता करेगा।

गांधीजी ने कहा, "यद्यपि आज संसार की आँखें खूनी हो रही हैं, हमें संसार का सामना शान्त और निर्मल आँखों से करना होगा।"

इस अंतिम अवस्था में भी महात्माजी इस विश्वास से चिमटे रहे कि अंग्रेज़ी

सरकार से समझौता हो जाए। ९ अगस्त के सवेरे, जिस रोज़ कमेटी ने अपना अधिवेशन समाप्त किया, गांधीजी ने अपने सचिव महादेव देसाई से कहा, "मेरी पिछली रात की वक्तृता के बाद वे मुझे कभी गिरफ़्तार नहीं करेंगे।"

उन्होंने उन्हें एक घंटा भी देर से नहीं, तड़के, जब वे अपनी नियमित प्रातः कालीन प्रार्थना के लिए जागे थे, उसके शीघ्र बाद गिरफ़्तार कर लिया। इसके साथ ही साथ पुलिस नेहरू सहित कांग्रेस वर्किंग कमेटी के अन्य सदस्यों को गिरफ़्तार कर रही थी। नेहरू अपनी छोटी बहन कृष्णा के घर से पकड़े गए थे। वे आधी रात के काफी बाद सोने गए थे और नींद से भरे थे जब कि उनकी बहन ने यह बताने के लिए जगाया कि पुलिस आ गई है।

गांधीजी के अंतिम आदेश उनके अन्य सचिव प्यारेलाल द्वारा दिए गए थे।

महात्माजी ने कहा, "स्वाधीनता का प्रत्येक अहिंसक सिपाही एक काग़ज़ या कपड़े के टुकड़े पर "करो या मरो" नारा लिख कर अपने वस्त्रों पर पिन से लगा ले जिससे कि यदि वह सत्याग्रह करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो तो वह उन अन्य लोगों से पहचान लिया जाय जो अहिंसा को नहीं मानते।"

गांधीजी समेत पूरी वर्किग कमेटी भारी चौकसी के साथ स्पेशल रेलगाड़ी में बंबई से पूना के पास के चिंचवाड स्टेशन ले जाई गई जहाँ से गांधीजी सम्राट् के आदेशानुसार आग़ा ख़ाँ के पूना के एक निवास स्थान में नज़रबन्द करने के लिए मोटर में ले जाए गए। श्रीमती सरोजिनी नायडू के अतिरिक्त वर्किंग कमेटी के अन्य सदस्यों के साथ नेहरू अहमद-नगर क़िले ले जाए गए। श्रीमती सरोजिनी नायडू बाद में महात्माजी के साथ पूना में नज़रबन्द रहीं।

यह जवाहरलाल के कारावास की सबसे लम्बी अवधि थी क्योंकि वे १५ जून १९४५ के पहले फिर मुक्त नहीं हुए।

१९

खून और आँसू

सैनिक केंद्र अहमदनगर बंबई से दो सौ मील से कुछ अधिक दूर है और सोलहवीं सदी का उसका क़िला भारतीय इतिहास की उज्ज्वल वीरगाथा का दृश्य रहा है जब वीर रमणी चाँद बीबी ने मुग़ल सेना के समक्ष पराक्रम के साथ उसकी रक्षा की थी।

वर्किंग कमेटी के बारह सदस्य एक बड़े चौकोर मकान के तीन ओर के कई कमरों में रखे गए थे जिसमें एक टूटा फूटा खराब हालत में पड़ा लॉन था। अनेक क़ैदी चौकीदार इन लोगों का काम करते थे।

जवाहरलाल के और उनके साथियों के लिए भी यह एक नया अनुभव था, क्योंकि वे कभी न कभी जेल गए ही थे, लेकिन इस ढंग से एक साथ कभी नहीं रखे गए थे। यह लोग तरह तरह के थे। उनकी आयु चवालीस से साठ तक थी, राजनीतिक रूप से संबद्ध होते हुए वे एक दूसरे से प्रकृति, रुचि, स्वभाव और दृष्टिकोण में भिन्न थे। बाद में बंबई के गवर्नर होनेवाले हरेकृष्ण महताब सबसे छोटे थे, जबकि सरदार वल्लभ भाई पटेल सबसे बड़े थे। नेहरू ने अपने अगले तीन जन्मदिवस जेल में बिताए।

उन्होंने ज़िन्दादिली के साथ लेकिन नीरस जीवन बिताया। अपना समय भोजन की व्यवस्था करने ऐसे विभिन्न कामों में लगाया और अपने को और दूसरों को यथासंभव सुविधाजनक स्थिति में रखने का प्रयत्न किया। वे अपने बगीचे के टुकड़े को सँवारते, खुदाई करते, पढ़ते, खेलते, बातचीत और विनोद करते, चुटकुले बाज़ी और वाद विवाद करते। बीच-बीच में बहस ज़ोरदार और विवादास्पद होतीं कि कुछ लोगों के दिमाग़ बिगड़ जाते।

लेकिन कुल मिलाकर उनका जीवन शान्त और आनन्दप्रद था, और उन लोगों ने एक दूसरे को अच्छी तरह से समझना सीखा। अध्ययन के विस्तृत भंडार से आज़ाद लोक कथा और विद्वत्ता के भंडार सहित मनोरम बातचीत करनेवाले थे। उनके साथ में नेहरू को विशेष आनन्द आता। तेज़ हाज़िर जवाबी में वल्लभभाई उस्ताद थे जो अक्सर शरारत से औरों के परिष्कृत वार्तालाप में देहाती कहावत जड़ देते। अन्य लोगों में नाज़ुक मिज़ाज और सदैव नई आलपीन की तरह स्वच्छ आसफ़अली थे; स्वयं-शिक्षित शंकरराव देव थे जिनकी शक्ति बैडमिंटन के प्रखर खेलों, रसोई की प्रतिस्पर्धा और भजन गाने में निःसृत होती; और डाक्टर सैयद महमूद थे जो रुचिपूर्ण वार्तालाप और संस्मरण के साथ शांतरूप से मननशील थे। इस बहुविध साथ में एक रसायनशास्त्री बंगाल के

डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र घोष थे; आज कांग्रेस के विद्रोही और प्रजा समाजवादी पार्टी के नेता, दुबले और बहस करनेवाले आचार्य कृपालानी थे; और थे समाजवादी नेता नरेन्द्रदेव। मध्य प्रदेश के गवर्नर होने वाले वाचाल साथी डाक्टर पट्टाभि सीतारामैया थे। बाद में नेहरू के मंत्रिमंडल में गृहमंत्री बननेवाले गोविन्दवल्लभ पन्त वाद-विवाद को जीवित बना देते, उनके बारीक खयालात उनके भीतरी शरीर से विचित्र रूप से विपरीत थे। महताब की हार्दिकता संक्रामक रहती।

जैसा कि जवाहरलाल ने जेल में अपने को अभ्यस्त बना लिया था, उन्होंने नियमित कार्यक्रम कर लिया। सवेरे उठकर यौगिक अभ्यास करते, बग़ीचे या रसोई में व्यस्त रहते, जहाँ वे नाश्ते के लिए लोगों के अंडे तलने में खुश होते या अपने साथियों को बताते कि चाय के लिए किस ठीक-ठीक सीमा तक पानी उबाला जाय या डबलरोटी का टुकड़ा किस तरह सेंका जाय। वे क़ायदे से और कठोरता से काम करने वाले थे और कभी कभी बुढ़ियों की तरह नुक़्स निकालने के चिह्न दिखाते। किन्तु वे जानदार, फ़ुर्तीले, मुस्तैद और मनबहलाव करनेवाले भी थे, जो कुछ भी करते उसमें हलचल का भाव रहता।

लगभग तीन सप्ताह तक वे समाचार पत्रों से और बाहरी संसार के समस्त संपर्क से वंचित रहे। किन्तु धीरे धीरे यह कठोरता कम कर दी गई। जवाहरलाल को देशी-विदेशी बहुत से समाचारपत्र मिलते और उन्हें नई नई किताबें मिलती रहतीं। नाश्ते के बाद वे सामान्यतः बगीचे में काम—खुदाई, बुवाई, रोपाई, छँटाई, लान की निराई और क्यारियों में पानी देना—करते। वे बहुत अधिक पढ़ते और जो रुचिकर होता उसे लिख लेते, और लेखन भी करते। १३ अप्रैल १९४४ को अहमदनगर आने के लगभग बीस महीने बाद नेहरू ने अपनी पुस्तक **भारत की खोज** आरंभ की जो उन्होंने पाँच महीने बाद समाप्त की। यह स्थल स्थल पर विवादग्रस्त, विस्तृत और शिथिल है, किन्तु वह भारत की संस्कृति और विचारधारा में उनकी गंभीर सचेत रुचि को बहुत अधिक प्रतिबिंबित करती है। यह रुचि उनके साथियों, प्रमुख रूप से आज़ाद और नरेंद्रदेव ने प्रदीप्त और समृद्ध की।

बाहर के समाचार निराशाजनक थे। ज्यों-ज्यों समाचार रिस कर उनकी जेल में पहुँचे, नेहरू और उनके साथी ९वीं अगस्त की घटनाओं पर लोगों की प्रतिक्रिया की काफी समन्वित तस्वीर जोड़ने में समर्थ हुए। जनता के रोष का गर्म उबाल ऊपर आ गया था और हिंसात्मक और अहिंसात्मक विरोध के रूप में वह निकला था। देशव्यापी गिरफ्तारियों ने उन्हें नेतृविहीन कर दिया था। फिर भी हजारों देशवासियों ने राज्य के दमन के विरुद्ध प्रदर्शन किया। पहले बंबई, अहमदाबाद और पूना में सीमित रहकर यह प्रदर्शन शीघ्र ही देश भर में फैल गए, और कुछ ज़िलों में, विशेषतः बिहार में, बंगाल के मिदनापुर क्षेत्र में, और संयुक्त प्रान्त के दक्षिण पूर्वी अंचल में कई दिनों तक अंग्रेज़ी शासन की प्रबल सत्ता समाप्त हो गई थी।

शान्तिपूर्ण हड़ताल और विरोध सभाएँ हुई थीं, लेकिन भीड़ द्वारा हिंसापूर्ण उपद्रव अग्निकांड, हत्या और तोड़फोड़ भी हुए थे। विद्यार्थी और कार्यकर्ता इन प्रदर्शनों में प्रमुख थे जो कभी-कभी आँसू गैस और डंडों की मार से और कभी-कभी गोली से तितर बितर किए जाते थे। संयुक्तप्रांत में वलिया में भीड़ों पर हवाई जहाज़ से मशीनगन चलाई गई। भारत सरकार के अगस्त से दिसंबर १९४२ तक के अपने ही आँकड़ों के अनुसार पुलिस और सेना ने प्रदर्शनकारियों पर जिनमें कुछ हिंसात्मक थे, ५३८ बार गोली चलाई, जिससे ९४० व्यक्ति मरे और १६३० घायल हुए। नेहरू ने इन आँकड़ों को बहुत ही कम बताया माना और बाद में मृत व्यक्तियों की संख्या लगभग १०,००० बताई। १९४२ के अंत तक ६०,००० से ऊपर लोग गिरफ़्तार किए गए थे।

हिंसात्मक भीड़ों द्वारा की गई हानि और विध्वंस आरंभ में बहुत अधिक हुई। इस अवधि के आधिकारिक वक्तव्य निम्नलिखित संख्या देते हैं: २५० रेलवे स्टेशन क्षतिग्रस्त या विध्वंस हुए; ५५० डाकघरों पर आक्रमण हुए; ५० डाकघर जलाए गए; २०० डाकघर क्षतिग्रस्त हुए; ३५०० स्थानों पर टेलीफोन और टेलीग्राफ के तार काटे गए; ७० थाने जलाए गए और ८५ अन्य सरकारी इमारतें नष्ट की गई। इनके अतिरिक्त सेना के ११ व्यक्ति मारे गए और ७ घायल हुए, जबकि पुलिस के मृत व्यक्तियों की संख्या ३१ थी, घायलों की संख्या "बहुत बड़ी" बताई गई।

जनता की प्रतिक्रिया निस्सन्देह प्रबल व्यापक और कई स्थानों पर हिंसात्मक थी, किन्तु अधिकारियों ने भी निर्दयतापूर्वक और प्रचंडता से काम लिया। वलिया में हवाई जहाज़ से भीड़ पर मशीनगनों से गोली चलाने के सिवा मिदनापुर में दमन की हृदयवेधी कहानी और मध्यप्रान्त में अष्टी और चिमूर की गँवटियों में सेना के अत्याचार थे। नेहरू ऐसी वारदातों का स्मरण करते हैं जहाँ पूरे के पूरे गाँव को बेंत लगाने से लेकर मृत्यु तक के दंड दिए गए थे। बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बन्द करके सेना द्वारा दखल कर ली गई थी। बंगाल में स्थानीय सरकार ने स्वीकार किया कि "सरकारी सेनाओं ने १९४२ के तूफान के पहले और बाद में १९३ कांग्रेस कैंपों को तमलुक और कोंटाई सबडिवीज़न में जला दिया।" नगरों और गाँवों पर सामूहिक जुर्माने हुए और ब्रिटिश हाउज़ आफ़ कामंस में मि० ऐमरी ने स्वीकार किया कि इनका योग ९,०००,००० रुपए है और यह प्रमुखत: निर्धन, प्राय: भूखों मरते गाँववालों से वसूल करना है।

जनवरी १९४३ तक विद्रोह—क्योंकि यह विद्रोह ही था—शांत कर दिया गया। बहुत पहले, सितंबर १९४२ में चर्चिल ने डींग मारी थी: "सरकार के पूरे बल से उपद्रव कुचल दिए गए......बहुत बड़ी कुमक भारत पहुँच गई है और उस देश में गोरे सैनिकों की संख्या ब्रिटिश संबंध में किसी भी समय से अधिक है।" मि० चर्चिल तो बंगलौर में निम्न पदस्थ सैनिक अधिकारी के ज़माने पर चले गए, किन्तु जिस साम्राज्य के दिवाला बोलने पर अध्यक्षता करने से बाद में इनकार कर दिया था वह विघटन के मार्ग पर था।

इस बीच अपना पहला पत्र ३१ दिसंबर १९४२ को लिख कर गांधीजी वाइसराय के साथ पत्राचार कर रहे थे, किन्तु इसके विषय में नेहरू और उनके साथी अवगत न थे। लिनलिथगो की धारणा थी कि अगस्त प्रस्ताव जनता में हिंसा उभाड़ने के लिए उत्तरदायी था और उन्होंने गांधीजी से "अपनी कार्यवाही वापस लें और अपने को पिछली ग्रीष्म की नीति से अलग रहें" कहा। यदि वे ऐसा करते हैं तो वाइसराय ने "मसले पर आगे विचार करने" का वचन दिया।

गांधीजी का उत्तर यह घोषणा करता था कि सत्याग्रह के स्वरूप, वे "क्षमता के अनुसार" ९वीं फरवरी से आरंभ कर और दूसरी मार्च को समाप्त कर इक्कीस दिन के उपवास का विचार कर रहे हैं। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि "मेरा विचार आमरण अनशन का नहीं है किन्तु यदि भगवान की इच्छा होगी तो इस परीक्षा से जीवित रहने का है। आवश्यक निराकरण के द्वारा सरकार उपवास को इससे पहले समाप्त कर सकती है।" महात्माजी का उद्देश्य संभवतः वर्किंग कमेटी और अपनी मुक्ति से था।

किन्तु सरकार अडिग थी। लार्ड लिनलिथगो ने अपने पत्र में कहा, "मेरी आशा और प्रार्थना है कि अब भी आप को अधिक समझ आए। लेकिन उपवास और उससे उत्पन्न खतरों का निर्णय बिलकुल आप का ही रहेगा। और उसका और उसके परिणामों का उत्तरदायित्व आप पर ही होगा।" वाइसराय ने आगे महात्माजी के प्रस्तावित कार्य को "राजनैतिक धमकी" कहा।

८वीं फरवरी को भारत सरकार ने अपने गृहसचिव सर रिचार्ड टॉटेनहम के द्वारा गांधीजी के उपवास काल के लिए छोड़ देने का प्रस्ताव किया, जिसे उसने आशा की कि वे आग़ा ख़ाँ निवास से अन्यत्र कहीं करेंगे। किन्तु गांधीजी ने इनकार कर दिया। उन्होंने अपना उपवास ९वीं फरवरी को आरंभ कर दिया और यद्यपि उन्होंने अपने परीक्षा-काल में कुछ संकटपूर्ण समय का अनुभव किया, वे बच गए।

गांधीजी से अलग पड़े और उनके मन के गंभीर प्रयोजन को समझने में अक्षम नेहरू और उनके साथियों को उपवास उतना ही रहस्यात्मक लगा जितना जनता में बहुतेरे लोगों को। उन्होंने उसके विषय में ११वीं फरवरी को सुना था, लेकिन वे इस बात से अवगत थे कि गांधीजी अपनी गिरफ्तारी के समय से कुछ ऐसी कार्यवाही सोच रहे थे। राजनीतिक अस्त्र के रूप में उपवास से जवाहरलाल को विरक्ति थी, किन्तु वर्तमान संकट में वे महात्माजी के स्नेह और उनके काम की बुद्धिमत्ता पर संशय के बीच टँगे हुए थे। अतीत में उन्हें प्रायः यह लगा था कि गांधीजी के मत परिवर्तन का ढंग विनम्र और विचारशील दबाव से अधिक कुछ नहीं था, और वे उनके आधारभूत तर्क से कभी भी अपना समाधान नहीं कर पाए। लेकिन दूसरी ओर गांधीजी की अचूक नैसर्गिक प्रवृत्ति और सही साधनों का चुनाव भी था। नेहरू ने स्वयं ही महात्माजी के विषय में कुछ वर्ष पहले लिखा था : "संकटकाल में क्या रुख अख्तियार करें यह कहना मुश्किल है, लेकिन जो भी रुख हो, वह महत्वपूर्ण होगा। हमारे लिहाज़ से वह ग़लत ढंग हो लेकिन वह हमेशा सीधा

होगा।" अपनी समझ के अनुसार गांधीजी ने नैतिक अस्त्र का उपयोग किया था और परीक्षा के बाद बच गए थे। अपने लाखों देशवासियों के साथ नेहरू ने चैन की साँस ली।

अहमदनगर क़िले से आज़ाद ने कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से वाइसराय को उनके गांधीजी के साथ पत्र व्यवहार में लगाए अभियोगों के विरोध में १३वीं फरवरी को पत्र लिखा। पत्र वर्किंग कमेटी की ओर से भेजा गया था और उसमें नेहरू की रचना का साक्ष्य प्रत्यक्ष है। आज़ाद ने लिखा :

मैं विशेषत: एक प्रश्न तक अपने को सीमित रखना चाहता हूँ और यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जहाँ तक हम लोगों का व्यक्तिगत और समष्टि रूप से संबंध है, अपने संगठन की ओर से यह कहना है कि आप का यह अभियोग कि कांग्रेस ने गुप्त रूप से हिंसात्मक आंदोलन संगठित किया है बिलकुल ग़लत और निराधार है। एक अंग्रेज़ देशभक्त और स्वाधीनता का प्रेमी होने के नाते आपको यह समझना असंभव न होना चाहिए कि भारत के देशभक्त और भारतीय स्वाधीनता के पुजारियों को कैसा लगेगा, और हमारे परस्पर संबंध में थोड़ी ईमानदारी और भला व्यवहार रखना संभव होना चाहिए। उनके विरुद्ध गंभीर अभियोग लगाना जो उनका उत्तर देने से रोक रखे गए हैं, (उनके समर्थन में बिना प्रमाण रखे) शक्तिशाली सरकार की विशाल प्रचार की मशीन द्वारा उन अभियोगों को लगाना और साथ ही उनके विपरीत समाचार और विचार जारी करना न तो ईमानदारी का या औचित्य का लक्षण है।

कांग्रेस लिनलिथगो से न्याय की बात करना चाहती थी, लेकिन इस पत्र का कोई उत्तर नहीं मिला।

सितंबर १९४३ में साढ़े सात वर्ष वाइसराय के रूप में काम करके और बहुत कुछ अपनी निषेधात्मक नीति से उत्पन्न अकाल को अपने पीछे छोड़ कर, लॉर्ड लिनलिथगो भारत से गए। भयंकर बंगाल का अकाल जिसमें लगभग ३,५००,००० जानें गईं १९४३ के अन्तिम चतुर्थांश में अपने शिखर पर पहुँच गया था, लेकिन लिनलिथगो की विचित्र असंवेदनशीलता का यह विचित्र ढंग था कि वाइसराय की हैसियत से उन्हें अपने जाने के पहले पीड़ित क्षेत्र में जाने का कोई कारण न सूझा। उनके उत्तराधिकारी लॉर्ड वैवेल का पहला काम बंगाल का दौरा करना था।

दुर्भिक्ष बहुत कुछ मानव निर्मित था। जबकि सैकड़ों भूखे ग्रामीण जो भोजन के लिए राजधानी आ रहे थे, कलकत्ता की सड़कों पर मर गए, अधिकारियों का आत्मतोष उसका इनकार करने की सीमा तक पहुँच गया। लेकिन एक समय ऐसा आया कि सच छिपाया न जा सका। नेहरू ने कहा, "लाशों से आसानी से नज़र नहीं फेरी जा सकती। वे सामने आ ही जाती हैं।"

भारत, जो बर्मा से आनेवाले चावल पर बहुत अधिक निर्भर था, उस स्रोत से जापानियों द्वारा अलग कर दिया गया। फिर भी केंद्रीय सरकार ने जापान युद्ध आरंभ होने के साल भर बाद तक खाद्य विभाग खोलने का कष्ट नहीं किया था। बंगाल की प्रांतीय सरकार

और अपने देशवासियों के कष्टों पर मोटे होनेवाले भारतीय चोर-बाज़ार वालों सहित अन्य लोग भी दोष के भागी थे। जून १९४५ में जेल से छूटने पर नेहरू ने अपने एक पहले भाषण में घोषणा की, "स्वतंत्र भारत में ऐसे चोर बाज़ारियों को लैंप के खंभों पर फाँसी दी जाएगी।"

२२ फरवरी १९४४ को गांधीजी की पत्नी कस्तूरबा की, जो अपने पति के साथ जेल में थीं, मृत्यु हो गई। उनका विवाहित जीवन बासठ साल रहा। उसके शीघ्र बाद गांधीजी का स्वास्थ्य गिर गया और १६वीं अप्रैल को एक विज्ञप्ति में प्रकाशित हुआ कि वे मलेरिया से पीड़ित हैं। जब उनका रक्तचाप कम हो गया और उनकी रक्तहीनता बिगड़ गई तो उनकी हालत शीघ्र चिन्ताजनक हो गई। ५वीं मई को गांधीजी छोड़ दिए गए और वे अपनी नज़रबन्दी की जगह से दूसरे दिन अपने एक मित्र के घर पर पूना में रहने के लिए चले गए। छः दिन बाद वे बंबई आए जहाँ से वे जुहू के समुद्रतट के आश्रम चले गए। यहीं बीस वर्ष के ऊपर हुए जवाहरलाल अपने पिता के साथ उनसे मिलने आए थे।

अहमदनगर में अपने कारावास से नेहरू देश विदेश की घटनाओं का उत्कंठापूर्वक अनुसरण करते रहे।

मार्च १९४३ में मांटगोमरी ने मेरेथ पंक्ति पर धावा बोला जिससे अमरीकी और फ्रांसीसी सेनाओं के साथ उनकी सेना मई तक ट्यूनिस और बाइज़र्टे पहुँच गई। अब सारा उत्तरी अफ्रीका शत्रुओं से ख़ाली था और योरप के आक्रमण की तैयारी थी। अफ्रीका की विजय से सबसे अधिक ख़तरे की चौकी, सिसिली, अगस्त में मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने दख़ल कर ली। इसके पहले ही २५वीं जुलाई को मुसोलिनी का डिक्टेटर पद से पतन हो गया और छः सप्ताह बाद इटली पर आक्रमण हुआ, जब एड्रियाटिक सागर के पार टीटो ने अपनी छिपी माँद से निकलने में अपने को काफी प्रबल पाया।

सोवियत अभियान ने नेहरू को सबसे अधिक लीन रखा क्योंकि स्तालिनग्राद ने उनके और सारे मित्र संसार की सराहना को उत्प्रेरित कर रखा था। १९४३ के ग्रीष्म में रूसियों ने नीपर पार अपना महान आक्रमण शुरू किया और अपने सामने डटी जर्मन सेनाओं को खदेड़ दिया। अक्टूबर के प्रथम सप्ताह तक सोवियत सेनाओं ने पूरे काकेशस पर फिर से दख़ल कर लिया, और नवंबर तक जर्मन सेनाओं की क्रीमिया से भाग निकलने की सारी संभावनाएँ समाप्त हो गईं। १९४४ के वसन्त तक यह स्पष्ट था कि जर्मन सेनाएँ रूसियों के बढ़ाव को न तो रोक सकती हैं और न उनका सामना कर सकती हैं।

यदि जापान के विरुद्ध प्रशान्त मोर्चे पर प्रगति धीमी लग रही थी तो वह इसलिए था कि मित्रराष्ट्रों का प्रमुख लक्ष्य जर्मनी था। जुलाई १९४४ तक मित्रराष्ट्रों के न्यू गिनी और आस पास के द्वीपों में बढ़ जाने से जापानियों के हाथों से पहल जाती रही थी। इसके पहले मार्च में जापानियों के तीन डिवीज़न बर्मा में चिंदविन नदी पार कर चुके थे और मनीपुर क्षेत्र में सामने के आक्रमण से इंफाल को घेर लिया था। आक्रमणकारी बुरी तरह पिटे थे और अगस्त तक जापानी भारत की भूमि से पीछे हट गए थे।

पूर्व और पश्चिम में मित्रराष्ट्रों की विजय के वेग को ध्यान से देखते हुए नेहरू सोच में पड़े थे कि भारत के विषय में अंग्रेज़ों की क्या प्रतिक्रिया होगी। यह सही था कि, "स्वास्थ्य के आधार पर" ही सही, महात्माजी छोड़ दिए गए थे और नए वाइसराय लार्ड वैवेल दिल्ली आ गए थे। किन्तु इससे क्या अंतर आता है कि अर्विन के उत्तराधिकारी विलिंग्डन हुए या लिनलिथगो के बाद वैवेल आए। छूत का ज़हर तो प्रणाली में था और कोई वाइसराय चाहे प्रगति के क्रम को तेज़ या धीमा कर दे, जब तक मूल प्रणाली ही न बदले वह कम ही कुछ कर सकता है। विजय अंग्रेज़ों को क्या पहले से अधिक उद्धत बना देगी, जो चर्चिल की तरह इस बात में भुलक्कड़ हैं कि किन उद्देश्यों के लिए युद्ध लड़ा गया था, और पूर्वस्थिति बनाए रखने और उसे बढ़ाने के लिए उत्सुक रहेंगे? क्या ब्रिटिश लेबर पार्टी तक के नेताओं ने चर्चिल के शब्दों को प्रतिध्वनित करते हुए "युद्ध के बाद साम्राज्य को एकत्रित रखने के संकल्प पर ज़ोर" नहीं दिया था?

जेल से बाहर गांधीजी ने अनुभव किया कि पहला काम राजनीतिक गत्यवरोध तोड़ना है और वे उसे करने में लग गए। वर्किंग कमेटी से मिलने का अनुरोध अस्वीकार कर दिया गया और वैवेल ने महात्माजी से मिलने में भी नम्रतापूर्वक अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। वाइसराय ने लिखा, "मुझे लगता है कि अभी हम लोगों का आपस में मिलना किसी काम का न होगा और केवल ऐसी आशा बँधाएगा जो निराश होंगी। अगर अपने स्वास्थ्यलाभ के बाद और आगे सोच विचार कर भारत के भले के लिए आपका कोई रचनात्मक और निश्चित प्रस्ताव होगा तो मुझे उस पर विचार करने में प्रसन्नता होगी।"

वैवेल के साथ आगे पत्र व्यवहार वैसा ही असफल सिद्ध हुआ, वाइसराय अपने विचार फिर दुहराते रहे। यह स्पष्ट था कि अवसर पर हावी होने के साथ ब्रिटिश सरकार युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा करने में संतुष्ट थी, जिसका अन्त अब केवल मित्रराष्ट्रों की विजय ही हो सकता था।

सरकार से झिड़की खाकर गांधीजी जिन्ना की ओर यह पता लगाने को मुड़े कि जिसे वह "हम लोगों में निष्कपट समझौता" कहते थे, उससे ब्रिटिश अधिकारी अपना रुख कहीं बदल न दें। लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों की तरह जिन्ना ने भी समझ लिया कि उनकी स्थिति दृढ़ है। गांधीजी कमज़ोर स्थिति से जोड़-तोड़ बिठा रहे थे। उन लोगों के बीच कोई समान आधार नहीं था, क्योंकि जहाँ गांधीजी संयुक्त भारत के आधार पर बातचीत कर रहे थे, जिन्ना इस सिद्धान्त से आरंभ करते थे कि चूँकि हिन्दू और मुसलमान दो स्वतंत्र जाति हैं, भारत को विभाजित कर देना होगा।

यह मुलाक़ातें जो बंबई में जिन्ना के घर पर हुईं ९वीं सितंबर को आरंभ होकर अठारह दिन चलती रहीं। गांधीजी ने भारत के विभाजन पर बातचीत करने की इच्छा व्यक्त की, और जिन्ना उनको पाकिस्तान का सिद्धान्त मनाने में लग गए। प्रति दिन

उनकी बातें पत्रों पर उतर आई जो वे एक दूसरे को भेजते थे। १५वीं सितंबर तक यह स्पष्ट हो गया कि उनके बीच में गहरा मतभेद है।

गांधीजी ने लिखा, "आपकी बहस जितना आगे बढ़ती है उतनी ही आप की तस्वीर मुझे डरावनी लगती है। अगर वह सच्ची हो तो वह मोहक है लेकिन मुझे आशंका है कि वह संपूर्णतः अवास्तविक है.....आप विजेता के अधिकार से पृथक् जाति का दावा नहीं करते किन्तु इस्लाम ग्रहण करने के कारण करते हैं। क्या दोनों जाति एक हो जायँगी यदि सारा भारत इस्लाम ग्रहण कर ले?"

जिन्ना के उत्तर में दावा था कि राष्ट्र की किसी भी व्याख्या अथवा परीक्षा से मुसलमान और हिन्दू दो प्रमुख राष्ट्र हैं.....अन्तर्राष्ट्रीय विधि (कानून) के सारे सिद्धान्तों से हम राष्ट्र हैं।"

उनकी बातचीत २६ सितंबर को समाप्त हो गई और उसके दूसरे दिन उनका पत्र-व्यवहार प्रकाशित कर दिया गया। जैसा कि गांधीजी ने कहा था, "बातचीत और पत्राचार समानान्तर रेखाओं में चलती लगती हैं और कहीं भी एक दूसरे को नहीं छूती हैं।"

नेहरू और उनके साथियों ने बातचीत की प्रगति का उन समाचार पत्रों में अनुसरण किया जो उन्हें अब मुक्त रूप से मिलने का आदेश था। दोनों व्यक्तियों के मन को जानते हुए उन्हें परिणाम पर आश्चर्य नहीं हुआ। लेकिन यह तथ्य कि बातचीत गांधीजी के कहने पर और जिन्ना के घर पर हुई, इस बात का संकेत था कि लीग तूफान में आगे बढ़ गई जब कि कांग्रेस निश्चल रही।

योरप में युद्ध समाप्ति पर था। जून १९४४ में मित्रराष्ट्र नारमंडी में उतरे थे और ज्यों-ज्यों उनकी सेनाएँ पश्चिमी योरप में बढ़ीं रूसी बालकान में बढ़े। वर्ष की समाप्ति तक जर्मन लोग राइन के पार हट रहे थे। हिटलर के राइख़ (साम्राज्य) का उसके चारों ओर पतन हो रहा था और १९४५ के मई दिवस तक सोवियत का लाल झंडा बर्लिन में राइख़स्टाग के स्थान पर फहराने लगा। योरप में युद्ध समाप्त हो गया।

जब वर्किंग कमेटी जेल में निस्तेज पड़ी थी तब भी बाहर कांग्रेसजन निष्क्रिय नहीं थे। बंबई के एक प्रसिद्ध वकील भूलाभाई देसाई के नेतृत्व में केंद्रीय असेंबली में कांग्रेस दल विधानसभा में अब भी सरकार का प्रमुख विरोधी दल था। गांधीजी राजनैतिक मोर्चे पर अस्थायी रूप से मात खाकर अपने रचनात्मक कार्यों में लगे थे। वे ग्रामोद्योग और हरिजन समस्या का प्रचार करते रहे।

मार्च और अप्रैल १९४५ में कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य जो अहमदनगर में बन्द थे छोड़ने के पहले तितर बितर कर अपने अपने प्रांतों को भेज दिए गए। २८ वीं मार्च को गोविंद वल्लभ पंत और नरेंद्रदेव के साथ नेहरू संयुक्त प्रान्त में नैनी केंद्रीय जेल भेज दिए गए जहाँ वे अपने पुराने साथियों, प्रमुखतः रफ़ी अहमद क़िदवई से मिले जो बाद में नेहरू के मंत्रिमंडल के प्रसिद्ध सदस्य हुए।

नैनी से थोड़े दिन रहने के बाद नेहरू, पंत और नरेंद्रदेव बरेली के निकट आइज़ट-

नगर जेल भेज दिए गए जहाँ पंत, जो बीमार थे, बाद में शीघ्र ही छोड़ दिए गए। दो महीने से अधिक नेहरू नरेंद्रदेव के साथ जून के आरंभ तक एक बैरेक में रहे जब वे दोनों अल्मोड़ा जेल को बदल दिए गए जहाँ दस बरस पहले नेहरू रहे थे।

मई के अंतिम सप्ताह में चर्चिल ने आम चुनाव कराने की अपनी इच्छा की घोषणा की और इससे भारत फिर राजनीति के पट पर आ गया। अर्नेस्ट बेविन ने घोषणा की, "यदि हम चुनाव जीतेंगे तो इंडिया आफ़िस बन्द कर यह कारोबार अधिराज्य (डोमिनियन) को भेज देंगे।" इसके द्वारा ब्रिटिश लेबर पार्टी भारत को डोमिनियन पद देने के लिए वचनबद्ध हुई।

इस बीच लॉर्ड वैवेल सलाह मशविरा के लिए लंदन बुलाए गए थे। वे ५वीं जून को ब्रिटिश सरकार की ओर से संवैधानिक प्रस्ताव के आदेश को लेकर भारत लौटे। इस समय ब्रिटिश सरकार चर्चिल की राष्ट्रीय सरकार थी और जिसमें लेबर के प्रतिनिधि थे। प्रस्ताव "इस देश (ब्रिटेन) की ओर से भारत की जनता के लिए सम्मत राष्ट्रीय प्रस्ताव" बताया गया था।

वैवेल प्रस्ताव में वाइसराय की अंतरंग सभा का पुनर्गठन प्रकल्पित था ताकि वाइसराय और प्रधान सेनापति के अतिरिक्त उसके सभी सदस्य भारत के राजनीतिक नेता होते। मुसलमानों और जो हिन्दू[1] जाति के कहे गए थे, उनको बराबर प्रतिनिधित्व मिलना था। विदेश विभाग जो अभी तक वाइसराय के पास रहता था, उनसे भारतीय सदस्य को मिल जायगा और अधिकार प्राप्त व्यक्ति विदेशों में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए नियुक्त किए जाएँगे। वाइसराय ने यह आशा व्यक्त की कि केंद्र में पुनर्गठन के बाद जो प्रांतीय मंत्रिमंडल अलग हो गए थे फिर पदग्रहण कर लेंगे। इस योजना को चालू करने में उन्हें समर्थ करने के लिए लॉर्ड वैवेल ने घोषणा की कि वे पार्टी के नेताओं, प्रांतीय प्रधान मंत्रियों और भूतपूर्व प्रधान मंत्रियों का एक सम्मेलन आमंत्रित करेंगे जिनसे यह कहा जायगा कि वे उन्हें नामों की सूची दें जिसमें से वह नई अंतरंग सभा का चुनाव करेंगे। वाइसराय ने कहा कि इन सुझावों में "वर्तमान संविधान के अंतर्गत अधिक से अधिक संभव प्रगति" सन्निहित है, किन्तु उनमें से कोई भी "किसी भी प्रकार से भारत के भावी स्थायी संविधान या संविधानों के मूल रूप का पूर्वाग्रह या पूर्व निर्णय नहीं करेगा," जो कि भारतीयों को स्वयं बनाना है।

लॉर्ड वैवेल के प्रसारण के साथ-साथ हाउज़ आफ़ कामंस में मिस्टर ऐमरी का एक वक्तव्य आया कि कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य जो अब भी बन्द हैं छोड़ दिए जाएँगे। १५ वीं जून को नेहरू अल्मोड़ा से छोड़े गए। यह उनकी १०४१ दिन की सबसे लम्बी कारावास की अवधि थी।

उनके प्रिय बहनोई रंजीत की मृत्यु[2] हो गई थी जब वह जेल में थे और जवाहरलाल

१. इससे हरिजन या अनुसूचित जाति के लिए एक अतिरिक्त सुरक्षित स्थान अभिप्रेत था।
२. १४ जनवरी १९४४ को।

का पहला काम अपनी पहली रात रंजीत की जागीर खाली में बिताना था, जो अलमोड़ा के पास ही है। वहाँ अतीत में उन्होंने कितने ही सुखद दिन बिताए थे। यह तीर्थयात्रा की तरह था।

उस अपराह्न अलमोड़ा में उन्होंने एक अमरीकन मित्र गर्ट्रूड इमर्सन सेन (भारत में एक अमरीकन पत्र[1] की प्रतिनिधि) और उनके पति डा० सेन के साथ भोजन किया। वे एक वैज्ञानिक हैं।

उनको हल्का बुखार था और गर्ट्रूड सेन बताती हैं कि वे कोच के एक कोने में बैठे प्रायः पारदर्शी लग रहे थे।

धीरे-धीरे कमरे को ऊपर नीचे देखते हुए उन्होंने शान्त भाव से कहा, "मुक्त होना कैसा अजीब लगता है। मेरा मतलब शारीरिक रूप से नहीं किन्तु मानसिक रूप से है।"

गर्ट्रूड सेन ने एक ब्रिटिश अधिकारी की पत्नी को नेहरू से मिलने के लिए लंच के पहले दस मिनट के लिए बुलाया था। वे उनसे मिलने के लिए उत्सुक थीं। अंग्रेज़ महिला आईं, और नेहरू ने उनसे रुचिर और मनोहर ढंग से बातचीत की। जब वह जाने लगीं तो नेहरू ने उनसे कुछ आम ले जाने का आग्रह किया जो वे जेल से लाये थे। वे उनके इलाहाबाद के बाग़ के थे।

उन्होंने कहा, "इन्हें छोड़ जाना खेदजनक होगा।"

खाली से नेहरू इलाहाबाद गए, जहाँ बंबई झटपट जाने के पूर्व उन्होंने एक रात बिताई। वहाँ कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की मीटिंग थी। गांधीजी वहाँ थे और पुनर्मिलन स्नेहपूर्ण था। यद्यपि पुराने मित्रों और साथियों से मिलना अच्छा था, नेहरू को विचित्र रूप से बाहरी व्यक्ति की तरह लगा जो दूरस्थित और अपरिचित होते हुए भी उन नर-नारियों के बीच मित्रतापूर्ण किन्तु अजीब ग्रह पर मुक्त थे और वे उन पर अपना स्नेह निछावर कर रहे थे।

वर्किंग कमेटी ने वाइसराय का निमंत्रण स्वीकार करने का निश्चय किया और २५ वीं जून को शिमला के वाइसराय भवन में सम्मेलन एकत्र हुआ।

एक मुसलमान, आज़ाद, कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से कांग्रेस के प्रतिनिधि थे। जिन्ना मुस्लिम लीग का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, और दोनों अपनी अपनी वर्किंग कमेटी से सहायता प्राप्त थे जो शिमला में संयोजित थी। नेहरू उसमें थे।

सम्मेलन में तत्काल कठिनाई उपस्थित हो गई, क्योंकि आज़ाद और जिन्ना वाइसराय की अंतरंग सभा की सदस्य संख्या पर एकमत होने में असमर्थ थे। इस पर २९ वीं जून को वैवेल ने कान्फ्रेंस को १४ वीं जुलाई तक आगे सलाह मशविरा के लिए स्थगित कर दिया, और पार्टी के नेताओं से उन्हें अन्तिम चुनाव करने के लिए अपने मनोनीत व्यक्तियों की सूची देने का अनुरोध किया। कांग्रेस ने आदेश पालन किया, उसकी सूची में आज़ाद और

---

१. **एशिया,** अब बन्द।

आसफ़ अली सहित कांग्रेस के पांच व्यक्ति थे। बाद में आसफ़अली संयुक्त राज्य के पहले भारतीय राजदूत थे। किन्तु जिन्ना का आग्रह था कि लीग मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि थी, और इस लिए केवल उसके द्वारा स्वीकृत मुसलमान ही अंतरंग कौंसिल में होना चाहिए।

इस एकाधिकारी दावे पर आपत्ति करने में कांग्रेस ही अकेली नहीं थी, क्योंकि पंजाब के मुसलमान प्रधानमंत्री मलिक खिज्रहयातखाँ ने माँग की कि मुस्लिम स्थानों में एक उनके पंजाब से मनोनीत व्यक्ति को मिलना चाहिए। वैवेल भी जिन्ना की माँग मानने में असमर्थ थे।

अगर वाइसराय अपनी रूपरेखा के आधार पर लीग की अपेक्षा के बिना, अपनी नई अंतरंग समिति बना लेते, तो भारत का राजनीतिक इतिहास भिन्न होता। उन्होंने इसके पहले आज़ाद को आश्वासन दिया था कि "कान्फ्रेंस में किसी पक्ष को दुराग्रह के कारण समझौते में अड़चन नहीं डालने दी जायेगी।" किन्तु जिन्ना के दुराग्रह के आगे वैवेल असमंजस में पड़ गए। उनके भारत और ब्रिटेन के परामर्शदाताओं ने उन्हें सलाह दी कि अवरोध स्वीकार करते हुए सम्मेलन को समाप्त कर दें। १४ वीं जुलाई को उन्होंने वैसा ही किया। ऐसा करके और जिन्ना के झगड़ालूपन के आगे झुककर ब्रिटिश सरकार ने देश के संवैधानिक विकास पथ पर लीग के निषेधाधिकार को यथार्थतः मान लिया। उसने भारत की स्वतंत्रता को जिन्ना की धमकी पर छोड़ दिया। सदिच्छा से प्रेरित और दोनों पक्षों को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा में दोनों को प्रसन्न रखने के लिए उत्सुक वैवेल ने दोनों को ही विरक्त कर दिया।

आजाद, और नेहरू और उनके साथियों ने भी वाइसराय की कमज़ोरी पर खेद किया। किन्तु शिमला सम्मेलन की समाप्ति के कुछ दिनों पहले ब्रिटेन में लेबर पार्टी का शासन हो गया था नेहरू और आजाद को लगा कि स्वाधीनता दूर नहीं है।

आजाद बोले, "हम अपने लक्ष्य के बहुत निकट हैं और दूसरी मंज़िल लक्ष्य ही है। हमने कोई प्रयोजन नहीं कि ब्रिटिश सरकार के क्या इरादे हैं।"

शिमला से नेहरू पहाड़ और घाटियों में अवकाश के लिए चल खड़े हुए। उन्होंने वहाँ के एक महीने का अधिकांश ऊँचे क्षेत्रों और दर्रों, ग्लेशियर (हिमनद) और बर्फ़ पर पैदल चल कर बिताया, और हृदय और प्राण में स्फूर्ति लिए भारत लौटे।

धुंधलके में टटोलते हुए व्यक्ति की भाँति उन्होंने धीरे-धीरे दृश्य को जोड़कर एकत्रित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने देश में उत्तेजना की दबी भावना का अनुभव किया; स्वतंत्रता के संघर्ष में कुछ कर डालने की विराट् प्रेरणा, और उनकी जागृत इच्छा की तीव्रता और सिहरन ने उन्हें आक्रान्त कर दिया। भारत शीघ्र ही स्वाधीन होगा—इसका उन्हें निश्चय लगा।

अगस्त में ऐटम बम की विभीषिका हिरोशिमा और नागासाकी पर छोड़ दी गई और १५ अगस्त १९४५ को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। दूसरा विश्व युद्ध

समाप्त हो गया। जापान के पतन के अंतिम दिनों में ताइवान में सुभाषवोस की हवाई दुर्घटना में मृत्यु का समाचार आया। वोस ने वर्मा और मलाया में जापानियों द्वारा पकड़े बचे हुए भारतीय सिपाहियों और अफ़सरों की इंडियन नेशनल आर्मी (भारतीय राष्ट्रीय सेना) वनाई, और "दिल्ली चलो" के नारे से जाग्रत और स्वतंत्र भारत में वढ़ने का स्वप्न देखा। उस सेना में हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाईयों का प्रतिनिधित्व था, और भारत के लोगों को यह लगता था कि देश में अलगाव में लगी शक्तियों के लिए मानो वह चुनौती हो। इंडियन नेशनल आर्मी राष्ट्रीय एकता का नाटकीय प्रतीक हो गई। वोस ने अपने जीवन की उज्ज्वलतम घड़ी देखी।

२१ वीं अगस्त को भारत सरकार ने घोषणा की कि केंद्रीय और प्रांतीय विधान सभाओं के लिए आम चुनाव जल्दी ही जल्दी होंगे और साथ ही साथ यह प्रगट हुआ था कि और आगे सलाह के लिए वैवेल लन्दन जा रहे हैं।१९ वीं सितंवर को क्लिमेंट ऐटली ने लन्दन से और वैवेल ने भारत से वोलते हुए घोषणा की कि चुनाव के वाद और विधान सभाओं के प्रतिनिधियों से सलाह के वाद ब्रिटिश सरकार का इरादा एक संविधान निर्मात्री परिषद् के गठन का है और इस वीच "ब्रिटेन और भारत के वीच होनेवाली" संधि के मसविदे पर तुरत विचार किया जायगा। यह घोषित किया गया कि वाइसराय को अधिकृत कर दिया गया है कि ज्यों ही चुनाव के परिणाम ज्ञात हों, पुनर्गठित अंतरंग कौंसिल वना लें।

इस अवस्था में कांग्रेस जिस को वचाने के लिए मूलतः चिंतित थी वह कांग्रेस की एकता थी, और सितंवर में वर्किंग कमेटी ने सरकार की घोषणा का तिर्यक् रूप से उत्तर देते हुए कहा कि संविधान संघीय होना चाहिए जिसमें अवशिष्ट अधिकार इकाइयों में सन्निहित हों। उसके उपस्थापन के रूप में सरदार पटेल द्वारा वाद में एक प्रस्ताव रखा गया जिसमें सरकार के प्रस्ताव "अस्पष्ट अपर्याप्त और असंतोषप्रद" कहे गए थे। फिर भी कांग्रेस ने चुनाव लड़ने की घोषणा की।

इस समय गांधीजी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। वे शीघ्र ही पूना में एक प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र में भरती हो गए और कांग्रेस के कार्यों का निर्देश आज़ाद, पटेल और नेहरू के ऊपर छोड़ दिया गया।

अक्टूवर में कांग्रेस ने अपना चुनाव घोषणापत्र प्रकाशित किया जिसने लीग के पाकिस्तान के अभियान पर दृष्टि रखते हुए "संवद्ध इकाइयों पर स्वायत्तता का अधिकांश छोड़ते हुए" फिर संघीय संविधान में अपने विश्वास की घोषणा की। वाद के महीनों में इंडियन नेशनल आर्मी के तीन अफ़सरों का दिल्ली के लाल क़िले में मुक़दमा हुआ। चूंकि कांग्रेस ने उनके वचाव में रुचि ली, इसलिए नेहरू कचहरी में वैरिस्टर का चोग़ा पहन कर गए, जिसे उन्होंने तीस वर्ष पहले छोड़ दिया था। भूलाभाई देसाई, जो वचाव पक्ष के प्रमुख वकील थे, अपने गुणों के उच्चतम स्तर पर पहुँचे, और उनकी लाजवाव वहस की धूम भारत भर में मच गई। जिन तीन अफ़सरों पर अभियोग था वे हिन्दू, मुसल-

मान और सिक्ख थे और इसने फिर उनकी पेशी को एक प्रतीकात्मक महत्व प्रदान किया। अभियुक्त दंडित हुए किंतु प्रायः तत्काल प्रधान सेनाध्यक्ष सर क्लाड आकिनलेक की आज्ञा से छोड़ दिए गए। नई दिल्ली पीछे हट रही थी।

मुक़दमे में यह दावा किया गया था कि सेना और जापानी फ़ासिस्टवाद में कोई सैद्धांतिक संबंध नहीं था, और सेना को प्रेरणा देनेवाला एकमात्र विचार भारत की स्वतंत्रता को जीतना था। अंग्रेज़ों का दावा था कि अफ़सरों ने सम्राट् के प्रति निष्ठा छोड़ दी और इससे अपनी शपथ भंग की।

भूलाभाई देसाई ने मुंहतोड़ जवाब दिया, "जब तक आप अपने देश को बेच ही न दें, यह कैसे कह सकते हैं, जब आप अपने ही देश को स्वतंत्र करने के लिए लड़ रहे हैं, कि कोई और निष्ठा है जो आपको ऐसा करने से रोकती है? अगर ऐसा हो तो स्थायी गुलामी के सिवा और कुछ नहीं रहेगा।"

इस मुक़दमे ने ब्रिटिश प्रतिष्ठा को सांघातिक चोट पहुँचाई जिससे जनता का उत्साह स्वाधीनता संघर्ष की ओर चल पड़ा। नेहरू ने कहा, "यह भारत की जनता के संकल्प और उन लोगों के संकल्प में एक रस्साकशी बन गया जो भारत में सत्ता हथियाए हुए हैं, और अंत में जनता के संकल्प की ही जीत रही।"

केंद्रीय और प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं के लिए चुनाव जनवरी १९४६ में हुए; और यद्यपि कांग्रेस के नतीजे अच्छे रहे चुनाव मुस्लिम लीग द्वारा प्रभावशाली ढंग से उन्नति करने के लिए महत्वपूर्ण थे। उसने केंद्र में और प्रांतों में बिलकुल ७५ प्रतिशत मुस्लिम वोट प्राप्त किए। मुस्लिम लीग और कांग्रेस, दोनों को ही यह चेतना थी कि स्वाधीनता निकट है, और दोनों ओर से राजनीतिक दबाव के बढ़ने से वातावरण में तनाव बढ़ गया। आग भड़काने के लिए केवल एक चिनगारी की ज़रूरत थी।

चिनगारी एक अप्रत्याशित दिशा से आई। १९ फरवरी १९४६ को रायल इंडियन नेवी के लगभग तीन हज़ार नाविकों के प्रदर्शन का दृश्यस्थल बंबई था जो विभेद करनेवाले व्यवहार, भोजन और रहन-सहन के विरोध में उग्र रूप से उठ खड़े हुए। कई ब्रिटिश अफ़सरों और सैनिकों पर प्रदर्शनकारियों द्वारा आक्रमण हुए और उपद्रव शीघ्र फैल गया। नौसेना के कई छोटे जहाज़ों पर कांग्रेस का तिरंगा फहराया गया और ब्रिटिश कर्मचारी जहाज़ों पर से निकाल दिए गए। नौसैनिकों के जत्थे लारियों में शहर में चक्कर लगाने लगे।

दूसरे दिन तक गड़बड़ नगर के बाहरी भागों के दूसरे कार्यालयों में फैल गई थी। नौसैनिकों द्वारा दीवारों और सार्वजनिक स्थानों पर खड़िया से "भारत छोड़ो" और जय हिन्द के नारे लिख दिए गए। रॉयल इंडियन नेवी की लारियों पर कांग्रेस, लीग, और कम्यूनिस्ट झंडे तक फहराने लगे, और कराची, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास में नौसेना के कार्यालयों पर असर पड़ा। कराची केंद्र में सेना की पुलिस ने हड़तालियों पर गोलियाँ चलाई और उत्तर में नौसैनिकों ने उन पर गोलियाँ चलाई। कई मुठभेड़ों में से पहली में नौ व्यक्ति घायल हुए और एक मर गया।

२१ वीं फरवरी को ब्रिटिश सैनिक पुलिस ने बंबई में नौसैनिक प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ चलाईं और तनाव बढ़ गया। नौसैनिकों के द्वारा बैरकों में शस्त्रागार पर अधिकार का प्रयत्न व्यर्थ कर दिया गया। ब्रिटिश सैनिकों ने नगर में अन्यत्र नौसैनिकों पर गोलियाँ चलाईं और प्रदर्शनकारियों ने प्रत्युत्तर में हथगोले फेंके। स्थिति और विस्फोटक हो गई जब रायल इंडियन एयर फ़ोर्स (भारतीय हवाई बेड़े) कैंप के एक हज़ार से ऊपर व्यक्तियों ने सहानुभूति में हड़ताल कर दी।

२२वीं फ़रवरी तक ब्रिटिश वाइस ऐडमिरल के जहाज़ के साथ बंबई के बंदरगाह में लगभग बीस नौसेना के जहाज विद्रोहियों के अधिकार में आ गए थे, और उन्होंने जहाज़ों की तोपों का मुँह शहर की ओर कर दिया। उसके पहले दिन सरदार पटेल ने, जो बंबई में थे, शांतिपूर्ण समझौते की अपील की और कारखानों के कर्मचारियों तथा विद्यार्थियों से भी हड़ताल न करने की सलाह दी। उन्होंने कहा, "ऐसे काम से बेचारे नौसैनिकों को अपनी न्याय शिकायतों के ठीक कराने के उनके प्रयत्नों में या जिन बड़ी कठिनाइयों में वे हैं उनमें उन्हें सहायता करने की संभावना नहीं है।" गुप्त रूप से उन्होंने यह वचन देते हुए कि कांग्रेस अनुचित रूप से कठोर दंड या अत्याचार रोकने के लिए भरसक प्रयत्न करेगी, उनसे आत्मसमर्पण करने की सलाह दी। २३वीं फरवरी को नौसैनिक विद्रोहियों के अधिकार में रायल इंडियन नेवी के जहाज़ों ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसके पिछले दिन जिन्ना ने भी नौ सैनिकों को मुक्त रूप से अपनी सेवाएँ अर्पित कर दीं कि उन्हें न्याय मिले। साथ ही साथ उन्होंने नौसैनिकों से विद्रोह वापस लेने और जनता से स्थिति की कठिनाई न बढ़ाने की अपील की।

किंतु जनता की भावना ऐसी उत्तेजित थी कि लोगों पर इन अपीलों का कोई प्रभाव न हुआ। बंबई और कलकत्ता में व्यापक दंगे और कराची और मद्रास में उपद्रव हुए। बंबई में ऐसे सामूहिक उपद्रव हुए जैसे पहले कभी नहीं हुए थे। अग्निकांड और लूटपाट का तांडव प्रायः चार दिन तक चलता रहा। कई अवसरों पर सेना और पुलिस दोनों ने गोलियाँ चलाईं और बहुत लोग हताहत हुए। २४ वीं फरवरी को आधिकारिक रूप से हताहतों की संख्या १८७ मृत और १००० से अधिक आहत थे।

नेहरू बंबई गए और सरदार पटेल के साथ तोड़-फोड़ से भरे नगर में घूमने के बाद एक बड़ी सभा में भाषण दिया जिसमें उन्होंने उन समाजविरोधी तत्वों की हिंसा की निन्दा की जिन्होंने जनता के असंतोष से लाभ उठाया था। उन्होंने कहा, "बंबई में जो कुछ हुआ है उससे यह साफ़ साफ़ नजर आता है कि बंबई ऐसे बड़े शहर में समाज विरोधी लोग मौक़े से किस तरह फ़ायदा उठाते हैं। हर आज़ाद मुल्क में यह समस्या है, लेकिन हमारे देश में हमारी आज़ादी की लड़ाई से यह और मुश्किल हो गई है। अब वक्त आ गया है जब हम अपनी ताक़त रचनात्मक कामों में लगाएँ। बंबई में जो कुछ हुआ है उससे पता चलता है कि रचनात्मक प्रवृत्ति का अभाव है।"

स्वाधीनता दूर नहीं थी, और नेहरू ने अपने श्रोताओं को यह समझाया। उन्होंने

आगे कहा, "पिछले पच्चीस वर्षों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के हेतु भारत की जनता ने बड़े-बड़े त्याग किए हैं। आज हमारी आज़ादी क़रीब आ गई है। हममें अपनी स्वतंत्रता पाने के सब गुण हैं, लेकिन मैं मानता हूँ कि हममें उस अनुशासन की कमी है जो स्वतंत्र देश के लिए आवश्यक है।"

नौसैनिक विद्रोह पर देश के विचार केंद्रीय असेंबली में कांग्रेस और लीग वक्ताओं की वक्तृताओं में प्रतिबिंबित हुए। उन्होंने उसे जाति विभेद और विदेशी शासन का विरोध बताया। कांग्रेस के एक प्रतिनिधि मीनू मसानी ने पूछा, "बंबई के लोग विद्रोहियों का समर्थन क्यों करते हैं? वह इसलिए कि भारतीय लोगों में मतभेद नहीं है। हम आपकी सत्ता का नैतिक आधार स्वीकार नहीं करते। आपका क़ानून हमारा क़ानून नहीं है। उसे जनता की मान्यता नहीं प्राप्त है। यही कारण है कि जब आपका सैनिक या नागरिक क़ानून तोड़ा जाता है तो प्रत्येक व्यक्ति विद्रोह को सहानुभूति देता है। दूसरे शब्दों में इस विद्रोह का वास्तविक कारण इस देश में ब्रिटिश शासन का अस्तित्व है।... नौसैनिक जिन्होंने देश के हित में आत्म समर्पण कर दिया है संघर्ष के नैतिक विजेता हैं।"

मसानी की भावनाएँ एक मुस्लिम लीग वाले, अब्दुर्रहमान सिद्दीक़ी ने प्रतिध्वनित कीं। सिद्दीक़ी बोले, "जिन कामों पर एतराज़ किया जा रहा है उन्हें करने के लिए लड़के रातोंरात पागल नहीं हो गए। बंबई में हो या कराची में इन लड़कों ने वैसा ही किया जैसा जवानों का कोई भी गिरोह करता। मेरे जवानों ने जो किया है वह करने का उन्हें अमरीकी या ब्रिटिश फ़ौज के सिपाहियों से ज़्यादा हक़ था।" और सरकारी बेंचों की ओर मुख़ातिब होकर उन्होंने आख़िर में कहा, "आपका ज़माना खत्म हो गया है और नया ज़माना आ गया है। जब तक आप वक्त के मुताबिक़ अपने को नहीं ढालते मेरे मुल्क वालों के लिए परेशानी और मुसीबत रहेगी और उनके लिए भी जो उन्हें कुचलना चाहेंगे।"

ब्रिटेन के नेताओं के दिमाग़ों में इस तथ्य की चेतना रिस रही थी। १८५७ के महान् राजद्रोह से, जो भारतीय सिपाहियों के सैनिक विद्रोह से भड़क उठा था, भारत ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन से सम्राट् के शासन में चला गया था। अब विचित्र विडंबना से नौसेना का विद्रोह विदेशी अधीनता से भारत की स्वतंत्रता के परिवर्तन का संकेत कर रहा था। ब्रिटेन भारत से हटने की तैयारी कर रहा था, लेकिन जाने के पहले उसे विभाजन करना था।

१९ वीं फरवरी को, जिस दिन बंबई में नौसैनिक विद्रोह हुआ था, भारत के सेक्रेटरी आफ़ स्टेट लॉर्ड पेथिक लॉरेंस ने भारत के राजनीतिक नेताओं से यह परामर्श करने के लिए कि राजनीतिक सत्ता भारत को सबसे अच्छे ढंग से किस प्रकार हस्तांतरित की जाय भारत को एक मंत्रिमंडलीय प्रतिनिधिमंडल भेजने के निश्चय की घोषणा की। जनवरी में ब्रिटेन की पार्लमेंट का एक सर्वदलीय प्रतिनिधिमंडल भारत आया था और उसे यह जान

कर यथार्थत: आश्चर्य हुआ कि देश में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध गहरी और व्यापक भावना थी। वे स्थिति की विस्फोटक संभावनाओं से प्रभावित हुए और इंग्लैंड लौटने पर उनकी रिपोर्ट ने सरकार के निश्चय को गति देने में वहुत कुछ किया।

लॉर्ड पेथिक लारेंस, सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स (ट्रेड वोर्ड के अध्यक्ष), और मिस्टर ए० वी० अलेक्जेंडर (नौसेना के प्रथम लार्ड) का मंत्रिमंडलीय मिशन भारत में २३वीं मार्च को आया। जैसा कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री मि० ऐटली ने पार्लमेंट में वताया, उसका पहला कर्तव्य "निर्णायिक तंत्र" वनाना था जो भारत के नेताओं को ऐसी राजनीतिक सत्ता लेने में समर्थ करे जो भारत के प्रभुता संपन्न गौरव से किसी प्रकार वेमेल न हो।

२७ वीं अप्रैल तक मिशन विभिन्न राजनीतिक और सांप्रदायिक पार्टियों, विशेषत: कांग्रेस और लीग के नेताओं से, इन दो पार्टियों में समझौते का आधार खोजने के प्रयत्न में व्यस्त रहा। वातचीत विफल हो जाने पर, मिशन ने कांग्रेस और लीग में प्रत्येक को चार-चार प्रतिनिधि मनोनीत करने को आमंत्रित किया जो मिशन और वाइसराय के साथ मिशन द्वारा रखी अस्थायी योजना पर समझौते की संभावनाओं के लिए विचार विमर्श करें।

योजना में केंद्र में एक संघीय सरकार प्रकल्पित की जो विदेश संवंधी मामलों, अभिरक्षा, और संचार व्यवस्था को देखेगी। प्रांतों की दो श्रेणियाँ होंगी, एक प्रधानतया हिन्दू प्रांतों की और दूसरी प्रमुखत: मुस्लिम प्रांतों की जो उन सव विषयों को सँभालती जो विभिन्न श्रेणियों के प्रान्त सामान्यत: सँभालते। प्रांतीय सरकारें शेष विषयों को सँभालतीं और सारे क्षेत्रीय प्रभुता संपन्न अधिकार रखतीं। किसी वाद की अवस्था में रजवाड़ों के राज्य इस तीन श्रेणी की संरचना में उनके साथ तय की हुई शर्तों पर सम्मिलित हो जाते।

कुछ रक्षणों के साथ कांग्रेस और लीग दोनों ही योजना पर वातचीत करने के लिए सम्मेलन में मिशन और वाइसराय से मिलने को राज़ी हो गए। कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से आज़ाद ने नेहरू पटेल और खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ को अपने साथी मनोनीत किया। जिन्ना के साथ वाद में पाकिस्तान के प्रधान मंत्री होने वाले लियाक़त अली ख़ाँ, संयुक्त प्रांत से नवाव मुहम्मद इस्माईल ख़ाँ और सीमान्त से अब्दुर्रव निश्तर थे।

सम्मेलन जो ५ वीं मई को शिमला में एकत्रित हुआ विना किसी सहमति पर पहुँचे १२वीं मई को समाप्त हो गया और उसका स्थान दिल्ली वदल गया। इसके पूर्व कांग्रेस और लीग दोनों ही ने एक संवैधानिक समझौते के अपने अपने स्मृतिपत्र दाखिल किए। लीग स्मृतिपत्र ने छ: मुस्लिम प्रधान प्रांतों पंजाव, उत्तर पश्चिम सीमान्त, वलूचिस्तान, सिंध, वंगाल और आसाम के पाकिस्तान समुदाय की प्रकल्पना की जिनका एक समुदाय हो और जो विदेशी मामले, प्रतिरक्षा, और प्रतिरक्षा के लिए आवश्यक संचरण व्यवस्था के अतिरिक्त सव विषयों को सँभाले, यह तीन विषय पाकिस्तान और "हिन्दू भारत" के दोनों समुदायों की संविधान निर्मात्री परिषद् मिल कर सँभालें। कांग्रेस

स्मृतिपत्र ने प्रांतीय असेंबलियों और रजवाड़ों के प्रतिनिधियों की एक विधान सभा को बनाने का सुझाव दिया जो संघीय राज्य का संविधान बनाए। संघीय सरकार वैदेशिक मामले, प्रतिरक्षा, संचार व्यवस्था, मूल अधिकार, मुद्रा, कर और योजना को "तथा ऐसे अन्य विषयों को जो अधिक जाँच पड़ताल के बाद उनसे निकट रूप से संबंधित हों" सँभाले। प्रान्त शेष सब अधिकारों का उपभोग करें। इस योजना के अंतर्गत प्रांतों के समुदाय बनाए जा सकते हैं और यह समुदाय उन विषयों का निश्चय करेंगे जो वे सामान्यतः लेना चाहें।

स्पष्टतः कांग्रेस का स्मृतिपत्र लीग की योजना की अपेक्षा मंत्रिमंडलीय मिशन और वाइसराय के प्रस्तावों के अधिक निकट था। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं था कि जब १६वीं मई को मिशन ने अपनी सिफ़ारिशों की घोषणा की उसमें उसने पाकिस्तान को असंगत क़रार दे दिया और केंद्र में पुरानी तीन श्रेणी की सरकार और तरह तरह के प्रांतों के समुदाय का अनुमोदन किया; किन्तु उसने जिन तीन समुदायों की कल्पना की उनमें जिन्ना के निर्देशित समस्त छः मुस्लिम प्रांत इस अतिरिक्त प्रतिबंध के साथ थे कि एक समुदाय के कोई भी प्रांत उस विशेष समुदाय से बाहर जा सकते हैं। साथ ही साथ उसमें प्रमुख राजनीतिक दलों के समर्थन से वाइसराय के अन्तरिम सरकार बनाने की घोषणा थी। मिशन की घोषणा किसी प्रकार निर्णय न होकर सिफारिश थी, जैसा कि लॉर्ड पेथिक लॉरेंस ने प्रेस सम्मेलन में ज़ोर देकर कहा। यह तो भारतीयों ही का काम है कि संविधान सभा में मिलकर स्वतंत्र भारत का अपना ही संविधान बनाएँ। "ब्रिटेन की सरकार और जनता इस लक्ष्य के प्राप्त करने में न केवल इच्छुक प्रत्युत उत्सुक हैं," पेथिक लॉरेंस ने कहा।

इसके पहले क्रिप्स की गड़बड़ को ध्यान में रखते हुए नेहरू और उनके साथी मंत्रिमंडलीय मिशन के साथ सावधान थे और उन घोषणाओं पर विश्वास करने के अनिच्छुक थे जो निश्चित कार्यवाही से समर्थित न थीं। उन्होंने याद किया कि किस प्रकार अपने पहले के मिशन की असफलता पर क्रिप्स ने कांग्रेस को टुकड़े टुकड़े कर डाला था मानो उसने किसी पवित्र स्थान को गन्दा कर दिया हो। उन्होंने स्मरण किया कि वैवेल यह वचन देकर कि किसी भी पार्टी को दुराग्रह के कारण समझौते में बाधा नहीं डालने दी जायगी, जिन्ना से दुबक गए थे। अब भी यद्यपि संवैधानिक स्थिति में उनके विचार मंत्रिमंडलीय मिशन के विचारों के अत्यन्त निकट थे, वह निर्णय देने में अनिच्छुक था, और जैसा मिशन की योजना में प्रकल्पित था, और कांग्रेस छः मुस्लिम प्रांतों को एक समुदाय में रखने को विशेषतः नापसन्द करती थी।

नेहरू और उनके साथी जिस बात को अच्छी तरह नहीं समझ पा रहे थे वह यह था कि ब्रिटिश सरकार भारत में प्रमुख राजनीतिक दलों द्वारा सम्मत संविधान को मानने को तैयार थी, वह एक संविधान लागू करने के लिए अनिच्छुक थी। ब्रिटिश दृष्टिकोण ईमानदारी का और तर्क-संगत था, क्योंकि यदि वे कोई संविधान लादते हैं तो

उसे कार्यरूप देने को उन्हें रहना होगा। और वे चले जाना चाहते थे—और गौरवपूर्ण ढंग से चले जाना चाहते थे। इसलिए स्वतंत्र भारत के लिए संविधान सोचने का भार भारत के लोगों पर आ पड़ा था।

जिन्ना ने भी मिशन के वक्तव्य को संदेह की दृष्टि से देखा। उसने निरपेक्ष रूप से पाकिस्तान को अस्वीकार कर दिया था यद्यपि, उन्हें लगा कि, अनिवार्य समुदाय बनाने की योजना उस लक्ष्य के लिए समझौता कहा जा सकता था। लेकिन जिन्ना ने अनुमान लगाया कि कांग्रेस अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने से इनकार कर देगी और वैवेल ने इसके पहले प्रथम शिमला सम्मेलन के दौरान जैसे आज़ाद को आश्वासन दिया था, अब जिन्ना को आश्वासन दिया कि "अगर दोनों पार्टियों ने स्वीकार कर लिया" तो जहाँ तक परिस्थितियों ने साथ दिया वह योजना के अनुसार काम करेंगे। वैवेल ने एक सिखों का प्रतिनिधि और एक अछूतों के सहित, दो सदस्यों को मिलाकर कांग्रेस और लीग को अंतरिम सरकार में बराबर बराबर प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव किया था। बाद में वैवेल ने पारसियों और ऐंग्लो इंडियन संप्रदाय के प्रतिनिधियों को जोड़ने का निश्चय किया।

६ ठी जून को मुस्लिम लीग की परिषद् ने दिल्ली में सम्मेलन कर "जहाँ तक पाकिस्तान का आधार और उसकी स्थापना छः मुस्लिम प्रांतों के अनिवार्य समुदाय में रखना मिशन योजना में निहित" थे मंत्रिमंडल की योजना स्वीकार कर ली। २४ वीं मई को वर्किंग कमेटी ने स्थिति को "अपूर्ण और अस्पष्ट" बताते हुए और यह आग्रह करते हुए कि अंतरिम सरकार पूर्ण स्वतंत्रता की पुरोवर्ती हो सकती है अधिक सतर्क रुख अख्तियार किया।

इस बीच नेहरू आगामी साल के लिए कांग्रेस के अध्यक्ष चुन लिए गए थे, और इस हैसियत से उन्होंने वाइसराय से यह अनुरोध करते हुए पत्र-व्यवहार आरंभ कर दिया कि प्रकल्पित अंतरिम सरकार को व्यवहार में डोमिनियन मंत्रिमंडल की तरह काम करना चाहिए। वैवेल सहमत होने में असमर्थ रहे। १६ वीं जून को वाइसराय ने घोषणा की कि वे चौदह व्यक्तियों को अंतरिम सरकार में सम्मिलित होने का "इस आधार पर" आमंत्रण दे रहे हैं कि "संविधान निर्माण १६ मई के वक्तव्य के अनुसार चलेगा।" कांग्रेस और लीग दोनों से पाँच-पाँच प्रतिनिधि होते थे, कांग्रेस के आमंत्रितों में नेहरू, पटेल, राजेन्द्रप्रसाद, राजगोपालाचारी और हरेकृष्ण महताब थे। २४ वीं मई को वर्किंग कमेटी ने अंतरिम सरकार में सम्मिलित होने में कांग्रेस की असमर्थता प्रगट की। जिन्ना विजय से प्रसन्न हुए। वाइसराय के आश्वासन से उन्हें विश्वास था कि वैवेल बिना कांग्रेस के अन्तिम सरकार बनाने में लग जायँगे। लेकिन वैवेल ने इससे भिन्न सोचा। इसके स्थान पर २६ वीं जून को जिन्ना की प्रगट निराशा और अवमानना पर मंत्रिमंडलीय मिशन ने घोषणा की कि उसकी योजना एक किनारे रख दी गई है, और वैवेल ने स्थायी अधिकारियों की एक अवीक्षक सरकार बनाना

आरंभ कर दिया। जिन्ना ने गुस्से से वैवेल को लिखा, "आपने अपने दिए हुए वचनों से फिरना पसन्द किया है।"

यह नहीं कहा जा सकता कि वाइसराय इन समझौतों से प्रभावपूर्ण ढंग से निकले। निरंतर अपनी बातों से फिरते रहने से उन्होंने दोनों पक्षों से अपने को खराब नीयत का दोषी बनाया, और जब २२ वीं जुलाई को उन्होंने लीग के नेता को लिखा कि मुस्लिम लीग को उस अंतरिम सरकार में स्थानों के संशोधित वितरण पर सहमत हो जाना चाहिए, जिसे वह अपनी अब भी इस आधार पर बनाने की आशा करते हैं कि कांग्रेस के लिए छः स्थान, लीग के लिए पाँच और तीन अल्प संख्यकों का प्रतिनिधित्व करनेवाले अन्य सदस्यों के लिए होंगे, तो जिन्ना बहुत ही अधिक क्रुद्ध हो गए। उनका रोष क्रिप्स और पेथिक लारेंस के लंदन में दिए इन वक्तव्यों से और तीव्र हो गया कि जिन्ना को "मुसलमानों की नियुक्ति का कोई एकाधिकार नहीं है।"

विधान सभा के लिए चुनावों में लीग और कांग्रेस दोनों की विजय प्राप्त हुई, लीग ने ७९ मुस्लिम स्थानों में से ७४ दखल कीं जब कि कांग्रेस ने अपने समर्थकों सहित २९२ स्थानों पर नियंत्रण रखा। १० वीं जुलाई को जवाहरलाल ने घोषणा की कि इस बात की "बड़ी संभावना" है कि समुदाय न बनें। इस वक्तव्य ने जिन्ना को और परेशान कर दिया।

२९ वीं जुलाई को बंबई में लीग कौंसिल की मीटिंग में मुस्लिमलीग ने मंत्रिमंडलीय प्रस्तावों की अपनी स्वीकृति वापस ले ली और पाकिस्तान के आग्रह को मनवाने के लिए प्रत्यक्ष कार्यवाही का आदेश दिया।

एक प्रेस कान्फ्रेन्स में जिन्ना ने व्यंग पूर्वक पूछा, "आप मुझसे ही हाथ बाँधकर बैठने का क्यों तसव्वुर करते हैं? मैं भी गड़बड़ खड़ी करने जा रहा हूँ।"

प्रत्यक्ष कार्यवाही से हत्याकांड, उपद्रव और खूनी दंगों का क्रम आरंभ हुआ जो १५ अगस्त १९४७ के बाद तक होते रहे और जिनका अन्त ११,५००,००० हिंदू, मुस्लिम और सिखों के देशान्तर गमन में हुआ, खून की धारा पाकिस्तान और भारत के दोनों भागों में इधर से उधर और उधर से इधर बहीं।

नेहरू घटना प्रवाह को ध्यानपूर्वक अपशकुन के रूप में देखते रहे, क्योंकि यद्यपि जिन्ना ने यह बताने से इनकार कर दिया था कि प्रत्यक्ष कार्यवाही क्या रूप लेगी, यह स्पष्ट था कि लीग ने किसी प्रकार की हिंसा सोची है। जिन्ना को साफ़ साफ़ यह डर था कि जब तक मुसलमानों का सामूहिक आन्दोलन नहीं होता पाकिस्तान ग़ायब हो जायगा। वह अँग्रेजों और कांग्रेस को "रक्तपात और गृहयुद्ध" का प्रदर्शन कर दोनों को धमकी और डंडे से पाकिस्तान मनवा लेंगे।

१६ वीं अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस रखा गया था। प्रकट रूप से मुस्लिम जनता को बंबई में लीग द्वारा पारित प्रस्तावों का अर्थ समझाने के लिए होने पर, उसका कुटिल अभिप्राय था। जिन्ना ने स्वयं इस बात का इशारा कर दिया था कि यह प्रदर्शन

संभवतः क्या रूप लें। २९वीं जुलाई को बंबई में प्रत्यक्ष कार्यवाही के प्रस्ताव पर भाषण करते हुए क़ायदे आज़म (लोगों के मुक्तिदाता) ने, जिस उपाधि से जिन्ना प्रसिद्ध थे, घुमाकर कहा, "लीग के पूरे इतिहास में हम लोगों ने वैधानिक रीतियां और वैधानिकता के अतिरिक्त कभी कुछ नहीं किया है। लेकिन अब हमको इस स्थिति के लिए विवश किया गया है। आज के दिन हम वैधानिक-रीतियों को विदा देते हैं।"

इस धमकी के एक ही अर्थ हो सकते हैं। जिन्ना मुस्लिम जनता से हिंसात्मक प्रतिक्रिया को कह रहे थे। १६ वीं अगस्त को उन्होंने वही किया। कलकत्ता और सिलहट और आसाम में हिंसा का तांडव आरंभ हो गया जिसमें लगभग छः हज़ार जानें गईं और केवल बंगाल में हज़ारों हताहत हुए। अँग्रेजों के एक समाचार पत्र **'द स्टेट्समन'** ने जिसे "बड़ा भारी हत्याकांड" कहा उसमें कलकत्ते के परनालों में खून बह रहा था। हज़ारों हिन्दू अपने पीछे मुख्य नगर को हत्याकांड से लाल, जलती इमारतों के धुएँ से धूमिल और मुर्दों पर मँडराते गिद्धों के पंखों से काला, मृत्यु और विनाशवाला डायन का यथार्थ कड़ाह पीछे छोड़कर भाग खड़े हुए।

कलकत्ता तो हिंसा की शृंखला का आरंभ ही था जो दावाग्नि की भाँति देश भर में फैल गई। वह भीतरी भाग में के गाँवों में विशेषतः दक्षिण पूर्वी बंगाल के नोआखली क्षेत्र में और पड़ोस के बिहार और आसाम में फैल गई। १५ अगस्त १९४७ को एक अमरीकी पत्रकार ने उसे इस प्रकार व्यक्त किया, खून से लथपथ भारत में से खून से लथपथ पाकिस्तान काटकर निकाला जा रहा है। लेकिन जनवरी १९४६ में जिन्ना ने पहले ही चीरफाड़ शुरू कर दी थी।

२२ वीं जुलाई को नेहरू वैवेल से मिले। उन्होंने उनको चौदह सदस्यों की प्रस्तावित अंतरिम सरकार के लिए (एक अनुसूचित जाति के प्रतिनिधि सहित) छः सदस्यों को मनोनीत करने के निमंत्रण का एक पत्र दिया। साथ ही साथ जिन्ना को पाँच प्रतिनिधि मनोनीत करने को निमंत्रित किया गया, लेकिन जिन्ना ने मना कर दिया। कांग्रेस ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया, और नेहरू ने कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से मिली जुली सरकार का सुझाव देते हुए जिन्ना को पत्र लिखा। जिन्ना अडिग थे, उनके उत्तर में कहा गया था कि घटना प्रवाह से लीग के निश्चय को बदलने का कारण नहीं दिखाई देता।

१७ वीं अगस्त को कलकत्ता रक्तपात के दूसरे दिन नेहरू वाइसराय से मिले और बाद में शीघ्र ही अपने साथियों से परामर्श करने के पश्चात् उन्होंने अंतरिम सरकार के प्रस्तावित सदस्यों की सूची तैयार की। उनमें नेहरू, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, आसफ़ अली, डाक्टर जान मथाई* और अनुसूचित जाति के एक सदस्य जगजीवनराम थे, सुभाष बोस के बड़े भाई शरत्चन्द्र बोस सम्मिलित थे।

---

* ईसाईयों के प्रतिनिधि।

आसफ़ अली के अतिरिक्त दो लीग के बाहर के मुसलमान इस आश्वासन के साथ नियुक्त किए गए कि दो और सम्मिलित कर लिए जाएँगे, और एक एक पारसी और सिख ने सूची पूरी कर दी। सरकार की घोषणा २४ वीं अगस्त को कर दी गई और उसने २री सितंबर को पदग्रहण कर लिया।

२४ वीं अगस्त को वैवेल ने दिल्ली से प्रसारित करते हुए मुस्लिम लीग से अपने निश्चय पर पुनर्विचार कर अंतरिम सरकार में सम्मिलित होने और संविधान सभा में आने की अपील की जिसका बहिष्कार करने की अब जिन्ना ने धमकी दी। वाइसराय ने लीग को हिंसात्मक शब्दों और कार्यों से रुकने की भी सलाह दी। उसी रात अंतरिम सरकार के ग़ैर लीगी सदस्य सर शफ़ात अहमद खाँ के कुछ मुसलमानों ने शिमला में छुरा भोंक दिया।

दिल्ली में मुस्लिम लीग के एक सदस्य ग़ज़नफ़र अली खाँ ने मुसलमानों की एक सभा में जिसमें बिना लीग के अंतरिम सरकार के गठन की निन्दा का प्रस्ताव पारित हुआ था, "नेहरू की सरकार" को बुरी तरह कोसा। प्रस्ताव में कहा गया था, "मुसलमान अपना खून देकर भी इस सरकार की मुख़ालफ़त करेंगे।" लीग युद्ध पथ पर थी।

नेहरू कलकत्ते के हत्याकांड से बहुत अधिक परेशान हो उठे। उन्होंने इसे और आगे हिंसाकांड के लिए लीग को ख़तरे की घंटी समझा। इस प्रकार की उत्तेजक अवस्था में अंतरिम सरकार की स्थिति नाज़ुक और विचित्र ढंग से मार्मिक हो रही थी, क्योंकि आगे होनेवाले दंगों के विरुद्ध किसी कड़ी कार्यवाही को नेहरू की "हिन्दू सरकार" का मुसलमानों को दबाने की चेष्टा के रूप में मुस्लिम लीग लाभ उठा सकती थी। नेहरू ने अनुभव किया कि हिन्दू भी सामूहिक हिंसा में समर्थ और अपराधी हैं, और यथार्थ में उन्होंने दूसरी जगहों पर पहल करने के सिवा कलकत्ता और दूसरे स्थानों में जवाबी कार्यवाही की थी। नेहरू को लगा कि इस समस्या को सुलझाने का एकमात्र तरीक़ा इसे सांप्रदायिक समस्या न मानकर सब लोगों की संवेदना और भावनाओं पर आघात करने वाली मनुष्य मात्र की समस्या समझना चाहिए, इसमें उनके धर्म या राजनीति की अपेक्षा नहीं रहना चाहिए। अंतरिम सरकार में जाने के कुछ पहले नेहरू ने एक चेतावनी दी थी। उन्होंने कहा, "हिंसा का यह नया रूप सांप्रदायिक या राजनीतिक नहीं रह गया है। यह मानवता की प्रत्येक शिष्ट प्रवृत्ति के लिए चुनौती हो गया है, और उसका उसी रूप में इलाज होना चाहिए।" लेकिन अब तक उनकी आवाज़ घृणा और क्रोध में अरण्यरोदन होकर रह गयी।

जिन्ना और लीग तुष्ट होने के भाव में नहीं थे। अंतरिम सरकार के पदग्रहण के पूर्व क़ायदे आज़म के प्रधान सहायक लियाक़त अली खाँ ने समस्त मुसलमानों से कहा कि हिन्दू कांग्रेस और उसके पिछलग्गुओं के पदग्रहण के अवसर पर अपने घरों और व्यव-साय के स्थानों पर काले झंडे लगाकर "मुसलमान क़ौम की ख़ामोश मुख़ालफ़त का इज़हार करने के लिए" २री सितंबर को "कालादिन" मनाना चाहिए। बंबई से जिन्ना

गरजे, "भारत गृहयुद्ध के विनाशकारी कगार पर स्थित है।" वह उसे संभव वनाने के लिए सब कुछ कर रहे थे।

सितंबर में वंबई और ढाका में हिंदू-मुस्लिम मुठभेड़ और दंगे हो गए और कलकत्ते में हिंसा फिर भड़क उठी। किन्तु घृणा और आतंक की लहरें कितनी ही संगठित क्यों न हों, अपने वेग से प्रभावपूर्ण परिणाम तक नहीं पहुँच सकतीं। जिन्ना ने ग्रीक समवेत स्वर की धमकानेवाली एकस्वरता से दुहराया, "पाकिस्तान एकमात्र हल है।"

लेकिन वे जिस तरह के चतुर दाँव पेंच करनेवाले थे, उन्होंने जल्दी ही समझ लिया कि लीग को अंतरिम सरकार से अलग रखकर उन्होंने कांग्रेस को सुविधाजनक स्थिति में जाने दिया है जिससे कि लीग अकेली पड़ सकती है और जो एक ऐसे शासन के निष्फल विरोध में चली जाय जो ब्रिटिश अधिकारियों के समर्थन पर भरोसा कर सकता है। अव उन्होंने अंतरिम सरकार को पंगु वनाने और उसे भी भीतर से भंग करने के लिए उसमें जाने की चाल चली और उससे यह दिखाने की आशा की कि हिन्दू और मुसलमान एक साथ सरकार में काम नहीं कर सकते। अगर अंतरिम सरकार सफल हो गई तो यह दिखाया जायगा कि पाकिस्तान भड़कानेवाला क़िस्सा था और किसी भी तरह अंतरिम सरकार को समाप्त करना ही होगा।

जिन्ना ने एक संवाददाता से भेंट में पहले "टोह" लेने के लिए कहा कि अगर ब्रिटिश सरकार "अन्य भारतीय समझौता करनेवालों के साथ वरावरी के स्तर पर सम्मेलनों की नई श्रृंखला आरंभ करने के लिए उन्हें लन्दन निमंत्रित करे तो वे उसे स्वीकार कर लेंगे। इस पर वैवेल ने उन्हें वातचीत के लिए दिल्ली वुलाया, लेकिन नेहरू ने इसका विलकुल ठीक विरोध किया कि इससे एक वार तय किए हुए प्रश्नों को एक वार फिर निरंतर परिवर्तन की दशा में डाल देना होगा और सरकार का काम कठिन कर देना होगा। कांग्रेस ने समझा कि जिन्ना के प्रस्ताव में व्यावहारिक शब्द "वरावरी के स्तर पर" थे, जिन्हें यदि स्वीकार कर लिया जाय तो उसके अर्थ होंगे कि लीग के अंतरिम सरकार में उतने ही सदस्य होंगे जितने कांग्रेस के। इसी के अनुसार ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने जिन्ना को लंदन वुलाने में असमर्थता प्रगट कर दी।

अव क़ायदे-आज़म को लीग के अंतरिम सरकार में प्रवेश प्राप्त करने का कोई और उपाय न रहा। उन्हें कांग्रेस के छः प्रतिनिधियों के मुक़ावले में पाँच से ही संतोष करना होगा। अक्टूबर के प्रारंभ में वे भोपाल के नवाव के यहाँ तीन दिन में दो वार नेहरू से मिले। उनकी पहली वातचीत तीन घंटे चली और दूसरी एक घंटे से कुछ ऊपर रही। यद्यपि नेहरू जिन्ना की चाल के भीतरी मतलव से अनजान नहीं थे,वे सावधान और दृढ़ रहते हुए भी अनुरंजक थे। उन्होंने अनुभव किया कि जिन्ना अपनी वकालत से उनसे कुछ क़वूल कराना या रियायत में फाँसना चाहते हैं। उनके वीच के आए गए पत्रों से, जो वाद में प्रकाशित हुए, यह पता चलता है कि उन्होंने एक के सिवा जिन्ना की सव माँगों का प्रतिरोध किया। इस एक को अपने साथियों से सलाहकर उन्होंने यथार्थतः मान लिया।

इनमें "चुनावों के परिणाम स्वरूप" कांग्रेस की "मुस्लिम लीग को भारत के मुसलमानों की वहुत अधिक बहुसंख्यक का प्रतिनिधि आधिकारिक संगठन स्वीकार करने की "सह-मति व्यक्त की" वशर्ते इनके ही समान कारणों से लीग कांग्रेस को सब ग़ैर-मुस्लिमों और ऐसे मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करनेवाला संगठन मान ले जिन्होंने अपने भाग्य का निपटारा कांग्रेस के ऊपर छोड़ दिया है।" इस रियायती मान्यता को व्यर्थ में उड़ाने के प्रयत्न में जिन्ना ने विरोध प्रकट किया कि मुस्लिम लीग भारत के मुसल-मानों की एकमात्र प्रतिनिधि है। उन्होंने कहा कि गांधी ने इसे स्वीकार कर लिया था। नेहरू और उनके साथियों ने कहा, शायद, लेकिन गांधी ने न तो उन लोगों को और न कांग्रेस को इससे बाँधा है और न बाँध सकते हैं।

जिन्ना नेहरू के साथ बहस करते रहे, लेकिन जब उनके पत्र व्यवहार बन्द हुए थे उनके पहले वे वाइसराय से दो बार मिल चुके थे, और १३ वीं अक्टूबर को उन्होंने वैवेल को आश्वासन दे दिया था कि मुस्लिम लीग अंतरिम सरकार में आएगी। उसने २६ वीं अगस्त को ऐसा किया, उसके पाँच प्रतिनिधि थे लियाक़त अली खाँ, आई० आई० चुंद्रीगर, अब्दुर्रब निश्तर, ग़ज़नफ़र अली खाँ, और जोगेन्द्रनाथ मंडल, इनमें से अन्तिम अनुसूचित जाति के सदस्य थे। कांग्रेस का मज़ाक उड़ाने का यह जिन्ना का ढंग था।

अपना उद्देश्य पूरा करने के बाद क़ायदे-आज़म अब अंतरिम सरकार को भीतर से तोड़ने फोड़ने में लग गए। यह अपेक्षाकृत सरल काम था क्योंकि अगस्त १९४७ तक (जब विभाजन हुआ) शासन व्यापक सांप्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि में काम करता रहा, विशेषतः पूर्वी बंगाल और बिहार में। जिस प्रचंड अग्नि को जाग्रत करने में जिन्ना ने इतना कुछ किया था, उस पर जिन्ना की प्रतिक्रिया शोर को दुहराना था। "भारत के घरेलू झगड़ों के अंत की तब तक कोई संभावना नहीं है जब तक पाकिस्तान निरपेक्ष रूप से नहीं मिल जाता;" उन्होंने धमकी दी।

सरकार में मुस्लिम लीग के पाँच सदस्य अलग और स्पष्ट पक्ष के रूप में—मंत्रि-मंडल के भीतर मंत्रिमंडल बनकर काम करता था, जिससे संयोजित और उपयोगी शासन असंभव हो गया। वैवेल में अधिक प्रभावपूर्ण तालमेल निश्चित करने की न तो प्रकृति, प्रवृत्ति थी और न राजनैतिक समझ थी। वे परस्पर विभाजित सभा की व्याकुलता से अध्यक्षता करते थे।

इसके बाद जिन्ना संविधान सभा के नष्ट करने में लग गए जो, यह घोषित हुआ था कि ९ वीं दिसंबर को संयोजित होगी। २१ वीं नवम्बर को क़ायदे-आज़म ने अपने अनुयायियों में किसी को स्थान ग्रहण करने का निषेध करते हुए एक फ़र्मान जारी किया। अब तक सरकारी तंत्र में धीरे धीरे बढ़ती हुई पंगुता आ चुकी थी और उसने वैधानिक प्रगति को जकड़ दिया था। यही करने की जिन्ना ने योजना बनाई थी।

लंदन में दिल्ली से अधिक स्पष्टता से यह अनुभव किया गया कि इस प्रकार

की हठवादिता को अगर उसके अनुसार काम करने दिया जाय तो उससे भयानक विपत्ति ही हो जायगी। स्थिति स्पष्टतया वैवेल की क्षमता से अधिक बड़ी हो गई थी। इसपर ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं और वाइसराय को सलाह के लिए लंदन बुलाया। यह घोषित किया गया, "प्रस्तावित चर्चा का प्रयोजन दोनों प्रधान पार्टियों में एक समान समझौते पर पहुँचने की चेष्टा है जिस पर कि संविधान सभा का काम सब पार्टियों के सहयोग से चल सके।" ३ री दिसंबर को नेहरू, जिन्ना, लियाक़त अली ख़ाँ और सिख प्रतिनिधि सरदार बल्देव सिंह के साथ वैवेल लन्दन के लिए चल पड़े।

कांग्रेस और लीग अन्तिम रूप से अलग होने के स्थल पर आ गई थीं। लेकिन आगे भयानक और खून से लथपथ मार्ग था।

२०

स्वतंत्रता का आगमन

वाइसराय भवन में अपनी पहली भेंट के अंत में लॉर्ड माउंटबैटन ने कहा, "मिस्टर नेहरू, मैं चाहता हूँ कि आप मुझे ब्रिटिश राज को समेटने वाला अंतिम वाइसराय न मानें, किंतु नवभारत को राह दिखानेवाला प्रथम वाइसराय मानें।"

नेहरू ने मित्रतापूर्ण ढंग से मुस्करा दिया।

उन्होंने कहा, "जब लोग कहते हैं कि आपकी मोहकता बड़ी खतरनाक है तो उसका क्या मतलब है, यह मैं समझ गया।"

लेडी माउंटबैटन के साथ, जिन्हें निर्णयात्मक, यद्यपि पूरक कर्तव्य भी पूरा करना था, माउंटबैटन २२ मार्च १९४७ को दिल्ली आ गए थे। उनकी नियुक्ति की घोषणा २० वीं फरवरी को कर दी गई थी, यद्यपि ऐटली ने उन्हें वाइसराय पद १८ वीं दिसम्बर को ही देना चाहा था, जब वैवेल लंदन में ही थे।

समाजवादी सरकार की यह आशंका कि भारत गृहयुद्ध की ओर बढ़ रहा है, उनकी उन नेताओं के साथ बातचीत से पक्की हो गई जो वैवेल के साथ ३री दिसंबर को लंदन आए। जब इन वार्ताओं के लिए पहले पहल निमंत्रण भेजे गए तो नेहरू ने जाने से अनिच्छा व्यक्त कर दी क्योंकि कांग्रेस को संदेह था कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल अंतरिम सरकार और संविधान सभा के पूरे प्रश्न को फिर से आरंभ करना चाहता है। मुस्लिम लीग ने संविधान सभा के बहिष्कार की घोषणा कर दी थी। ऐटली के इस आश्वासन पर कि उनकी सरकार का ऐसा कोई इरादा नहीं है नेहरू जाने को राजी हुए, लेकिन इस समझौते पर कि बलदेवसिंह के साथ वे संविधान सभा के लिए भारत अवश्य लौट आएँगे। उसका अधिवेशन ९वीं दिसंबर को होने वाला था। इस शर्त को ऐटली भी मान गए थे।

जब वैवेल चार भारतीय नेताओं के साथ लंदन के लिए चले तो न केवल कांग्रेस और लीग के संबंध बहुत अधिक कटुतापूर्ण हो गए थे, कांग्रेस वाइसराय और वरिष्ट ब्रिटिश अधिकारियों के कामों के बारे में भी गंभीर रूप से शंकित थी।

२१वीं नवंबर को मेरठ में विषय निर्धारिणी समिति के आगे एक उग्र स्पष्ट वक्तृता में नेहरू ने साफ़ साफ़ कहा था, "लीग और ब्रिटिश अफसरों में एक मानसिक मैत्री है;" और फिर वह बताने लगे कि अंतरिम सरकार में लीग के आ जाने के बाद वातावरण ऐसा दूषित हो गया था कि कांग्रेस सदस्य दो बार त्यागपत्र देने की धमकी दे

चुके थे। नेहरू ने खुल्लम खुल्ला वैवेल को उस भावना से सरकार चलाने की असफलता के लिए दोषी ठहराया कि जिस भावना से उसका आरंभ हुआ था। उन्होंने आरोप किया, वह क्रमशः गाड़ी के पहिए निकाल रहे हैं और इससे स्थिति संकटापन्न होती जा रही है।"

इन परिस्थितियों में वैवेल का हटना अनिवार्य हो गया जिनकी समझ और दृष्टि-कोण किसी तरह भारत को सत्ता हस्तांतरित करने की समाजवादी सरकार की योजना के अनुकूल अपने को न बना सकी। इस उद्देश्य के लिए लन्दन ने वैवेल से एक रूपरेखा बनाने के लिए कहा।

ऐटली ने माउंटबैटन से रोना रोया, "वह जो कुछ लाए हैं वह सेना के खाली करने की योजना है।"

संविधान पार्टियों में सब पार्टियों के भाग लेने और सहयोग को प्राप्त करने के अपने लक्ष्य में लन्दन की बातचीत व्यर्थ रही। झगड़े का सवाल यह था कि प्रान्तों के समुदाय का निर्णय समुदायक्रम से लिया जाय या प्रान्तों के क्रम से। लीग ने ब्रिटिश सरकार के समर्थन से पहला क्रम लिया, कांग्रेस का दूसरे क्रम का विचार था, किन्तु वह प्रश्न को संघीय न्यायालय[1] के समक्ष उपस्थित करने की इच्छुक और उसके निर्णय को मानने को तैयार थी। किंतु इसके लिए लीग नहीं तैयार थी।

९वीं दिसंबर को संविधान सभा के उद्घाटन में उपस्थित होने के लिए नेहरू और बल्देवसिंह को समर्थ करने के लिए, बातचीत ६ठी दिसंबर को समाप्त हो गई। जब असेंबली तैयार हुई तो मुस्लिम लीग के चौहत्तर प्रतिनिधियों में-से एक भी उपस्थित न था। यह उल्लेखनीय है कि अपने उद्घाटन भाषण में, अपने समय के प्रसिद्ध पत्र-कार और समाजसेवक, अध्यक्ष डा० सच्चिदानन्द सिनहा ने भारत के संविधान बनाने-वालों के आगे सबसे उपयुक्त नमूने के रूप में संयुक्त राज्य के संविधान का निर्देश किया, क्योंकि वह "अनेक सहमतियों के क्रम और समझौते के क्रम पर" आधारित था।

दो दिन बाद डा० राजेन्द्रप्रसाद संविधान सभा के स्थायी अध्यक्ष चुने गए। लीग की अनुपस्थिति से उस संस्था की सीमितता को स्वीकार करते हुए अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने कहा, "लेकिन मैं यह भी जानता हूँ कि इन परिसीमाओं के होते हुए भी असेंबली आत्मशासक और आत्म-निर्णयात्मक स्वाधीन संस्था है जिसकी कार्य-वाही में कोई बाहरी शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती और जिसके निर्णयों को कोई भी बाहरवाला उलट बदल या संशोधन नहीं कर सकता।" ब्रिटिश सरकार को अलग रहने का यह स्पष्ट निर्देश था। दिसंबर के अंत में, बरेली में एक वक्तृता में प्रसाद ने कहा, "संविधान सभा में जो संविधान तैयार हो रहा है, वह इस तरह का बनेगा कि वह सब दलों को मान्य हो।" लीग के बहिष्कार के होते हुए असेंबली अपने काम में आगे बढ़ रही थी।

इस तनाव के नाजुक वातावरण में माउंटबैटन ने वाइसराय का पद ग्रहण किया।

---

१. उस समय भारत में सर्वोच्च न्यायाधिकरण।

एक विशिष्ट कार्य को एक निर्धारित तिथि को पूरा करने—जून १९४८ तक भारत को राजनीतिक सत्ता हस्तांतरित करने-का भार ग्रहण कर वे भारत आए। जब लगभग ९० नब्बे वर्ष पूर्व भारत ब्रिटिश आधिपत्य में आया, तो रानी विक्टोरिया का राज था; और अब इतिहास की विचित्र लिपि से उनके प्रपौत्र को यह साथ समाप्त करने का काम सौंपा गया। अपने एक निर्णय से वह भारत गणतंत्र बनने, और अपनी ही इच्छा से राष्ट्रमंडल में रहने जा रहा था।

माउंटबैटन में कई उज्ज्वल गुण थे, किन्तु उनके पास कुछ मर्यादापूर्ण पूँजी भी थी। सोद्देश्य, महत्वाकांक्षी और दृढ़ निश्चय, एक बार मन में बात बैठ जाय तो उसके लिए कृतसंकल्प, वे अत्यधिक अध्यवसाय और अप्रतिहत प्रेरणा के व्यक्ति थे जो तथ्य और लोगों को एकत्रित करने और दोनों से उद्दिष्ट काम लेने में समर्थ थे। उनके लिए राजनीति सेना की चाल के समान थी जिसमें असुविधाजनक, पेचीदा उलझनों वाले टुकड़ों को पहले बाँटकर अलग कर लिया जाता, उन्हें फिर से अहिंसा से किन्तु दृढ़तापूर्वक व्यवस्थित रूपाकार में रख दिया जाता।

जब वाइसराय के रूप में उनकी नियुक्ति की घोषणा हुई तब माउंटबैटन केवल पैंतालिस वर्ष के थे। उनकी पत्नी—सप्तम एडवर्ड की, जो उनके पितामह क्रेसर अर्नेस्ट कैसल के निकट मित्र थे, धर्मपुत्री—उनसे एक वर्ष छोटी थीं। उनकी मँगनी दिल्ली में हुई थी जब माउंटबैटन प्रिंस आफ़ वेल्स (बाद में ड्यूक आफ़ विंडसर) के अधिकारियों के रूप में भारत भ्रमण कर रहे थे और उसके दूसरे वर्ष उनका विवाह हो गया। १८ जुलाई १९४७ को उन्होंने अपने विवाह की रजतजयंती दिल्ली में मनाई।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक माउंटबैटन दंपती ने प्रिंस आफ़ वेल्स के चारों ओर रहनेवाले लोगों का सुखद स्वर्णिम जीवन १९३६ में उनके अष्टम एडवर्ड रूप में गद्दी त्यागने तक बिताया। युद्ध ने उन दोनों में दूरव्यापी परिवर्तन किए और वे कर्तव्य और सेवा की नई भावना से उत्प्रेरित चरित्र और दृष्टिकोण में परिवर्तित होकर आए। एडविना माउंटबैटन युद्ध के अनेक मोर्चों पर बीमार और घायलों की निष्ठापूर्ण सेवा की अपनी ही गाथा से अपने पति के आश्चर्यजनक युद्धकार्यों के अनुरूप रहीं। वे अपने पति के लक्ष्य को सफल बनाने और यथासाध्य देश की सेवा का संकल्प लेकर भारत आईं। किन्तु यह संदेहजनक है कि उन्होंने स्वतंत्रता के पहले और बाद में जो अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रभावशाली कार्य किया उसकी उन्होंने कल्पना भी की थी।

विशेष रूप से नेहरू पर एडविना माउंटबैटन ने प्रत्यक्ष प्रभाव डाला। भारत आने के पूर्व वे कुछ भारतीयों को अच्छी तरह से जानती थीं, किन्तु बरसों से वे कवयित्री और राजनीतिज्ञ सरोजिनी नायडू से परिचित और उनकी प्रशंसक थीं। वे उनकी माता के साथ पढ़ती थीं। जीवन्तता और उल्लास से परिपूर्ण स्त्री सरोजिनी बातचीत करने में विलक्षण यद्यपि ईर्ष्यापूर्ण थीं, नक़ल बनाने में परास्त करनेवाली, उनका व्यक्तित्व उद्दीप्त किन्तु प्यारा, प्रायः भड़कने वाला और कभी-कभी क्रोधी था, और उनके

विनोद में तीखापन और अलंकरण था। वह ऐसी व्यक्ति नहीं थीं कि जिसकी मौजूदगी में कोई विश्राम पाता। किन्तु एडविना माउंटबैटन ऐसी व्यक्ति हो सकती थीं। उन्होंने भाँप लिया कि नेहरू को किस चीज़ की सबसे अधिक आवश्यकता है और यह नहीं जानते कि उसे कैसे उपलब्ध किया जाय, वह विश्राम था। और आगामी महीनों में गंभीर तनाव के संकटों की अतिशय अवस्था में वह उन्हें साथ रह कर, या अकेले, या अपने पति या बेटी के साथ या स्वयं ही, विश्राम के कुछ क्षणों के लिए फुसला सकीं। किसी और व्यक्ति से अधिक वे उनके तने, थके, अधिक काम किये हुए स्नायुओं को शांत करने में समर्थ थीं और नेहरू को शीघ्र ही उनके रूप में एक समझनेवाला और बुद्धिमान साथी मिल गया जो उनके कुछ विचारों को पुष्ट करता, कुछ से उनको दूर रहने की प्रतीति कराता, कुछ क्षणों के लिए उनके मन को उन चीज़ों से अलग रखता जो उसपर छाई रहतीं या उन्हें परेशान करतीं। वे ऐसी संगिनी थीं जो सदा सहायता के लिए तत्पर रहतीं किन्तु कभी दखल नहीं देतीं।

माउंटबैटन के आने के पहले से ही कांग्रेस और लीग के अलगाव से राजनीतिक कटु वातावरण पंजाब में भीषण दंगों के रूप में फट पड़ा था जिसमें हिन्दू, मुसलमान और सिख संबद्ध थे। इन घटनाओं के कुछ सप्ताह पहले गांधीजी पूर्वी भारत का दौरा कर रहे थे जहाँ विशेषकर दक्षिण पूर्व बंगाल के नोआखाली क्षेत्र में इसी प्रकार के दंगे हुए थे। पंजाब की प्रचंड ज्वाला जो ४ मार्च को आरंभ हुई, विभाजन के तत्काल बाद अपने शिखर पर पहुँच कर स्वतंत्रता के बाद तक शांत न हुई।

४ मार्च को पंजाब की राजधानी लाहौर में सांप्रदायिक संघर्षों में तेरह व्यक्ति मारे गए और १०५ घायल हुए, और शीघ्र ही उपद्रव अमृतसर, अटक, मुल्तान और रावलपिंडी के समान महत्वपूर्ण नगरों में फैल गए। उपद्रव का तात्कालिक कारण मुसलमान प्रधान मंत्री मलिक खिज्र हयात खाँ का त्यागपत्र था। वे मुस्लिम लीग की राजनीति के विरुद्ध थे और जिनका मिला जुला मंत्रिमंडल मुस्लिम-सिख सहयोग पर आधारित था। यदि गवर्नर सर इवान जेंकिंस की प्रधानता में ब्रिटिश अधिकारी अधिक निर्णयात्मकता से काम लेते और त्यागपत्र से उत्पन्न स्थिति के बीच आ जाते तो स्थिति अधिक तत्परता से वश में आ जाती। किंतु भारत में ब्रिटिश राज के दिन समाप्त हो रहे थे और कुछ ही ब्रिटिश अधिकारियों का हृदय न्याय और व्यवस्था बनाए रखने के मूल कार्य में रह गया था। उनमें से कुछ के मन में भारत में स्वतंत्रता के पूर्व नागरिक अराजकता की आशा उसके प्रलोभन से रहित नहीं थी। एक बार ब्रिटिश सत्ता का दृढ़ हाथ अलग हो जाने पर भारतीय शासकों और प्रशासकों की सांप्रदायिक स्थिति को क़ाबू करने में असमर्थता का कैसा अच्छा प्रमाण था! लगभग एक शताब्दी पूर्व सैनिक विद्रोह की ख्याति के लॉर्ड लारेंस ने "विलक्षण निष्क्रियता" के मंत्र का उपदेश दिया था और जब अंग्रेज़ भारत छोड़ने को तैयार हुए तो उसकी प्रतिध्वनियाँ पंजाब में और अन्यत्र बनी रहीं और गूंजती रहीं।

५ वीं मार्च को लाहौर में पुलिस की गोली से सात व्यक्तियों की हत्या और बयासी घायल होने से मृत्यु संख्या बढ़ गई। ११ वीं मार्च तक लाहौर में उपद्रव वश में आ गए, किंतु अन्यत्र आग जलती रही। पंजाब के तीन नेताओं के साथ नेहरू रावलपिंडी के उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों में गए जहाँ सिखों ने पर्याप्त रक्षा के लिए प्रबल प्रदर्शन किया। भविष्य के भयानक पूर्वाभास, संहार और विनाश के दृश्य से नेहरू को धक्का लगा। दिल्ली लौट कर उन्होंने कहा, "मैंने भयानक दृश्य देखे हैं और मैंने इन्सानों के ऐसे व्यवहार सुने हैं जो पशुओं को हीन बना देंगे। पंजाब में जो कुछ हुआ है वह राजनीतिक मामलों से निकट रूप से संबंधित है। अगर किसी व्यक्ति में कण बराबर समझ है तो वह जरूर अनुभव करेगा, उसका राजनीतिक लक्ष्य जो भी हो, उसे प्राप्त करने का यह तरीक़ा नहीं है। इस तरह का कोई भी प्रयत्न विनाश और विध्वंस लाएगा, जैसा कि वह कुछ हद तक लाया भी है।"

यहाँ तक कि मुस्लिम लीग के प्रति सामान्यतः कोमल भावना रखने वाला लन्दन का टाइम्स समाचारपत्र उसे भला बुरा कहने को उत्प्रेरित हो गया। अवैधानिक आन्दोलन के द्वारा जबर्दस्ती सांप्रदायिक तानाशाही लाने के प्रयत्न की निन्दा करते हुए उसने चेतावनी दी :

यदि यह दावा किया जाता है कि आन्दोलन प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित है तो उससे खतरा किसी तरह कम नहीं हो जाता। पंजाब में मुस्लिम लीग द्वारा चलाए गए आन्दोलन की यह विचित्र बात है कि प्रान्त में ५६ प्रतिशत बहुसंख्या उसे इन (प्रजातंत्रीय) सिद्धान्तों की शरण लेने में समर्थ बनाती है जब कि भारत के दूसरे भागों में वह उनका विकट विरोध करती है।

२० वीं मार्च को, माउंटबैटन के भारत आगमन के पूर्व दिवस, यह आधिकारिक रूप से घोषणा की गई थी कि पंजाब में २०४९ व्यक्ति मारे गए हैं और १००० से ऊपर गंभीर रूप से आहत हुए हैं। जब उन्होंने पद ग्रहण कर लिया था उसके दो दिन बाद २६ वीं मार्च को कलकत्ता में दूसरा उपद्रव हुआ और उसके शीघ्र बाद बंबई में हिन्दू-मुस्लिम दंगा छिड़ गया। जिन्ना के प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस के नारे से शुरू हुई हिंसा के क्रम के शांत होने के लक्षण नहीं दिखाई देते थे।

नए वाइसराय से मिलने वालों में से नेहरू प्रथम थे। लगभग एक साल से कुछ अधिक पूर्व उनसे सिंगापुर में दक्षिण पूर्व एशिया कमान की अंतिम प्रावस्था में मिलने से वे माउंटबैटन से परिचित थे। वे एक दूसरे को पसंद करते थे और दोनों में पारस्परिक सद्भाव था।

मलाया से लौटने पर नेहरू से उनके एक परिचित ने पूछा, "क्या माउंटबैटन ने तुम्हें अपने सिद्धान्त का बनाने का प्रयत्न किया था?"

नेहरू हँसे। "हमने थोड़ा थोड़ा एक दूसरे का सिद्धान्त परिवर्तन किया।"

यह प्रक्रिया भारत में चलती रही।

अपनी पहली भेंट में माउंटबैटन ने बड़े साहस के साथ नेहरू से जिन्ना के बारे में उनकी सम्मति पूछी।

नेहरू बोले, "जिन्ना को सफलता बहुत विलम्ब से मिली—जब वे साठ से ऊपर हो चुके। उनकी सफलता का रहस्य स्थायी रूप से निषेधात्मक ढंग अख्तियार करना रहा है।

उन्होंने यह और नहीं कह दिया कि लीग के पाकिस्तान के अभियान की इस सफलता में अंग्रेजों का हाथ कम नहीं रहा है। लेकिन सदा प्रभावपूर्ण ढंग से संक्षेपतः समझाए गए माउंटबैटन ने निस्सन्देह यह समझ लिया। नेहरू ने यह भी नहीं बताया कि उनके ही विषय में सफलता जल्दी ही मिल गई थी।

नेहरू ने दो ऐसी बातें इस वार्तालाप में और कीं जो प्रधान मंत्री के रूप में उनकी नीति के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं।

माउंटबैटन ने पूछा, "भारत के सामने सबसे बड़ी एक कौन सी समस्या आप के ख़याल में है?"

नेहरू ने बिना किसी हिचकिचाहट के उत्तर दिया, "आर्थिक।"

राष्ट्रमंडल के साथ भारत के संबंध की बात करते हुए माउंटबैटन ने पूछा कि उसका क्या रूप हो, और इस बात पर आश्चर्यित हुए नेहरू ने सुझाया कि उसका रूप आंग्ल-भारतीय (इंडो-ऐंग्लियन) संघ का होना चाहिए जिसमें दोनों देश सामान्य नागरिकता का उपयोग करें।

माउंटबैटन को यह संबंध राष्ट्रमंडल पद से अधिक निकट का लगा लेकिन नेहरू ने उसे उस रूप में नहीं देखा। पिछले कुछ दिनों से यह समस्या उनके दिमाग़ में चक्कर काट रही थी, और उन्होंने इस पर कृष्ण मेनन के साथ चर्चा की थी। राजनीतिक और संवैधानिक प्रश्नों पर उनकी सम्मति की वे बहुत क़द्र करने लगे थे। दस वर्ष पहले मेनन उनके साथ गणतंत्रीय स्पेन के दौरे पर गए थे और बहुत समय तक उन्होंने लंदन में कांग्रेस के प्रचारकर्ता के रूप में उपयोगी कार्य किया था। उनका मस्तिष्क तीव्र और व्युत्पन्न मति है और समझ विदग्ध है और नेहरू के लिए उनका महत्व जवाहर लाल के सहज, प्रायः आवेगपूर्ण विचारों को तर्कसंगत सिद्ध करने की योग्यता में है। दुबले, विपण्ण, तीखी ज़बान के और उद्धत अवहेलना की मुखाकृति वे (शायद बड़ी आसानी से) यह सुझाते हैं कि अनुभव से भरी विशिष्टता पृष्ठ भूमि में शोकाकुल मँडरा रही है। वास्तव में वे ऐसे कुटिल हैं नहीं। मेनन जानते थे कि जब फ्रांस सांघातिक रूप से चोट खाया हुआ पड़ा था तो चर्चिल के ऐंग्लो-फ्रेंच संघ के प्रस्ताव से नेहरू अनुप्राणित हुए थे। सामान्य नागरिकता के आधार पर, डोमिनियन पद पर नहीं, भारत राष्ट्रमंडल का सदस्य क्यों नहीं रह सकता है? इससे दोनों ओर से व्यवहार चलता रहेगा और पारस्परिकता बनी रहेगी।

गांधीजी से माउंटबैटन ने जो सुना वह उन्हें और भी चौंकाने वाला सुझाव था, क्योंकि वाइसराय के साथ कई सुखद भेंटों में महात्माजी ने सौम्यतापूर्वक यह सुझाव दिया

कि अंतरिम सरकार को त्यागपत्र दे देना चाहिए और जिन्ना को मंत्रिमंडल बनाने के लिए बुलाना चाहिए। गांधी जी को लगा कि सांप्रदायिक रक्तपात रोकने का यही एकमात्र तरीक़ा था।

"मैं बिलकुल सच्चाई से कहता हूँ," उन्होंने माउंटबैटन को विश्वास दिलाया।

जिन्ना के साथ माउंटबैटन के संपर्क कम महत्वपूर्ण थे। उस समय क़ायदे-आज़म सत्तर के रोगी, एक ध्येय से आक्रान्त थे, और साल भर के कुछ ऊपर बाद मर गए। जिन्ना सदा रूखे, औपचारिक और संक्षिप्त रहे। पेंसिल-सा उनका शरीर भव्य कपड़ों से आच्छादित रहता, उनके आचार-व्यवहार में नाटकीयता का आभास रहता जो उनके एक आँख के चश्मे और पकते बालों से और बढ़ जाता जिनमें एक सफेद गुच्छा कलँगी की तरह ज़बर्दस्ती निकला रहता।

जिन्ना की विनम्रता में रूखापन था और उनका ढंग ढीला नहीं पड़ा जब उनकी पहली चाल पर अचानक वाइसराय ने शह दी।

जब वे बात करने बैठे तो उन्होंने उद्धतता के साथ कहा, "मैं सिर्फ एक शर्त पर बात करना शुरू करूँगा।"

"मिस्टर जिन्ना," माउंटबैटन बोले, "मैं शर्तें या यथार्थ में वर्तमान स्थिति पर तब तक बात करने के लिए तैयार नहीं हूँ, जब तक मुझे आपसे परिचय प्राप्त करने का और आपके बारे में अधिक जानने का अवसर नहीं मिलता।"

भेंट विनम्र किन्तु शिष्टाचार के स्वर पर समाप्त हो गई।

"या खुदा!" अपने कर्मचारी वर्ग के एक सदस्य से माउंटबैटन की प्रतिक्रिया थी। "वह ठंडे थे। मुलाक़ात का अधिकतम समय उन्हें गलाने में लग गया।"

जिन्ना की प्रतिक्रिया क्या थी?

उन्होंने अपने सचिव से कहा, "वाइसराय समझता नहीं।"

इन वार्ताओं का प्रयोजन यह पता लगाना था कि मंत्रिमंडलीय योजना पर कांग्रेस और लीग अब भी समझौते पर पहुँच सकते हैं या नहीं। साधारण स्थिति में इस तरह का काम करना कठिन होता। किंतु परिस्थिति साधारण से बहुत भिन्न थी क्योंकि बात-चीत झगड़ों और अव्यवस्था की पृष्ठभूमि में, दंगों और रक्तपात के साथ बीच में उस सविनय अवज्ञा आन्दोलन को रख कर हो रही थी जो सीमाप्रांत में लीग ने कांग्रेस मंत्रि-मंडल के विरुद्ध चला रखा था, जहाँ कि ९७ प्रतिशत जनसंख्या मुसलमान थी।

मध्य अप्रैल तक स्थिति ऐसी विस्फोटक हो गई कि माउंटबैटन के समझाने से गांधीजी और जिन्ना ने समझदारी के लिए संयुक्त अपील की कि दोनों संप्रदाय भाषण और लेखन में किसी प्रकार की हिंसा और अव्यवस्था को भड़काने के कामों से अलग रहें। १५ वीं अप्रैल को प्रकाशित अपील में भारत के सब संप्रदायों से कहा गया था "वे किसी भी मान्यता के हों, न केवल हिंसा और अव्यवस्था के सब कामों से दूर रहें बल्कि भाषण और लेखन में ऐसे शब्दों से विरत रहें जो ऐसे कामों के लिए उत्तेजनापूर्ण समझे जा सकें।"

यह सर्वोच्च उद्देश्य से उत्प्रेरित और पंजाब और सीमा प्रांत के उपद्रव केंद्रों की ओर प्रतिलक्षित परिपूर्णता की सलाह थी। यह दोनों ही मुसलमानों की बहुसंख्या के प्रांत थे। किंतु दोनों में भी घृणा की अग्नि के बुझने के लक्षण दिखाई न पड़े।

स्पष्टत:, मंत्रिमंडलीय-मिशन-योजना के आधार पर कांग्रेस और लीग में समझौते की कोई संभावना नहीं थी। अब या तो विभाजन या अराजकता थी, और उस डाक्टरी चीरफाड़ में भी बहुत खून बहता।

विभाजन में देर करने से गृह-युद्ध के तांडव को बढ़ाना और अधिक तेज़ करना था। दिल्ली में कांग्रेस से संबंधित या सहानुभूति परक नौ सदस्यों और पांच मुस्लिम लीग के सदस्यों का मंत्रिमंडल स्वयं ही विभाजित गृह था।

गांधीजी अब कठोरता से विभाजन के विचार के विरुद्ध थे, किंतु नेहरू और वल्लभ भाई पटेल को अब लगा कि अव्यवस्था और अधिक अन्यथा न हो सकने योग्य अराजकता के जिस सागर में भारत डूबा हुआ है उससे पाकिस्तान अच्छा है। किन्तु कांग्रेस का यह आग्रह था कि अपने जाने का समय निर्धारित कर ब्रिटिश सरकार को यहाँ से निकलने की रूपरेखा बता देना चाहिए। अंग्रेज़ों की नीयत में अब भी संदेह था।

नेहरू ने माउंटबैटन से शिकायत की, "यह बिलकुल नहीं चल सकता। अगर आप योजना नहीं बनाते तो मैं त्यागपत्र दे दूंगा।"

पटेल और अधिक स्पष्ट और प्रबोधक थे।

उन्होंने वाइसराय पर दोष लगाया, "आप न तो स्वयं शासन करेंगे और न हमको शासन करने देंगे।"

१९ वीं अप्रैल को माउंटबैटन ने अपने निकट के सहकर्मियों को बताया कि वे सोचने लगे हैं कि पाकिस्तान अनिवार्य है। थोड़े ही दिनों बाद अपने चीफ़ आफ़ स्टाफ़ लार्ड इस्मे को जो मुस्लिम आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति परक कहे जाते थे नियत किया कि वे दोनों मुस्लिम बहुसंख्यक किन्तु बहुत अधिक ग़ैर मुस्लिम लोगों वाले प्रान्तों बंगाल और पंजाब के विभाजित आधार पर अपनी प्रतिक्रिया में जिन्ना को आँकें।

जिन्ना कटुता पूर्वक बोले, "पाकिस्तान न होने से कीड़ों का खाया पाकिस्तान ही अच्छा है।"

२३ वीं अप्रैल को माउंटबैटन के साथ एक भेंट में जिन्ना ने इस विचार की पुष्टि की। वाइसराय के प्रेस अटैची ऐलन कैंबेल-जान्सन मुलाक़ात के बारे में लिखते हैं, "उनका मिज़ाज...... मान लेने वाला था। वे बंगाल और पंजाब के विभाजन से परितुष्ट लगते थे।"

लेकिन जिन्ना का परितुष्ट मिज़ाज अल्पकालीन था। एक सप्ताह के भीतर ही वे फिर अविभाजित पंजाब और बंगाल की माँग करते हुए झगड़े की राह पर आ गए। सदा की तरह हर सूरत में वे मुश्किल खड़ी कर देते।

इस अवसर पर माउंटबैटन ने समझ लिया कि झटपट काम करना ही स्थिति का

तक़ाज़ा है और कम-से-कम अव्यवस्था और रक्तपात के साथ सत्ता का हस्तांतरण करना है तो जून १९४८ की अंतिम तिथि को इससे पूर्व किसी तिथि में लाना होगा। इसके अनुसार उन्होंने एक प्राक्कल्पित योजना सोची जिसमें भारत और लंदन में काफी बहस के बाद विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकृति दी किन्तु संशोधन सहित भारत सरकार के १९३५ ऐक्ट पर आधारित अंतरिम व्यवस्था के रूप में शीघ्र ही डोमिनियन पद का संयोजन किया। इसमें एक या दो प्रभुता संपन्न राज्य की व्यवस्था थी, और यदि एक हो, तो यह व्यवस्था थी कि सत्ता दिल्ली स्थित वर्तमान केंद्रीय सरकार को हस्तांतरित की जाय।

माउंटबैटन द्वारा शिमला में एक पहले का मसविदा दिखाने पर नेहरू बिगड़ उठे। उनके विचार में ऐसी योजना को स्पष्टतः यह स्वीकार करना होगा कि भारत और संविधान सभा ब्रिटिश भारत की उत्तराधिकारी है और पाकिस्तान और मुस्लिम लीग संबंध विच्छेद करने वाले हैं। उनका आग्रह था कि निरंतर सत्ता के रूप में भारत की कल्पना को बनाए रखना चाहिए। नेहरू का विचार था कि भारत हर प्रकार से पूर्ववत् चलता रहे, पाकिस्तान केवल बहुमत विरोधी प्रांतों को अलग होने की स्वीकृति का केवल परिणाम रहे। दिल्ली में केंद्रीय सरकार के काम में रुकावट नहीं पड़ना चाहिए। मूलतः उनके आग्रह के परिणाम स्वरूप मूल माउंटबैटन योजना जैसी कि लंदन से संशोधित की थी, कांग्रेस की संवेदनशीलता को तुष्ट करने के लिए और अधिक संशोधित की गई।

इस बीच जिन्ना यह घोषित कर रहे थे कि अगर ब्रिटिश सरकार यह निश्चय करती है कि भारत विभाजित किया जाय तो दिल्ली की केंद्रीय सरकार को समाप्त कर देना होगा और सारे अधिकार पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व करने को गठित संविधान सभाओं को हस्तांतरित करना चाहिए। किन्तु नेहरू का उत्तराधिकारी और पृथक् होने वाले का सिद्धान्त माना गया।

कांग्रेस के भीतर यह प्रत्यक्ष था कि जून १९४५ में वर्किंग कमेटी के छूटने के समय से महात्माजी राजनीतिक रूप से पृष्ठभूमि में चले गए हैं। तब से अधिकार मुख्यतः नेहरू और पटेल के हाथों में केंद्रित है, जो प्रमुख निर्णय किया करते हैं, उनमें से पाकिस्तान के संबंध में महत्वपूर्ण निर्णयों सहित बहुत से निर्णय महात्माजी के विचारों और सम्मान के विपरीत हैं।

इन दोनों में पटेल अधिक दबदबे के किन्तु अधिक क्रियात्मक भी थे। कठोर, अनमनीय मन और इच्छाशक्ति के पीछे वल्लभभाई सुनम्यता और यथार्थवादी समझौते की क्षमता छिपाए हुए थे। उन्हें शायद यह पता न लगे कि वे हार गए हैं, लेकिन वह यह जानते थे कि जब उन्हें शह लगे तो क्या करें। बौद्धिकता और स्वभाव में वे नेहरू से धरती आकाश के समान अलग थे। कभी-कभी वे उनसे घृणा भी करते थे। उनकी भक्ति और निष्ठा भारत की सीमाओं तक थी और अपने मौखिक व्यंग से पटेल यदा कदा नेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय अभियानों पर तानाकशी किया करते थे। वे अपने को किसान कहना पसन्द करते थे यद्यपि उनकी अध्ययन की पृष्ठभूमि किसी प्रकार

अप्रभावशाली नहीं थी। अपने भारी पलकों को झुकाकर वे "संस्कारी बुद्धिवादियों" का मज़ाक उड़ाया करते थे और उनकी बातें सुन कर कोई भी यह समझ लेता कि इस मज़ाक का शिकार कौन है।

महात्माजी का चमत्कार यह है कि वे ऐसे व्यक्तित्व जिनकी असमानता से हैरानी हो, ऐसे नेहरू और पटेल के ढंग के व्यक्तित्वों को आकर्षित कर सके। दोनों व्यक्ति स्वतंत्रता प्राप्त होने और उसके बाद तक एक दूसरे के गुणों या चालों में पूरक होकर या कमी पूरी करते हुए एक साथ काम करते रहे। नेहरू की भावुकता और प्रबल प्रदर्शन की प्रवृत्ति की रेख—बिगड़े बालक में पड़ी हुई आदत—प्रायः सरकार को चिढ़ा देती जो कभी-कभी अपराधी को कड़ी झिड़की देकर अपना बड़प्पन जताते।

लेकिन जवाहरलाल की तरह वल्लभ भाई भी अपने सहकर्मी के विशिष्ट गुणों को मानते थे। वे अपने से कनिष्ट व्यक्ति की सर्वोच्च देशभक्ति को मानते थे, जिसकी अहमिता और चाटुकारी के प्रति संवेदनशीलता, चाहे कितनी ही अधिक हो, उन लोगों की खुशामद के आगे कभी निरस्त नहीं होगी जो उनके वैयक्तिक कवच के छिद्रों में घुस कर उनका राजनैतिक समर्थन प्राप्त करना चाहें। वल्लभभाई ने मान लिया कि वे — शायद अनिच्छापूर्वक—भारतीय राजनीति के गैलहाड हैं—जैसा कि महात्माजी ने उनका बखान वर्षों पहले किया था, "बिना भय एवं बिना धिक्कार के वीर पुरुष।" खुशामद उनके कवच में दाग़ लगा दे तो लगा दे किन्तु उसे भेद नहीं सकती थी।

१८ वीं मई को माउंटबैटन अपनी पत्नी के साथ समाजवादी सरकार के "एक नम्र किंतु दृढ़ बुलावे पर" लंदन गए। सरकार और आगे बढ़ने के पहले प्रस्तावित योजना पर कांग्रेस और लीग की प्रतिक्रियाओं पर वाइसराय के व्यक्तिगत विवरण की प्रतीक्षा कर रही थी। वाइसराय मुश्किल से लंदन पहुँचे कि जिन्ना ने पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान को जोड़ने वाले ८०० मील के गलियारे की माँग का निश्चित समय पर छूटने वाला बम छोड़ दिया। नेहरू की प्रतिक्रिया तीखी हुई। यूनाइटेड प्रेस आफ़ अमेरिका की एक भेंट में उन्होंने माँग को, "ऊटपटाँग और बेहूदा" बताया। यह वाक्यांश वह तब उपयोग करते हैं जब ऐसी स्थिति का सामना पड़ जाय जिसे वे अत्यधिक अनुचित समझते हैं।

नेहरू ने समझाया, "हमारा उद्देश्य भारत के संघ के लिए है जिसमें से विशेष क्षेत्रों को अलग हो जाने का अधिकार है। हम किसी विवशता की प्रकल्पना नहीं करते। अगर बिना माँगों के आगे रखे इस आधार पर कोई ठीक निर्णय नहीं होता तो हम भारतीय संघ का संविधान बनाने और उसे लागू करने में लग जायँगे।"

माउंटबैटन ३१ वीं मई को दिल्ली लौटे और तत्काल लंदन द्वारा अनुमोदित प्रस्तावित योजना पर कांग्रेस और लीग के नेताओं की सहमति प्राप्त करने में लग गए। योजना में कांग्रेस और लीग को विवरण सोचने के लिए रख कर विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था। ब्रिटिश सरकार ने दोनों राज्यों को राष्ट्रमंडल से अलग होने के अधिकार

के साथ पूर्ण डोमिनियन पद के आधार पर सत्ता हस्तांतरण करना स्वीकार कर लिया था। इस हस्तांतरण की तिथि जून १९४८ से आगे कर १५ अगस्त १९४७ कर दी गई थी।

यह सोच कर कि पाकिस्तान बन जाने से जिन्ना अब और भारत की प्रगति में रोड़े नहीं अटका सकेंगे, नेहरू और पटेल दोनों ही विभाजन के विचार को मान गए थे।

नेहरू ने कहा, "सर काट कर हमें सर दर्द से छुटकारा मिल जायगा।"

तीसरी जून को माउंटबैटन ने कांग्रेस और लीग के नेताओं की योजना पर सहमति प्राप्त कर ली और उसकी घोषणा उसी दिन कर दी गई। उस संध्या को माउंटबैटन नेहरू, जिन्ना और सिखों के नेता बलदेव सिंह ने अपनी स्वीकृति को देश के लिए प्रसारित किया।

चारों प्रसारण में नेहरू का प्रसारण सबसे अधिक विचारपूर्ण और संयत, चिन्तनशील और सोच में डूबी हुई भाषा में व्यक्त था।

वे बोले, "हम छोटे-छोटे लोग बड़े उद्देश्यों में लगे हैं, लेकिन चूंकि उद्देश्य बड़े-बड़े हैं, उस बड़प्पन में से कुछ हम लोगों को भी मिल जाता है।"

उन्होंने कहा, सभी लोग भारत के विभाजन को नापसन्द करते हैं, लेकिन वे भारत का निरन्तर खून बहना नहीं देखना चाहते। ऐसी हालत में डाक्टरी चीरफाड़ अच्छी थी।

गांधी जी अब भी विभाजन के अडिग विरोध में थे। नेहरू के प्रसारण के पहले, अपनी संध्या प्रार्थना सभा के बाद बोलते हुए उन्होंने उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से झिड़की दी।

महात्माजी बोले "वह हमारे राजा हैं लेकिन राजा जो भी करे या न करे उससे हमें प्रभावित नहीं होना चाहिए। अगर वह हमारे लिए कुछ अच्छा करता है तो उसकी प्रशंसा करना चाहिए। अगर वह नहीं करता है तो हमें वैसा कहना चाहिए।"

स्वतंत्रता को केवल तीन महीने थे, लेकिन स्वतंत्रता की प्रसव पीड़ा में भारत ने तड़पाने वाली पीड़ा सही। राजाओं की नगरी दिल्ली में दोनों पार्टियाँ राजनीतिक सत्ता की लूट का, सेना और नागरिक सेवाओं और पुलिस से लेकर हवाई जहाज, पानी के जहाज, तोपें, रुपया पैसा, डेस्क, कुर्सियाँ और टाइप की मशीनों तक बँटवारा करने बैठ गई।

भारतीय और पाकिस्तानी सदस्यों में गतिरोध आ जाने पर एक सीमा आयोग ने, अपने ब्रिटिश अध्यक्ष सर सिरिल रैडक्लिफ के द्वारा निर्णय घोषित किया। वे अपने विचार बताने पर विवश किए गए। बंगाल और पंजाब में प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं ने अपने-अपने क्षेत्रों के विभाजन का निर्णय किया। सीमा प्रांत में जनमत संग्रह का परिणाम बहुत अधिक मुस्लिम लीग के पक्ष में हुआ जिससे आसाम का सिलहट डिवीज़न भी मिल गया। दिल्ली में रजवाड़े भी यह निश्चय करने को एकत्रित हुए कि दोनों में से किन राज्यों को वे स्वीकार करें। जैसा कि एक दीवान या रजवाड़े के अधिक दुष्ट प्रधान मंत्री ने अपने इसके पूर्व के मालिक को देख कर कहा कि वे वाइसराय भवन के विशाल स्वागत कक्षों में "बिना टिकट लगी चिट्ठी" की तरह घूम रहे थे। ब्रिटिश राज के विदा होने के साथ-साथ सामन्तवाद अन्तिम साँसें ले रहा था।

दिल्ली के वाहर कल के भारत और पाकिस्तान को और वहाँ से मुसलमान, सिख और हिन्दुओं का दुतरफा कूच शुरू हो गया था। जून के अन्त से लेकर लगभग एक वर्ष वाद तक मानव जाति ने पंजाव की सीमाएँ पार करने का-सा विशाल गमनागमन इतिहास में इसराइलियों को देशान्तर गमन के वाद से नहीं देखा था। उस अवधि में लगभग एक करोड़ इन्सान चल रहे थे जव कि पूर्व की ओर विभाजित वंगाल की सीमा पर और दस लाख के लगभग पैदल चल कर सुरक्षा के लिए आए।

शीघ्र ही सेव की तरह पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्र में तराशे गए भारत और पाकिस्तान के पंजाव में स्थिति गंभीर थी। ज्योंही १५ वीं अगस्त की निश्चित तिथि आई, दोनों क्षेत्र रक्तपात और अग्निकांड में भड़क उठे और फिर पागलपन और संहार की क्रूर पृष्ठभूमि में विभाजन पर, और भारत और पाकिस्तान की स्वाधीनता पर पर्दा उठा।

पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर जेनरल वनने के लिए जिन्ना ७ वीं अगस्त को दिल्ली से कराची चले गए थे। यह पहले समझ लिया गया था कि माउंटवैटन दोनों अधिराज्यों के गवर्नर जेनरल वने रहेंगे; लेकिन अंतिम समय में जिन्ना ने स्वयं अपना दावा आगे रखा। कांग्रेस सरकार के निमंत्रण पर माउंटवैटन ने भारत के गवर्नर जेनरल की हैसियत से रुक जाने का निश्चय किया।

गांधी जी भी ७वीं अगस्त को नोआखाली के रास्ते पर कलकत्ता चले गए थे। नोआखाली में हत्या, लूटमार और अग्निकांड के साथ-साथ कुछ दिनों से हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष चल रहे थे। स्वतंत्रता की घोषणा की रात को वे दिल्ली में नहीं थे। लेकिन लाल और सफेद पत्थर की विशाल राशि के भीतर जहाँ स्वतंत्रता का जन्म देखने के लिए संविधान सभा एकत्रित हुई थी वे याद किए गए थे।

असेम्वली के अध्यक्ष रूप में राजेंद्र प्रसाद ने महात्माजी को श्रद्धांजलि अर्पित की, "जो पिछले तीस वर्ष से हमारे प्रकाश स्तंभ, हमारे पथ प्रदर्शक और हमारे दार्शनिक रहे," और श्रद्धांजलि नेहरू के राष्ट्र के नाम संदेश में प्रतिध्वनित हुई। उन्होंने कहा :

आज के दिन हमारा पहला ध्यान इस स्वाधीनता के निर्माता, राष्ट्रपिता की ओर जाता है, जिन्होंने भारत के प्राचीन प्राणों को मूर्तरूप देकर स्वतंत्रता की मशाल उँची की और उस अँधेरे को प्रकाशवान् किया जो हमारे चारों ओर व्याप्त था। हम लोग प्रायः उनके अयोग्य अनुयायी रहे और उनके सन्देश से अलग रहे, लेकिन हम लोग ही नहीं, आने वाली पीढ़ियाँ इस सन्देश को याद रखेंगी और भारत के इस सपूत की छाप उनके मन पर रहेगी जो अपने विश्वास और वल में, साहस और विनम्रता में भव्य रहा। हम उस स्वतंत्रता की मशाल को कभी वुझने न देंगे, चाहे जितनी तेज़ हवा रहे या कितना ही प्रचंड तूफान रहे।

संविधान सभा में नेहरू ने अपना हृदयस्पर्शी भाषण इन स्मरणीय और आदेशात्मक शब्दों में समाप्त किया :

और इस लिए हमको मेहनत करना है और काम करना है और अपने स्वप्नों को

साकार करने के लिए कठिन परिश्रम करना है। यह स्वप्न भारत के लिए है, लेकिन वे संसार के लिए भी हैं क्योंकि किसी को यह सोचने के लिए कि वह अलग रह सकता है आज सारे राष्ट्र और लोग निकट रूप से एक दूसरे से गुथे हैं। शान्ति अविभाजित कही जाती है, इसी तरह स्वतंत्रता भी है, अब इसी प्रकार उन्नति भी है, और इसी प्रकार इस एक संसार में विपत्ति भी है, जो अलग-अलग टुकड़ों में तोड़ी नहीं जा सकती।

आधी रात के तुरत बाद नेहरू ने प्रतिज्ञा के मूलपाठ का वाचन किया जिस पर संविधान सभा के प्रत्येक सदस्य ने अपने को समर्पित किया। मूलपाठ था :

इस पुनीत अवसर पर जब भारत के लोगों ने कष्ट और त्याग के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त की है, मैं, भारत की संविधान सभा का एक सदस्य पूर्ण विनयपूर्वक अपने को भारत और उसकी जनता की सेवा में इस उद्देश्य के हेतु अर्पित करता हूँ कि यह पुरातन भूमि विश्व में अपना उचित स्थान प्राप्त करे और विश्व शान्ति और मानव कल्याण की उन्नति में अपना पूर्ण और स्वेच्छासम्मत अंशदान करे।

सभा के भीतर की कार्यवाहियाँ नियमानुसार समाप्त हुईं किन्तु उस समय कुछ प्रतिकाष्टा की छाया व्याप्त हो गई जब निर्धारित परंपरा के अनुसार नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद वाइसराय भवन को चले जहाँ माउंटबैटन उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दोनों नेताओं पर वाइसराय को यह सूचित करने के कर्त्तव्य का भार सौंपा गया था कि संविधान सभा ने भारत के शासन का अधिकार ले लिया है, और उन्हें पहला गवर्नर जेनरल बनने को निमंत्रित किया है।

समारोह जो फ्लैश बल्ब की पाँत के बीच हुआ नेहरू के परिष्कृत ढंग से गवर्नर-जेनरल को लंबा-सा पार्चमेंट का लंबा लिफाफा देने में समाप्त हुआ जिस पर यह शब्द थे, "क्या मैं आपको नए मंत्रिमंडल के कार्य भाग दे सकता हूँ ?"

जब दोनों भारतीय नेता चले आए तो माउंटबैटन ने, अपने कर्मचारियों से घिरे हुए, लिफाफे के अन्दर की चीज़ देखने के लिए सावधानी से उसे खोला। वह खाली था। कोई अंदर का काग़ज़ रखना भूल गया था।

नियत दिन आ पहुँचा था, वह दिन जिसे नेहरू ने राष्ट्र के नाम सन्देश में स्वयं ही भाग्य द्वारा निर्धारित दिन कहा था।

जब स्वतंत्रता आई उस समय नेहरू अपनी अट्ठावनवीं वर्ष गाँठ से तीन महीने कम थे। पटेल, जिन्हें दिसंबर १९५० में अपनी मृत्यु पर्यन्त जवाहरलाल के साथ प्रमुख कार्यभार सँभालना था उनसे चौदह वर्ष बड़े थे, जब कि गांधीजी, जिन्हें छः महीने होते न होते एक हत्यारे के हाथों मरना था अठहत्तरवें वर्ष की आयु को पहुँच रहे थे।

इन तीन व्यक्तियों के पीछे भारत की स्वाधीनता के लिए तीन दशाब्दियों का घोर परिश्रम था। कांग्रेस की परिषदों में गांधी जी का राजनीतिक प्रभाव प्रत्यक्षतः पिछले दो वर्षों से कम हो गया था, किन्तु उनका व्यक्तिगत प्रभाव अभी भी बहुत अधिक था,

और जो नैतिक अधिकार उनका था वह उन राजनैतिक निर्णयों को बदलने के लिए काफी शक्तिशाली था, जिन्हें उनकी सम्मति न होती।

नेहरू और पटेल दोनों के लिए वे बापू थे, जिसका अर्थ पिता होता है, और पिता की भाँति वे आदर और भय के साथ-साथ स्नेह उत्प्रेरित करने में समर्थ थे। यद्यपि उनमें पितृत्व की दयालुता थी, उनमें कठोरता भी थी, जो फ़ौलाद की सी हो सकती थी। नेहरू और पटेल सर्वथा असदृश व्यक्ति थे, किन्तु दोनों महात्माजी की ओर कार्यशील व्यक्ति मान कर आए, ऐसा व्यक्ति जो कर्म में विश्वास करता था, लोगों के मन को कर्म में प्रवृत्त करने में, लेकिन कर्म शान्ति पूर्ण ढंग पर आधारित हो और न केवल विदेशी शासन के विरुद्ध किंतु उन आर्थिक और सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध हो जो भारत पर भार बने हुए हैं। वे उनके जनता के साथ सहज संपर्क से और उनके साथ पूर्ण आत्मसात करने से प्रभावित थे। नेहरू ने लिखा है, "वे अभिजात वर्ग से नहीं उतरे। वे भारत के असंख्य लोगों में से निकले लगते थे।"

वे प्रायः दोनों को चक्कर और खीझ में डाल देते। निरपेक्षता में विश्वास रखने वाले महात्माजी किसी दृष्टिकोण से सरलता से नहीं डिगाए जा सकते थे, और कभी-कभी उनकी मानसिक प्रक्रियाओं का अनुसरण करना या समझना कठिन हो जाता था। लेकिन भय और घृणा को दूर करने का सबसे बड़ा पाठ जो उन्होंने पढ़ाया, वह दोनों व्यक्तियों के हृदय और मस्तिष्क में गहरा जमा हुआ था। यह सही है कि पटेल सदा बहुत घृणा करने वाले विख्यात थे किन्तु अवसर पर उनकी घृणा में भी सदाशयता के स्पर्श का हल्का पुट रहता। इस कठोर, उद्दण्ड और स्फीत व्यक्ति में शान्त हृदय था।

निर्भयता—यही गांधी जी के चरित्र का मूलसूत्र था और यही वह सबसे बड़ी भेंट थी जो उन्होंने भारत को दी। नेहरू उन दिनों और आगामी वर्षों में प्रायः यही सोचा करते। यह शिक्षा भारतीय परंपरा के अनुसार थी क्योंकि अभय (मन और शरीर की निर्भीकता) का उपदेश प्राचीन ग्रंथों में दिया गया है और भारत के सबसे अधिक बुद्धिमान ऋषियों ने बार-बार दुहराया है, याज्ञवल्क ने जो रामायण की प्रधान नारी सीता के पिता जनक की राज सभा को शोभित करते थे, और सम्राट चन्द्रगुप्त के परामर्शदाता चाणक्य ने उसे बताया है।

किंतु फिर भी गांधी जी का व्यक्तिगत और राजनैतिक दर्शन वैराग्य या भक्ति का भी न होकर कर्म का था—दृढ़, निश्चित और प्रायः विद्रोही। यदि वे दूसरों को आगे बढ़ाते तो स्वयं भी बढ़ते थे। नेहरू याद करते हैं कि महात्मा गुलामों के प्रिय हाँकने वाले थे, यह पद गांधीजी के एक मुसलमान शिष्य अतीत में उनका वर्णन करने में प्रायः प्रयोग किया करते थे।

निर्भीकता, कर्म, घृणा से मुक्ति—यह भविष्य के संकट के वर्षों में नेहरू को दिशा दिखानेवाले नक्षत्र उसी तरह रहे जिस तरह अतीत के वर्षों में भारत के श्रान्त और व्यथित आकाश में गांधी जी के संदेश को प्रकाशित करने वाले नक्षत्र रहे। किन्तु अभी शकुन

अमंगलसूचक थे। यहाँ तक कि जब देश गुलामी से निकल कर स्वतंत्र हुआ तो गृहयुद्ध की लपटें चारों ओर भयानक रूप से फैल रही थीं। भारत में केन और आबेल का नाटक पुनः अभिनीत हो रहा था किन्तु अत्यन्त विशाल और पैशाचिक स्तर पर, जब इतिहास के किसी बन्धुघाती संघर्ष से घृणा और धार्मिक उन्माद की अतुलनीय मात्रा में भाई-भाई की हत्या कर रहा था। यह विचित्र विडंबना है कि यह आधिकारिक रूप से सशस्त्र युद्ध नहीं किन्तु गृह-संघर्ष बताया गया।

भारत विभाजित हो रहा था। क्या भारत और पाकिस्तान की स्वाधीनता आग और खून के तांडव में नष्ट होने जा रही थी? स्वतंत्रता की घोषणा के पहले ही गांधी जी दिल्ली छोड़ कर दूरस्थ नोआखाली के लिए चल खड़े हुए थे किंतु झगड़ों से क्षत विक्षत कलकत्ता में रुकने के लिए राजी कर लिए गए थे, जहाँ घृणा को प्यार से दूर करने में उन्होंने एक महीना तक परिश्रम किया। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान, सभी लोगों से अपना डर दूर करने और अपनी शक्ति को भारत और पाकिस्तान का निर्माण करने के शांतिपूर्ण कामों में लगाने को कहा।

दिल्ली में ज्यों ज्यों शरणार्थी राजधानी में पैदल, रेलगाड़ी में, बैलगाड़ियों और हवाई जहाज से आए, लोगों पर विभाजन के द्वारा मुक्त घृणा की लालसा की पूरी बीभत्सता प्रकट हुई। शरणार्थी अन्नहीन बाढ़ में चले आ रहे थे, मुर्दे डोलियों में, बीमार, अपंग, घायल, अनाथ हो गए या लंबी पैदल यात्रा में खोए हुए, पतिहीन विधवाएँ, अपने सामान का करुण मलबा साथ में लिए, गृहहीन, भूखे, कंगाल बनाए गए, कटु बनाए हुए, भय और घृणा के शिकार थे। दोनों ओर से छूटे पागलपन के प्रत्यक्ष शिकार, अपने दुर्भाग्य और कष्ट की कहानियाँ लेकर ज्यों ज्यों आते रहे, दिल्ली के सिख और हिन्दू प्रतिहिंसा में मुसलमानों पर टूट पड़े।

भारत में ही चार करोड़ मुसलमानों ने रह जाने का निश्चय किया था और कभी मुगलों की गौरवपूर्ण राजधानी में कई हजार इस्लाम धर्मावलम्बी थे। पंजाब में अपने घर और खेत लुटा कर हिन्दू और सिख शरणार्थियों ने दिल्ली में अपने को गृहहीन पाया, और शीघ्र ही वे मुसलमान परिवारों को उनके घरों से खदेड़ने में लग गए और उन्होंने उनकी पवित्र मस्जिदों तक को आवास स्थान बना लिया। सीमा के दूसरी ओर पाकिस्तान में यही बातें हो रही थीं, हिन्दू मंदिर और सिख गुरुद्वारे अपवित्र कर घर गिरस्ती के काम आ रहे थे। इस भयानक हत्याकाण्ड और संघर्ष में भारत और पाकिस्तान दोनों में ऐसे उदाहरण थे जहाँ मुसलमानों ने हिन्दू और सिखों की रक्षा की जब कि इन लोगों ने अपने मुसलमान भाइयों को बचाया।

नेहरू के लिए स्वाधीनता के आरंभिक दिन कठोर और संतापकारी थे। जो पागलपन दोनों ओर छा रहा था, उन्हें लगा कि जिस स्वतंत्रता के फल के लिए लोग इतने दिनों तक संघर्ष करते रहे, वह पकने से पहले ही सड़ गया था। स्वतंत्रता की घोषणा के दो दिनों के भीतर वे पाकिस्तान के प्रधान मंत्री लियाकत अली खाँ के साथ पंजाब की ओर

जा रहे थे, उनके प्रमुख गंतव्य स्थान अम्बाला और अमृतसर थे जहाँ सिख और मुसलमान एक दूसरे की विवेकशून्य हत्या में लगे हुए थे। जो "भयानक उन्मत्तता" उन्होंने देखी उससे वे स्तब्ध हो गए। उन्होंने सिखों को साफ-साफ फटकारा।

उन्होंने एक प्रसारण में कहा, "भारत सांप्रदायिक राज्य न होकर प्रजातांत्रिक राज्य है जिसमें सब नागरिकों को समान अधिकार हैं। सरकार इन अधिकारों की रक्षा करने के लिए कृत संकल्प है।"

उन्होंने घोषणा की कि भारत और पाकिस्तान की सरकारों की दृढ़ सहायता से दोनों पंजाबों की सरकारें इस पागलपन को रोकने के लिए दृढ़ संकल्प हैं।

किंतु दोनों ओर बहनेवाली खून की धाराओं से स्थिति बहुत अधिक बढ़ती जा रही थी। मुश्किल से ३०,००० मील के क्षेत्रफल से लगभग १०,०००,००० लोग भारत और पाकिस्तान से आ-जा रहे थे, और हवाई जहाज़ से, धूल की सफेद धुंध में से कभी-कभी इकहरा गाड़ियों, पशुओं और इन्सानों का साँप की तरह धुँधली कतार में रेंगता पचास मील लंबा "मगर" देखा जा सकता था।

नेहरू ने अनुभव किया कि जब तक यह पागलपन का नरसंहार रोका नहीं जायगा इसका विष दिल्ली और उसके आगे अवश्य फैल जायगा। आगे के कुछ दिनों उन्होंने उसे राजधानी में घुसने से रोकने का पूरा प्रयत्न किया। लेकिन तब तक पागलपन ने ज्वार की लहर का रूप ले लिया था।

यह नेहरू की जोश की घड़ी थी। यद्यपि बाहर से वे शोकाकुल और हताश लगते थे, वे अपनी असाधारण शक्ति, नमनशीलता और साहस दिखाते रहे, अक्सर अकेले क्रुद्ध हिन्दुओं और सिखों की भीड़ में मोटर से या पैदल चले जाते, जब कि वे लोग मुसलमान घरों पर आक्रमण या लूटपाट कर रहे होते, वे स्वयं ही लूटने वाले या अधिक अराजक और भयप्रद लोगों को धमकाते। इस संकटकाल में उनका साहस और उदाहरण अति श्रेष्ठ थे।

उस समय एक ब्रिटिश प्रेक्षक* ने लिखा, "वे मानववादी और संस्कृत बुद्धि में आस्था को प्रमाणित करते हैं। व्यक्तिगत छल से लेकर सामूहिक पागलपन तक के सब रूपों में सांप्रदायिकता के उपद्रव में वे विवेक और मानव प्रेम की वाणी में बात करते हैं।" वे बोले ही नहीं, उन्होंने काम किया।

उनकी आवाज़ को पुष्ट करने वाली एक और आवाज़ थी। ९ वीं सितंबर को कलकत्ते में एक महीना ठहर कर गांधी जी दिल्ली आए, और राजधानी में जो वीभत्स दृश्य था उसे देख कर थर्रा उठे।

महात्माजी बोले, "मैं उन शरणार्थियों का गुस्सा समझने के लिए तैयार हूँ जिन्हें भाग्य ने पश्चिमी पंजाब से खदेड़ दिया है। लेकिन क्रोध पागलपन से कुछ ही कम

*ऐलन कैम्बेल जान्सन मिशन विद माउंटबैटन (राबर्ट हेल, १९५१) में।

होता है। उससे बात हर तरह से बिगड़ती ही है। बदला लेना कोई इलाज नहीं है। इससे असली बीमारी और खराब हो जाती है। इसलिए मैं उन सब लोगों से जो इस पागलपन की हत्याओं, अग्निकांडों और लूटपाट में लगे हुए हैं, रुकने को कहता हूँ।"

उसी रात को दिल्ली से प्रसारित एक वक्तृता में नेहरू ने पागलपन की घृणा में इस समय खो जाने की संभावना से ग्रस्त अपने देशवासियों की समझदारी और सभ्यता के प्रति अपील की :

पिछले कुछ दिनों मैं पश्चिमी पंजाब और पूर्वी पंजाब में घूमा हूँ और मेरा मन उन भयानक चीज़ों से भरा है जो मैंने देखी और सुनीं। इन पिछले कुछ दिनों पंजाब और दिल्ली में भरपूर भयानक काण्ड देखे। वास्तव में उसके सिवा और कुछ नहीं देखा जा सकता।

आज सवेरे हमारे नेता, हमारे गुरु, महात्मा गांधी दिल्ली आए और मैं उनसे मिलने गया और उनके पास कुछ देर बैठा रहा, और हैरत करता रहा कि उन्होंने जो आदर्श हमारे आगे रखे उनसे कितना नीचे हम गिर गए हैं।

मैं देहातों की ओर जाता हूँ और लोग जब मुझे देखते हैं तो बल्लम और सब तरह के घातक हथियार लिए हुए चिल्लाते हैं "महात्मा गांधी की जय! जवाहरलाल की जय!" इन लोगों के यह नारे सुनकर मुझे शर्म आती है जिन्होंने महात्मा गांधी के नाम पर हत्या, लूट और आग लगाई होंगी। जो कुछ बुरे काम उन्होंने किए होंगे उन्हें नारे लगाकर वे धो नहीं देंगे। और हम लोग भी महात्माजी के नाम का ही सम्मान कर और इन तमाम बरसों जो उन्होंने हमें बताया उन पर चलकर इन डाकुओं से छुटकारा पाएँगे।

अब जो कुछ हो रहा है वह इन आदर्शों के लिए शत्रुवत्, सीधे प्रतिकूल हैं। यह सोचकर ही मुझे शर्म आती है, और कभी कभी मुझे संदेह होने लगता है कि हम लोगों ने जो इन तमाम बरसों अच्छा काम किया है उसका कोई फल नहीं होगा। और फिर भी वह संदेह बहुत दिनों तक नहीं बना रह सकता। मेरा विश्वास है कि अच्छे काम का परिणाम उसी तरह अच्छा होगा जैसा कि मेरा विश्वास है कि बुरे काम का बुरा नतीजा होता है। इस देश में बहुत बुराई हो चुकी है। उसे बन्द कर देना चाहिए, और अच्छा काम शुरू करना चाहिए, और महात्माजी ने जो महान् शिक्षा हमें दी है उसका पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

गांधीजी की तरह नेहरू हिन्दू और सिखों के कैंपों में गए जहाँ कभी कभी उनको विरोधी, यहाँ तक कि डरानेवाले शोर और प्रदर्शनों का सामना करना पड़ा, लेकिन उन्होंने दिल्ली में मुसलमानों के शरणार्थी कैंपों में जाने को आवश्यक समझा। इनमें सबसे बड़ा पुराने क़िले में था, जब कि दूसरा दूसरे मुग़ल सम्राट हुमायूँ के ऐतिहासिक मक़बरे के पास था।

सीमा के उस पार से पाकिस्तान में इसी प्रकार के अत्याचारों के समाचार लाहौर,

कराची, क्वेटा, नवाबशाह, बन्नू और पेशावर से यहाँ आए जहाँ हिंदू और सिख अल्पसंख्यक असहाय पड़ गए थे। गांधीजी के साथ नेहरू ने उन अत्याचारों के विरुद्ध उसी दृढ़ता के साथ आवाज उठाई। दोनों व्यक्तियों ने हिन्दू सिख, और मुसलमानों से रहने और रहने देने की, पिछली बातों को भूल जाने और अपने कष्टों पर आवश्यकता से अधिक न ध्यान देने की लेकिन एक दूसरे के साथ साथी भावना से हाथ बढ़ाने और एक दूसरे के साथ शांति के साथ रहने का निश्चय करने की अपील की। दोनों आदमियों ने आग्रहपूर्वक कहा कि एक भी मुसलमान को भारत की राजधानी में अरक्षित समझना उसी तरह ग़लत है जैसे कि हिंदू और सिख पाकिस्तान में अपनी जानों के जाने के डर में रहे।

इन संकट के दिनों में अपनी एक प्रार्थना सभा में उन्होंने मुस्लिम शरणार्थी कैंप में अपने जाने के बारे में बताया कि जहाँ एक वृद्ध मुसलमान शरणार्थी चिथड़े पहने अपनी पत्नी के साथ महात्माजी का स्वागत करने के लिए पाँत में चुपचाप खड़ा था। गांधीजी ने देखा कि दोनों के छुरे के घाव थे।

"उन्हें देखकर मेरा सर शर्म से झुक गया," उन्होंने अपने स्तब्ध श्रोताओं के आगे स्वीकार किया।

कोई भी निश्चयपूर्वक इस बात की गिनती नहीं कर सकता कि भारत और पाकिस्तान के बीच दुतरफा पैदल चलकर आने जानेवालों में कितने मारे गए। कुल मिलाकर अनुमानतः १०,०००,००० शरणार्थियों के जन प्रवाह के आधार पर मोटे तौर पर हज़ार में २० पर अधिक उत्तरदायी अनुमान के अंक २००,००० होते हैं। १९४३ के बंगाल के अकाल की तुलना में जिसने ३,५००,००० जानें लीं यह संख्या कम लगती है, किंतु क्षेत्रफल और जनसंख्या के हिसाब से बंगाल दुर्भिक्ष से यह कहीं बड़ी हलचल थी।

स्वतंत्र भारत के रचनात्मक कार्यक्रम में शरणार्थियों का पुनर्वास प्रमुख प्राथमिकता था क्योंकि एकता और स्थायित्व की दो अनिवार्यताओं से यह आवश्यकरूप से संबद्ध था। यह तीनों स्वतंत्रता के पाँच वर्षों में संपन्न हो गए जब कि रजवाड़ों के राज्य समाप्त किए गए, संविधान लागू किया गया और भारत का पहला आम चुनाव (जिसमें अधिकांश अपढ़ १६०,०००,००० मतदाता थे) शांति से हो गया, यह प्रशासक और राजनीतिक नेता के रूप में नेहरू की महत्वपूर्ण प्रशंसा है। इसे वे संकटापन्न यहाँ तक कि उपद्रवग्रस्त संदर्भ में, देश में काश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़, और विदेश में कोरिया की पृष्ठभूमि में उपलब्ध कर सके, दूसरी घरेलू और देश के बाहर की परेशानियों की तो बात ही नहीं है।

महात्माजी ने जो पाठ उन्हें सिखाए थे जवाहरलाल ने उन्हें अच्छी तरह सीखा था। उनके ऊपर उन्होंने वह दृष्टिकोण और प्रवृत्ति और आरोपित की जो कि उनके पाश्चात्य रहन सहन और विदेश के निरंतर संपर्क के समझने में सहायक हुए थे। इसलिए विशिष्ट आपत्काल में उनको नेता रूप में पाकर भारत बहुत भाग्यशाली था, क्योंकि भारत

के समान पश्चिम और पूर्व के बीच में जवाहरलाल सेतु बने हुए हैं। कोई दूसरा जीवित राजनीतिज्ञ पूर्व और पश्चिम का ऐसी सुन्दरता से घुला मिला समन्वय शायद नहीं करता।

बिना आत्मचेतना या बनावट के नेहरू वे शब्द कहेंगे जो एक अँग्रेज, लॉर्ड हैली-फैक्स, जो भारत के वाइसराय भी थे, और जो शब्द देश के आगे आदर्श का काम करेंगे। वह शब्द जिस भावना को व्यक्त करते हैं वह भी उनकी है "विचार, आस्था, कार्य, साहस में, जीवन में, सेवा में। इसी प्रकार भारत महान् बने।" प्रयत्न और उपलब्धि के साँचे में भारत में पिछले नौ वर्ष ढाले गए हैं।

२१

एक युग का अन्त

दिल्ली के शीत की ठिठुरती हवा में गांधीजी के प्रिय भजन की धुन आई जिससे उनकी संध्या-प्रार्थना सदा समाप्त होती थी :

रघुपति राघव राजाराम,
पतित पावन सीताराम,
ईश्वर अल्ला तेरे नाम
सबको सम्मति दे भगवान् ।

वह २९ जनवरी १९४८ की संध्या थी, अंतिम दिन जिसमें गांधीजी अपनी सायंकाल की प्रार्थना में उपस्थित थे।

२० वीं जनवरी को, अपने अन्तिम उपवास को तोड़ने के दो दिन बाद जो उन्होंने सब भारतीयों—हिन्दू, सिख और मुसलमानों—को "भाइयों की तरह रहने" के पीड़ाजनक प्रयत्न में अभिप्रेरित करने के लिए किया था, गांधीजी की प्रार्थना सभा में जहाँ वे बैठे थे वहाँ से लगभग पचास गज़ पर एक देसी बम के धड़ाके से गड़बड़ हो गई थी। पश्चिमी बंगाल का कथित मदन लाल नाम का एक शरणार्थी, इस अपराध के लिए गिरफ्तार किया गया। उसकी जेब में एक हथगोला था।

गांधीजी अनुद्विग्न रहे और दूसरे दिन अपनी प्रार्थना सभा में उन्होंने अपराधी को हल्की सी झिड़की दी। उन्होंने कहा, शायद युवक उन्हें हिन्दुत्व का दुश्मन समझता है। महात्माजी ने अपना उपवास तभी तोड़ा था जब उन्हें यह आश्वासन मिल गए थे कि मुसलमान दिल्ली में आज़ादी से और सही सलामत घूम फिर सकेंगे और हिन्दू और सिख शरणार्थियों द्वारा बलपूर्वक अधिकृत उनकी मस्जिदें उनको लौटा दी जायँगी। बहुत से चरमपंथी हिन्दू और सिख लोगों ने इसका विरोध किया।

नेहरू ने भी सहानुभूति में उपवास किया था। महात्माजी ने १८वीं जनवरी को उसे समाप्त करने को कहा। बहुत कठिनाई से लिखे पत्र में गांधीजी ने लिखा, "तुम बहुत दिनों तक भारत में रत्न, जवाहर, बने रहो।"

२०वीं जनवरी की बम की घटना ने नेहरू और पटेल को परेशान कर दिया।

उनका हठ था कि महात्माजी पर्याप्तरूप से सादे कपड़े पहने पुलिसवालों से सुरक्षित रखे जायँ। किन्तु गांधीजी ने यह सब नहीं माना।

२८ जनवरी को महात्माजी की उत्साही शिष्या और स्वास्थ्य मंत्रिणी राजकुमारी अमृतकौर ने पूछा, "बापू, आज आपकी प्रार्थना सभा में कुछ शोर हुआ था ?"

गांधीजी ने कहा, "नहीं। लेकिन तुम्हारे सवाल का मतलब है कि तुम मेरे लिए परेशान हो। अगर मुझे किसी पागल की गोली से मरना है तो मुझे मुस्कराते हुए ऐसा करना होगा। मुझ में क्रोध नहीं होना चाहिए। भगवान् मेरे हृदय और ओठों पर रहेगा।"

वे अड़तालिस घंटे के भीतर मरनेवाले थे। अपने दिनों के अन्तिम कुछ दिनों में जो बात गांधीजी को परेशान कर रही थी वह नेहरू और पटेल के बीच में बढ़ता मतभेद था। पाकिस्तान में हिन्दू और सिखों के जनसंहार से क्रुद्ध होकर पटेल भारत में मुसलमानों के लिए नेहरू की—और महात्माजी की भी—परेशानी से चिढ़े हुए थे। अपने स्वभावानुकूल मुँहफटपने से पटेल ने एक सार्वजनिक भाषण में कह दिया था कि जब तक वे भारत के प्रति विशेषरूप से निष्ठा की घोषणा नहीं करते तब तक मुसलमानों का विश्वास नहीं किया जा सकता।

वह पटेल ही थे जिन्होंने गांधीजी से ३०वीं जनवरी की शाम को महात्माजी से घनश्यामदास बिड़ला के लॉन पर प्रार्थना सभा के लिए जाने से पहले भेंट की थी। गांधीजी सुप्रसिद्ध उद्योगपति बिड़ला के यहाँ ठहरे थे। नेहरू और आज़ाद का प्रार्थना-सभा के बाद मिलना निर्धारित था।

वे धीरे धीरे लान के पार गए, उनके अभ्यास के अनुसार उनके हाथ उनकी पौत्रियों मनु और आभा के कंधे पर रखे हुए थे। वे उनके दोनों ओर थीं। ज्योंही यह लोग सभास्थल की ओर बढ़े एक ठिगने गठे हुए व्यक्ति ने तेजी से आगे बढ़कर भारतीय ढंग से नमस्ते की। वह झुका मानों कि महात्माजी के पैर छूने जा रहा हो।

गांधीजी ने अभिवादन का उत्तर दिया। उनके हाथ भी नमस्ते के लिए जुड़ गए। एकाएक उस व्यक्ति ने रिवाल्वर निकाला और गांधीजी के दुबले पतले शरीर पर बिलकुल पास से ही तीन गोलियाँ दागीं। दो गोलियाँ उनके कलेजे में घुस गईं जब कि तीसरी पेट में रह गई।

मित्रतापूर्ण अभिवादन में जुड़े हुए महात्माजी के हाथ धीरे से दोनों ओर लटक गए। उनके घुटने मुड़ गए और वे छोटे से ढेर बन कर पृथ्वी पर ढुलक पड़े।

उन्होंने "हे राम" कहा और गिरते गिरते धीमे से निःश्वास छोड़ा। उनकी आँखें बन्द हो गईं और उनके चेहरे पर राख की सी मुर्दनी छा गई। जब वे पृथ्वी पर पड़े थे रक्त की एक हल्की धार उनके श्वेत खादी के कपड़ों पर लाल दाग़ छोड़ गई।

लोग उन्हें अन्दर ले गए लेकिन वे पहले ही मूर्च्छित हो गए थे। कुछ ही क्षणों में वे समाप्त हो गए।

नेहरू ने अपने निवास पर समाचार सुना और बिड़ला भवन की ओर झपटे। उनका मन इस अत्यधिक दुखद घटना की भयंकरता से स्तब्ध था। लोगों ने गांधीजी को फर्श पर एक गद्दे पर उस जगह लिटा दिया था जहाँ रोज़ बैठकर वे अपना काम किया करते थे। उस स्थान पर वे अन्तिम निद्रा में पड़े हुए थे, उनका सिर फूलों का तकिया लगाए था, उनका चेहरा पीला किन्तु स्थिर था जिसपर शान्त और गरिमामय शान्ति छाई हुई थी।

नेहरू अपने गुरु के निकट झुके और महात्माजी का हाथ पकड़कर बच्चे की तरह दबा दिया। वे खुलकर रोने लगे और हिचकियों से उनका शरीर हिलने लगा।

तीन दिन बाद संविधान सभा के आगे उन्होंने अपने को और अपनी सरकार को दोषी ठहराया,—"अपनी सबसे बड़ी निधि की रक्षा करने में हम चूक गए।"

नेहरू की तरह दुःख से भरे किंतु बाहर से शांत पटेल भी वहाँ थे। धूप की सुगंध कमरे में भर रही थी। बिछौने के पास जिस पर महात्माजी का शव रखा था, स्त्रियाँ प्रार्थना में झुकी भगवान् का नामोच्चार कर रहीं थीं—"राम राम"—जो गांधीजी ने उस समय कहा था जब हत्यारे ने[1] उन्हें ढेर कर दिया था।

समाचार सुनकर माउंटबैटन तुरत आए। वे नेहरू की सुरक्षा के लिए चिंतित थे, चूँकि अल्पसंख्यकों के साथ व्यवहार के लिए यह विदित था कि जवाहरलाल के विचार महात्माजी से मिलते थे, उनके जीवन के लिए भी खतरा था। नेहरू और पटेल के मतभेद का माउंटबैटन को पता था और दोनों को एक ही कमरे में एक साथ देखकर उन्होंने अवसर और समय देखकर अपनी सहज बुद्धि से काम लिया।

उन दोनों की ओर देखकर वे बोले, "गांधीजी के साथ अपनी अंतिम भेंट में उन्होंने मुझसे कहा था कि उनकी सबसे बड़ी कामना आप दोनों में पूर्ण मेल हो जाना है।"

नेहरू और पटेल ने एक दूसरे की ओर देखा और तब खादी में लिपटे फर्श पर पड़े महात्माजी की ओर देखा। दोनों एक दूसरे की ओर बढ़े और पुनर्मिलाप की चेष्टा में एक दूसरे से लिपट गए।

बिड़ला भवन के चारों ओर विशाल भीड़ एकत्रित हो गई थी और यह आवश्यक था कि उन्हें आधिकारिक रूप से गांधीजी की मृत्यु के विषय में बताया जाता। उन्हें बताने के लिए नेहरू बाहर आए। बन्द फाटक के बाहर सड़क पर हज़ारों लोग रेलमपेल कर रहे थे। नेहरू फाटक पर चढ़ गए। उनके म्लान मुख पर सड़क के लैंप का प्रकाश पड़ रहा था।

उन्होंने कहा, "महात्माजी तो चले गए।"

उनकी आवाज़ आवेग से भरी थी और कुछ वाक्य बोलकर वे फूट पड़े और खुलकर रोने लगे। फाटक के दूसरी ओर विशाल भीड़ से ऐसी आवाज़ आई जैसे कि समुद्र की कराह

---

१ हत्यारे का नाम नाथूराम विनायक गोडसे था। वह एक लड़ाकू हिंदू दल का सदस्य और छोटे से क्षेत्रीय समाचार-पत्र का संपादक था। बाद में उसपर मुक़दमा चला और उसे फाँसी हुई।

और मर्मरध्वनि हो जब कि हवा लहरों को तट की ओर फेंकती है। भीड़ रो पड़ी। लेकिन नेहरू ने उनसे एक आवश्यक संदेश कहने के लिए अपने को काफी संयत कर लिया।

उन्होंने कहा, "हम अपने को उन आदर्शों के प्रति समर्पित करें जिनके लिए वे जिए और जिस लक्ष्य के लिए उन्होंने प्राणोत्सर्ग किए।"

उनके श्रोताओं के निस्तब्ध मौन ने अपनी स्वीकृति दी।

यह निश्चय किया गया कि जवाहरलाल और पटेल रेडियो से राष्ट्र को संबोधित करें और दोनों आदमियों के भाषण जो न पहले से तैयार थे और न उनका पूर्वाभ्यास किया गया था मर्मस्पर्शी और आकस्मिक थे। अपने स्तब्ध कर देनेवाले शोक के होते हुए दोनो अवसर के अनुरूप उत्कृष्ट थे। नेहरू बोले :

हमारे जीवन से प्रकाश चला गया है और चारों ओर अंधकार है। पता नहीं आपसे क्या कहूँ और कैसे कहूँ। हमारे प्यारे नेता, जिन्हें हम बापू कहते थे, राष्ट्र के पिता, अब नहीं रहे। यह मैं शायद ग़लत कहता हूँ। लेकिन जिस तरह हम उन्हें बरसों देखते रहे, अब नहीं देखेंगे। अब हम उनसे सलाह लेने नहीं जायँगे और उनसे धीरज नहीं मिलेगा, और यह बड़ी भारी चोट है, न सिर्फ मेरे लिए, लेकिन इस देश के लाखों करोड़ों लोगों के लिए। और किसी और संदेश से जो मैं या कोई और दे सके उसे कम करना जरा मुश्किल है।

मैंने कहा प्रकाश चला गया है। इस बात में मैंने ग़लत कहा है। क्योंकि जो ज्योति इस देश में जगी वह मामूली ज्योति नहीं थी। जिस ज्योति ने इस देश को इन तमाम बरसों उजाला दिया, वह इस देश को वर्षों तक उजाला देती रहेगी, और हज़ार बरस बाद वह ज्योति इस देश में फिर भी दिखाई देती रहेगी, और दुनिया उसे देखेगी और वह बेशुमार लोगों को धीरज देगी। वह ज्योति उससे कहीं ज्यादा थी जो हमें दिखाई पड़ता है, वह जीता जागता शाश्वत सत्य थी जो हमें सही रास्ते की याद दिलाती थी, हमें भूलों से अलग रखती थी, इस प्राचीन देश को स्वाधीनता की ओर ले गई थी।

यह ऐसे वक्त हुआ जब उन्हें इतना कुछ करने को था। हम कभी यह नहीं सोच सकते कि उनकी ज़रूरत नहीं रह गई थी या उन्होंने अपना काम पूरा कर लिया था। लेकिन खास तौर से इस वक्त जब हमारे सामने इतनी मुश्किलें हैं, उनका हमारे बीच न रहना ऐसी चोट है जिसका सहन करना बहुत कठिन है।

एक पागल ने उनके प्राण ले लिए। जिसने यह किया मैं उसे पागल ही कहूँगा। पिछले कुछ वर्षों और महीनों में इस देश में काफ़ी जहर फैल गया है और लोगों के दिमाग़ों पर उस जहर ने असर डाला है। हमें इस जहर का मुक़ाबला करना है, हमें इस जहर को निकाल फेंकना है, और हमें अपने चारों ओर के ख़तरों का सामना करना है, और उनका पागलपन से या बुरे ढंग से मुक़ाबला नहीं करना है, लेकिन उस ढंग से सामना करना है जो हमारे प्यारे गुरु ने हमें सिखाया है।

हमें पहली बात जो याद रखना है वह यह है कि गुस्से में किसी से बुरा वर्ताव नहीं करना है। हमें मज़बूत और निश्चय के आदमियों की तरह वर्ताव करना है, उन सब खतरों का सामना करने के निश्चय के साथ जो हमारे चारों ओर हैं, उस आदेश को पूरा करने का निश्चय के साथ जो हमारे महान् शिक्षक और महान् नेता ने हमें दिया है, यह सदा याद रखना है कि अगर, जैसा मेरा विश्वास है, उनकी आत्मा हमसे आशा रखती है और हमें देखती है, तो उनकी आत्मा को इससे बड़ा दुःख और न होगा कि हमने कोई ओछा वर्ताव या हिंसा की है।

इस लिए हमें ऐसा न करना चाहिए। इसके यह मतलब नहीं हैं कि हम कमज़ोर हो जायँ, लेकिन शक्ति में और एकता में हमें अपने आगे की सभी मुश्किलों का सामना करना चाहिए। हमें मिलकर रहना होगा और इस संकट के सामने अपने सारे छोटे छोटे झगड़ों और कठिनाइयों और संघर्षों को खत्म करना होगा। कोई बड़ी मुसीबत इस बात की निशानी है कि हम जीवन की बड़ी बड़ी चीज़ों को याद करें और उन छोटी छोटी चीज़ों को भुला दें जिनके बारे में हमने बहुत सोचा है। अपनी मौत से उन्होंने हमें जीवन की बड़ी बड़ी चीज़ों की याद दिला दी है, उस जीते जागते सत्य की, और अगर हम उसे याद रखें, तो भारत का भला है।

भारत शोक में डूब गया। दाह संस्कार दूसरे दिन हुआ। वह दिन राष्ट्र के लिए उपवास और प्रार्थना का था। जब गांधीजी की अर्थी बिड़ला भवन से यमुना के तट पर ले जाई गई तो वहाँ शव के जुलूस की प्रतीक्षा लगभग ७००,००० लोग कर रहे थे। यहाँ भारत था, विरोधों और अस्तव्यस्तताओं का, मलिनताओं, गंदगी और दुःख और धूल का किन्तु साथ ही शक्तिशाली और गौरवपूर्ण भारत था।

दाहसंस्कार की अंतिम रीति में कोई विशेप समारोह की तैयारियाँ नहीं थीं। गांधीजी वैसा ही चाहते। जब उनका शव उठाकर चिता पर धीरे से रखा गया—चन्दन की ऊँची चिता पर—तो नेहरू ने अपने गुरु को अन्तिम श्रद्धांजलि दी। उन्होंने कुछ झुक कर महात्माजी के चरण चूमे।

ज्यों ही ब्राह्मणों का मंत्रपाठ सांध्य पवन में वायलिन के हल्के शोकजनक प्रलाप की भाँति आरंभ हुआ वह बड़ी भारी भीड़ चिता के चारों ओर बढ़ने लगी और गांधीजी के पुत्र ने जलती लकड़ी से चिता प्रज्ज्वलित की। बुद्ध के उपरान्त भारत के सर्वश्रेष्ठ पुरुष के पार्थिव शरीर को ज्यों ज्यों वे भस्म कर रही थीं, लाल और सुनहरी लपटें हवा में उड़ कर आकाश को छूने लगीं।

अंधकार में एकत्रित और लपटों के प्रकाश से जिसकी आकृतियाँ दिखाई पड़ रही थीं ऐसी विशाल भीड़ से गंभीर कंठ के शब्द उठे "अमर हो गए।"

ऐसी सहजता से लोगों ने वेदों के युग युग पुरातन आह्वान को प्रतिध्वनित किया :

हे पवित्र आत्मा, आदित्य, मरुत् और अग्नि तुम्हारा कल्याण करें। पृथ्वी पर तुम्हारे प्रियजन तुम्हारे वियोग में शोक संतप्त न हों क्योंकि वे जानते हैं कि तुम

पुण्यात्माओं के प्रभालोक को गए हो। समस्त नदियां और सागरों के जल तुम्हारे सहायक हों और सब लोगों के कल्याण के लिए तुम्हारे सुकर्मों में तुम्हें उपयोगी हों। तुम्हारे सुकर्मों से अंतरिक्ष और चारों दिशाएँ तुम्हारे लिए सुकर हों।

दूसरे दिन फरवरी के प्रातःकाल नेहरू ने संविधान सभा को संबोधित किया। अभी तक म्लान उनका चेहरा अकथनीय रूप से शोकग्रस्त और चिन्ताग्रस्त था। वे फूल लेकर आए थे जो उन्होंने चिता के अवशेष के पास रख दिए।

वे बोले, "बापूजी, यह फूल हैं। कम से कम आज तो मैं इन्हें आपके अस्थि और भस्म को अर्पित कर सकता हूँ। कल मैं इन्हें कहाँ और किसे अर्पित करूँगा?"

उन पर अकेलेपन का अकथनीय भाव छाया लगता था और काम की चिन्ताएँ बढ़ती गईं। उन पर स्पष्ट बुढ़ापा आ गया। तब तक उनके तने कंधे उम्र के साथ साथ झुक गए। लेकिन जैसा वे प्रायः स्मरण किया करते थे, गांधीजी ऐसा नहीं चाहते थे।

दूसरी फरवरी को संविधान सभा को संबोधित करते हुए नेहरू बोले :

हम उनका शोक मना रहे हैं, उनका शोक हम सदा मनाते रहेंगे क्योंकि हम इन्सान हैं और अपने श्रद्धेय गुरु को नहीं भूल सकते; लेकिन मैं जानता हूँ कि वे हमें अपने लिए शोक करना न चाहेंगे। जब उनका सबसे प्रिय और सबसे अधिक अपना चला गया तब उनकी आँखों में आँसू नहीं आए, केवल उस महान् लक्ष्य की रक्षा, उसके लिए काम करने का दृढ़ संकल्प था कि जिस लक्ष्य का उन्होंने वरण किया था। इसलिए अगर हम केवल शोक करेंगे तो वे झिड़की देंगे। वह उनके लिए तुच्छ श्रद्धांजलि होगी। उसका केवल एक तरीक़ा है कि अपना दृढ़ संकल्प व्यक्त करें, नए तौर पर प्रतिज्ञा करें, उसी के अनुसार चलें और उस महान् कार्य के लिए अपने को समर्पित कर दें जो उन्होंने उठाया था और जिसे उन्होंने इतनी हद तक पूरा कर दिया था। इसलिए हमें काम करना है, हमें मेहनत करना है, त्याग करना है, और इसी तरह से कुछ हद तक उनके योग्य अनुयायी सिद्ध करना है———।

अगले बारह महीनों में जब जब प्रधान मंत्री की मेज़ पर बहुत सा काम जमा हो जाता तो नेहरू सदा गांधीजी के आदेश और उदाहरण की याद करते और देश को याद दिलाते कि उनका पालन करने से और कठिन काम करके ही भारत बचा रह सकता है और टिका रह सकता है।

जवाहरलाल ने एकता और सहनशीलता, सामान्य लोगों की हालत सुधारने की अत्यावश्यकता, शरणार्थियों के पुनर्वास और भारत के शक्तिशाली साधनों को सबके हित के लिए काम में लाने और उपयोग में लाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। सबको मिलकर और कठोर परिश्रम से "भारत का स्वरूप बदलने और उसे महान् और उन्नत बनाने" के लिए काम करना पड़ेगा।

उन्होंने सावधान किया, "अगर हम यह आदर्श और यह सबक़ भूल जाते हैं तो हम अपने लक्ष्य और अपने देश को धोखा देते हैं।"

उन्होंने उन वर्षों की याद की जब गांधीजी लुंगी पहने और लाठी लिए ग़रीबों और दुखियों से, भूखे गाँववालों से, बेदखल किसानों से, मिट्टी के ढेरों और धूल भरे झोपड़ों में खाने के लिए विलखते बच्चों से, मिलों और कारखानों के ग़ुस्से से भरे झगड़ालू मजदूरों से बातें करते देश भर में घूमे थे। गांधीजी हिमालय से लेकर उत्तर-पश्चिम सीमा तक, ब्रह्मपुत्र में उत्तरपूर्व और आसाम के हरेभरे चायबगानों से दक्षिण के ताड़ के बगीचों और धान के खेतों तक हरे भरे सरस, ज्यों ज्यों भारत पतला होकर कोमोरिन अन्तरीप तक चला जाता है जिसे देश कन्याकुमारी नाम से जानता है, पैदल गए थे।

गांधीजी सदा ही बुराई का बदला भलाई से देने की सीख देते रहे और उन्होंने इसका व्यवहार भी किया। उनका विश्वास था कि दीन दुखिया लोगों की धरती हो, क्योंकि वे भारत को ग़रीबों और पीड़ित और पददलित लोगों के रूप में देखते थे। नेहरू को अब यह लगा कि महात्माजी की हत्या से स्तब्ध हुए भारत को फिर से स्वस्थ अवस्था में आना चाहिए, प्राचीन मूल्यों को पुनः खोज कर उन्हें स्वाधीन देश के नए परिवेश में व्यवस्थित करना चाहिए।

गांधीजी की शिक्षाओं के अनुसार इसके अर्थ थे कि जनता पर से युगों के बोझ को हटाना है और उसका जीवनस्तर उन्नत करना है। राष्ट्रीय संपत्ति के अर्थ कुछ लोगों के पास धन का केंद्रित होना नहीं होता, क्योंकि उससे संघर्ष और अस्थायित्व रहता है। अगर दीन लोगों को धरती का मालिक बनना है, उन सर्वहारा लोगों को, जो बेदख़ल भी थे उसमें अच्छा और मुक्त स्थान प्राप्त करना है। भारत को उन चीज़ों पर केंद्रित होना होगा जिन्होंने उसे एक किया और बलवान् बनाया, क्योंकि प्रजातंत्र के अर्थ अनुशासन और सहनशीलता और पारस्परिक सद्भाव उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार स्वतंत्रता के अर्थ दूसरों की स्वतंत्रता का सम्मान करना होता है।

इस काल में नेहरू के भाषण इस विषय को दुहराते हैं। स्वतंत्रता के प्रथम वर्ष-दिन पर एक प्रसारण वार्ता में उन्होंने एक प्रेरक प्रश्न सामने रखा।

उन्होंने कहा, "हम सब भारत के बारे में बात करते हैं और भारत से बहुतेरी चीज़ें चाहते हैं। उसके बदले में हम उसे क्या देते हैं? हम जो कुछ उसे देते हैं उससे अधिक उससे ले नहीं सकते हैं। अन्ततः भारत हमको वही देगा जो हम उसे सेवा और प्रेम और उत्पादक और रचनात्मक कार्य के रूप में देते हैं। भारत वही तो होगा जो हम हैं: हमारे विचार और कार्य उसको रूपायित करेंगे। उसके उर्वर गर्भ से उत्पन्न हम उसके बाल-बच्चे हैं, आज के भारत के नन्हें नन्हें अंग, और हम कल के भारत के माँ-बाप भी हैं। अगर हम बड़े हैं, तो भारत भी बड़ा होगा, और अगर हम छोटे दिमाग़ के और संकुचित दृष्टिकोण के होंगे, तो वैसा ही भारत होगा।"

उनका इस बात का निश्चय था कि उसके सृष्ठा के साथ गांधीवाद की सम्पदा नष्ट न हो जाय, और इस समय जो सुन्दर और मर्मस्पर्शी भाषण और वक्तव्य उन्होंने दिए

उनमें न केवल राजनीतिज्ञ किंतु कलाकार, विचारक और विद्वान् जीवित हो उठे। इस प्रकार की एक वक्तृता में उन्होंने बताया कि किस प्रकार एक पीढ़ी ने जिसके उत्थान में और जिसे प्रेरणा देने में गांधीजी ने इतना कुछ किया, उसने उनकी हत्या कर दी।

नेहरू ने गांधीजी की याद करते हुए कहा, "उन्होंने अवश्य कष्ट सहा होगा, इस पीढ़ी की कमियों के लिए कष्ट सहा होगा जिसे उन्होंने सिखाया, इसलिए सहा होगा कि हम उनके दिखाए रास्ते से अलग जा पड़े, और अन्त में उनके ही एक बच्चे ने—क्योंकि वह किसी और भारतीय की तरह ही उनका बच्चा है—उस बच्चे के हाथ ने उन्हें मार गिराया।"

किंतु नेहरू ने अनुरोध किया कि राष्ट्र अत्यधिक शोक न करे किन्तु अपने पिता के चरण चिह्नों पर चलने की लगन के साथ चेष्टा करे क्योंकि महात्माजी की मृत्यु एक प्रकार से उनके जीवन की पूर्णता थी। नेहरू ने आग्रह किया :

उनकी मृत्यु में भी एक गरिमा और पूर्ण कलात्मकता थी। प्रत्येक दृष्टि-बिन्दु से उस मनुष्य ने जो जीवन बिताया उसके लिए एक योग्य परिणति थी। यथार्थ में इससे उनके जीवन की शिक्षा ऊँची हो गई है। वह अपनी क्षमता की पूर्णता में मरे और निःसन्देह, प्रार्थना के समय, जैसी मृत्यु वह चाहते। वे एकता के लिए बलिदान हो गए जिसके लिए वे सदा उत्सर्ग रहे और जिसके लिए उन्होंने निरन्तर काम किया, विशेष रूप से पिछले साल और उसके पहले। उनकी मृत्यु सहसा हुई, जैसी मृत्यु की सब लोग कामना करते हैं। बुढ़ापे में होनेवाला शरीर का क्षीण होना या लंबी बीमारी, या दिमाग़ का भुलक्कड़पन उनमें नहीं था। तब हम उनके लिए क्यों शोक करें। उनके विषय में हमारी स्मृतियाँ उस गुरु की होंगी जिनके क़दम अन्त तक तेज़ रहे, जिनकी मुस्कराहट संक्रामक थी, और उनकी आँखों में हँसी भरी पड़ी थी। हम उनके शरीर और मन में कोई दुर्बलता की शक्ति संयुक्त नहीं करेंगे। वे अपने बल और शक्ति के उच्चतम शिखर पर जिए और मरे और हमारे मनों में और जिस युग में हम रह रहे हैं उसके मन में ऐसी तस्वीर छोड़ गए हैं जो धूँधली नहीं पड़ेगी।

वह तस्वीर धुँधली नहीं पड़ेगी। लेकिन उन्होंने उससे अधिक कुछ किया था क्योंकि वे हमारे मन और प्राण के भीतर के तन्त्र में प्रवेश कर गए और उन्हें बदल दिया और उन्हें ढाल दिया। गांधी पीढ़ी निकल जायगी लेकिन वह तत्व बच रहेगा और प्रत्येक आनेवाली पीढ़ी को प्रभावित करता रहेगा, क्योंकि वह भारत के प्राण का एक अंग बन गया है। इस देश में जब हम आत्मा से दीन हो रहे थे तो बापू उसे समृद्ध करने और उसे शक्तिशाली बनाने को आए, और जो शक्ति उन्होंने हमको दी वह एक क्षण या एक दिन या एक वर्ष के लिए नहीं थी लेकिन वह हमारी राष्ट्रीय संपत्ति में कुछ वृद्धि थी।

छः बरस पहले वर्धा में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग में गांधीजी ने सार्वजनिक रूप से नेहरू को अपना राजनीतिज्ञ उत्तराधिकारी बनाया था। यह ऐसे समय हुआ था जब महात्माजी उनसे युद्ध में भारत के रुख़ पर असहमत थे। महात्माजी बोले :

किसी ने सुझाया है कि जवाहरलाल और मैं अलग हो गए हैं। हमलोगों को विरत करने के लिए मतभेद से अधिक किसी चीज़ की ज़रूरत है। जब हम सहकर्मी हुए उसी क्षण से हममें मतभेद रहा है, फिर भी मैंने कई वर्षों पहले कहा था और अब कह रहा हूँ कि राजाजी नहीं बल्कि जवाहरलाल मेरे उत्तराधिकारी होंगे। वह कहते हैं कि वह मेरी भाषा नहीं समझते, और वह ऐसी भाषा बोलते हैं जो मेरी समझ के बाहर है। वह सही हो या न हो। लेकिन दिलों के मिलने से भाषा बाधक नहीं होती है। और मैं यह जानता हूँ कि मेरे चले जाने के बाद वे मेरी भाषा बोलेंगे।

गांधीजी की भविष्यवाणी ठीक हुई, आनेवाले महीनों और वर्षों में नेहरू महात्माजी की भाषा बोलने लगे। वे गांधीजी की निर्भयता, कर्म और घृणा से दूर रहने के उपदेश की शिक्षा देने लगे। महात्माजी ने कहा था, प्रेम करो और क्षमा करो, प्रेम करो और सृजन करो, प्रेम करो और स्वाधीन बनो। अप्रैल १९४७ में अन्तर-एशियाई सम्पर्क सम्मेलन में गांधीजी ने एक विश्व की कल्पना की थी। उन्होंने कहा था, "मैं इस संसार में रहने की इच्छा नहीं करता अगर यह एक नहीं होता। मैं इस स्वप्न को अपने जीवन काल में साकार देखना चाहता हूँ।"

नेहरू ने सोचा, गांधीजी के सारे ऊँचे आदर्शों को लोग प्राप्त नहीं कर सकते, लेकिन वे उनके चरणचिह्नों पर तो निष्ठापूर्वक चल सकते हैं। गोखले ने वर्षों पहले क्या नहीं कहा था, "हम भारत की सेवा अपनी असफलताओं से कर सकते हैं"? जैसा पहले कभी अनुभव नहीं किया था वह नेहरू ने अब महात्माजी के लबादे के भार का अनुभव किया और उन्हें पता लगा कि अपने जीवनकाल में गांधीजी कितना भारी बोझ ढो रहे थ। भारत स्वाधीन था और स्वाधीनता के साथ अतिरिक्त ज़िम्मेदारियाँ और कर्तव्य आ गए हैं।

कुछ लोगों को सत्ता भ्रष्ट कर देती है; कुछ को रूखा कर देती है। सत्ता ने नेहरू की मृदु प्रकृति को थोड़ा रूखा बना दिया किन्तु उसने उनके उत्साह और इच्छा शक्ति को दृढ़ कर दिया था। गांधीजी की भाँति वे दासों के प्रिय हाँकनेवाले बन गए थे, भारत को क्रियाशीलता की ओर बढ़ाते, अपने देशवासियों को प्रेरणा देते, आगे बढ़ने के लिए उकसाते और ठेलते, ऐसे मार्गों पर आगे बढ़ाते जो ऊँचे, कड़े और पथरीले होते, विस्तृत अधिकारियों और अधिक संपन्न क्षेत्रों की ओर अग्रसर करते। वे प्रशंसा भी करते और झिड़की भी देते, न तो स्वयं आराम करते और औरों को कम ही आराम करने देते, अपने उदाहरण और अपनी चेष्टाओं से लोगों को स्फूर्ति प्रदान करते, देश को और प्रशासन को नई गति देते।

इस प्रक्रिया में वे देश और प्रशासन के साथ इस प्रकार आत्मसात हो रहे थे कि दोनों में विलीन होकर प्रत्येक को अपने व्यक्तित्व की छाप से व्याप्त कर देते। भारत और सरकार नेहरू बन रहे थे—यह एक ऐसी घटना थी जिसे न केवल उनके देश किंतु संसार ने स्वीकार किया।

ऐसी स्थिति में जो आशंकाएँ निहित रहती हैं वे प्रत्यक्ष हैं। किसी एक व्यक्ति के लिए देश में रक्षा कवच और साथ ही विदेश में प्रतीक होना राष्ट्रीय अस्तित्व के भारत को पतले धागों में बाँध रखना है। किंतु ऐसी स्थिति में फायदे रहते हैं जिनसे भारत ने लाभ उठाया। नेहरू की आवाज ने गोआ में सशस्त्र बल के उपयोग के निषेध के समान अप्रिय नीतियों को सरकार को करने में सक्षम किया। उसने ऐसे समय में एकता की रक्षा करने में सहायता की जब कि भाषा, जाति, प्रांतीयता, सांप्रदायिकता, साम्यवाद के समान विखंडन से उत्पन्न प्रवृत्तियों ने अपने को स्थापित करना चाहा। जनता (या सरकारी) और निजी क्षेत्र पर आधारित एक समाजवादी कार्यक्रम और मिश्रित अर्थ-व्यवस्था ने विरोध के होते हुए मान्यता प्राप्त की। उसने देश को जनहितैषी डाकू राबिनहुड के तरीकों की अर्थव्यवस्था के लिए अनुकूल बनाया जिससे भारी करों द्वारा धनिकों से गरीबों को लाभ पहुँचाना था। पंचशील* के सिद्धान्त काश्मीर से कन्या कुमारी तक गूंज उठे।

आठ साल के अन्दर भारत का राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक रूप बदलना था।

ब्रिटिश राज में राजनीतिक मानचित्र ५६२ रजवाड़ों के राज्यों को लेकर सरकार द्वारा प्रशासित अठारह इकाइयों का था। स्वतंत्रता के एक वर्ष के अन्दर यह लगभग ६०० इकाइयों का पुंज सामंती भारत को प्रजातंत्रीय ढाँचे में मिलाने से २६ राज्यों में हो गया। इसके अर्थ होते हैं कि ५८७००० वर्ग मील का क्षेत्र। (कुल भारत के क्षेत्रफल का ४८ प्रतिशत) जिसमें ८०,०००,००० या कुल जन संख्या का २७ प्रतिशत बारह महीनों में अधिनायक शासन से प्रजातंत्र शासन में आ गया। सितंबर १९५५ में राज्य पुनर्गठन आयोग ने राजनीतिक मानचित्र फिर से बनाया है जिसमें राज्यों की संख्या सत्ताईस से घटा कर सोलह कर दी है, तीन अतिरिक्त जिले केंद्रीय सरकार द्वारा प्रशासित हैं।

रजवाड़ों के भारत को प्रजातांत्रिक भारत में विलय करने में पटेल की आत्मा पथ-प्रदर्शक थी। उनके साथ सुयोग्य सहकारी थे, विशेषतः शक्ति संपन्न और सूझ बूझ वाले वी० पी० मेनन, ऐसे अधिकारी जिन्होंने डाँट डपट से लेकर खुशामद तक का उपयोग किया, कभी भी पहल नई दिल्ली से रजवाड़ों के हाथ नहीं जाने दी। यद्यपि उनका इन चीज़ों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था किंतु पटेल को नेहरू का पूरा समर्थन प्राप्त था। रजवाड़ों के भारत पर उनके विचार सबको मालूम थे और स्वतंत्रता के बहुत पहले उन्होंने उन्हें व्यक्त किया था। उन्होंने गांधीजी या पटेल से अधिक कठोर रुख लिया था। गांधी जी या पटेल ने रजवाड़ों के कांग्रेस कार्यकर्ताओं से "अपनी सीमाओं के अन्दर काम करने"

---

* पाँच सिद्धान्त हैं (१) अनाक्रमण, (२) अहस्तक्षेप, (३) एक दूसरे की प्रभुसत्ता की मान्यता, (४) परस्पर सहायता, (५) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व।

को और शासक और शासित में सद्भावपूर्ण संबंध बनाए रखने को कहा था। नेहरू को इस प्रकार की दयालुता अनुचित लगी क्योंकि उनके विचार में रजवाड़े "संसार में शायद सबसे कठोर ढंग की निरंकुशता" थी। अपने निरंकुश शासन में शक्तिशाली ब्रिटिश राज की रक्षा में वे "भारत में ब्रिटेन के पंचमांगी" थे, जिन्हें न तो योग्यता और न जन हितैपिता का ज्ञान था। उनका राज्य अधिकांश में सामंती था और समय के साथ फफूंदी लगी मध्यकालीन परंपराओं में जड़ जमाए था। नेहरू ने कहा था कि यह बिलकुल ठीक है कि प्रजातंत्र में निरंकुशता पहला शिकार होना चाहिए।

भारत के नए संविधान ने देश को ब्रिटिश राष्ट्र मंडल में एकगणतंत्र बनाया और उसका उद्घाटन २६ जनवरी १९५० को हुआ। यह दिन गणतंत्र दिवस के रूप में मनाया जाता है। संविधान सभा को अपना असाधारण काम पूरा करने में चार बरस लग गए। संयुक्त राज्य, कनाडा, ब्रिटेन, फ्रांस और स्विट्जरलैंड के प्रजातांत्रिक देशों से प्रेरणा ग्रहण कर इस दस्तावेज़ ने अस्पृश्यता को अपराध क़रार दे दिया और उचित ही था कि संविधान सभा में इसके कर्णधार तत्कालीन विधि-मंत्री डा० भीमराव अंबेडकर हरिजन थे। स्वर्गीय सर बेनेगल नरसिंह राव का इसे रूपायित करने में बड़ा हाथ था। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र में भारत का प्रतिनिधित्व किया था।

संविधान के अंतर्गत केंद्रीय विधान सभा (अब लोक सभा नाम से विख्यात) और राज्यों में व्यवस्थापिका सभाओं के लिए चुनाव वयस्क मताधिकार पर हुए जिसमें इक्कीस वर्ष और उससे ऊपर के प्रत्येक स्त्री और पुरुष को मतदान का अधिकार था। जनवरी १९५२ में भारत के प्रथम आम चुनावों में मतदाता सूची में १७६,०००,००० मतदाता थे जिनमें १६०,०००,००० व्यक्तियों ने मतदान किया। इस विशाल संख्या में संसार भर में किसी प्रजातांत्रिक चुनाव में सबसे अधिक—८० प्रतिशत के लगभग अपढ़ थे। फिर भी चुनाव शांतिपूर्वक हुए, कहीं कोई बड़ी घटना नहीं हुई। लगभग २२४०० मतदान केंद्र थे, चुने गए प्रतिनिधियों की संख्या ४४०० से अधिक थी। इन चुनावों ने अन्य एशियाई अफ्रीका अविकसित देशों की राजनीतिक प्रगति में उदाहरण रूप में कुछ योगदान किया, जिनके आत्मशासन के दावे केवल अशिक्षा के आधार पर अब अस्वीकृत नहीं किए जा सकते थे।

भारत के संविधान को रूप प्रदान करने, और देश के प्रथम चुनावों को प्राणवन्त करने के लिए रूप और भावना के लिए भी नेहरू का नेतृत्व साहसिक, निश्चित और रचनात्मक था। नए-नए स्वाधीन भारत के लिए एकता और स्थायित्व दो महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ थीं; यह जानते हुए कि इन आदर्शों पर कितना कुछ आधारित है नेहरू ने इनको जनता के दिमाग़ में बैठाने पर ध्यान केंद्रित किया।

बहुत से कांग्रेसजन राष्ट्र मंडल के साथ भारत का संबंध बने रहने के विरोधी थे। कुछ और को इस बात पर खेद था कि गणतंत्र के पहले न तो "प्रजातंत्र" और न "समाजवादी" शब्द आया है। कुछ भारतीय रजवाड़ों ने जनवरी १९४७ में संविधान सभा में

पारित उद्देश्य पत्र के प्रस्ताव में समाविष्ट जनता के प्रभुत्व के विचार के विरुद्ध आवाज़ उठाई। उनकी शिकायत थी कि जब प्रस्ताव पर विचार हुआ था उस समय उनका प्रतिनिधित्व नहीं था।

नेहरू ने इन विवेचनाओं और आलोचनाओं का उत्तर अपने निश्चयों को उचित ठहराते हुए दिया, विशेषत: इसका कि भारत राष्ट्रमंडल में गणतंत्र के रूप में रहे। उन्होंने कहा, भारत राष्ट्रमंडल में मूलत: इस कारण से है कि यह उसके लिए और साथ ही साथ कुछ उद्देश्यों के लिए जिन्हें वह आगे बढ़ाना चाहता है लाभप्रद है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि राष्ट्रमंडल में प्रत्येक देश अपने ढंग पर चलने के लिए, यहाँ तक कि राष्ट्रमंडल से संबंध विच्छेद करने के लिए स्वतंत्र है। उन्होंने कहा :

मैं चाहता हूँ कि संसार देखे कि भारत में आत्मविश्वास की कमी नहीं है, और भारत उनके साथ भी सहयोग करने को तैयार है जिनसे वह अतीत में संघर्ष करता रहा है; शर्त यह है कि आज सहयोग का आधार सम्मानपूर्ण हो, वह आधार स्वतंत्र हो, ऐसा आधार जो न केवल हमारी भलाई के लिए हो किन्तु संसार की भलाई के लिए भी हो। अर्थात् केवल इसलिए कि अतीत में हम झगड़े हैं और पिछले कर्मो का चिह्न अपने साथ लेकर चलना चाहते हैं, हम उस सहयोग से इनकार नहीं करेंगे। हमें अतीत को उसकी सारी बुराइयों के साथ धो डालना है। मैं पूर्ण विनम्रता के साथ कहना चाहता हूँ कि मेरी इच्छा है कि संसार की चीज़ों की ओर ज़रा भिन्न दृष्टिकोण से देखने में, या यों कहिए कि इस तरह देखने के प्रयत्न के लिए सहायक होना चाहता हूँ कि किस प्रकार महत्वपूर्ण प्रश्नों की ओर देखना और उनसे भिड़ना चाहिए। उन बहसों में जो संसार की असेंब्लियों में चला करती हैं हमने अक्सर देखा है कि यह कटु उपागम, यह एक दूसरे को बुरा भला कहना, यह दूसरे को न समझने की इच्छा, बल्कि दूसरों को जान बूझ कर ग़लत समझ चालाकी से अपनी बात प्रमाणित की जाती है। ऐसे अवसरों पर कुछ लोगों के लिए अपनी बात सिद्ध कर देना संतोषजनक हुनर हो सकता है जिस पर अपने लोगों या और लोगों से वाहवाही मिले। लेकिन दुनिया के आज के हालात में जब कि हम विध्वंसात्मक युद्धों के किनारे पर रह रहे हैं, जब राष्ट्र की भावना उभाड़ दी जाये और असाधारण रूप से कहा शब्द भी महत्वपूर्ण हो जाय, ऐसी हालत में किसी भी ज़िम्मेदार आदमी के लिए ऐसा करना घटिया बात है।

संविधान सभा में एक दूसरे भाषण में उन्होंने इन्हीं बातों पर अधिक ओज के साथ बल दिया :

कोई भी काम करने में हमें इस बात से सावधान रहना है कि ऐसी कोई चीज़ न छूट जाय जिससे राष्ट्र को लाभ हो। साथ ही साथ हमें इस प्रश्न की ओर बड़े ढंग से देखना है। हमारा राष्ट्र बड़ा है। अगर हमारा राष्ट्र आकार में बड़ा है तो उससे हममें बड़प्पन नहीं आएगा जब तक कि हम मन से बड़े न हों, हृदय से बड़े न हों, समझदारी में बड़े और काम में भी बड़े न हों। बाज़ार में सौदेबाज़ी में शायद थोड़ा बहुत घाटा हो सकता है।

अगर हम बड़े ढंग से काम करें तो उसका प्रत्युत्तर संसार में बहुत बड़ा होगा और उनकी प्रतिक्रिया भी बड़ी होंगी। चूँकि भलाई का परिणाम भला होता है और उससे दूसरों से भलाई मिलती है और एक बड़ा काम जो भावों की उदारता प्रदर्शित करती है, दूसरों से भी उदारता पाती है।

नेहरू गांधीजी के साध्य और साधन के सिद्धान्त का विवेचन कर रहे थे कि साधन प्रमुख होते हैं और सही साधन सही लक्ष्य की ओर प्रवर्तित करते हैं। वे उन प्रयोजनों को भी महत्व दे रहे थे जिन्होंने बाद में उनकी वैदेशिक नीति को निर्देशित किया।

गणतंत्र के आगे "प्रजातंत्र" या "समाजवादी" शब्द क्यों नहीं जोड़ा गया? नेहरू ने कहा, भारत का पूरा अतीत इस बात का साक्षी है कि वह प्रजातांत्रिक परंपराओं के लिए लड़ रहा था।

उन्होंने कहा, "प्रजातंत्र हमारा ध्येय है।" लेकिन प्रजातंत्र निश्चल रीति की सरकार नहीं होती और अधिक पूर्ण और अधिक शक्तिशाली अभिव्यक्ति में विकसित हो सकती है। नेहरू बोले, "यह इस सदन पर निर्भर करता है कि वह यह निश्चित करे कि उस प्रजातंत्र को क्या रूप दिया जाय, मेरी आशा सबसे पूर्ण प्रजातंत्र से है।"

समान रूप से उन्होंने बहस की कि गणतंत्र शब्द के पहले "समाजवादी" शब्द फ़ालतू है क्योंकि आर्थिक प्रजातंत्र का निष्कर्ष प्रस्ताव में समाविष्ट है। नेहरू ने स्वीकार किया :

मैं समाजवाद का समर्थन करता हूँ और आशा करता हूँ कि भारत समाजवाद का समर्थन करेगा और भारत समाजवादी राज्य के संविधान के लिए अग्रसर होगा और मेरा विश्वास है कि सारे संसार को उसी मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। किस प्रकार का समाजवाद हो यह आपके विचार करने की बात है। लेकिन मुख्य बात यह है कि इस प्रकार का प्रस्ताव सामने है। अगर मैंने अपनी निजी इच्छा के अनुसार यह रखा है कि हम समाजवादी राज्य चाहते हैं तो हमने कुछ ऐसा भी रखा होता जो बहुतेरे लोगों की मर्ज़ी होती और कुछ लोगों की पसन्द का न होता और हम इस प्रस्ताव को ऐसी बातों के लिए विवादास्पद नहीं बनाना चाहते थे। इसलिए हमने ख़्याली शब्द और फार्मूले नहीं रख लिए हैं लेकिन जो चीज़ चाहते हैं उसका निष्कर्ष रखा है। यह आवश्यक है और मैं यह मान लेता हूँ कि उसमें कोई झगड़ा न होगा। कुछ लोगों ने मुझे यह सुझाया है कि हमारे गणतंत्र कहने से भारतीय रजवाड़ों के शासकों को शायद कुछ अप्रसन्नता होगी। यह संभव है कि इससे उन्हें अप्रसन्नता हो। लेकिन मैं व्यक्तिगत रूप से यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ और सदन इस बात को जानता है कि मैं कहीं भी राजा की प्रथा में विश्वास नहीं करता और आज संसार में राजतंत्र तेज़ी से हटता जा रहा है। किंतु इस बात में मेरे व्यक्तिगत विश्वास का सवाल नहीं है। भारतीय राज्यों के संबंध में मेरे विचार वर्षों से यह रहे हैं कि सबसे पहले उन राज्यों के लोग पूर्ण रूप से आनेवाली स्वतंत्रता में भाग लें। मेरे लिए यह अकाल्पनिक है कि राज्यों के लोगों और राज्य के बाहर के लोगों के बीच स्वतंत्रता के मानक और मात्राओं में भेद रहे। राज्य उस संघ के किस प्रकार के अंग

रहेंगे यह सदन को राज्यों के प्रतिनिधियों के साथ विचार करने की बात है। और मैं आशा करता हूँ कि राज्यों से संबंधित सारे मामलों में यह सदन राज्य के वास्तविक प्रतिनिधियों से बातचीत करेगा। मैं समझता हूँ कि हम ऐसे मामलों में जो उनसे संबंधित हैं पूरी तौर पर शासकों या उनके प्रतिनिधियों से बात करने के लिए राज़ी हैं, लेकिन अंतिम रूप से जब हम भारत का संविधान बनाएँगे तो वह राज्यों के लोगों के प्रतिनिधियों के साथ उसी तरह होगा जैसे शेष भारत के उन प्रतिनिधियों के साथ जो यहाँ मौजूद हैं।

उन्हें खेद था कि सदन में अभी तक राज्यों का प्रतिनिधित्व नहीं है। लेकिन यह किसका दोष था? सरकार ने पिछले छः सप्ताहों में राज्यों के शासकों का प्रतिनिधित्व करने वाली समिति से उनके समुचित प्रतिनिधित्व के लिए राह निकालने को संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसमें देर होने के लिए सरकार का दोष नहीं है। वे "सबको अंदर लाने के लिए" चिंतित थे। "लेकिन" नेहरू ने पूछा, "कुछ लोगों के यहाँ न रह सकने के कारण क्या हम अपना काम टालते रहें?"

व्यावहारिकता और मामूली समझ, इतिहास और शीघ्रता के भाव का यह संकेत भावी संकटपूर्ण वर्षों में जवाहरलाल के कार्य को विशिष्टता प्रदान करनेवाला था जबकि स्थायित्व और एकता में यथार्थतः आश्वस्त भारत समाजवादी ढंग का कल्याणकारी राज्य बनने जा रहा था।

भारत में साम्यवाद का प्रतिरोध और उसका सामना करना था, उसकी हिंसा निर्ममता से कुचल दी गई। यद्यपि बीच-बीच में वह अपना अनेक फनों वाला सिर उठाता रहा और अपना ज़हर उन लोगों पर उगलता रहा जिन्हें वह व्यर्थ ही नष्ट करना चाहता था। उसकी शक्ति कुछ तो उसमें अपनी ही अन्तर्निहित मूर्खताओं से नष्ट हुई लेकिन मूलतः उस गति से निर्बल हुई जिससे नेहरू ने अपना समाजवादी कार्यक्रम देश पर अग्रसर किया और साथ ही साथ देश के बाहर दोनों शक्ति के गुटों के बीच स्वतंत्र नीति अपनाई। इस प्रकार चतुरता से वे भारतीय साम्यवादियों की नींव ही देश में और विदेश में उखाड़ने लगे।

अपने मन में नेहरू अपनी घरेलू और वैदेशिक नीतियों के वास्तविक औचित्य में आश्वस्त थे, चूंकि वे देशी साम्यवाद पर विजय पाने की अल्पावधि योजना पर स्थिर नहीं थीं बल्कि दूरव्यापी आधार के चिन्तन पर स्थित थीं जो वर्षों से चला आ रहा था। उन्होंने बहुत समय पहले से अनुभव किया था कि समाजवादी पूर्वाग्रह के साथ राज्य की योजना उस अविकसित देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है जिसे अपनी भौगोलिक स्थिति, अपनी राजनीतिक आवश्यकताओं और आर्थिक तक़ाज़ों के कारण भी अपने विकास के लिए शांतिपूर्ण युग की आवश्यकता है। शांति के अर्थ सब लोगों के लिए आंतरिक और अंतर्राष्ट्रीय स्थायित्व और सद्भावना होते हैं। सभ्य मूल्यों और आदर्शों के बने रहने की यही गारंटी (प्रतीति) थी। इस चिन्तन का ढंग नेहरू के भारत को स्वयं ही प्रभावित करना था। जनवरी १९४८ में गांधीजी की मृत्यु और दिसंबर १९५० में पटेल

के दिवंगत होने के दो वर्षों के भीतर नेहरू अपने व्यक्तित्व और नीतियों में बहुत से बड़े बड़े भारों से दबे भारत के हल्के धुँधलके की बात को सोचते रहे—बाद में घटित भारत-पाकिस्तान के लड़ाई झगड़े के नासूर के साथ विभाजन का बहता घाव, शरणार्थियों का पुनर्वास, अस्त व्यस्त और कमजोर अर्थ व्यवस्था, व्यापक बेकारी, काश्मीर में उपद्रव, हैदराबाद और जूनागढ़ पर परेशानी, कोरिया, और यह अस्पष्ट बेचैनी की भावना कि स्वतंत्रता सरकार और जनता से भारी—कभी-कभी लगता था कि बहुत भारी—मूल्य ले रही है। उन संकटपूर्ण वर्षों में नेहरू की भाँति भारत एक आहत उद्देश्य का प्रतीक बना हुआ था, जो लोगों में अप्रिय और परित्यक्त हो, उस अँधेरे में टटोल रहा है, जो उन दोनों के चारों ओर छाया हो और उन्हें निगल जाने को डरा रहा हो।

लेकिन नेहरू की ही भाँति भारत शीघ्र ही न झुकनेवाले विश्वास और संकल्प का कठोर अन्तर्भाग उद्घाटित करने वाला था। ज्यों-ज्यों नेहरू और भारत प्रयोजनीयता से अपने द्वारा निर्मित भविष्य में आगे बढ़े, भारत के आख्यान के साथ साथ नेहरू का आख्यान भी बढ़ा। अपनी कमर कसने और देश को सुखद और बड़ी चीज़ों की ओर बढ़ाने में भारत ने नेहरू के आह्वान का उदारतापूर्वक उत्तर दिया।

कोरिया के युद्ध की समाप्ति ने व्यापार-चक्र में परिवर्तन ला दिया। भारत ने आर्थिक संयोग के इस स्थिति परिवर्तन से लाभ उठाया। प्रथम पंचवर्षीय योजना चल रही थी, जिसके बाद द्वितीय पंचवर्षीय योजना आने को थी। आरंभ बाँधों, सिंचाई परियोजनाओं और विद्युत् कार्यों के महत्वाकांक्षी कार्यक्रम से हो चुका था; सामुदायिक योजनाएँ धीरे-धीरे देहातों का रूप बदल रही थीं और अपनी सहायता आप करने का प्रफुल्ल उत्साह देश भर में दृष्टिगत था। विदेशों में, प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तन में नए दिगन्त प्रक्षेपित कर जहाँ नेहरू की वैदेशिक नीति विवाद को पैदा करती थी वहीं चिन्तन के लिए भी प्रवृत्त करती थी।

यह सब आगे था। लेकिन १९४८ के प्रारंभिक महीनों में यह भावना भारत के मन को भारी कर रही थी कि गांधीजी की मृत्यु के साथ एक युग का अंत हो गया है। यह जवाहरलाल के मन पर भार बन रही थी, लेकिन जिस एकमात्र शिखर पर वे अब उठे हुए अपने को समझते थे उससे उनमें एक कर्तव्य, व्रत और नियति की भावना भर गई। हमारी लंबी यात्रा की अंतिम मंज़िल में उन्होंने संविधान सभा के द्वारा अपने देशवासियों को संबोधित किया। उन्होंने स्वीकार किया कि शायद किसी भयानक दुःखान्त ग्रीक नाटक में जो अपनी नियत विपत्ति की परिणति की ओर जा रहा है वे सब अभिनेता हैं। किंतु, उन्होंने उनसे आग्रह किया कि चित्र को परिप्रेक्ष्य में देखें और "क्षितिज से बहुत ऊपर भारत के उदीयमान नक्षत्र को देखें।" उन्हें विश्वास था कि नियति ने उनके देश को विशेष कार्य सौंपा है। उन्होंने कहा :

मैं नहीं कह सकता कि यहाँ उपस्थित स्त्री-पुरुषों में कोई नियति पुरुष कहा जा सकता है या नहीं। वह बड़ा शब्द है जो औसत इन्सान के लिए नहीं प्रयुक्त होता है, लेकिन हम

नियति पुरुष या स्त्री हों या न हों, जब तक हम इस महान् देश का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसके आगे महान् नियति दूर तक फैली हुई है भारत नियति का देश है। नियति के उस लंबे परिप्रेक्ष्य में अपनी और संसार की और एशिया की सारी समस्याओं को देखते हुए और उस बड़ी ज़िम्मेदारी को कभी न भूलते हुए कि स्वाधीनता, जो हमारे इस देश की महान् नियति ने हम पर डाली है, छोटे-छोटे विवादों और बहसों में अपने को न खोते हुए, जो शायद उपयोगी हों, लेकिन जो इस संदर्भ में या तो स्थान या विषय के उपयुक्त न हों, हमें भी नियति पुरुष और स्त्री की भाँति काम करना है।

उन्होंने दिसंबर १९४८ में प्रमुखतः इंजीनियरों और प्रविधिज्ञों की एक सभा में भाषण देते हुए कहा, उनकी पीढ़ी को कड़ी मेहनत के लिए दंड दिया गया है। भारत के आगे कठोर श्रम और पीड़ा का मार्ग है लेकिन जो लक्ष्य है उसके लिए प्रयत्न करना उसके अनुरूप है।

२२

जूनागढ़ और हैदराबाद

"प्रकाश, इस स्वराज्य और पाकिस्तान के बारे में तुम्हारा क्या ख़याल है?" स्वतंत्रता के आरंभिक तमोवृत दिनों में नेहरू ने अपने मित्र श्रीप्रकाश से पूछा।

गहन विषाद की चिन्ता में डूबे हुए श्रीप्रकाश चुप रहे। उस समय विभाजन की हत्याओं की पराकाष्ठा के दिन थे।

अपनी स्वभावगत स्त्रैण संवेदनशीलता से नेहरू ने अपने साथी के विषाद की गहराई का अनुमान लगाया। वे आकर श्रीप्रकाश के पास बैठ गए। उनका व्यवहार बिलकुल सच्चा और स्नेहपूर्ण था।

उन्होंने धीरे से कहा, "प्रकाश, अब हम लोगों के आगे दो ही चीज़ें हैं। या तो कठिनाइयों से हार मान लें या उन पर क़ाबू पाएँ। और हम हार नहीं मानेंगे।"

इस मनोभाव में प्रत्येक संकट चुनौती के रूप में सामने आया। और घने, तूफ़ानी आकाश में बादलों की तरह संकट पर संकट ढेर होते गए।

स्वतंत्रता का पहला आघात दो वर्गों पर पड़ा—जनता पर और रजवाड़ों पर। जनता विभाजन के बाद भयानक कांडों के साथ विभाजन के भँवर में फँस गई और रजवाड़े सहसा अपने राज्यतंत्र के सहारे से विच्छिन्न हो गए और अँधेरे से भय खानेवाले खोए बच्चों की तरह भटकते-से हो गए।

नेहरू के मन में रजवाड़ों के लिए कोई बड़ा स्नेह या आदर नहीं था। जबकि उनमें से कुछ थोड़े से प्रगतिशील थे, उनकी राय में बहुत ही अधिक संख्या में सामन्ती अत्याचारी थे। स्वर्ग में इन्द्र की पौराणिक अप्सरा की भाँति वे भी देवदानवों द्वारा समुद्र मन्थन से उत्पन्न हुए थे। लेकिन बहुत वर्षों के ज़रूरत से ज़्यादा रक्षण और अविकसित अवस्था ने उन्हें बौना और निस्तेज कर दिया था।

जब स्वतंत्रता आई तो रजवाड़ों के प्रभुत्व क्षेत्र में ५६२ इकाइयाँ या राज्य थे जो आकार और साधन में भिन्न थे और अपने विभाजन के पहले भारत में लगभग ९०,०००,००० की जनसंख्या थी। क्षेत्रफल में वे लगभग ग्रेट ब्रिटेन के बराबर के—काश्मीर से लेकर, जो भारत-पाकिस्तान संघ में कटने के पहले ८४००० वर्गमील में फैला था, गुजरात में बिलवाड़ी की नाममात्र की जागीर तक थे जिसका क्षेत्रफल दो वर्गमील से कम और जनसंख्या तीस से कम थी।

ब्रिटिश सत्ता के हट जाने से सर्वोपरि सत्ता का सिद्धान्त समाप्त हो गया। इसके

अन्तर्गत भारतीय रजवाड़ों के ब्रिटिश सम्राट के साथ विशेष संधि संबन्ध थे। अब वे अपना भावी संवैधानिक पद, ब्रिटिश राज के उत्तराधिकारी सत्ताओं, भारत और पाकिस्तान के दो नए अधिराज्यों में से किसी एक के साथ विलय करके चुनने के लिए स्वतंत्र थे। २५ जून १९४७ को सम्राट के प्रतिनिधिरूप में अंतिम बार रजवाड़ों को संबोधित करते हुए माउंटबैटन ने उन्हें सलाह दी कि वे निश्चय कर लें और एक एक कर भारत और पाकिस्तान में विलय करलें। इस विलय में निर्णय की स्वतंत्रता शासकों की थी, कुछ बातें विचारणीय थीं, जैसे राज्य की उत्तराधिकारी अधिराज्य से भौगोलिक समीपता, उसकी प्रजा की सांप्रदायिक संरचना और जहाँ आवश्यक हो वहाँ जनमत संग्रह करना।

"आप उसी तरह न तो अधिराज्य सरकार से अलग रह सकते हैं जो कि आपके पड़ोस में है, जिस तरह आप अपनी प्रजा से अलग नहीं रह सकते हैं जिसके कल्याण के लिए आप उत्तरदायी हैं"। माउंटबैटन ने रजवाड़ों को सलाह दी।

इसके अनुसार रजवाड़ों की समस्याओं को सुलझाने के लिए सरदार पटेल की अध्यक्षता में भारत में एक रियासती विभाग जुलाई १९४७ के आरंभ में संगठित हुआ। दृढ़ता, दक्षता और पूर्ण कुशलता के साथ पटेल ने भी अपने काम को सँभाला। उन्होंने रजवाड़ों से सहयोग की अपील की। उन्होंने उन्हें सलाह दी कि देशभक्तों की तरह काम करें और सावधान किया कि उसका दूसरा उपाय "अराजकता और विप्लव होगा" जो छोटे बड़े को एक समान विनाश में लपेट लेगा।" उन्होंने उन्हें उदार निजी कोष का जो संविधान द्वारा निश्चित था और राज्य की संपत्ति से भिन्न निजी संपत्ति के पूर्ण अधिकार, उपयोग और उपभोग का आश्वासन दिया। शासकों को इन रियायतों के साथ साथ पटेल ने उनके प्रजाजनों को वही अधिकार, स्वाधीनता और विशेषाधिकारों की गारंटी दी जिनका भारतीय नागरिक उपयोग करते हैं।

इसका प्रभाव बिजली की तरह हुआ। एक के बाद एक रजवाड़े ने विलयपत्र[1] पर हस्ताक्षर किए और अपने राज्य के अधिकृत प्रतिनिधि को संविधान सभा में भेजा। १५ अगस्त १९४७ तक जब कि भारत स्वतंत्र हुआ तीन राज्यों को छोड़कर भारत की भौगोलिक सीमा के भीतर के सब राज्य भारतीय अधिराज्य[2] में विलय हो गए थे।

दोनों अधिराज्यों का पड़ोसी होने के कारण काश्मीर दोनों में से किसी में विलय होने से अड़ा रहा। यह ऐसा अनिश्चित रुख था जो आनेवाले महीनों और वर्षों में राज्य और उसके लोगों को महँगा पड़ा। जूनागढ़ यद्यपि भौगोलिक रूप से भारत के निकट था किंतु उसने अबुद्धिमत्ता से पाकिस्तान में विलय होने का निश्चय किया। इस निश्चय को उलटने के लिए वहाँ के शासक को विवश होना पड़ा। उसके

१. विलय पत्र में यह निर्देशित था कि राज्य प्रतिरक्षा वैदेशिक मामले और संचार के तीन विषय बिना किसी आर्थिक दायित्व के और अंतिम निर्णय की शर्त पर केंद्रीय सरकार को समर्पित कर देंगे।

२. जनवरी २६, १९५० तक गणतंत्र घोषित होने के पूर्व भारत अधिराज्य था।

प्रजाजनों ने इसका विरोध किया और भारतीय सरकार ने प्रतिवाद किया। काश्मीर की तरह हैदराबाद ने भारत के साथ तथाकथित एक वर्ष का यथास्थिति समझौता किया। लेकिन वर्ष समाप्त होने के पहले मुस्लिम चरमपंथियों की स्वयंसेवक सैनिक टुकड़ी रज़ाकारों की लड़ाकू कार्यवाहियों ने भारत सरकार को राज्य के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही के लिए विवश किया। उसका परिणाम हैदराबाद का भारत में विलय हुआ।

जूनागढ़ ने उस समस्या के लिए ऐसी बाधा का काम किया जिसकी परिणति काश्मीर में हुई। सितंबर के मध्य में, स्वतंत्रता प्राप्ति के महीना भर बाद, राज्य-मंत्रिमंडल में पटेल के दाहिने हाथ, व्युत्पन्नमति वी० पी० मेनन जूनागढ़ के मुस्लिम शासक नवाब से मिलने वहाँ गए। वहाँ के प्रधान मंत्री या दीवान ने मेनन को बताया कि नवाब की तबीयत ठीक नहीं है और उनसे मुलाक़ात नहीं हो सकती है।

४००० वर्गमील की जूनागढ़ रियासत में बहुत अधिक हिन्दू जनसंख्या थी, यद्यपि उसका शासक मुसलमान था और मुसलमानों की जनसंख्या वहाँ की जनसंख्या की कठिनता से १८ प्रतिशत थी। वह बंबई के गुजरात डिवीज़न में काठियावाड़ प्रायद्वीप के दक्षिण तट के भीतर था। अगर काश्मीर नेहरू का स्वदेश था तो जूनागढ़ पटेल की रियासत था।

जूनागढ़ जबकि उससे बड़ी रियासत बड़ौदा की सामन्तीय जागीर थी और उसे कर दिया करती थी, वह बदले में अपने क्षेत्र की सामन्तीय जागीरों, जैसे मँगरोल के शेख़ और बाबरियावाड के शासक से कर लिया करता था। जब मेनन जूनागढ़ में ही थे तो मँगरोल के शेख़ ने भारत में संविलयन की घोषणा कर दी। बाबरियावाड पहले ही ऐसा कर चुका था।

मेनन के दिल्ली लौटने के साथ मँगरोल ने भारत में विलय को अस्वीकार कर दिया। शेख़ इस प्रत्याख्यान की नीति के लिए विवश किया गया था। इसके साथ ही साथ जूनागढ़ के नवाब ने, जिसने पाकिस्तान में विलयन स्वीकार कर लिया था, अपनी सेना बाबरियावाड के अंदर भेज दीं।

इस राजनीतिक चाल से, जो यथार्थ में भारत को चिढ़ाना था, पटेल ने क्रुद्ध होकर कार्यवाही की माँग की।

उन्होंने चेतावनी दी, "जब तक बलप्रदर्शन नहीं होता और शक्ति के उपयोग की तैयारी नहीं होती, मैं त्यागपत्र दे दूंगा।"

जूनागढ़ की कार्यवाही भारत और पाकिस्तान के बीच राज्यों के संविलयन को निश्चित करनेवाले सिद्धान्तों के विपरीत थी, क्योंकि इनमें निर्धारित था कि जहाँ भौगोलिक सान्निध्य मुख्य बात थी, जहाँ रियासत के बहुसंख्यक प्रजाजन शासक से धर्म या मत से भिन्न हों, वहाँ प्रजाजन के मत का निश्चय कर लेना चाहिए। चूँकि जूनागढ़ भारतीय क्षेत्र का अंश है, जूनागढ़ के नवाब ने केवल भौगोलिक सान्निध्य के सिद्धान्त

की अवज्ञा की थी, उसने अपने प्रधानतः हिन्दू प्रजाजनों की उपेक्षा की थी। उनसे उसने सलाह नहीं ली थी।

माउंटबैटन ने कहा, "जहाँ कि संविलयन के मामले में झगड़ा पड़े जनता की इच्छा सर्वोपरि होगी।"

नेहरू इस सिद्धान्त से सहमत थे जिसके द्वारा वे काश्मीर में जनमतसंग्रह के लिए प्रतिबद्ध थे।

एक महीने के पहले ही अक्टूबर में पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाक़त अली खाँ* ने दिल्ली में नेहरू के साथ एक भेंट में जूनागढ़ पर जो भावना व्यक्त की वह पाकिस्तान के काश्मीर पर उसके रुख के साथ मुश्किल से ठीक बैठती है।

उन्होंने पूछा, "हम जूनागढ़ के संविलयन को क्यों नहीं मान लेते ? आख़िरकार बिना किसी नैतिक या जातिगत संदर्भ के शासक को संविलयन का पूरा अधिकार है।"

लेकिन जब काश्मीर के शासक ने भारत में विलय स्वीकार किया तो उनका कुछ और उपागम था।

इस बीच जूनागढ़ के नवाब ने मँगरौल में सेना भेजकर अपनी राजनीतिक चाल का अनुसरण किया। नेहरू ने कम से कम तीन अनुरोध कराची को भेजे कि बाबरियावाड और मँगरौल से जूनागढ़ की सेनाएँ हटा ले। यह रियासतें भारत में विलय होने के कारण भारत का अंग हैं। किंतु पाकिस्तान उनके अनुरोधों की उपेक्षा करता रहा।

२१वीं अक्टूबर को यह निश्चय किया गया कि मँगरौल और बाबरियावाड से आक्रमणकारियों को निकाल बाहर किया जाय। इसके अनुसार १ नवंबर को भारतीय सेनाओं ने दोनों रियासतों में प्रवेश किया और इसके बाद शीघ्र ही जूनागढ़ के नवाब प्रशासन का भार अपने दीवान और पुलिस के प्रधान के हाथों में छोड़कर अपनी रियासत से पाकिस्तान भाग गए।

८वीं नवम्बर को दीवान ने रियासत को संपूर्ण प्रशासनिक अव्यवस्था से बचाने को औपचारिकता के लिए भारत सरकार को रियासत का प्रशासन सँभालने के लिए बुलाया और भारत सरकार ने जूनागढ़ से लगभग साठ मील उत्तर के एक नगर, राजकोट के अपने क्षेत्रीय कमिश्नर से अनुरोध पालन के लिए कहा। यह ध्यान देने योग्य है कि पाकिस्तान के अधिकारियों को अपने निश्चय की सूचना देते हुए दीवान ने इस बात पर ज़ोर दिया कि वह जनमत के समर्थन और रियासती कौंसिल के अधिकार से ही काम नहीं कर रहे हैं किंतु नवाब के स्वयं अनुरोध पर भी जो कि वे असमंजस में पड़े भले आदमी पाकिस्तान उड़ कर जाने के पहले ही कर गए थे।

प्रशासन सँभालने के बाद जो पहला काम भारत सरकार ने किया वह जूनागढ़ के प्रश्न को जनमतसंग्रह को सौंपने का निश्चय घोषित करने का था। यह १२ और २०

* इनकी हत्या १६ अक्टूबर १९५० को हुई।

फरवरी १९४८ के बीच किया गया और इसका परिणाम भारत में विलयन के लिए बहुत ही अधिक मतों से हुआ। जूनागढ़ में १९०,८७० मत पड़े थे जिसमें १९०,७७९ भारत के पक्ष में थे, और सामन्तीय क्षेत्र मँगरोल, बाबरियावाड़ और मनवदर में कुल मतों में १ प्रतिशत से कम पाकिस्तान के पक्ष में आए।

हैदराबाद ने अधिक गंभीर समस्या खड़ी कर दी थी। यह बड़ी रियासत थी, भारत की प्रमुख रियासत, जिसकी जनसंख्या १७,०००,००० थी और रियासत ८३००० वर्गमील में फैली हुई थी, इतनी बड़ी जितना कि फ्रांस है और भारत के भीतर गहराई में अवस्थित है। मुग़ल सम्राट के एक राजप्रतिनिधि के वंशक्रमानुगत, उसका शासक अपनी उपाधि निज़ामुल्मुल्क से निज़ाम रूप में प्रसिद्ध था और भारतीय रजवाड़ों में वह एकमात्र हिज़ इक्ज़ाल्टेड हाइनेस के सम्मान का उपभोग करता था। वह ब्रिटिश सरकार का विश्वासपात्र मित्र भी कहा जाता था।

हैदराबाद का मामला काश्मीर से उल्टा था क्योंकि काश्मीर में जब कि अधिसंख्यक मुस्लिम राज्य पर हिन्दू राजा शासन करता था, हैदराबाद में रियासत का प्रमुख मुस्लिम रजवाड़ा था। रियासत की कुल जनसंख्या में केवल १४ प्रतिशत मुसलमान थे। किंतु इस रियासत की सरकार अधिकतर एक छोटे मुस्लिमतंत्र के अधिकार में थी जिसका मूल स्रोत और प्रतीक निज़ाम था।

हैदराबाद ने बहुत वर्षों तक स्वतंत्रता के विशेष पद का दावा किया था, लेकिन ब्रिटेन ने उसके स्वतंत्रता के दावे को कभी स्वीकार नहीं किया, और १९२६ में उस समय के वाइसराय लार्ड रीडिंग ने साफ साफ इस दावे को रद्द कर दिया और ब्रिटेन की सार्वभौम सत्ता को दुहराया। भारत में स्वतंत्रता आने के साथ साथ निज़ाम ने, जो रीडिंग से घुड़की खाकर यथार्थतः अपने शाही खोल में चला गया था, नये सिरे से हैदराबाद के लिए विशेष स्वतंत्रता के पद के विचार के साथ खिलवाड़ शुरू किया। इसमें उसे इत्तहादुल मुसलमीन से प्रोत्साहन मिला था। यह एक लड़ाकू संगठन था जिसमें उसके सैनिक क़ासिम रिज़वी की अध्यक्षता में रज़ाकार लोग थे। रिज़वी अलीगढ़ यूनिवर्सिटी से शिक्षा प्राप्त एक धर्मान्ध मुसलमान था। उसका दावा था कि हैदराबाद मुस्लिम रियासत है और मुस्लिम श्रेष्ठता का आधार विजय का अधिकार है।

यद्यपि उसने पाकिस्तान के प्रति विभिन्न चेष्टाएँ कीं, निज़ाम, जो राजनयिक चालों की हाथ की सफाई में मौज में बैठा था, हैदराबाद को दोनों अधिराज्यों में से किसी से प्रतिबद्ध होने के लिए काफी अच्छी स्थिति में समझ रहा था। ऐसा करने में उसने भारत के विभाजन से निर्मित संवैधानिक बन्धन को ग़लत समझा। पाकिस्तान के साथ भौगोलिक समीपता न होने से वह उस अधिराज्य में विलय नहीं हो सकता था। दूसरी ओर निज़ाम ने यह मान लेने की भूल की कि उसे भारत में विलय होना भी ज़रूरी नहीं है।

१५ अगस्त १९४७ के पहले ही उसके भारत के साथ विलय के विचार से भारत

सरकार ने हैदराबाद से प्रस्ताव किया था। निज़ाम ने वक्त टालने और ऊँचे दाँव के लिए प्रतिबद्ध होने से इनकार कर दिया था, लेकिन स्वतंत्रता के तुरन्त बाद बातचीत फिर शुरू हुई। अक्टूबर १९४७ के अन्त में हैदराबाद के प्रधानमंत्री छतारी के नवाब और निज़ाम के संवैधानिक सलाहकार सर वाल्टर मांक्टन से सम्मिलित एक नियमानुकूल अधिकृत सदस्य मंडल दिल्ली आया और एक साल के लिए यथास्थिति समझौते का मसविदा लेकर लौटा जिसे निज़ाम ने २८वीं अक्टूबर को हस्ताक्षर करने का वचन दिया।

उस दिन तड़के रज़ाकारों की भड़काई भीड़ों ने मांक्टन और छतारी और सदस्य-मंडल के तीसरे सदस्य सर सुल्तान अहमद के निवास स्थानों को घेर लिया और उन्हें निकलने से रोक दिया। बाद में उसी दिन प्रतिनिधिमंडल के सदस्य निज़ाम से मिले, जो अभी भी समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए प्रवृत्त लगा; लेकिन दूसरे दिन उसने अपना इरादा बदल दिया। इस पर प्रतिनिधिमंडल के सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर निज़ाम के आदेश से पूरी तौर पर इत्तिहाद के सदस्यों का प्रतिनिधिमंडल बना दिया गया।

नेहरू को और पटेल को भी यह जले पर नमक की तरह लगा। पटेल विशेष रूप से ख़फ़ा थे। लेकिन माउंटबैटन की मनाने की क्षमता काम कर गई और वे भारत सरकार को नए प्रतिनिधिमंडल से बातचीत जारी रखने को राज़ी कर सके।

"मैं एक कॉमा बदलने का भी समर्थन नहीं करूँगा," उन्होंने यथास्थिति समझौते के मसविदे के संदर्भ में प्रतिज्ञा की।

नवाब मोईन नवाज़ जंग की अध्यक्षता में नये प्रतिनिधिमंडल ने झगड़े की बात से शुरूआत की। उसने विलय के स्थान पर इस आधार पर कि निज़ाम भारत की सामान्य वैदेशिक नीति के साथ रहते हुए हैदराबाद को स्वतंत्र प्रभुसत्तात्मक राज्य रखना चाहते हैं, भारत के साथ रहने का दावा किया।

माउंटबैटन के कड़े रुख ने काम किया और पटेल के रूप में हैदराबाद के प्रतिनिधि-मंडल को फ़ौलादी आदमी मिला। २४वीं नवंबर को निज़ाम ने एक साल के यथास्थिति समझौते पर हस्ताक्षर कर दिया, उस अवधि में भारत सरकार को प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामलों और संचार पर अधिकार दे दिया।

जब प्रतिनिधिमंडल दिल्ली में था तो रिज़वी वहाँ आया था और पटेल को उससे मिलने के लिए राज़ी कर लिया गया। उनकी भेंट तेज़ थी।

"मैं लाल क़िले में विजेता की तरह आऊँगा, "बाद में रिज़वी ने शेख़ी बघारी थी। वह आया तो—लेकिन क़ैदी बनकर।

निज़ाम की टेढ़ी राजनयिकता ने उसे भारत सरकार की नज़रों में संदिग्ध बना दिया था, जो उसकी हैदराबाद के भीतर और बाहर की बाद की चालों पर व्यग्रता से ध्यान देती रही। बाद के दस महीनों में जिनकी परिणति नई दिल्ली की पुलिस की कार्य-वाही में हुई, दोनो सरकारों ने आरोप और प्रत्यारोप लगाए।

हैदराबाद प्रशासन की अध्यक्षता अब मीर लायक़ अली कर रहा था। वह एक धनी उद्योगपति था जिसका व्यापारिक स्वार्थ हैदराबाद और पाकिस्तान दोनों में था और वह और मोईन नवाज़ जंग साले बहनोई थे। आरंभ में निज़ाम ने प्रधान मंत्री का पद उस समय पाकिस्तान के अर्थ मंत्री और बाद में उसके गवर्नर जनरल ग़ुलाम मुहम्मद को देना चाहा था। ग़ुलाम मुहम्मद ने निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया था और मीर लायक़ अली ने ख़ुद काफ़ी संकोच के बाद जिन्ना से सलाह लेने के बाद ही स्वीकार किया था, उनकी अनुमति उसने पहले से ले ली थी। इसलिए उसे केवल हैदराबाद की भलाई से संबंधित निष्पक्ष प्रशासक कठिनाई से ही कहा जा सकता है।

और शीघ्र ही उसने बता दिया कि उसकी सहानुभूति किधर है। पाकिस्तान को एक ऋण दिया गया और भारत के प्रति विभेद करनेवाला मुद्रा अध्यादेश घोषित किया गया। रियासत में कांग्रेस के कई नेताओं को बिना मुक़दमा चलाए कारागार में बन्द कर दिया गया, जब कि रज़ाकारों को अपना घृणा का विषैला प्रचार करने को ही नहीं बल्कि ग़ैर मुस्लिम लोगों को धमकाने और उन पर आक्रमण करने की खुली छूट थी।

भारत ने उग्र आर्थिक रोक से उत्तर दिया जिसमें चिकित्सा संबंधी चीज़ों के जाने पर भी रोक थी। १९४८ के आरंभ में लंदन में भारतीय हाई कमिश्नर ने सूचना दी कि हैदराबाद लड़ाई के आधुनिक शस्त्रास्त्र रियासत में आयात करने के सौदे में सक्रिय रूप से लगा हुआ है। पाकिस्तान होकर शस्त्रास्त्र चोरी छिपे पहले ही जा रहे थे, और एक लंबा भूरे बालोंवाला सिडनी कॉटन नामक आस्ट्रेलियन हैदराबाद का प्रमुख शस्त्रास्त्र ले जानेवाला था, जो कराची और हैदराबाद के बीच हवाई जहाज़ से शस्त्रास्त्र ले जाकर अन्तर्राष्ट्रीय हवाई परंपरा का उल्लंघन कर रहा था।

रज़ाकार गिरोह युद्ध के लिए शोर मचा रहे थे। भारत हैदराबाद सीमा के दोनों ओर चढ़ाई और आक्रमण की शिकायतें सुनी जा रही थीं। एक दिन हैदराबाद में एक रज़ाकार ने क़ासिम रिज़वी की बात को प्रतिध्वनित करते हुए शेख़ी बघारी कि जल्दी ही उसकी सेनाएँ दिल्ली पर धावा बोलेंगी और लाल क़िले पर निज़ाम के राजवंश का आसफ़िया झंडा गाड़ देंगी। इस वक्ता ने घोषणा की कि बंगाल की खाड़ी का पानी निज़ाम के पाँव धोएगा। समुद्र और भूमि भारत के विरुद्ध सेना के काम आएँगे।

ऐसे विस्फोटक वातावरण में यह आश्चर्यजनक नहीं था कि नवम्बर १९४७ के यथास्थिति समझौते को पुनः स्थापित करने की बातचीत जून १९४८ में भंग हो गई। इसके पहले मई में, भारत से अपने जाने के एक महीने पहले माउंटबैटन ने निज़ाम से बातचीत करने के लिए दिल्ली आने को समझाने का प्रयत्न किया था और एक व्यक्तिगत दूत, अपने प्रेस अटैशे ऐलेन कैंपबेल-जान्सन को उसके शासक को बुलाने के लिए हैदराबाद भेजा था। हिज़ इक्ज़ाल्टेड हाइनेस राज़ी न थे।

अपनी पतली ऊँची आवाज़ में चिड़चिड़ाहट से उन्होंने पूछा, "लार्ड माउंटबैटन महीने भर में क्या कर सकते हैं?"

कैंपबेल-जॉन्सन इस आदमी के भद्दे वेश से चौंक उठे थे जो संसार के सबसे धनी लोगों में विख्यात था। निज़ाम मैले कुचैले ढंग से ढीले सफ़ेद पैजामे पर सफ़ेद सूती गाउन पहने था, और उसके पैर सूती मोज़ों और पुराने से स्लीपर जूतों में ढँके थे। उसके हाथ चंचल-से हो रहे थे। उसके घुटने आपस में लड़ने से लग रहे थे। वह नाटा, झुका हुआ था और सिर के पीछे की ओर किए भूरी फ़ैल्ट टोपी पहने था। यह आसफ़जाह वंश का अंतिम वंशधर शासक था जो तड़कभड़कदार उपाधियों की लड़ी पर गर्व का अनुभव कर रहा था। यह उपाधियाँ अब सूनी गुफा में प्रतिध्वनि की भाँति उसका उपहास कर रही थीं। यह थे हिज़ इक्ज़ाल्टेड हाइनेस, रुस्तमे दौरान, अरस्तू,-ए-ज़माँ, लेफ्टिनेंट जेनरल मुज़फ़्फ़रुलमुल्क वल ममालिक, नवाब मीर उस्मान अली ख़ाँ बहादुर, फतेहजंग, सिपह सालार, ब्रिटिश सरकार के विश्वस्त मित्र, निज़ामुद्दौला, निज़ामुलमुल्क, आसफ़जाह।

कैंपबेल-जॉन्सन ने उसे यह समझाना चाहा कि माउंटबैटन संवैधानिक राजतंत्र में दृढ़ विश्वास रखते हैं।

खास ढंग से हाथ हिलाते हुए निज़ाम बोला, "इसी बात पर मेरा उनका मतभेद है। संवैधानिक राजतंत्र योरोप और पश्चिम के लिए बहुत ठीक है। पूर्व में उसके कोई अर्थ नहीं होते।"

बूरबाँ लोगों की तरह हिज़ इक्ज़ाल्टेड हाइनेस इस बात पर दृढ़ निश्चय लगे कि न तो कुछ सीखेंगे न कुछ भूलेंगे। रज़ाकारों के होते हुए वे अपने ब्रिटिश आगन्तुक को इस समय भी राजनीतिक रूप से स्थिति के स्वामी लगे। चार महीने के भीतर उनका वह गौरव समाप्त हो गया।

रज़ाकार लोग अपना घृणा का राग अलापते रहे। रिज़वी ने चेतावनी दी, अगर रियासत के खिलाफ़ हाथ उठाए जाते हैं, तो उन्हें काट डाला जायगा—उन हाथों और उन हाथों को भी जो उनपर अधिकार रखते हैं। क्या उसका मतलब निज़ाम से था? इसके शीघ्र बाद एक मुस्लिम संपादक, शोऐबुल्ला खाँ की, जिसका पत्र रज़ाकारों का आलोचक था और जो भारत के साथ विलय चाहता था, हत्या कर दी गई। उसका एक हाथ तलवार से कटा मिला।

१९४८ के आरंभ से रज़ाकारों ने अपनी कार्यवाहियाँ हैदराबाद शहर से क़स्बों और देहाती क्षेत्रों तक बढ़ा दी थीं। वे हिन्दुओं की हत्या करते, स्त्रियों का अपहरण करते, मकानों और खेतों की लूटपाट करते। अगस्त में उनके अत्याचारों के पुंजीभूत प्रभाव से मीर लायक़ अली की सरकार के दो सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया।

अत्याचार और अक्षेम के इस क्षेत्र में साम्यवादियों के अभियान से भारत सरकार के लिए स्थिति और उलझ गई। साम्यवादियों ने पहले तो अपने को हैदराबाद रियासत की कांग्रेस के साथ जोड़ा, लेकिन जब रज़ाकार प्रधान सरकार ने उन पर से रोक हटा ली तो उन्होंने अपने विशिष्ट ढंग से रुख बदल दिया और आज़ाद हैदराबाद का नारा

लगाने लगे। दिखाने के लिए मुसलमान किसानों और मजदूरों का साथ देते हुए उन्होंने उनसे सम्मिलित होने को कहा, साथ ही उन्होंने माँग की कि रज़ाकार "अपने को और अपने शस्त्रास्त्रों को भी साम्यवादी छापामार दलों को अर्पित कर दें।" उन्होंने कहा, "तभी साम्यवादी पार्टी उनका समर्थन कर सकती है और उनकी रक्षा कर सकती है।"

हैदराबाद राज्य को छूते हुए बंबई, मद्रास और मध्यप्रदेश के ज़िले थे। हैदराबाद और भारत के गाँवों के बीच कुछ प्राकृतिक रुकावटें थीं। इस प्रकार रज़ाकार लोग प्रायः निज़ाम की रियासत में नौकर अरब भाड़े के टट्टुओं और हैदराबाद रियासत की सेना के सशस्त्र सिपाहियों की मदद से या उनके प्रोत्साहन से हमला कर भाग जाने के ढंग में लग गए और सीमा में लगे भारतीय क्षेत्र में प्रायः आक्रमण कर देते। इन धावों में उन्होंने सम्पत्ति को तोड़ने फोड़ने और नष्ट करने के सिवा कई लोगों को मार डाला। जुलाई में लगभग पचास रज़ाकारों के गिरोह ने, हैदराबाद की पुलिस के कुछ आदमियों के साथ एक भारतीय सैनिक रक्षक दल पर धावा किया जो पहरा बदलने के नियमित कार्यक्रम पर था। यह मुठभेड़ हैदराबाद के गाँव हनज के पास हुई, और इसमें पाँच भारतीय सैनिक मारे गए और पाँच घायल हुए। यह सैनिक आतंकग्रस्त भारतीय ग्रामवासियों की रक्षा के लिए सीमा के समीप रखे गए थे।

७वीं सितंबर को संविधान सभा में बोलते हुए नेहरू ने रज़ाकारों के उपद्रवों का संक्षिप्त विवरण दिया जिसमें हैदराबाद के अन्दर सत्तर से ऊपर गाँवों में हमले, भारतीय क्षेत्र में १५० आक्रमण और चढ़ाइयाँ थीं और सीमा पर बाहर रेलगाड़ियों पर आक्रमण थे। मृत लोगों की संख्या सैकड़ों तक पहुँच गई थी और बहुत सी स्त्रियों का शीलभंग या अपहरण किया गया था। १०,०००,००० रुपयों से ऊपर की संपत्ति लूटी गई थी। नेहरू ने उन भारतीय सैनिकों पर रज़ाकारों के आक्रमण का हवाला भी दिया जो सीमा पर तैनात थे या हैदराबाद के अन्दर के घेरों में भारतीय क्षेत्रों में तैनात थे। नेहरू ने कहा :

कोई भी सभ्य सरकार भारत के भौगोलिक केन्द्र में इस तरह के अत्याचारों को बिना दंड के नहीं जाने दे सकती; क्योंकि इससे न केवल हैदराबाद के क़ानून का पालन करनेवाले निवासियों की सुरक्षा, सम्मान, जीवन और सम्पत्ति पर ही प्रभाव पड़ता है किन्तु भारत की आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ता है। हम भारत में सांप्रदायिक जोश भड़काए बिना, अधिराज्य की शान्ति को संकट में डाले बिना हैदराबाद में हत्या, अग्निकांड, शीलापहरण और लूटपाट का अभियान नहीं चलने दे सकते। सदन यह विचार करे कि इन परिस्थितियों में भारत सरकार में हमारे पहले के लोग क्या करते। इससे बहुत कम पर वे कठोर हस्तक्षेप करते। ब्रिटिश साम्राज्य की सर्वोपरि सत्ता के समाप्त हो जाने से जिस सत्ता की पूरे भारत की रक्षा की ज़िम्मेदारी है उससे और हैदराराबाद से आधारभूत अन्तःसंबंध बदल नहीं सकता, और उसे बिना आपत्ति

या एक दूसरे के पारस्परिक आभार के जारी रहना चाहिए। हम इस आशा में धैर्यवान् और सहनशील रहे कि समझ आ जायगी और कुछ शान्तिपूर्ण समझौता हो जायगा। यह आशा व्यर्थ सिद्ध हुई और शान्ति न केवल रियासत या उसकी सीमाओं में नज़र नहीं आती, लेकिन भारत में दूसरी जगह भी शान्ति को खतरा है।

प्रधान मंत्री को जिस चीज़ ने परेशान कर दिया वह हैदराबाद के अन्दर हिन्दुओं पर रज़ाकारों के आक्रमण से उत्पन्न संभाव्य प्रतिक्रिया से भारत में ४०,०००,००० मुसलमानों की रक्षा थी। जूनागढ़ और हैदराबाद दोनों के संकट में सांप्रदायिक या धार्मिक भावनाएँ उभड़ने का खयाल नेहरू के मन में सबसे अधिक था, और उन्होंने भारत से इस समस्या पर धर्म निरपेक्ष भाव से शान्त होकर सोचने को कहा। उनका कहना था :

हम किसी भी धर्म या संप्रदाय के हों, यह हममें से सबका काम होना चाहिए कि इस बात को सांप्रदायिक स्तर से हटाकर दूसरे स्तर पर विचार करें, और मैं सोचता हूँ कि अधिक माक़ूल और अधिक बुनियादी नुक़्ते नज़र से हम हैदराबाद में सब लोगों की सुरक्षा के लिए सेनाएँ सिकन्दराबाद भेज रहे हैं, चाहे वह लोग हिन्दू हों या मुसलमान या वे किसी और धर्म या दल के हों। अगर उसके बाद हैदराबाद में स्वतंत्रता होती है तो वह सबके लिए बराबर होगी और शरणार्थियों के प्रवाह में बढ़ती करने के लिए नहीं, रियासत के अंदर कितना ही खतरा क्यों न हो।

प्रधान मंत्री ने घोषित किया कि भारत सरकार ने फ़ौरन रज़ाकार संस्था को समाप्त करने को और भारतीय सेनाओं को हैदराबाद लौटने में सुविधा देने को कहा, चूँकि रियासत की सरकार उन आतंकवादी कार्यवाहियों को दबाने में या तो अनिच्छुक है या असमर्थ है जिनसे क़ानून और व्यवस्था को खतरा है। यह सैनिक पहले हैदराबाद में रखे हुए थे लेकिन स्थिर समझौते की शर्तों के अंतर्गत हटा लिए गए थे।

बहुत ओर से अत्यधिक धैर्यवान् और सहनशील होने की दोषी, नई दिल्ली, अब चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। रियासत की सरकार की हठ और रज़ाकारों की हिंसा के सामने शीघ्र कार्यवाही अनिवार्य थी, लेकिन इतने विलम्ब के बाद भी निज़ाम हैदराबाद के लिए स्वतंत्र हैसियत की ओर इंगित कर रहा था और भारत में विलय के लिए जनमत संग्रह संभव नहीं था। लोगों की इच्छा जानने के पहले रज़ाकारों का आतंक समाप्त करना होगा। जहाँ तक हैदराबाद की स्वतंत्र हैसियत का सवाल था, वह असंगत था, और इस संबंध में नेहरू ने सरकार का रुख स्पष्ट कर दिया। उन्होंने कहा :

जहाँ तक विलय का संबंध है यह हम सबको समानरूप से स्पष्ट है कि हैदराबाद के समान क्षेत्र जो सब ओर भारतीय संघ से घिरा हुआ है और शेष संसार के लिए जिसका कोई मार्ग नहीं है निश्चित रूप से भारतीय संघ का भाग होगा। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इसे एक भाग बनाना था, किन्तु भौगोलिक और आर्थिक

कारण इस विषय में और अधिक सुनिश्चित हैं और किन्हीं विशेष व्यक्तियों को या व्यक्तियों के दलों की जो भी इच्छाएँ हों, उन कारणों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हैदराबाद और शेष भारत के बीच किसी अन्य प्रकार के संबंध से निरन्तर संदेह और और इसलिए सदा संघर्ष का भय बना रहता। कोई राज्य केवल घोषणा कर देने से स्वतंत्र नहीं बन जाता। स्वतंत्रता स्वतंत्र राज्यों के साथ कुछ संबंधों की और उनकी मान्यता की माँग करती है। भारत किसी अन्य सत्ता के साथ स्वतंत्र संबंध के लिए कभी राज़ी नहीं हो सकता क्योंकि उससे उसकी अपनी ही सुरक्षा ख़तरे में पड़ जायगी। ऐतिहासिक दृष्टि से, हैदराबाद कभी भी स्वतंत्र नहीं रहा। व्यावहारिक दृष्टि से, आज की परिस्थिति में वह स्वतंत्र नहीं हो सकता।

निज़ाम अपनी ही रचित स्वप्न की दुनिया में रह रहा था। रज़ाकार प्रधान सरकार से कोंचे जाने पर यद्यपि अनिच्छा से और सर वाल्टर मांक्टन की सलाह के विरुद्ध हिज़ इक्ज़ाल्टेड हाइनेस ने हैदराबाद का मामला संयुक्त राष्ट्र में ले जाने का निश्चय किया। यह अच्छी तरह पता था कि पाकिस्तान ने यह मार्ग, संभवतः भारत को परेशान करने के लिए, सुझाया था। इसके पहले भारत ने स्वयं कश्मीर का प्रश्न लेक सक्सेस के सामने रखा था।

इस बीच हैदराबाद पाकिस्तान के साथ संपर्क बनाए रहा और जून के आरंभ म उसके प्रधान मंत्री मीरलायक़ अली गुप्त रूप से ज़ियारत के उस पर्वत पर उड़ कर गए, जहाँ गंभीर रूप से बीमार और क्षयी के संक्रमण की अन्तिम अवस्था में जिन्ना विश्राम कर रहे थे। क़ायदे-आज़म की दो महीने के भीतर मृत्यु हो गई।

उनमें और मीरलायक़ अली में क्या बातचीत हुई इसका पता नहीं है, लेकिन यह विश्वास किया जाता है कि सहानुभूतिपरक होने पर भी जिन्ना पाकिस्तान को हैद-राबाद के झगड़े में नहीं डालना चाहते थे। उनका अपना दिमाग़ काश्मीर में फँसा था। यदि हैदराबाद भारत के साथ सशस्त्र संघर्ष में पड़ जाय तो पाकिस्तान क्या करेगा?

कहा जाता है कि मुमूर्षु क़ायदे-आज़म ने बुदबुदाया, "देखो, इन्तज़ार करो" और लायक़ अली सहित कुछ लोगों ने बताया कि जिन्ना ने हस्तक्षेप का अस्पष्ट आश्वासन दिया था अगर सैनिकरूप से हैदराबाद उस अवधि तक डटा रहे जो पंद्रह दिन से लेकर तीन महीने तक हो सकती है।

सितंबर के पहले सप्ताह तक यह पता चल गया कि भारत के द्वारा पुलिस कार्य-वाही आसन्न है। भारतीय सेना ने जिसे पोलो के खेल-सी कार्यवाही कहा उसकी तैयारी हो रही थी और आर्मर्ड ब्रिगेड और दूसरा रिज़र्व पैदल ब्रिगेड इस काम के लिए तैयार किया गया। डिवीज़न की कमान मेजर जेनरल जे० एन० चौधरी के अधीन रही। वे बाद में हैदराबाद के सैनिक गवर्नर बनाए गए।

हैदराबाद की नियमित सैनिक संख्या २०००० समझी जाती थी जिसको १६००० अरब अनियमित सहायता देने के लिए थे और सशस्त्र रज़ाकारों का एक दल था,

जो यथास्थिति समझौते के अंतर्गत निज़ाम की प्रतिज्ञा के रहने पर भी निर्धारित तीन महीने में तोड़ा नहीं गया था बल्कि यथार्थ में बढ़ा दिया गया था और सैनिक रूप से सुसज्जित कर दिया गया था। अपनी शक्ति का उनका अनुमान इतना ऊँचा और भारतीय सेना के साहस और युद्धक्षमता के बारे में उनकी राय इतनी नीची थी कि इत्तिहाद के नेताओं ने शेखी बघारी थी कि भारतीय सेनाएँ तीन से नौ महीने तक जब तक चाहे रोकी जा सकती हैं। इस बीच में हैदराबाद ने पाकिस्तान के हस्तक्षेप और अपने मित्रों की सहानुभूति की आशा की थी जिनमें सबसे बड़ी आशा निज़ाम ने चर्चिल से लगा रखी थी।

जैसे जैसे सशस्त्र संघर्ष हैदराबाद के सामने आने लगा निज़ाम पुनर्विचार से परेशान लगा। धर्मान्ध रज़ाकारों और अब असमंजस में पड़े निज़ाम की दोहरी मुसीबत के बीच मीर लायक़ अली की स्थिति खराब हो रही थी।

हिज़ इक्ज़ाल्टेड हाइनेस ने अपने प्रधान मंत्री से जवाब तलब किया, "अब सिवा हार और मुसीबत के क्या उम्मीद रह गई है?"

लेकिन मीर लायक़ अली अभी भी आशान्वित थे।

१०वीं सितंबर की रात को मोईन नवाज़जंग जो अपने नेतृत्व में प्रतिनिधिमंडल को संयुक्त राष्ट्र के सामने ले जानेवाले थे पेरिस जाने के लिए कराची को चले। हैदराबाद के इर्द गिर्द भारतीय सेनाएँ संकेत की प्रतीक्षा कर रही थीं जिससे पोलो का मोर्चा आरंभ हो।

दूसरी रात को जिन्ना, जो उस शाम को क्वेटा से कराची हवाई जहाज़ से गए थे, सहसा चल बसे। भारत सरकार के सामने एक समस्या खड़ी हो गई। सितंबर १३ को शुरू होनेवाला पोलो अभियान आरंभ कर दिया जाय या स्थगित किया जाय? नेहरू असमंजस में थे लेकिन पटेल अड़े हुए थे। उन्होंने हठ किया कि अभियान योजना के अनुसार ज़रूर शुरू होगा।

१३वीं सितंबर को भारतीय सेनाएँ हैदराबाद पर तीन ओर से टूट पड़ीं और नालदुर्ग में हैदराबाद की फौजों के साथ संक्षिप्त मुठभेड़ के बाद उनको थोड़ा ही प्रतिरोध मिला। जिन रज़ाकारों ने संघर्ष को भड़काने में इतना कुछ किया था वे युद्ध में कहीं भी प्रमुख नहीं थे, यद्यपि रिज़वी ने, जिसने असली लड़ाई में कोई भाग नहीं लिया था, वीरतापूर्वक हैदराबाद की स्त्रियों से भारतीय टैंकों के नीचे अपने को शहीद कर देने को कहा।

१६वीं सितंबर को हैदराबाद और सिकंदराबाद शहरों से भारतीय सेनाओं के मुश्किल से पचास मील रह जाने पर हैदराबाद के सेनापति अरब वंश के सिपाही, अल इद्रूस से निज़ाम को समर्पण करने की सलाह दी। इसके पहले भारतीय सर्वोपरि कमांडर लेफ्टिनेंट जेनरल महाराज श्री राजेन्द्र सिंहजी ने हैदराबाद की सेनाओं को समर्पण करने के लिए अन्तिम चेतावनी दी थी जिससे और आगे अनावश्यक और व्यर्थ जीवन की हानि न हो।

निज़ाम ने बहुत देर से काम किया, अपने मंत्रियों से युद्ध विराम की घोषणा करने का, रज़ाकारों को समाप्त करने का और अपने त्यागपत्र देने का आदेश किया। उन लोगों ने यह १७ वीं अगस्त को प्रातःकाल किया और उस अपराह्ण में पाँच बजे हैदराबाद रेडियो ने रियासत की सेना के समर्पण की घोषणा की। पोलो अभियान समाप्त हो गया।

कार्यवाही की अन्तिम अवस्था में रिज़वी ने लगभग छः हज़ार अपने अनुयायियों को शस्त्रास्त्र और गोलाबारूद बाँट दिया और रज़ाकारों को या तो हत्याकांड करने या साम्यवादियों से मिल जाने की सलाह दी। अधिकांश ने बाद का मार्ग अपनाया, अपने शस्त्रास्त्र साम्यवादियों को देकर स्वयं छिप गए। उनके काम ने हैदराबाद में सैनिक सरकार के लिए गंभीर समस्या पैदा कर दी, विशेषतः तेलंगाना ज़िले में जहाँ दो वर्ष तक साम्यवादियों ने किसानों को हिंसा, हत्या, अग्निकांड और शील अपहरण के लिए भड़काया और आतंकित किया। यह सब उस क्षेत्र के ज़मींदारों, नागरिक, पुलिस और सैनिक अधिकारियों के विरुद्ध किया गया था।

हैदराबाद के समर्पण के बाद जेनरल चौधरी की सैनिक गवर्नर की रूप में नियुक्ति हुई। पोलो अभियान में भारतीय बख़्तरबंद डिवीज़न की कमान इनके हाथ में थी। १९वीं सितंबर की रात को चौधरी पहली बार रेडियो पर हैदराबाद के लोगों से बोले, और उनकी आवाज़ की असली निष्कपटता, तथा उनके संदेश की हितकामना ने उन लोगों को आश्वस्त करने में बहुत कुछ किया। उन्होंने कहा, भारतीय सेना का मुख्य काम न्याय और व्यवस्था को फिर से क़ायम करना था, और उन्होंने लोगों को याद दिलाया कि ऐसी सेना सहित जो विभिन्न धर्मों में भेद नहीं करती, भारतीय राज्य है। वह उस भावना से बोल रहे थे जिसे नेहरू ने भारत को मानने का आदेश दिया था।

नेहरू ने स्वयं १८वीं सितंबर को प्रसारण करते हुए फिर भारत के धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण और शान्ति के लिए अपनी इच्छा पर ज़ोर दिया।

उन्होंने कहा, "हम शान्ति के लोग हैं, युद्ध से घृणा करते हैं और जिस चीज़ की हम अन्तिम इच्छा करते हैं वह किसी से सशस्त्र संघर्ष है। किन्तु, परिस्थितियों ने, जिन्हें आप अच्छी तरह जानते हैं हमें हैदराबाद में कार्यवाही के लिए विवश किया। सौभाग्य से वह थोड़े दिनों की थी और हम चैन से फिर शान्ति के पथ पर लौट आए हैं।"

प्रधान मंत्री ने भारत और हैदराबाद दोनों की जनता की इस संकटकाल में शान्त रहने के लिए प्रशंसा की :

इन पिछले छः दिनों में जिस बात से मुझे बहुत ख़ुशी हुई है वह हमारे मुस्लिम और ग़ैर मुस्लिम दोनों लोगों के संयम और अनुशासन और एकता की परीक्षा की माँग के शानदार जवाब से है। यह असाधारण बात है, और ऐसी बात है जो भविष्य के लिए

शुभसूचक है कि इस महान देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक भी सांप्रदायिक घटना नहीं हुई। इसके लिए मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। मैं हैदराबाद के लोगों को भी बधाई देना चाहता हूँ जो परीक्षा के इन दिनों शान्त रहे और जिन्होंने शान्ति के काम में सहायता दी। बहुत लोगों ने हमको उस जोखिम और खतरे की चेतावनी दी जो हमारे सामने था और उस सांप्रदायिक विपत्ति की जो हमारे देश को कलंकित करता। लेकिन हमारे देशवासियों ने इन भविष्यवक्ताओं को झूठा सिद्ध कर दिया और दिखा दिया कि जब उन्हें सकट का सामना करना पड़े तो वे साहस, गौरव और शांत भाव से उसका सामना कर सकते हैं। भविष्य के लिए यह उदाहरण और धरोहर रहेगा।

नेहरू ने आगे बताया कि गवर्नर का मूल काम सामान्य स्थिति उत्पन्न करना है, और उन्हें आदेश दे दिया गया कि वे रियासत के लोगों के सामान्य जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करें। ज्योंही सामान्य स्थिति आ जाती है, अन्य प्रशासकीय व्यवस्थाएँ की जायँगी और बाद में ऐसे क़दम उठाए जायँगे कि संविधान सभा का चुनाव हो जो हैदराबाद की संवैधानिक संरचना का निश्चय करे।

भारत ने उन प्रतिज्ञाओं को पूरा किया। १ फरवरी १९४९ को निज़ाम ने भारतीय संघ के साथ एक समझौता किया जिसमें १५ अगस्त १९४७ को भारतीय स्वतंत्रता के दिन के पहले रियासत के भीतर और बाहर हिज़ इक्ज़ाल्टेड हाइनेस जिन व्यक्तिगत अधिकारों, सम्मान और उपाधियों का उपयोग करते थे उनकी ज़मानत की गई। इसके अतिरिक्त निज़ाम को ५,०००,००० रुपए के निजी खर्च और २,५००,००० रु० उनके महल की मरम्मत आदि के लिए वार्षिक देने और इसके अतिरिक्त २,५००,००० रु० वार्षिक उस आय के हर्जाने के लिए देने की स्वीकृति हुई जो साम्राज्य की भूमि से उन्हें मिला करती थी और जो अब रियासत में विलय हो गई थी। उनके दो बेटों सहित उनके कुछ संबंधियों के लिए उदार आर्थिक सहायता की भी गारंटी की गई।

२३ नवंबर १९४९ को हिज़ इक्ज़ाल्टेड हाइनेस ने रियासत के लोगों द्वारा बने संविधान को हैदराबाद का संविधान स्वीकार करने का फ़रमान जारी किया। जनवरी १९५२ में भारत ने नए संविधान के अनुसार अपने पहले आम चुनाव करवाए जिनमें हैदराबाद ने भाग लिया। बीच के समय में सैनिक गवर्नर के शासन की समाप्ति के साथ रियासती कांग्रेस के चार प्रतिनिधियों का मिलाजुला मंत्रिमंडल एक अधिकारी मुख्यमंत्री के अधीन काम कर रहा था। चुनावों के बाद १७५ सदस्यों की एक व्यवस्थापिका सभा अस्तित्व में आई और जनता की सरकार की स्थापना हुई। जनता के निर्णय ने इस बीच निज़ाम के हैदराबाद के राजप्रमुख या गवर्नर की मान्यता का अनुमोदन किया।

न तो जूनागढ़ और न हैदराबाद में नेहरू को इतनी अधिक रुचि थी जितनी पटेल को। काश्मीर का भूत उनपर सवार था। भारत और पाकिस्तान द्वारा स्वीकृत किसी सिद्धान्त से, और न क्षेत्र की आसन्नता, रियासत के सांप्रदायिक बनावट या लोगों के निर्णय से हैदराबाद या जूनागढ़ ने उचित काम किया था।

राजनीतिक पलड़े में जूनागढ़ एक संक्षिप्त लौ थी जो कि जितनी जल्दी पैदा हुई प्रायः वैसे ही वुझ गई। यहाँ पाकिस्तान गड़वड़ी से फायदा उठाना चाह रहा था जिससे कि उसे अन्त में अपने को अलग कर लेना पड़ा। यहाँ भी पाकिस्तान के प्रधान मंत्री लियाक़त अली ख़ाँ ने यह आग्रह कर कि किसी रियासत के शासक का विलय करना ही मान्य और काफ़ी है, काश्मीर के शासक के भारत में विलय की वाद की आपत्ति को कमज़ोर वना दिया।

भारत विभाजन के पहले की प्रमुख रियासत के पद और अपने आकार ने हैदरावाद पर क़ाबू पाने में अधिक कठिन वाधा सिद्ध की थी, लेकिन स्वतंत्रता के लिए उसका मामला इतना असंगत था जितना जूनागढ़ का पाकिस्तान में विलय। हैदरावाद ने इतिहास में कभी भी स्वतंत्र पद का उपभोग नहीं किया था, क्योंकि १७२४ में उसके वनने के पहले वह या तो मुग़ल सम्राट के समर्थन पर स्थित रहा या ब्रिटिश पर वहुत अधिक निर्भर रहा।' 'भारत में केवल एक राजा था, और वह दिल्ली का राजा।" अपने आरंभ के दिनों में हैदरावाद ने नाममात्र की स्वतंत्रता का दावा किया था जिसे ब्रिटिश इतिहासकारों और प्रशासकों ने तिरस्कारपूर्वक वरख़ास्त कर दिया था। एडवर्ड टॉमसन* ने लिखा है, "इसका महत्व वहुत ही तुच्छ है, और सैनिक विद्रोह के आधी शताब्दी पहले और शायद सबसे अधिक लार्ड वेलेज़ली के समय (१७९८-१८०५) में इसकी स्वतंत्रता विलकुल मनगढ़न्त थी। कोई भी इसकी दृढ़ अवज्ञा के रुख़ से अलग नहीं हुआ।" अवज्ञा के स्थान पर सम्मान आया लेकिन हैदरावाद की स्वतंत्रता की कल्पना के विषय में ब्रिटिश रुख़ कभी विचलित नहीं हुआ। १९२६ में ब्रिटिश सरकार ने अंतिम रूप से और सीधे सीधे हैदरावाद की स्वतंत्रता के पद की माँग को अस्वीकार कर दिया। न्यायतः यह भारतीय उत्तराधिकारी सरकार से आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने आप वह स्थिति स्वीकार कर ले जो उसके पूर्ववर्ती ने उचित कारणों से अस्वीकार की थी। हैदरावाद भारत के हृदय भाग में गहरे, प्रायद्वीप के आरपार प्रायः एक सागर से दूसरे सागर तक फैला हुआ है। इस ढंग का वहुत वड़ा स्वतंत्र परिवृत्त राज्य जिसका मुसलमान शासक प्रधानतः हिन्दू जनसंख्या का अधिपति हो जिसकी सहानुभूति, राजभक्ति न सही, उससे अलग रहे, भारत सरकार के लिए उसके अस्तित्व की कल्पना करना या स्वीकार करना वहुत ख़तरे की चीज़ था। ख़याली तौर पर ब्रिटिश सर्वोपरि सत्ता के समाप्त होने पर अन्य किसी रियासत के शासन की भाँति निज़ाम भी स्वतंत्र होने का दावा करता। किन्तु परिस्थिति की यथार्थताएँ और जो दोनों अधिराज्यों पर उसके दायित्व थे और उसके अन्तर्भूत जो ५६२ रियासतें थीं, इन सब की सरलता से उपेक्षा करना वहुत दूर तक प्रभाव डालनेवाली वात थी।

स्वतंत्रता के पहले ही माउंटवैटन ने रजवाड़ों को चेतावनी दी थी, "कुछ भौगोलिक वन्धन हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।"

काश्मीर ने भारत और नेहरू के लिए एक कठिन और पेचीदा समस्या खड़ी कर दी।

---

* मेकिंग आफ़ द इन्डियन प्रिंसेज़ (लंदन, आक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९४३)

२३

काश्मीर की छाया

नेहरू के लिए काश्मीर सदा सम्मोहन का देश रहा और उसके बारे में लिखते समय वे भावना और चिन्तन का उल्लेख प्रगट कर देते हैं जिससे बहुत लोग यह सोचने लगे हैं कि उनका राजनैतिक रुख इस भावुकता के आवेश से प्रभावित है।

बहुत वर्षों की अनुपस्थिति के बाद १९४० की गर्मियों में काश्मीर जाकर नेहरू ने देश की सुन्दरता से मुग्ध होकर हर्षातिरेक में उसके विषय में लिखा :

किसी अत्यन्त सुन्दर स्त्री की तरह, जिसकी सुन्दरता प्रायः अवैयक्तिक और मानव इच्छा से परे हो, अपनी नदियों और घाटियों और झील और गौरवपूर्ण पेड़ों की अपनी समस्त स्त्रैण सुन्दरता से काश्मीर इस प्रकार का है। और उसके बाद इस मोहक सुन्दरता का दूसरा पहलू देखने में आता है, और वह पौरुषपूर्ण है, वह है कठोर पर्वतों और खड़ी चट्टानों, और हिम मंडित शिखरों और ग्लेशियरों का, और क्रूर और भयानक धाराओं का जो तेज़ी से घाटी की ओर बहती हैं। उसके सैकड़ों रूप हैं और असंख्य पक्ष हैं, सदा परिवर्तनशील, कभी मुस्कराते, कभी विषाद में भरे संतप्त—जब मैंने उसे ध्यान से देखा तो वह मुझे सपने की तरह और अवास्तविक लगा। उन आशाओं और कामनाओं की तरह जो हम में उठती तो हैं, लेकिन कभी ही पूरी होती हैं। वह ऐसे प्रिय के मुख की भाँति था जो स्वप्न में साकार हो उठता है और जागने पर धुंधला पड़ जाता है।

यह है एक प्रेमिक का आवेश और उसकी तीव्रता। किन्तु उसी अवसर पर काश्मीर की बाद की अन्य यात्राओं की भाँति जवाहरलाल ने विषाद के साथ काश्मीर के अन्य "सैकड़ों रूप" देखे—वहाँ की उत्पीड़ित जनता का दुःख और अधोगति और उनकी उदास आँखों में मुकुरित शोक।

उन्हें इस बात का पता है कि भारत के भीतर और बाहर बहुत लोग काश्मीर के प्रति उनके राजनैतिक रुख को उनके पूर्व-पुरुषों के देश के उनके भावनात्मक रुख से मिलाते हैं। ७ अगस्त १९५२ में पार्लमेंट में अपने एक भाषण में उन्होंने इसका उल्लेख किया।

"मैं इस भाव से काश्मीरी कहा जाता हूँ कि दस पीढ़ी पहले मेरे पुरखे काश्मीर से भारत को आए," उन्होंने कहा। "मैं जब काश्मीर के बारे में सोचता हूँ तो मेरे मन में वह बन्धन नहीं होता, बल्कि दूसरे बन्धन होते हैं जिन्होंने हमें बहुत घनिष्ठता से बाँध दिया है।"

वे बंधन क्या हैं, इन्हें अक्टूबर १९४७ से आरंभ होनेवाली घटनाओं की शृंखला ने प्रकट किया।

मुसलमान शासक और हिन्दू जनसंख्या प्राधान्य के हैदरावाद से भिन्न काश्मीर का शासक हिन्दू था और जनसंख्या प्रधानतः मुसलमान थी। हैदराबाद से क्षेत्रफल से बड़ी —काश्मीर ८४,४७१ वर्गमील में फैला है—इस उत्तरी रियासत में ४,५०००,-००० जनसंख्या है जिसमें ७७.११ प्रतिशत मुसलमान हैं, २० प्रतिशत से कुछ ऊपर हिन्दू और २ प्रतिशत से कम सिख हैं। लद्दाख के पूर्वी प्रान्त में लगभग ५०,००० बौद्ध हैं।

काश्मीर की सीमाएँ सोवियत समाजवादी गणतंत्रसंघ, चीन, अफ़ग़ानिस्तान, पाकिस्तान और भारत—इन पाँच देशों की सीमाओं को छूती हैं—यद्यपि मीलों तक इसकी सीमाएँ, विशेषतः ९०० मील जो सिक्यांग और तिब्बत के साथ-साथ चलती हैं। यह सोवियत् क्षेत्र को भूमि की एक पट्टी से छूती है और रूस और चीन से हिमालय और पामीर से बची है।

"आप पहाड़ की चोटी पर चढ़कर हमें बुला सकते हैं," यह १९५५ में अपनी काश्मीर यात्रा में जोशीले रूसी नेता ख़ुश्चेव ने कहा था।

काश्मीर की प्रसिद्ध घाटी १२० लंबी और ७५ मील चौड़ी रियासत का हृदय है। इसमें होकर झेलम बहती है जिसके साथ सिंध और चेनाब काश्मीर की तीन प्रमुख नदियाँ हैं।

घाटी के उत्तर में बाल्टिस्तान है और उसके पार हुंज़ा और नागिर के क्षेत्र है जो गिलगिट से लगे हुए हैं। दक्षिण में जम्मू प्रांत है जिसके पूर्व में लद्दाख और पश्चिम की ओर मुज़फ्फराबाद, रियासी, पुंछ और मीरपुर के ज़िले हैं।

भारत की सीमा काश्मीर के साथ गुरदासपुर ज़िले से लगती हुई चलती है जो रैडक्लिफ़ निर्णय के अंतर्गत भारत में मिला है। रैडक्लिफ निर्णय ने पंजाब और बंगाल का विभाजन किया था। पाकिस्तान की हद पठानकोट से स्वात और चितराल और उसके बाद हिन्दूकुश पर्वतश्रेणी तक फैली है।

इस प्रकार काश्मीर चूँकि रूस, चीन और अफ़ग़ानिस्तान की सीमाओं को छूता है, वह भारत-पाकिस्तान समस्या से कहीं बड़ी समस्या उपस्थित करता है। यह विचार नेहरू के मन में सबसे आगे था। २ नवंबर १९४७ को काश्मीर में भारत के हस्तक्षेप से सप्ताह भर से कम पश्चात् राष्ट्र के नाम प्रसारणों में उन्होंने काश्मीर को महान् राष्ट्रों से मिला सीमावर्ती क्षेत्र," कहा था, "और इसलिए हम वहाँ की घटनाओं में रुचि लेने के लिए बाध्य थे।" लगभग तीन सप्ताह बाद उन्होंने संविधान सभा में दिए पहले आधिकारिक वक्तव्य में इसी विषय को स्पष्ट किया : "सोवियत संघ, चीन और अफ़ग़ानिस्तान की सीमाओं के साथ काश्मीर की भौगोलिक स्थिति के कारण वह घनिष्ट रूप से भारत के लिए इतिहास और अंतर्राष्ट्रीय संपर्क से संबंधित है।"

शताब्दियों पहले ही सीथियन लोगों के समेत मध्य एशिया के लुटेरे भारत के मैदानों पर उन लोगों से बहुत भिन्न मार्ग से नहीं आए थे जो अक्टूबर १९४७ में क़बायली लुटेरों ने पकड़ा था जो कि उत्तर पश्चिमी सीमा से आए थे। कुछ लोगों का कहना है कि मक़दूनिया के सिकंदर की सेनाएँ काबुल नदी के रास्ते से रावलपिंडी से लगभग बीस मील उत्तर पश्चिम तक्षशिला में प्रवेश करने के लिए सिंधु पारकर बहुत कुछ इसी मार्ग से भारत के लिए चली थीं। यह ३२५ ईसा पूर्व वर्ष की बात है।

भूगोल से प्राप्त सामरिक महत्व के अतिरिक्त नेहरू की दृष्टि में काश्मीर उस धर्म-निरपेक्ष भावना का प्रतीक है जिसे वह इतना अधिक चाहते हैं। मुसलिम बहुसंख्यक राज्य अपना संबंध भारत से जोड़े यह उनको सदा दो राष्ट्रों के उस सिद्धान्त का खंडन लगा है जिस पर पाकिस्तान की नींव पड़ी थी। किसी और बंधन से अधिक यह बंधन काश्मीर पर उनकी वक्तृताओं को प्रायः ईश्वरीय बोध का उत्साह देता है।

उनकी वक्तृताओं में यह विषय बार बार आता है। मार्च १९४८ में संविधान सभा में बोलते हुए उन्होंने ज़ोरदार शब्दों में इसकी व्याख्या की :

दुर्भाग्यवश हम भारत में हर समस्या या बहुतेरी समस्याओं को सांप्रदायिकता के रूप में सोचते हैं, हिन्दू बनाम मुस्लिम या हिन्दू और सिख बनाम मुस्लिम आदि आदि—
——। अब इस सांप्रदायिक संघर्ष के संबंध में काश्मीर का मामला अलग है, क्योंकि काश्मीर सांप्रदायिक संघर्ष का मामला नहीं है; अगर आप चाहें हो तो वह राजनीतिक संघर्ष का मामला हो सकता है, लेकिन अनिवार्यतः सांप्रदायिक संघर्ष का नहीं। इसलिए काश्मीर के इस झगड़े ने गोकि अपने पीछे काश्मीर के लोगों के लिए बड़ी मुसीबतें और भारत के लोगों पर और भारत सरकार पर कठिनाइयाँ पैदा कर दी हैं, फिर भी यह आशा का प्रतीक बन गया है जो हम कुछ लोगों हिन्दू मुसलमान और सिख और दूसरों में बराबर के एक स्तर पर एक सहयोग, संयोग और समन्वय पा रहे हैं, और उनकी अपनी ही स्वतंत्रता के लिए राजनीतिक लड़ाई देख रहे हैं। मैं इस बात पर इसलिए ज़ोर देना चाहता हूँ कि दूसरी ओर से हमारे विरोधियों और आलोचकों द्वारा यह निरन्तर कहा जा रहा है कि यह सांप्रदायिक मामला है और हम वहाँ काश्मीर के मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू और सिख अल्पसंख्यकों के समर्थन के लिए हैं। इससे ज्यादा बेहूदा ग़लत बात और नहीं हो सकती। हम वहाँ मिसाल के लिए अपनी फौजें नहीं भेजते और वहाँ न होते अगर हमें वहाँ के बहुसंख्यक लोगों का जिसके मतलब होते हैं काश्मीरके मुसलमानों का समर्थन न प्राप्त होता। काश्मीर के महाराजा के बुलाने पर भी हम वहाँ न जाते अगर उस बुलावे में काश्मीर के प्रतिनिधियों का समर्थन न होता और मैं सदन को बता दूँ कि बड़ी बहादुरी से काम करने पर भी हमारी सेनाएँ काश्मीर के लोगों की सहायता और सहयोग के बिना सफल न हो पातीं।

इसी भाषण में नेहरू ने काश्मीर के लोगों को दुहरे उद्देश्यों और सहयोग पर ज़ोर दिया।

जम्मू और काश्मीर रियासत में हमारे दो लक्ष्य हैं, वहाँ के लोगों की स्वाधीनता और प्रगति सुरक्षित करना और कोई ऐसी वात होने से रोकना जिससे भारत की सुरक्षा को ख़तरा हो। हमें काश्मीर से और कोई लाभ नहीं उठाना है, गोकि हमारी सहायता से काश्मीर को वहुत लाभ हो सकता है। अगर इन दो वातों का हमें विश्वास हो जाता है तो हम संतुष्ट हैं।

काश्मीर का दुर्भाग्य उसका हिन्दू शासक महाराजा सर हरीसिंह वहादुर था। वह ऐसा निरंकुश था जिसमें अकर्मण्यता के साथ अयोग्यता मिली थी। वह डोगरा* राजा गुलावसिंह का वंशधर था जिसने नवीं शताव्दी के आरंभ में अपने को जम्मू प्रान्त का शासक स्थापित किया। १८४६ में वे सिख जिन्होंने पहले काश्मीर के अफ़ग़ान शासक को गद्दी से हटा दिया था वाद में व्रिटिश द्वारा अपदस्थ कर दिए गए। उन्होंने काश्मीर गुलावसिंह को लगभग १,५०००,००० डालर देने पर हस्तान्तरित कर दिया।

डोगरा वंश प्रायः विना अपवाद के अपनी क्रूरता और अत्याचार के लिए वदनाम रहा है। उसकी शिकार प्रमुखतः असहाय मुस्लिम जनता रही जो किसान और कारीगर रूप में कठिनता से अपना जीवन यापन करती थीं। उनमें से ९० प्रतिशत अपढ़ थे।

हरीसिंह १९२५ में गद्दी पर वैठा और अपने पुरखों की नृशंस अत्याचार की परंपरा उसने जारी रखी। इस चिरकालीन ग़रीवी के देश में महाराजा ने अपनी ग़रीव प्रजा को निर्ममता से चूसा। मुसलमान किसानों और कारीगरों पर, जिनकी प्रति व्यक्ति आय लगभग ३.०० डालर थी, औसतन ०.११ डॉलर प्रति व्यक्ति के हिसाव से कर लिया। जव लगभग ४,०००,००० रु० शासक के दरवार पर व्यय होते थे और दूसरे ५,०००,००० सेना पर लगते थे, जनस्वास्थ्य, शिक्षा, मार्गनिर्माण, सिंचाई, कृषि और उद्योग पर ३,०००,००० रु० से कुछ ही ऊपर था।

अशिक्षित और पददलित काश्मीर के लोगों में वहुत कम राजनीतिक चेतना थी, और १९२९ में लाहौर कांग्रेस अधिवेशन तक जिसकी नेहरू ने अध्यक्षता की और जिसने भारत का लक्ष्य पूर्ण स्वतंत्रता घोषित किया,राजनीतिक जागृति की पहली लहर रियासत में नहीं पहुँची थी। आंदोलन का नेतृत्व शेख़ मुहम्मद अव्दुल्ला ने किया जो उस समय पच्चीस वर्ष के युवक और वेकार शिक्षक थे। छः फुट चार इंच लंवे दैत्याकार शेख़ को शीघ्र ही शेरे-काश्मीर कहा जाने लगा। वह निडर, खरे और मुँहफट हैं, लेकिन उनमें देहातियों की चालाकी और काँइयाँपन की प्रवल झलक है।

१९३१ में काश्मीरी जनता ने अव्दुल्ला के नेतृत्व में एक छोटा, अपेक्षाकृत कमज़ोर आंदोलन छेड़ा और अव्दुल्ला कई सप्ताहों के लिए जेल में डाल दिए गए। उसके वाद विरोध और विद्रोह किए गए जिनकी अगुआई अव्दुल्ला के संगठन अखिल जम्मू और काश्मीर मुस्लिम कान्फ्रेंस ने की। इस संगठन की स्थापना उन्होंने १९३२ में की थी।

---

* डोगरा लोग जिनमें हिन्दू सिख और मुसलमान हैं भारतीय सेना के सवसे अच्छे सैनिकों में हैं।

अब्दुल्ला जो शुरू में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की धर्मनिरपेक्ष राजनीति से आकृष्ट हुए थे, विशेष रूप से नेहरू से प्रभावित हुए। बदले में नेहरू उनको सराहते थे और उनके राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अनुमोदन करते थे, और दोनों व्यक्ति गहरे मित्र बन गए। इस दृष्टिकोण के अनुरूप अब्दुल्ला ने काश्मीर मुस्लिम कान्फ्रेंस से अपना सांप्रदायिक बिल्ला हटाने को समझाया और जून १९३९ में उसका नाम बदलकर अखिल जम्मू और काश्मीर नेशनल कान्फ्रेंस कर दिया। अब्दुल्ला के निकटतम राजनीतिक सहयोगी चौधरी गुलाम अब्बास के नेतृत्व में मतभेदवाले अल्पसंख्यकों ने मुस्लिम कान्फ्रेंस के रूप में संस्था जारी रखी। अब्बास ने बाद में अपना भाग्य पाकिस्तान के हाथों सौंपा। अपरिहार्य रूप से यह संस्था मुस्लिम लीग के समीप खिची जब कि अब्दुल्ला की नेशनल कान्फ्रेंस ने कांग्रेस के साथ अपने को पंक्तिबद्ध किया।

मई १९४६ में जब मंत्रिमंडलीयदल दिल्ली में था तो अब्दुल्ला ने महाराजा के विरुद्ध "काश्मीर छोड़ो" आन्दोलन छेड़ा, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें नौ वर्ष का कारादण्ड हुआ। शासक की निषेधाज्ञा की अवज्ञाकर नेहरू ने इसी समय के लगभग काश्मीर में प्रवेश किया और गिरफ्तार कर लिए गए लेकिन बाद में शीघ्र ही छोड़ दिए गए। वे कुछ घंटों के लिए बन्द रखे गए थे। अब्दुल्ला सितंबर १९४७ तक जेल में पड़े रहे।

भारत और पाकिस्तान के विभाजन के साथ एक महीना पहले स्वतंत्रता भारत के उपमहाद्वीप में आई। ब्रिटिश के चले जाने से यद्यपि सर्वोपरि सत्ता के समाप्त होने से रजवाड़े काल्पनिक रूप से स्वाधीन थे, लेकिन माउंटबैटन ने उन्हें सलाह दी थी कि व्यावहारिक रूप से सोचने पर उनके सामने भारत या पाकिस्तान में विलय होने का चुनाव था।

जून १९४७ में वे महाराजा को यही राय समझाने के लिए काश्मीर गए थे। महाराजा किसी निर्णय को लेने में जन्मजात अक्षम थे। काश्मीर जाने के पहले माउंटबैटन ने उस समय के नए बने भारत में रियासत विभाग से, जिसके अध्यक्ष वल्लभभाई पटेल थे, यह आश्वासन प्राप्त कर लिया था कि भारत सरकार महाराजा को यह वचन देने को तैयार है कि अगर काश्मीर पाकिस्तान में विलय होता है तो इसे नई दिल्ली अमैत्रीपूर्ण कार्य नहीं मानेगी। नई दिल्ली की मान्यता थी कि रियासत जिस अधिराज्य में चाहे विलय के लिए स्वाधीन है। किन्तु भारत सरकार स्वतंत्र काश्मीर की भविष्णुता को मानने को तैयार न थी।

इसके अनुसार माउंटबैटन ने महाराजा को इस दिशा में सलाह दी।

"किसी भी तरह से अपनी जनता की सम्मति का पता लगा ले और आपकी जनता जिस अधिराज्य में चाहे कि आप मिल जायें उसमें इस वर्ष १४ अगस्त तक मिल जाइए।" उन्होंने सलाह दी।

लेकिन हरीसिंह पता लगाने या अपना ही मन पक्का करने में अक्षम था। उसने

माउंटबैटन के साथ उस अन्तिम भेंट से जिसमें उसे अपना निश्चय बताना था इस बहाने से माफ़ी माँग ली कि महाराजा साहब के एकाएक उदरशूल का आक्रमण हो गया है।

भारत से लौटने के बाद जून १९४८ में लंदन में ईस्ट इंडिया असोसिएशन की एक वक्तृता में माउंटबैटन ने खुले तौर पर काश्मीर के महाराजा की अनिश्चितता की निंदा की। उन्होंने बताया, "अगर वह १४ अगस्त के पहले पाकिस्तान में विलय हो जाता तो भावी भारत सरकार ने हिज़ हाइनेस को यह आश्वासन देने की अनुमति दी थी कि वे किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं उठाएँगे। अगर हिज़ हाइनेस १४ अगस्त तक भारत में विलय हो जाते, तब तक पाकिस्तान का अस्तित्व नहीं था, और इस लिए वह हस्तक्षेप न कर सकता। किसी भी ओर विलय न होने से ही मुसीबत खड़ी हो सकती थी, और दुर्भाग्यवश यही मार्ग महाराजा ने अपनाया।"

उस टालमटोल करनेवाले राजा ने देर करने से जीत की आशा की होगी। लेकिन घटनाओं ने उन्हें घर दबोचा। उस समय तो उसने भारत और पाकिस्तान दोनों के पास कुछ समय के समझौते के लिए पहुँचकर थोड़ी देर के लिए चैन पाई। उससे इस बीच निर्णय की बुरी साइत को दूर करने और निराधार स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने की उसे आशा थी।

१४वीं अगस्त को पाकिस्तान ने काश्मीर के साथ एक यथास्थिति समझौता किया जिसके अंतर्गत उसने ब्रिटिश भारत के एक अंग के रूप में उत्तरदायित्व लिया और संचरण डाक और तार सेवाएँ चलाने का वचन दिया। यह समझौता १५वीं अगस्त को लागू हुआ। काश्मीर के स्वतंत्र राज्य बनाने के प्रयत्नों में महाराजा को प्रोत्साहन देने में अनिच्छुक भारत इस संविदा से अलग रहा। वहाँ यह विचारणीय है कि स्वतंत्रता के तुरत बाद व्यक्त किए गए जिन्ना के विचारों से परखते हुए पाकिस्तान सरकार ने रजवाड़ों को अपनी स्वतंत्रता की घोषणा के लिए प्रोत्साहित ही नहीं किया था, बल्कि भड़काया था, क्योंकि उन्होंने अनुमान लगाया था कि चूंकि रजवाड़ों की रियासतों की बहुसंख्या का प्राधान्य भारतीय क्षेत्र में है, इस प्रकार की घोषणा से भारतीय अधिराज्य संकट में पड़ जायगा, और उसे और अधिक काँट-छाँट और विभाजित कर उसकी अभी संकटग्रस्त एकता और स्थायित्व को कमज़ोर कर दिया जायगा। रजवाड़ों के लिए स्वतंत्रता का सिद्धान्त ऐसी विकास सामग्री थी जिसके लिए भारत सक्षम नहीं था। दूसरी ओर यह ऐसा अस्त्र था जिसका पाकिस्तान सफलतापूर्वक उपयोग कर सकता था।

किसी भी रजवाड़े द्वारा स्वतंत्रता ग्रहण करने का नेहरू का विरोध उस संवैधानिक सिद्धान्त पर भी आधारित था जो उन्होंने काश्मीर संघर्ष के बहुत पहले, उस समय रखा था जब भारत और ब्रिटेन के बीच स्वतंत्रता का समझौता चल रहा था। मई १९४७ में उनका आग्रह था कि भारत और संविधान सभा ब्रिटिश भारत के उत्तराधिकारी हैं और पाकिस्तान और मुस्लिम लीग संबंध विच्छेदक हैं।

२४वीं मई को यूनाइटेड प्रेस आफ अमेरिका से एक भेंट में उन्होंने कांग्रेस का दृष्टिकोण समझाया था : "विशेष क्षेत्रों को स्वेच्छा से अलग हो जाने के अधिकार के साथ हमारा ध्येय भारत की एकता से है। हम विवशता की कल्पना नहीं करते हैं।"

भारत के सतत सत्ता के सिद्धान्त को उन्होंने बाद में उस ईर्ष्याप्रद पद के लिए और बहुत ही न्यायसंगत रूप से प्रयोग किया जो काश्मीर के महाराजा ने अपनी रियासत के लिए चाहा। भारतीय संसद् में अगस्त १९५२ में उनके एक भाषण में यह विचार कुछ विस्तार के साथ स्पष्ट हुआ :

जब ब्रिटिश सत्ता ने भारत में पैर जमाए तो यह स्पष्ट हो गया कि भारत में कोई और सत्ता स्वतंत्र नहीं रह सकती। निःसन्देह यह सत्ताएँ अर्ध-स्वतंत्र या संरक्षित राज्य या किसी और अधीनस्थ अवस्था में रह सकती थीं। उसीके मुताबिक़ रजवाड़े धीरे-धीरे ब्रिटिश सत्ता के अधिकार और आधिपत्य में लाए गए। इसी प्रकार जब ब्रिटिश ने भारत छोड़ा तब भारतीय क्षेत्र के छोटे छोटे टुकड़ों को स्वतंत्र रहना उतना ही असंभव था जैसा कि उनके राज्य में था। उस समय पाकिस्तान सामने नहीं था। बाक़ी के लिए यह अनिवार्य था कि रजवाड़े तथा अन्य लोग, वे जो भी हों और वे इसे चाहते हों या न चाहते हों, उन्हें भारतीय गणतंत्र का आधिपत्य और उसकी सर्वोपरि सत्ता को स्वीकार करना होगा। इस लिए इस तथ्य से कि काश्मीर ने तुरत यह निश्चय नहीं किया कि वह पाकिस्तान में विलय करे या भारत में, काश्मीर को मध्यान्तर में स्वतंत्र नहीं बना दिया। चूंकि वह स्वतंत्र नहीं था, इसलिए सतत सत्ता के रूप में यह हमारा उत्तरदायित्व था कि हम ध्यान रखते कि काश्मीर के हित सुरक्षित हैं। मैं यह इसलिए कहना चाहता हूँ कि काश्मीर भारत में विलय हुआ हो या नहीं इसकी अपेक्षा किए बिना उसकी सहायता को पहुँचना हमारा निर्विवाद उत्तरदायित्व था। सिवा उनके जिन्होंने निश्चित रूप से और जानबूझ कर भारत का साथ छोड़ दिया, बाक़ी सब रियासतों के लिए सतत सत्ता होने के कारण भारत का उत्तरदायित्व अपरिवर्तित रहा है।

दूसरे शब्दों में भारत सरकार का दृष्टिकोण था कि जब तक काश्मीर दोनों अधिराज्यों में से किसी के साथ विलय नहीं हुआ था उसका स्वतंत्र पद नहीं था बल्कि वह भारतीय क्षेत्र था और इसलिए भारत का उत्तरदायित्व था।

विभाजन के भयंकर धक्के की स्वतंत्रता से हरीसिंह को भी अपने उस ख्याली महल में जल्दी ही झटका लगा जिसमें उसने अपने को बन्द कर लिया था। रैडक्लिफ सीमा आयोग के निर्णय ने काश्मीर की चौहद्दियों को भारत और पाकिस्तान दोनों से मिला दिखाया जिसमें विभाजित पंजाब काश्मीर के निचले भाग की ओर खतरनाक ढंग से घुसा था। ज्यों ज्यों हिन्दू, सिख और मुसलमान शरणार्थी काश्मीर के पड़ोस के इलाकों, विशेषतः जम्मू के दक्षिणी प्रांत से, जिसमें चेनानी और पुंछ हैं, इधर से उधर गए, पंजाब में लगी आग की लपटें राज्य में पहुँच गईं और उसे लपेट में आने का भय होने लगा। यहाँ जम्मू प्रान्त में राज्य की ४,५००,००० जन संख्या में से २,०००,००० के लगभग

केंद्रित थी जिसमें अधिक संख्या हिन्दुओं और सिखों की थी। लेकिन पुंछ और पड़ोस के मीरपुर में मुसलमान किसानों का प्रबल भाग था, जिसमें बहुत से पहले के सैनिक थे जिन्होंने दूसरे विश्वयुद्ध में भाग लिया था।

१९४७ के वसन्त में महाराजा के सैनिकों ने बड़ी क्रूरता से करबन्दी आन्दोलन दबा दिया था और जब विभाजन की आग ने घृणा की नई आग जलाई तो मुसलमानों ने सिखों और हिन्दुओं पर आक्रमण किए और उन्होंने बदले में इनपर हमला किया। विभाजित पंजाब के दोनों हिस्सों से उनके अपने अपने धर्मवाले जम्मू और पुंछ में उनकी सहायता देने के लिए आने लगे।

इस बीच काश्मीर से यथास्थिति समझौता पाकर पाकिस्तान आर्थिक और राजनीतिक दबाव से विलय के लिए उत्सुक लगा। काश्मीर को भारत की सीधी पहुँच नहीं थी और उसकी व्यापार की चीज़ें उसकी तीन नदियों—सिंधु, झेलम और चेनाब—से वहाँ जातीं जो अब पाकिस्तान हो गया था। अँग्रेज़ी राज्य के दिनों में भारत काश्मीर को कोयला, फौलाद, धातु, कपास की चीज़ें, चीनी, चाय तेलहन और तंबाकू निर्यात करता था। लेकिन अब गुरदासपुर ज़िले की पतली सीमा के रहते भारत का रियासत के साथ कोई उपयुक्त मार्ग-संबंध नहीं था। इसके अतिरिक्त दिल्ली और श्रीनगर के बीच का थोड़ा-सा हवाई संबंध अविश्वसनीय पर्वत के दर्रों पर से होकर लगभग पाँच सौ मील का था।

विभाजन के बाद के उपद्रवों में, यह सही है कि, संचार और यातायात बुरी तरह अव्यवस्थित हो गए थे लेकिन ऐसे अवसर पर पाकिस्तान से काश्मीर को आवश्यक वस्तुओं की संपूर्ति का रुक जाना (जो यथास्थिति समझौते के विपरीत था) मतलब से आर्थिक दबाव डालने के सिवा कुछ और समझना कठिन है। ऐसे अवसर पर जब काश्मीर को इन आयात वस्तुओं की सबसे अधिक आवश्यकता थी, पेट्रोल, नमक, चीनी, कपड़ा, और अन्य उपभोक्तव्य वस्तुएँ एक दम रुक गईं या बूंद बूंद जाने की हालत को हो गईं। काश्मीर और पाकिस्तान के बीच की सीमा चौकी दोमेल पर चुंगी ३०,००० रु० दैनिक से घटकर कुछ सैकड़ा रुपया रह गई।

अगर इस कमी का कारण संचार और यातायात की गड़बड़ी था तो पाकिस्तान साथ ही साथ अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तान के बीच के स्थान से उत्तर पश्चिमी सीमा होकर काश्मीर में क़बायलियों के संगठित आक्रमण की कैसे सफ़ाई दे सकता है? हथियारबन्द और राइफ़लों, ब्रेन और स्टेनगनों से सुसज्जित, दो और तीन इंच के मॉर्टरों, टैंक भेदी राइफलों, मार्क-५ सुरंगों और मैनपैक वाकी-टाकी रेडियोसेट को—इनमें से अधिकांश प्रत्यक्षतः पाकिस्तान के दिए थे—मोटर संचार व्यवस्था और रेलों द्वारा पाकिस्तान क्षेत्र होकर राह दी गई थी, उन्हें पेट्रोल, आहार और निवास और काश्मीर* की राह पर सब ही संभव सहायता और सुविधा दी गई थी। बाद में

---

* प्रसिद्ध मुस्लिम मत और राजनीति का मन की शरीफ़ के पीर ने सीमाप्रांत के अन्य प्रसिद्ध

संयुक्त राष्ट्र संगठन के सामने इन अभियोगों से पाकिस्तान के प्रवक्ता सर मुहम्मद ज़फ़रुल्ला ख़ाँ ने इनकार किया। इस प्रकार उन्होंने इस अभियोग का भी खंडन किया कि पाकिस्तानी सेना के लोगों ने सक्रिय रूप से आक्रमणकारियों की सहायता की थी। किन्तु जुलाई १९४८ में संयुक्त राष्ट्र आयोग के पहली बार कराची जाने पर जब उनकी उपस्थिति काश्मीर में छिपाना और अधिक संभव न रहा तो सर मुहम्मद ज़फ़रुल्ला ख़ाँ ने उसी विनम्रता और सरलता से स्वीकार कर लिया कि वे वहाँ थे।

इन क़बायली आक्रमणकारियों की ओर से सक्रिय रूप से आँख मूंद लेने और उन्हें सहायता देने का एक प्रमुख कारण संभवतः उनका ध्यान विभाजन से उत्पन्न तात्कालिक आंतरिक समस्याओं से हटाकर काश्मीर के अलुंठित देश में सरल लूट और समृद्धि के आश्वासन से था। अपने शासन के आद्योपान्त अँग्रेज़ों ने इन बेक़ाबू क़बालियों को घूस और मारपीट की धूर्ततापूर्ण मिलावट से क़ाबू में रखा। वे शांति के व्यक्तिगत आश्वासन के बदले में सरदारों पर हाथ खोल कर क़बायली धन खर्च करते थे। विभाजन के तुरत बाद कराची के सामने पख़्तूनिस्तान का डर था। क़बायली पठानों के लिए अलग देश का यह आन्दोलन सीमान्त गांधी खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ के नेतृत्व में था। ऐसी परिस्थितियों में क़बायलियों का ध्यान अन्यत्र फेर देने के सिवा और क्या अधिक स्वाभाविक या उपयुक्त होता?

इन आक्रमणों के पीछे जो भी कारण रहे हों, यह तथ्य रह जाता है कि सितंबर के आरंभ तक सशस्त्र दल, जिनमें कुछ पाकिस्तानी सेना की वर्दी में, और पाकिस्तानी सैनिक संकेत शब्दों का प्रयोग करते हुए काश्मीर सीमा पर केन्द्रित हो रहे थे।

लाइफ़ की फोटोग्राफ़र और संवाददाता मार्गरेट बूर्कव्हाइट, जो उस समय पाकिस्तान में थी जब कि काश्मीर का आक्रमण आरंभ हो रहा था, इन क़बायलियों के एक दल के साथ रावलपिंडी और बारामूला† के बीच की सड़क पर सामना होने का विवरण बताती है।

उसने उनसे पूछा, "तुम लोग काश्मीर जा रहे हो?"

"क्यों नहीं?" वे बोले, "हम सब मुसलमान हैं। हम काश्मीर में अपने मुसलमान भाइयों की मदद के लिए जा रहे हैं।"

एकबार रियासत की सीमाओं के भीतर होने पर इन लुटेरों ने हिन्दू, मुसलमान और सिखों में थोड़ा या बिलकुल भेद नहीं किया, सबको बिना भेद भाव के लूटते, शील अपहरण करते और सम्पत्ति को नष्ट करते। काश्मीर के अन्दर ही डोगरों की मूर्खता और अत्याचारों ने मुसलमानों का विरोध उभाड़ दिया था और दोनों ओर, विशेषतः पुंछ में सामूहिक हत्याएँ होने लगीं।

लोगों के साथ अगस्त १९५३ में मेरी पेशावर यात्रा के दौरान मुझसे खुल्लम खुला बताया कि उन्होंने क़बायली आक्रमणकारियों को संगठित किया था और उन्हें मदद दी थी, और मुझे कुछ सीमाप्रान्त के गाँवों में भी ले गए और उनमें से कई से परिचय कराया।

* हाफ़ वे टू फ्रीडम ले० मार्गरेट बूर्क-व्हाइट (न्यूयार्क, साइमन ऐण्ड शुस्टर)

मध्य-अक्टूबर तक महाराजा एक ओर पाकिस्तान से विरोध प्रकट करने और दूसरी ओर भारत से अस्त्रशस्त्रों की प्रार्थना के लिये काफ़ी घवड़ा गया था। नई दिल्ली ने इस प्रार्थना पर कोई बहुत ज़रूरी ध्यान नहीं दिया, यद्यपि रियासतों के और प्रतिरक्षा मंत्रालयों ने औपचारिक स्वीकृति दे दी थी, लेकिन शस्त्रास्त्र यथार्थतः भेजे नहीं गए थे। इसके पूर्व २९वीं सितंबर को आन्तरिक विद्रोह और बाहरी आक्रमण पर क़ाबू पाने की देर की कोशिश में महाराजा ने शेख़ अब्दुल्ला को छोड़ने की आज्ञा दे दी थी।

मध्य-अक्टूबर तक पुंछ और मीरपुर क्षेत्रों का काफ़ी भाग आक्रमणकारियों के अधिकार में आ गया था। वे अब ऐबटाबाद मंसारा मार्ग पर बढ़े जो मुज़फ्फराबाद के निकट काश्मीर में प्रवेश करता है। यहाँ क़बायली आक्रमणकारी लूटमार के ताण्डव में लग गए और तब दोमेल मार्ग के साथ चले जो झेलम घाटी से काश्मीर की राजधानी श्रीनगर में निकलता है। सीमा पार करने के चार दिनों के भीतर उन्होंने राजधानी की ओर का आधा मार्ग पार कर लिया। हत्याकांड का दूसरा दृश्यस्थल उड़ी थी, और २६वीं अक्टूबर को अपने पीछे विनाश और भयानकता की भयावह लीक छोड़ते हुए क़बायली श्रीनगर से लगभग पैंतीस मील बारामूला में घुसे।

यदि आक्रमणकारी रक्तपात और लूटमार से अपनी तृष्णा को शान्त करने वहाँ रुक न जाते तो काश्मीर की कहानी कुछ और होती। कुछ घंटों की बात में बारामूला खून की नदी बन गया, वहाँ के १४००० निवासियों में से केवल ३००० बच रहे। सैकड़ों की निर्मम हत्या कर दी गई, क़बायली अपने उन्माद में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और सिखों में कोई भेद न करते। एक कैथलिक फ्रांसिस्की कन्वेंट, गिरजा और स्कूल को लूट खसोटकर बिलकुल जला डाला गया, जब कि सहायक मदर सुपीरियर तीन ननें और एक ब्रिटिश अफ़सर की पत्नी का, जो अपने पति के साथ वहाँ थी, शील अपहरण किया गया और तब उन दो आदमियों की नृशंसतापूर्वक हत्या कर दी गई। उनमें से एक ब्रिटिश अफ़सर था। स्थानीय नेशनल कान्फ्रेंस के युवक नेता मक़बूल शेरवानी को कई घंटों तक शारीरिक यंत्रणा देकर क़स्बे के बीच में एक खंभे पर कीलों से लटका दिया।

२४वीं अक्टूबर तक हरीसिंह के दीर्घस्थायी अनिश्चय ने भी गहरे जमे खतरे को और अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए चिन्ता को स्थान दे दिया। उस रात को उन्होंने नई दिल्ली को एक व्यग्र संदेश सशस्त्र सहायता माँगने और भारत में विलय का प्रस्ताव करने भेजा। २५वीं अक्टूबर के प्रातःकाल प्रतिरक्षा समिति ने उस प्रार्थना पर विचार किया जिस पर शेख़ अब्दुल्ला का समर्थन था, लेकिन कोई निर्णय नहीं लिया गया। माउंटबैटन ने बुद्धिमत्ता से सलाह दी कि सैनिक सहायता देना नीति विरुद्ध और अनुचित होगा जब तक काश्मीर पहले भारत में विलय नहीं होता। उन्होंने आग्रह किया कि विलय का कार्य सैनिक भेजने के पहले होना चाहिए। उनकी सलाह मान ली गई और यह सहमति हुई कि वल्लभभाई पटेल के दाहिने हाथ, रियासती मंत्रालय के सचिव वी० पी० मेनन हवाई जहाज़ से श्रीनगर जायें और स्थिति की जाँच करें।

मेनन ने घटनाक्रम से महाराजा के होशहवास बिलकुल गुम पाए। उन्होंने हरीसिंह को समझाया कि भारत औचित्य के साथ तव तक काश्मीर को सैनिक सहायता नहीं भेज सकता जब तक रियासत भारत में विलय नहीं हो जाती। केवल पैंतीस मील की चिकनी कोलतार की सड़क वारामूला में आक्रमणकारी दल को श्रीनगर से अलग किए हुए है, और हरीसिंह यह समझने लगा कि अब खोने के लिए वक्त नहीं रहा है।

२६वीं अक्टूबर की ओर माउंटवैटन के नाम एक चिट्ठी में महाराजा ने भारत में विलय के अपने निर्णय की सूचना दी थी और यह निर्णय अब्दुल्ला की नेशनल कान्फ्रेंस द्वारा समर्थित था। फिर भी भारत सरकार ने स्वेच्छा से इस प्रकार के विलय को काफ़ी नहीं माना और जब मेनन के दिल्ली लौटने पर महाराजा के पत्र पर प्रतिरक्षा समिति ने विचार किया तो यह निश्चय किया गया कि गवर्नर जेनरल का उत्तर यह स्पष्टतया बता दे कि महाराजा के विलय के कार्य की भारत सरकार की स्वीकृति क़ानून और व्यवस्था स्थापित होते ही जनता की इच्छा की शर्त पर है। इस मामले में भारत के सद्भाव का और अधिक कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। वाद में नेहरू ने संविधान सभा को समझाया :

हमने इस विलय को स्वीकार कर हवाई जहाज़ से सेना भेजने का निश्चय किया, लेकिन हमने एक शर्त लगा दी कि विलय पर काश्मीर की जनता को वाद में विचार करना होगा जब शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो जाती है। हम किसी चीज़ को संकट के अवसर पर अंतिम रूप नहीं देने के लिए और काश्मीर के लोगों को अपना मत व्यक्त करने का सबसे अधिक अवसर देने के लिए उत्सुक थे। अन्तिम रूप से निर्णय उनको ही लेना था। और इस जगह मुझे यह स्पष्ट करना है कि यह हमारी वरावर नीति रही है कि जहाँ किसी रियासत का दोनों अधिराज्यों में विलय का झगड़ा रहा है, निर्णय उस रियासत की जनता करेगी। यह इस नीति के अनुसार ही था कि हमने काश्मीर के विलयपत्र में शर्त लगा दी।

श्रीनगर में सैनिक स्थिति उपायातीत थी, क्योंकि राजधानी में घुड़सवारों का एक ही दस्ता था। मेनन की सलाह पर महाराजा ने एक अन्तरिम सरकार वनाकर और अब्दुल्ला को प्रधान मंत्री मि० मेहरचन्द महाजन के साथ काम करने को बुलाकर अपनी पत्नी और पुत्र के साथ श्रीनगर छोड़ दिया था।

२४वीं अक्टूबर से, जब कि क़वायलियों के काश्मीर पर आक्रमण के समाचार दिल्ली पहुँचे थे, तब से प्रतिरक्षा समिति काश्मीर में सेना भेजने की संभावनाओं पर अनुसंधान कर रही थी। भारतीय सशस्त्र सेना के तीनों कमांडिंग अफ़सरों के प्रमाण पर, जो कि उस समय सबके सब ब्रिटिश थे, २५वीं अक्टूबर के प्रातःकाल उन्हें मार्ग और हवा से काश्मीर सेना भेजने की योजना की जाँच करने और उसे तैयार करने का सूचक मिला "यदि क़वायलियों के आक्रमणों को रोकना आवश्यक हो।"

२६वीं अक्टूबर को अपराह्न में जब भारत सरकार ने सैनिक सहायता भेजने का

निर्णय किया तो जल्दी जल्दी कार्यक्रम बनाए गए और उन्हें अंतिम रूप दिया गया। २७वीं अक्टूबर के तड़के लेफ्टिनेंट कर्नल डी० आर० राय की अधीनता में, जो वाद में उसी दिन युद्ध में काम आए, सिख रेजीमेंट की एक वटालियन दिल्ली में पालम हवाई अड्डे से श्रीनगर को हवाई जहाजों से भेज दी गई।

हवाई जहाज़ों से आई वटालियन के ३३० सैनिक श्रीनगर को वचाने के लिए समय से ही पहुँचे, क्योंकि उनके उतरने के समय क़वायलियों के छोटे से अग्रगामी दल की छोटी सी टुकड़ी राजधानी से पाँच मील से भी कम रह गई थी। वारामूला की हद पर आक्रमणकारियों के साथ अपनी पहली मुठभेड़ में भारतीय फौजों को जल्दी ही पता चल गया कि शत्रु उससे कहीं अच्छी तरह शस्त्रास्त्र-सज्जित है जिसकी उन्होंने कल्पना की थी और इसके सिवा उसका नेतृत्व वुद्धिमत्तापूर्ण हो रहा है। टुकड़ियों और छोटी टुकड़ियों में संगठित क़वायली हल्की और मझोली मशीन गनों और मार्टरों से सुसज्जित थे, और उनका संचालन एक पाकिस्तानी सेना का अफ़सर, जेनरल अकवर ख़ाँ, कर रहा था, जो वाद में पाकिस्तान की सेना का चीफ़ आफ़ स्टाफ़ वना और उसके भी वाद सरकार के विरुद्ध षडयंत्र संगठित करने के लिए वन्द कर दिया गया। काश्मीर में वह जेनरल तारीक़ के उपनाम से विख्यात था।

आक्रमणकारियों के साथ इस पहली मुठभेड़ में लेफ्टिनेंट कर्नल राय एक छिपकर गोली चलानेवाले की गोली से मारे गए और उनके सिपाही कमांडर के न रहने से अस्थायी रूप से श्रीनगर से साढ़े तीन मील स्थल तक हट गए। लेकिन उसी रात को वे आगे वढ़े और भारत से कुमक आ जाने से संग्राम की धारा वदल गई और श्रीनगर वचा लिया गया।

यह असाधारण सैनिक उपलव्धि थी क्योंकि सैन्य संचालन की जिन वाधाओं का भारतीय सशस्त्र सेनाओं को सामना करना था वे वहुत थीं। दिल्ली और श्रीनगर के वीच का पाँच-सौ मील का हवाई मार्ग अविश्वसनीय पहाड़ों के दर्रों पर होकर था जहाँ खराव मौसम में दृष्टिगोचरता व्यावहारिक रूप से शून्य रहती है। उस अवसर पर जाड़ा आरंभ ही हो रहा था। फिर भी भारतीय वायुसेना ने इस काम में एक सौ से अधिक असैनिक हवाई जहाजों की सहायता से इस आपत्कालीन इधर से उधर ले जाने में दिन रात काम किया, जो उसी उग्र वेग से १७वीं नववंर तक चलता रहा। इस वीच दिल्ली से ७०४ उड़ानें की गईं। माउंटवैटन ने अपने एक सहायक से स्वीकार किया, "इसने युद्ध में हमारी दक्षिण पूर्व एशिया सेना को पीछे छोड़ दिया।"

श्रीनगर वचा लिया गया; लेकिन अपने शिकार के लिए निराश होकर पाकिस्तान कटु हो गया। उसने भारतीय सशस्त्र सेनाओं की सूझवूझ का वहुत ही ग़लत अनुमान लगाया था। २६वीं अक्टूवर को, दो दिन वाद जिन्ना को खवर पहुँची कि क़वायली आक्रमणकारी, जिसको उनकी सरकार ने ले जाने में सहायता पहुँचाई थी, सही सलामत पारकर काश्मीर में पहुँच गए हैं, तो क़ायदे आज़म इस मुस्लिम जेहाद

को समीप से अच्छी तरह देखने के लिए उड़कर कराची से लाहौर पहुँच गए। महाराजा के भारत में विलय और काश्मीर में भारतीय सेनाओं के पहुँचने की बात जानकर उनको बेहद गुस्सा आ गया। एक दो दिन तक तो वे इस ख़याल के साथ खिलवाड़ करते रहे कि पाकिस्तानी फौजों को खुल्लमखुल्ला रियासत में भेज दिया जाय लेकिन ऐसा करने से फ़ील्ड मार्शल सर क्लाड आकिनलेक के समय पर हस्तक्षेप करने से रोक दिए गए। वे उन दिनों भारतीय सेना के विभाजन की व्यवस्था करनेवाले सर्वोपरि कमांडर थे और अगर जिन्ना ने हठ किया तो उन्होंने धमकी दी कि पाकिस्तान और भारत से दोनों कमांडर-इन-चीफ़ सहित सारे ब्रिटिश अफ़सरों को निकाल लेंगे। पाकिस्तान की सेना में भारत की अपेक्षा अधिक ब्रिटिश कर्मचारी थे और यह बात जिन्ना के लिए महत्त्व की थी।

इसके स्थान पर पाकिस्तान ने महाराजा के भारत में विलय को "हिंसा और धोखे पर आधारित" काम "और इसलिए विलय मान्य नहीं हो सकता" बताते हुए एक गुस्से से भरी विज्ञप्ति प्रकाशित करने पर सन्तोष किया। काश्मीर में दुःखद घटनाक्रमों ने, हैदराबाद और जूनागढ़ की परेशान करनेवाली घटनाओं के साथ, नेहरू पर अधिक प्रभाव डाला। उस संकट के दिनों में वे काफ़ी बूढ़े हो गए थे लेकिन जैसे जैसे काश्मीर में स्थिति अधिक दृढ़ हुई उनकी मन और प्राण की लोच फिर लौट आई।

आक्रमणकारियों के भय से काश्मीर के एक बार मुक्त हो जाने से भारत सरकार के प्रयत्न कराची को यह प्रेरित करने में लग गए कि वह क़बायलियों को सक्रिय सहायता, संचार और सामग्री देने से बाज़ आए। पाकिस्तान सरकार ने क़बायलियों के आक्रमण से अपनी ज़िम्मेदारी अस्वीकार करते हुए यह प्रस्ताव किया कि अगर भारतीय सेनाएँ काश्मीर से हट जाती हैं तो साथ साथ आक्रमणकारी भी हट जाएँगे, जिससे निहित रूप से इन आक्रमणकारियों पर पाकिस्तान का नियंत्रण स्वीकार किया।

जिन्ना ने जब यह प्रस्ताव लाहौर में ३०वीं अक्टूबर को माउंटबैटन के आगे रखा तो भारत के गवर्नर जेनरल ने कुछ शरारत के साथ पूछा, "क़बायली अपने को हटाने के लिए किस तरह राज़ी किए जा सकते हैं?"

क़ायदे-आज़म बोले, "अगर आप अपने सैनिक हटा लें तो मैं सब कुछ बन्द कर दूँगा।"

जैसा कि नेहरू ने बाद में संविधान सभा में कहा:

पाकिस्तान सरकार ने हमारी सेनाओं और क़बायलियों को काश्मीर से साथ साथ हटाने का प्रस्ताव किया है। यह अजीब प्रस्ताव है और इसके मतलब यही हो सकते हैं कि क़बायली वहाँ पाकिस्तान के कहने पर थे। हम लुटेरों के साथ समझौता नहीं कर सकते जिन्होंने बहुत अधिक लोगों की हत्या की है और काश्मीर को नष्ट करने का प्रयत्न किया है। वे कोई राज्य नहीं हैं, गोकि उनके पीछे शायद कोई राज्य हो।

वास्तव में उनके पीछे एक राज्य था और यह तथ्य अधिक दिनों तक छिपाया नहीं जा सका। दो महीने तक वे पाकिस्तान के प्रधान मंत्री लियाक़त अली ख़ाँ से क़बायलियों को पाकिस्तान क्षेत्र को अड्डा बनाकर भारतीय क्षेत्र पर आक्रमण से रोकने के लिए अनुरोध का पत्र-व्यवहार करते रहे। २२ दिसंबर १९४७ को भारतीय प्रधानमंत्री के पाकिस्तान के प्रधान मंत्री के नाम एक पत्र में संक्षेप में पाकिस्तान की अतिक्रमणात्मक कार्यवाहियों और आक्रमणकारियों को पाकिस्तान द्वारा दी गई सहायता के ढंगों का उल्लेख किया। उसमें पाकिस्तान के लोगों से जम्मू और काश्मीर पर आक्रमण में भाग लेना बन्द करने के लिए और आक्रमणकारियों को (१) काश्मीर रियासत के विरुद्ध पाकिस्तान क्षेत्र में प्रवेश और उसका उपयोग; (२) कुछ सैनिक तथा अन्य संपूर्ति; और (३) अन्य सब प्रकार की सहायता जिनसे संघर्ष दीर्घव्यापी हो, अस्वीकार करने को कहा।

उसी पत्र में भारत सरकार ने एक बार और पाकिस्तान के साथ मित्रता के संबंध से रहने की अपनी सच्ची इच्छा व्यक्त की और आशा की कि उसका अनुरोध शीघ्रतापूर्वक और बिना शर्तों के मान लिया जायगा। इसका उत्तर न पाने पर भारत सरकार ने कहा कि संयुक्त राष्ट्र संगठन के सदस्य की हैसियत से अपने अधिकार और कर्तव्यों की समुचित अपेक्षा के साथ, वह ऐसी कार्यवाही करने को विवश होगी जो उसे अपने हितों और काश्मीर की सरकार और जनता के हितों में आवश्यक लगे।

कराची से कोई उत्तर नहीं मिला, और दो अनुस्मारकों की भी वही प्रतिक्रिया हुई। ३०वीं दिसंबर को भारत ने चार्टर के अनुच्छेद ३४ और ३५ का उल्लेख करते हुए मामला संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा समिति के आगे पेश किया। इन अनुच्छेदों के अनुसार कोई सदस्य कोई ऐसी स्थिति सुरक्षा समिति के ध्यान के लिए पेश कर सकता है जिसके बने रहने से अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न होने की संभावना हो।

काश्मीर की उलझन के आरंभ से ही नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में जनमतसंग्रह की प्रकल्पना थी, और माउंटबैटन ने जिन्ना से इस विचार पर बात की थी जब कि वे उनसे अक्टूबर में लाहौर में मिले थे। किन्तु जिन्ना ने जनमतसंग्रह दोनों गवर्नर जनरल के तत्वावधान में कराने का प्रस्ताव किया था। जब तक लड़ाई समाप्त न होती यह असंभाव्य था। जैसा कि नेहरू ने बाद में आग्रह किया जनमतसंग्रह के पहले शांति की शर्त थी। उन्होंने २१ वीं नवंबर को घोषणा की :

मैंने बार बार कहा है कि ज्योंही आक्रमणकारी काश्मीर के बाहर खदेड़ दिए जाते हैं, या निकल जाते हैं, शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो जाती है, तो काश्मीर के लोगों को विलय का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र के समान अंतर्राष्ट्रीय तत्वावधान के अंतर्गत जनमतसंग्रह या लोकमत पर निर्णय कर लेना चाहिए। यह बिलकुल स्पष्ट है कि लोगों से इस तरह का कोई निर्देश नहीं किया जा सकता जबकि आक्रमणकारियों के बड़े

वड़े दल देश को लूट रहे हैं और उनके विरुद्ध सैनिक कार्यवाहियाँ की जा रही हैं।
मैं इस घोषणा पर क़ायम हूँ।

विषय महत्वपूर्ण है चूँकि लगता है कि भारत ने अनुच्छेद ३४ और ३५ का सहारा लेकर ग़लती की है जो चार्टर के परिच्छेद ६ के अंतर्गत आते हैं जिसका शीर्षक हैं" "झगड़ों का शान्तिमय निपटारा" । सुरक्षा समिति के हस्तक्षेप की दुहाई देने के लिए परिच्छेद ७ अधिक उपयुक्त शीर्षक होता जो विशेष रूप से "आक्रमण के कार्यों" से संवंधित है। काश्मीर के विरुद्ध पाकिस्तान के आक्रमण के प्रश्न को मुख्य लक्ष्य बनाने के वजाय भारत ने परिच्छेद ६ का हवाला देकर समिति को ऐसे क्षेत्र का परीक्षण करने में समर्थ वना दिया जिसमें पाकिस्तान का भारत के विरुद्ध जाति-विनाश का अभियोग सम्मिलित है।

सुरक्षा समिति के आगे काश्मीर समस्या का पेश करना, जैसा कि नेहरू ने कहा था, "एक आस्था का काम" था। भारत को कुछ छिपाना नहीं था। उसने सच्ची सच्ची सदाशयता और ईमानदारी से काम किया था। अपने सैनिक तभी काश्मीर भेजे जव कि अब्दुल्ला की नेशनल कान्फ्रेंस से समर्थित्त महाराजा ने भारत में विलय किया था, और एक पक्ष से स्वेच्छा से यह वचन दिया गया था कि यह काश्मीर के लोगों की इच्छा पर होगा कि वे अंतिम रूप से निश्चय करें कि वे भारत में विलय होना चाहते हैं या पकिस्तान में।

नेहरू ने कहा, "हम इस मामले में सचमुच आवश्यकता से अधिक विवेकशील रहे ताकि अवसर के आवेश में कुछ ऐसा न हो जो ग़लत हो।"

पाकिस्तान द्वारा आक्रमण, क़वायली आक्रमणकारियों को उसका भड़काने और सहायता देने का तथ्य ऐसा स्पष्ट था कि उससे इनकार नहीं किया जा सकता था और न कोई ईमानदार और विवेकशील प्रेक्षक इस तथ्य से इन्कार कर सकता था कि भारत के विरोधों और शिकायतों के रहते हुए पाकिस्तान ने अपने क्षेत्र को एक पड़ोसी राज्य पर आक्रमण के लिए अड्डे के रूप में उपयोग में लाने देना जारी रखा। नेहरू ने अनेक वार जम्मू में ग़ैर मुस्लिमों द्वारा मुस्लिमों पर आक्रमणों को खुले रूप में स्वीकार किया और उसकी भर्त्सना की। लेकिन जैसा कि उन्होंने संसार को याद दिलाया कि इसमें भारत का कोई हाथ नहीं था।

२५ नवंबर १९४७ को संविधान सभा को संवोधित करते हुए नेहरू ने कहा :

मुझे वहुत खेद है कि जम्मू प्रांत के कुछ भागों में मुसलमान मारे गए और वहाँ से निकाल दिए गए। इसमें हमारी सरकार या हमारी सेनाओं का कोई हाथ नहीं था। लेकिन इन पिछले महीनों में पंजाव में यह पारस्परिक हत्याएँ एक वहुत दुख की वात रही और जम्मू पर इसका वहुत वड़ा प्रभाव पड़ा। हमारे पास यह सिद्ध करने का काफ़ी प्रमाण है कि काश्मीर के हमलों का यह सारा काम, जम्मू प्रांत और मुख्य काश्मीर, दोनों में, पाकिस्तान सरकार के ऊँचे ओहदे के अफ़सरों द्वारा जानवूझ कर संगठित किया

गया था। उन्होंने क़वायलियों और सैनिकसेवा-निवृत्त लोगों को जमा होने में सहायता दी, उन्होंने उन्हें युद्ध सामग्री, लारियाँ, पेट्रोल और अफ़सर दिए। वास्तव में उनके ऊँचे अफ़सर खुल्लमखुल्ला यह कहते हैं। यह स्पष्ट है कि आदमियों का बहुत बड़ा दल सशस्त्र दलों में वहाँ के अधिकारियों के सद्भाव, मौनानुमति और सक्रिय सहायता के बिना पाकिस्तान के क्षेत्र को पार नहीं कर सकता। इस परिणाम से छूटना असंभव है कि रियासत पर ज़बर्दस्ती अधिकार करने और तब पाकिस्तान में विलय घोषित करने के सोचे हुए उद्देश्य से काश्मीर पर आक्रमण पाकिस्तान के अधिकारियों द्वारा सावधानी से संयोजित और सुसंगठित थे। यह न केवल काश्मीर किन्तु भारत के प्रति शत्रुता का काम था।

इस प्रकार पाकिस्तान के विरुद्ध भारत का अभियोग न केवल क़ाननी किन्तु नैतिक आधार पर भी था और तथ्यों के सामने आने पर नेहरू की तरह भारत के प्रति सुरक्षा समिति का मूल कर्तव्य आक्रमणकारियों से वापस जाने को कहकर और पाकिस्तान से यह अनुरोध कर कि अपने क्षेत्र को चढ़ाई और आक्रमण के लिए अड्डे के रूप में उपयोग करने देने से बाज़ आए, लड़ाई बन्द करना था। उसी हालत में जनमतसंग्रह किया जा सकता था।

नेहरू ने बताया, "यह याद रखना होगा कि सारी लड़ाई भारतीय संघ के क्षेत्र में हुई है और यह भारत सरकार का सहज अधिकार है कि वह अपनी सीमा से सब आक्रमणकारियों को निकाल बाहर करे।"

संयुक्त राष्ट्र संगठन को भारत के हवाले के बाद जो लंबा और बहुत दिनों से चला आ रहा वादविवाद है, और जो अब भी जारी है, खेद और शोकजनक है। इस कहानी से न तो भारत और न पाकिस्तान कीर्ति के साथ निकलते हैं। निश्चय ही संयुक्त राष्ट्र आयोग ने धैर्य दिखाया है और उसके प्रयत्नों की परिणति युद्धबन्दी में हुई जो १ जनवरी १९४९ की मध्यरात्रि से एक मिनट पहले प्रभावकारी हुई। काश्मीर आक्रमणकारी दोष से पूर्णरूप से मुक्त नहीं हुआ, क्योंकि भारतीय युद्धबन्दी रेखा के उस पार अब भी भारत की दृष्टि में आक्रमणकारी रूप में पाकिस्तान ने तथाकथित आज़ाद काश्मीर की ५००० वर्गमील भूमि गिलगित, उत्तरी बाल्टिस्तान पर नियंत्रण रखा है। यदि संयुक्त राष्ट्र आयोग में धैर्य था तो मध्यस्थ सर ओवेन डिक्सन और डा० फ्रैंक ग्राहम ने जो बाद में और अलग अलग भेजे गए थे, उतना ही संयम और अधिक मात्रा में समझदारी दिखाई। लेकिन आक्रमणकारी के साथ जिसपर आक्रमण हुआ हो उसको समीकृत करने की संयुक्त राष्ट्र की पद्धति पर आधारित उनके प्रयत्न उस निर्मम चट्टान पर ढह पड़े।

पीछे मुड़कर देखने पर यह स्पष्ट है कि नेहरू के मन में अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पश्चिमी राष्ट्रों की नीति और नियत के प्रति पहले पहल इस बात से संदेह जड़ पकड़ गया जो इन्हें और भारत को काश्मीर पर सुरक्षा समिति का समझ में न आनेवाला रुख लगा।

पाकिस्तान को यह निदेश करके लड़ाई रोकने के प्रयत्न के वजाय कि वह आक्रमणकारियों को सहायता देना वन्द कर दे, समिति ने अनेक मूल्यवान् सप्ताह इस मूल प्रश्न को जनमत-संग्रह और जातिनाश के वेतुके अभियोग की समस्याओं से अस्पष्ट और धुँधला होने देने में गँवा दिए। यह अभियोग पाकिस्तान के प्रवक्ता सर मुहम्मद ज़फ़रुल्ला ख़ाँ ने धृष्टता से भारत के विरुद्ध लगाए थे। विलकुल ऐसा ही लग रहा था कि सुरक्षा समिति न केवल आक्रमणकारी और जिसपर आक्रमण हुआ है उनके साथ एक ही समान व्यवहार करने को चिन्तित है वल्कि भारत को अपराधी के कठघरे में खड़ा करने को व्यग्र है। भारत के प्रवक्ता सर गोपालस्वामी अय्यंगर ने पूछा, "अगर सुरक्षा समिति ग्रीस में सरकारी सेनाओं से लड़ते हुए विद्रोहियों को सहायता देने के लिए यूगोस्लाविया, अल्वानिया और वलगारिया की निन्दा कर सकती है तो क़वायलियों को हटाने में पाकिस्तान को विवश करने और उसकी निन्दा करने में उसे क्या रुकावट है?"

भारत और अन्यत्र जो उत्तर फुसफुसाया गया, वह था "सत्तार्थक राजनीति"। नेहरू को यह लगा कि अधिक वड़ी पश्चिमी सत्ताएँ, विशेपरूप से संयुक्त राज्य (अमरीका) और ब्रिटेन मूल प्रश्न को टालने और काश्मीर समस्या को समग्र रूप से भारत पाकिस्तान संवंध में परिवर्तित करने में रुचि रखते हैं।

उन्होंने अपने मन में यह चिरकालीन संदेह कभी नहीं मिटाया है, और वाद की घटनाओं ने, फरवरी १९५४ में पाकिस्तान को संयुक्त राज्य (अमरीका) की सैनिक सहायता की परिणति ने दुर्भाग्यवश उनके संदेहों को और भी गहरा कर दिया। साथ ही साथ काश्मीर समस्या पर उनका अपना रुख़ इतना कठोर हो गया है कि अवतक वह प्रायः दुराग्रही संकल्प में युद्धवन्दी रेखा की स्थिति में जमा लग रहा है, उसमें कुछ छोटे-मोटे हेरफेर किए जा सकते हैं। अव वह उन देशों के भरोसे पर जनमत कराने को तैयार नहीं है जिनकी काश्मीर पर वुनियादी ईमानदारी में उनको अविश्वास है।

अगस्त १९५२ में उन्होंने कठोर गुस्से के क्षण में कहा था, 'यह (काश्मीर) उन लोगों के लिए खिलवाड़ की चीज़ हो सकती है जव कि वह वहुत अधिक हमारे दिलों में है। वह लोग हमसे साम्राज्यवाद की वात कहने की धृष्ठता करते हैं जवकि वे ख़ुद साम्राज्य-वादी हैं और अपनी लड़ाइयाँ लड़ते रहे हैं और भविष्य में युद्ध की तैयारियाँ कर रहें हैं। केवल इसलिए कि भारत ने काश्मीर को क्षेत्रीय आक्रमण से वचाने की कोशिश की, इसलिए लोगों को भारत के साम्राज्यवाद की वात करने का दुःसाहस है।"

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि काश्मीर पर नेहरू का दिमाग़ अव निश्चित है। किन्तु दोप पूरी तौर पर उनका ही नहीं है। वे काश्मीर को न केवल भावुकता से स्वदेश के रूप में किन्तु जिस प्रकार वह देश चीन, रूस, अफग़ानिस्तान और पाकिस्तान की सीमाओं से मिलता है, उसे यथार्थतः भारत की सुरक्षा के रूप में देखते हैं। वे उसे मुस्लिम प्रधान किन्तु हिन्दू, सिख और अन्य लोगों के रहते धर्म निरपेक्षता के मत का मूर्तरूप मानते हैं, जिसे वे वहुत स्नेह करते हैं।

२ नवंबर १९४७ में काश्मीर में घटनाओं के बहुत आरंभ में नेहरू ने अपने देश-वासियों को याद दिलाई : "यह अच्छा होगा अगर यह (सांप्रदायिक एकता और संगठन का) पाठ सारा भारत समझ लेता जो सांप्रदायिक झगड़ों से विपाक्त हो गया है। महान् नेता शेख़ अब्दुल्ला की प्रेरणा के अधीन घाटी के मुसलमान हिन्दू और सिख लोग आक्रमणकारी के विरुद्ध अपने सामान्य देश की रक्षा के लिए एक साथ एकत्रित हुए। जनता के इस समर्थन और सहयोग के बिना हमारी सेनाएँ कम ही कुछ कर सकतीं।"

अपने ही महान् स्वप्नों के शिकार बन कर अब्दुल्ला चले गए हैं और उनके स्थान पर बख्शी ग़ुलाम मोहम्मद शासन कर रहे हैं। विचित्र विडंबना से, हरीसिंह की तरह, जिसके साथ उन्होंने झगड़ा किया था और यथार्थतः उनका स्थान ग्रहण कर लिया था, अब्दुल्ला ने स्वतंत्र काश्मीर की कल्पनाओं को पाला पोसा, यह एक ऐसी स्थिति थी जिसे मानने को भारत ने दृढ़ता से अस्वीकार किया। इस बीच भारत में रियासत का विलय काश्मीर की संविधान सभा द्वारा अनुमोदित हो गया यद्यपि यह सर्वथा जनता का मत नहीं कहा जा सकता है। युद्धबन्दी रेखा के पाकिस्तान की ओर तथाकथित आज़ाद क्षेत्र में ९००,००० लोग रहते हैं और अन्य १००,००० गिलगित मिलाकर उत्तरी भाग में बिखरे पड़े हैं; और उनकी राय नहीं ली गई है। और न उन हज़ारों हिन्दुओं और सिखों का मत लेना सरल होगा जो मूलरूप से काश्मीर के निवासी हैं लेकिन आरंभ के पाकिस्तान के आक्रमण से भारत में भगा दिए गए हैं।

जैसा कि नेहरू ने भविष्यकथन किया था और उन्हें आशंका थी, इस प्रकार काश्मीर के भारत-पाकिस्तान समस्या से कहीं अधिक कुछ बनने का भय है। यदि भारत ने काश्मीर और लेक सक्सेस दोनो ही जगह कुछ व्यवहार-कुशलता की भूलें कीं तो सुरक्षा समिति पर प्रतिनिधित्व करनेवाले कुछ बड़े देशों का रुख दुर्भाग्यवश एकाधिक व्याख्या के लिए मुक्त है और जो उन्हीं पर आ पड़ा है। सुरक्षा समिति को काश्मीर का प्रश्न सौंपने के दो वर्ष बाद, उसी संस्था को अमरीका के इशारे पर उत्तरी कोरियाई लोगों के आक्रमण पर जो ३८वाँ अक्षांश पार कर गए थे, अपना निर्णय देने को कहा गया। अन्तर देखने में भारत को रुचि थी। यदि उत्तरी कोरिया के लोगों ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया था, तो उसी तरह पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण किया था। किन्तु संयुक्त राष्ट्र संगठन ने उत्तरी कोरियावालों को झटपट आक्रमणकर्ता घोषित कर दिया लेकिन पाकिस्तान के विषय में उसे अभी भी सोचना है।

काश्मीर अब बहुत ही निश्चित रूप से शीतयुद्ध के अखाड़े में है। मार्शल बुल्गानिन और मि० ख़ुश्चेव ने दिसंबर १९५५ में अपनी काश्मीर यात्रा में यह देखकर भड़काने के रूप में काश्मीर के मामले में भारत के प्रति अपने समर्थन की घोषणा की और कहा कि समस्या को सफलतापूर्वक और उचित रूप से रियासत के लोगों ने सुलझा लिया है। अव्यक्त रूप से इसमें यथास्थिति का सोवियत अनुमोदन है। इसके अर्थ हैं युद्धबन्दी रेखा का दृढ़ होना, और जनवरी १९५६ में भाषण देते हुए नेहरू ने

सार्वजनिक रूप से सोवियत् नेताओं के वक्तव्य का स्वागत किया और कहा कि उससे उन्हें कोई असमंजस नहीं है।

स्पष्टतः यह उन्हें उस उलझन में से निकलने का एक मार्ग दिखाई देता है जिसे वे विश्वास करते हैं कि "सत्तार्थक राजनीति" थी। यदि विश्व की प्रमुख सत्ताएँ काश्मीर को शीतयुद्ध के अखाड़े में लाना चाहती थीं तो वह प्रयोजन नाटकीय और बहुत ही अप्रत्याशित ढंग पर उपलब्ध हो गया है। अब वे अपना पटाखा उठाए हुए हैं।

युद्धबन्दी रेखा पर केवल भारत और पाकिस्तान चुपचाप नहीं खड़े हैं। संसार खड़ा हुआ है।

२४

एकता और स्थायित्व

स्वतंत्रता के कुछ वर्ष पहले नेहरू ने दिल्ली में अपने एक मित्र को लिखा, मैं ने वहुत कुछ ऐसा सहा है जिससे मैं घृणा से भर उठता, लेकिन मैं क्या हूँ। अक्सर मुझे वड़ा अकेला-अकेला लगता है, लेकिन मैं किसी के प्रति कटु नहीं हूँ। आप इस कटुता और घृणा के शिकार क्यों हों ?—मेरा खयाल है कि दिल्ली, शाही दिल्ली, खास तौर पर इसके लिए ज़िम्मेदार है। वहाँ रह कर होश हवास दुरुस्त रखना आसान नहीं है, और मैं भी उसे ज्यादा वर्दाश्त नहीं कर सकता।"

जव उन्होंने यह पत्र लिखा तव वह यह समझ नहीं सके होंगे कि दस वर्ष के भीतर भीतर ही उन्हें दिल्ली में रहना पड़ेगा, उस दिल्ली में, यह सही है कि जो शाही नहीं, प्रजातांत्रिक हो गई।

नई चेतना की प्रथम अभिव्यक्तियों में एक तो रजवाड़ों का तीव्र तिरोधान था, जिसके लिए वल्लभभाई पटेल, जो रियासती मंत्रिमंडल के अध्यक्ष थे, प्रमुख रूप से उत्तरदायी थे। ऐसा करने में पटेल ने उस ढंग से सूत्र पकड़ा जिससे माउंटवैटन ने भागा-भागी कर भारत को स्वतंत्रता में ढकेल दिया, और कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं को सोचने, योजना वनाने या षडयंत्र करने का मौका ही न दिया। पटेल ने रजवाड़ों को अपनी ही क़ब्र खोदने में लगा दिया और एक-एक कर इन अभागे अत्याचारी शासकों ने भारत में विलय स्वीकार कर अपने को नई प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अनुरूप वना लिया।

माउंटवैटन ने कहा था, 'मार्च "१९४७" में भारत ऐसे जहाज़ की तरह था जिसमें वीच समुद्र में आग लगी हो।'

इसलिए तुरत कार्यवाही अनिवार्य थी।

अगस्त १९४७ में स्थिति कम संकटपूर्ण और अतिपाती नहीं थी जव कि विभाजन की उथल पुथल ने वहुत सी विखंडन की शक्तियों को तैयार कर दिया था। पटेल ने रजवाड़ों को विश्वास दिलाते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित कर दिया था कि उनसे प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले और संचार के तीन विषय छोड़कर विलय के लिए और कुछ नहीं कहा जायगा, चूँकि देश के वृहत्तर सामान्य हित इतने महत्वपूर्ण रूप से संवंवित थे। उन्होंने रजवाड़ों को समझाया कि यह ध्यान रखें कि सामान्य हित के सहयोग का विकल्प अराजकता और अव्यवस्था होगी। अगर रियासत और प्रांत साथ मिलकर

काम करने और सहयोग में असमर्थ रहे तो वह छोटे बड़ों को समान विनाश में लपेट लेगा। माउंटबैटन ने खुद रजवाड़ों को पाकिस्तान या भारत में विलय करने में अपनी स्वतंत्र राय से काम लेने की सलाह देकर इस परामर्श को और सहारा दिया।

१४ अगस्त १९४७ तक हैदराबाद, काश्मीर और जूनागढ़ की तीन रियासतों को छोड़कर सभी रियासतों ने अपना निश्चय कर लिया और विलय कर लिया।

विलय ने भारत और रियासतों के बीच एक नया और सजीव संबंध स्थापित किया स्वतंत्रता के तत्काल परवर्ती संघर्षों में इस संबंध ने स्थायित्व और संश्लेष में योग दिया। किन्तु संगठन की पुंजीभूत प्रक्रिया में विलय केवल प्रथम चरण था। दूसरा चरण संवि-लयन था।

आकार और साधन में रियासतें भिन्न थीं और यदि उन्हें संवैधानिक ढाँचे में समुचित रूप से रखना था तो संघठन की प्रक्रिया आवश्यक थी। क्रमशः इसके दो रूप थे—बाहरी संघटन, जिसमें छोटी रियासतों को उपयुक्त आकार की प्रशासनिक इकाइयों में मिलाना था, और आंतरिक संघटन, जिसके अर्थ में रियासतों के अन्दर प्रजातांत्रिक व्यवस्था और उत्तरदायी सरकार का विकास।

जैसा कि नेहरू ने संविधान सभा में दिसंबर १९४६ में एक वक्तृता में कहा था :

रियासतों में स्वाधीनता की मात्रा वैसी ही होगी, जैसी अन्यत्र—अगर कोई विशेप रियासत किसी विशेप प्रकार का प्रशासन चाहें, चाहें वह राजकीय ही क्यों न हो यह उनकी इच्छा पर है कि वे वैसा करें।—अगर किसी विशेप रियासत के प्रजा-जन नाममात्र के राजा को रखना चाहें तो मैं चाहूँ या न चाहूँ मैं निश्चय ही दखल न दूँगा।

रजवाड़ों के लोगों को किसी भी प्रकार स्वेच्छाचारी शासन के पक्ष में होना असंभाव्य था और वास्तविकता से और देशभक्ति के कारण रजवाड़ों ने घटनाक्रम को पहचाना और उसके साथ चले।

छोटी छोटी रियासतों को मिलाकर रियासतों के कई बड़े बड़े खंडों का निर्माण हुआ और वे बंबई के काठियावाड़ जिले में सौराष्ट्र की भाँति नए संयोजित राज्यों के रूप में उत्पन्न हुए। इसमें अलग अलग क्षेत्रों में और अधिकार क्षेत्रों की लगभग दो सौ रियासतें एक क्षेत्र में अकेले भूखंड के रूप में प्रशासित होकर संघटित हुईं। इसी प्रकार की प्रक्रिया राजस्थान, विन्ध्यप्रदेश, मध्य भारत और पेप्सू* के निर्माण में हुई।

इस घटनाक्रम के साथ साथ अन्य रियासतों का संविलयन प्रजातंत्रीय प्रांतों में हुआ और वे अपना प्रथक् अस्तित्व खो बैठीं, यद्यपि वहाँ के शासकों को उत्तराधिकार, गृह प्रबन्ध के लिए भत्ता, व्यक्तिगत संपत्ति, पदवी और उपाधियों की गारंटी की गई। कुछ रजवाड़े नई इकाइयों के राजप्रमुख या गवर्नर कहलाए। इनमें पटियाला के महाराजा पेप्सू के राजप्रमुख, नवानगर के जाम साहब सौराष्ट्र के राजप्रमुख,

* पटियाला और पूर्वी पंजाब के राज्यों का संघ जो प्रधानतः सिख इकाई है।

ग्वालियर के महाराजा मध्य भारत के राज प्रमुख† थे। मंडी के राजा के समान कुछ रजवाड़ों ने राजनयिक कार्य सँभाला।

संघटन के साथ साथ ज्यों ज्यों रियासतों के लोगों ने जनसत्तात्मक शासन की माँग और सत्ता का शासकों से अपने हाथों हस्तान्तरण चाहा, प्रजातंत्रीकरण आया। लगभग तीस साल पहले मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड के प्रणेताओं ने चेतावनी दी थी "जिस तरह चिनगारी सड़क के इस पार से उस पार उड़कर पहुँच जाती है उसी तरह आशाएँ और आकांक्षाएँ सीमा-रेखाओं को ढँक सकती हैं।" स्वतंत्रता के तुरत बाद यही रजवाड़ों के भारत में हुआ और शासकों ने समय के लक्षणों को पहचान कर जनता की इच्छा के आगे झुकने की बुद्धिमानी दिखाई।

एक साल के अन्दर-अन्दर असंख्य प्रांतों और राज्यों के लगभग छः सौ इकाइयों के ढेर से भारत छब्बीस राज्यों का दृढ़ क्षेत्र बन गया। इस ज़बर्दस्त काम का प्रमुख श्रेय वल्लभभाई पटेल को मिलेगा।

जनवरी १९४८ में गांधीजी की मृत्यु और दिसंबर १९५० में पटेल के देहावसान के बीच के तीन संकटपूर्ण वर्षों में वल्लभभाई ने नेहरू के उत्साह में स्थायित्व का भार दिया। गांधीजी के जीवनकाल में भारत में बहुत से लोगों ने कांग्रेसतंत्र में वल्लभभाई को दूसरे स्थान पर कल्पना की थी, यद्यपि गांधीजी ने सार्वजनिक रूप से जवाहरलाल को अपना राजनैतिक उत्तराधिकारी निर्दिष्ट कर दिया था। पटेल में जवाहरलाल की-सी समूह को आकर्षित करने की शक्ति नहीं थी, यद्यपि स्वयं वे निम्न कोटि के वक्ता न होते हुए और तीखी ज़बान और तीव्र बुद्धि से बहुत अधिक श्रोताओं को एकत्रित कर सकते थे और उनके ध्यान को खींच सकते थे। उनमें संगठन की अपार क्षमता थी जो कांग्रेस पार्टी के तंत्रको टमानी हाल* के अध्यक्ष की निर्मम कुशलता की भाँति नियंत्रित रखती थी। उनके ढंग समझौता न करनेवाले थे और उनका बाहरी रूप कठोर था, लेकिन जिस प्रकार अन्तिम रूप से उन्होंने पाकिस्तान स्वीकार कर लिया, वह लोचदार बन सकते थे। सबसे अधिक वे यथार्थवादी थे और उनके दिमाग़ में स्पष्टता और निर्मलता थी जिसके कारण वे समस्या के मूल में देख सकते थे, दृढ़ परिणाम पर पहुँच सकते थे और जल्दी क़दम उठा सकते थे। वे उद्देश्य में दृढ़ थे।

भारत को ही विश्व मान कर पटेल ने नेहरू से अधिक संकुचित भूमि पर काम किया किन्तु उस भूमि पर वे दुर्जेय थे। अपने आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण में कट्टर होने से उनमें सिद्धान्त या सिद्धान्तवादियों के लिए धैर्य न था। जिस प्रकार उन्होंने रजवाड़ों से सत्ता लेकर उनकी पदवी और विशेषाधिकार छोड़ दिए थे, उसी तरह उन्होंने वर्षों तक भारत में उद्योगपतियों और व्यापारियों से कांग्रेस पार्टी के कोष के लिए भारी-भारी

---

† सितंबर १९५५ में रियासतों के पुनर्गठन आयोग ने राजप्रमुखों को समाप्त करने का सुझाव दिया।

* न्यूयार्क में १९०५ में स्थापित प्रजातांत्रिक संगठन।

चन्दे लिए और उनके सामने स्वतंत्रता आने पर बड़े-बड़े आर्थिक लाभ का प्रलोभन दिया। पटेल समाजवादी नहीं थे। वे कहा करते थे कि उनमें गांधीजी सबसे बड़े समाजवादी हैं। वे गांधीजी से इस बात में सहमत थे कि सम्पत्ति बुद्धिमत्ता से खर्च करने के लिए न्यास (ट्रस्ट) हैं जिन्हें कभी बलपूर्वक नहीं छीनना चाहिए।

राजनैतिक रूप से भारत को अलग इकाई के रूप में न देखकर विश्व के संदर्भ में रख कर जवाहरलाल विस्तृत भूमि पर चलते थे। आर्थिक रूप से उनका चिन्तन मार्क्सवादी अध्ययन से प्रभावित था, लेकिन प्रगति के अर्थ उनके लिए, जैसा कि उन्हें लगता था कि गांधीजी के लिए भी, उत्पीड़ित और पददलित लोगों को उठाना था। राज्य को, विशेष रूप से अविकसित देश में, प्रमुख आर्थिक कार्य करना होता है और राज्य की योजना के अर्थ राज्य का नियंत्रण होता है। इसके अर्थ सरकार का वित्त और उद्योग के क्षेत्र में जबर्दस्ती घुसना है, निजी उद्योगों को निर्धारित घेरे में सीमित करना है। जिस ढंग से पटेल और नेहरू अलग अलग अपने आर्थिक मतों के लिए गांधीवाद से बल प्राप्त करते थे वह दिलचस्प और ज्ञानात्मक है। गांधीवाद सब लोगों के लिए सब चीजें सिद्ध करता था।

दोनों आदमियों को मानसिक और स्वभावगत खाई अलग करती थी, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। जब तक गांधीजी जीवित थे उनमें बौद्धिक रस्सा-कशी बहुत अधिक दोनों पर महात्माजी के अत्यधिक प्रभाव से, और दोनों व्यक्तियों की सहज देशभक्ति से भी नियंत्रित रही। वे इस बात का अनुभव करते थे कि जब तक स्वतंत्रता संघर्ष चलता है, एकता में ही बल है। बड़ी बड़ी प्रायः जबर्दस्त समस्याओं ने जो स्वाधीनता के तुरत पीछे-पीछे आईं, उस बंधन को दृढ़ किया। पटेल की मृत्यु से नेहरू बहुत से मानसिक विरोधों और कुछ प्रशासनिक और पार्टी के अवरोधों से मुक्त हो गए। भारत में सर्वोच्च स्तर पर संबंधों के सान्निध्य ने वह पैदा किया जो राजनीतज्ञों, प्रशासकों और लोगों में अंतराबंध कहा जा सकता है और जो विभक्त मन और व्यक्तियों से अधिकतम समस्याओं पर ज़ोर डलवाता है। वृद्ध और श्रान्त किन्तु अभी भी दृढ़ संकल्प और प्रयोजनशील पटेल ने मृत्यु के पहले यह अनुभव किया कि नेहरू का लोगों पर जादू उनकी अपनी यथार्थवादी नीतियों से कहीं अधिक था। १९५० की गर्मियों में पटेल-संप्रदाय के विचारों से निकट रूप से संबद्ध, सामाजिक और राजनैतिक रूढ़िवादी, कांग्रेस अध्यक्ष बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन के त्यागपत्र ने कांग्रेस पार्टी में प्रमुख संकट का भय उत्पन्न कर दिया। उस साल नासिक में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अंतिम था जिसमें पटेल सम्मिलित हुए थे। जब उनकी थकी आँखें किसानों और गाँवों के लोगों की उस भारी भीड़ पर टिकीं जो नेहरू का स्वागत करने के लिए जमा हुई थी तो अन्त तक यथार्थवादी, वृद्ध व्यक्ति ने समझ लिया था कि श्रेष्ठ कौन है।

उन्होंने विशिष्ट स्पष्टता से स्वीकार किया, "मैं उन लोगों को जमा नहीं कर सकता हूँ। वे जवाहर को देखने आए हैं।"

किन्तु दिसंबर १९५० में पटेल की मृत्यु के पहले के तीन संकटपूर्ण वर्षों में दोनों व्यक्तियों ने, उस भारत के कल्याण के लिए जिसे दोनों वहुत अधिक प्यार करते थे, साथ मिल कर काम करने की चेष्टा की और अपनी घृणाओं को समाप्त कर दिया।

शायद वोलने में नेहरू का संयम पटेल से अधिक था, क्योंकि वे अपने तीखे, प्रायः विषाक्त कटूक्तियों के तीखे व्यंग छोड़ सकते थे—और छोड़ते थे।

एक विदेशी संवाददाता,* अमरीकी, ने गांधीजी की मृत्यु के शीघ्र वाद नेहरू से पूछा था कि क्या उन्हें और पटेल को राजनीतिक लड़ंतिए समझना सही है, और क्या भविष्य इस पर निर्भर करता है कि कौन जीतता है।

"हम ठोस वातों के विवरण पर वहुत अधिक मतभेद रखते हैं और प्रायः एक दूसरे से विलकुल भिन्न रहते हैं," नेहरू ने स्वीकार किया।।" "और तव भी यह विचित्र है कि गांधीजी की याद हमें मिलाए रहती है। मरने के वाद वह उससे कहीं प्रवल हैं जवकि वे जीवित थे।"

जवाहरलाल अपने उत्तर को विस्तार से समझाते रहे। नेहरू को लगा कि पटेल और वे परस्पर एक दूसरे की निष्ठा में विश्वास रखते हैं, और यह दृढ़ विश्वास था कि दोनों में से कोई सत्ता के लिए ही सत्ता के लोलुप नहीं थे।

"मैं जानता हूँ कि मेरे एक इशारे पर पटेल त्यागपत्र दे देंगे। वह यही चीज़ मेरे वारे में जानते हैं," नेहरू वोले।

दोनों व्यक्ति प्रशासकीय विवरणों पर चाहे कितना मतभेद रखते हों लेकिन समान संकल्प———भारत की एकता और स्थायित्व को सुरक्षित और शक्तिवान् रखने—में साथ थे। देश की प्रजातांत्रिक संरचना में रजवाड़ों की रियासतों का संघटन इस प्रक्रिया में पहला क़दम था और उसने स्वतंत्रता के वाद की संकटपूर्ण स्थितियों के क्रम आघातों से रक्षा की। इनमें सवसे अतिपाती उन ८,१००,००० लोगों का खपाना और और पुनर्वास था, जो पूर्व और पश्चिमी पाकिस्तान में अपने घरों से भारत को देशान्तर-गमन के लिए विवश किए गए थे।

विस्फोटक और वाद में अव्यस्थित स्थिति के रहते जो जून १९४८ तक चलती रही ५,०००,००० से ऊपर ग़ैरमुस्लिम पश्चिमी पाकिस्तान से भारत आए जवकि लगभग ३,०००,००० शरणार्थियों का दूसरा जन-प्रवाह पूर्वी पाकिस्तान से आया। इससे उल्टी दिशा में ४,०००,००० मुसलमानों ने भारत से पाकिस्तान को देशान्तर-गमन किया। विभाजन के श्रम में छटपटाते भारत को इस प्रकार उन विस्थापित लोगों के निरंतर अन्तः प्रवाह की समस्या का सामना करना था, जिनकी संख्या मोटे तौर पर कनाडा की जनसंख्या की आधी होगी।

नेहरू ने स्वयं दोनों ओर चलकर आनेजाने का दुखद दृश्य देखा था और मानवता के पतन और भयंकर नृशंसताओं को देखा था जिसे इसने दोनों ओर उत्तेजित कर

* एडगर स्नो।

दिया था। जब कि पश्चिमी पाकिस्तान के शरणार्थी शहरी और देहाती वर्गों में बराबर बँटे थे, पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों में अधिकांश देहाती क्षेत्रों से आए थे। उन्हें हटाकर सुरक्षित करने और सहायता पहुँचाने के बाद उस शहराती या देहाती परिवेश में उनका पुनर्वास करना था जिसके वे अभ्यस्त थे,और उपयुक्त धंधा या जीविका का कुछ साधन तलाश करने में सहायता करना मूल कार्य था। यह बहुत बड़ा काम था और इससे और भी पेचीदा हो गया था कि शरणार्थियों में हजारों स्त्रियाँ और बच्चे थे और उनमें काफी संख्या विधवा या अनाथों की थी।

इस भागते हुए और डरे मानवता के भारी समूह को हटाने के लिए बैलगाड़ी से लेकर हवाई जहाज़ तक तरह सब की सवारियों और परिवहन को उपयोग में लाया गया लेकिन उनमें से बहुसंख्यक ने अपनी भयावह यात्रा का अधिक भाग पैदल चलकर पार किया। रास्ते पर जल्दी जल्दी स्वागतकेंद्र संगठित हुए जहाँ भोजन, आश्रय और चिकित्सा की सहायता देने की व्यवस्था की गई और स्वयंसेवकों के छोटे-छोटे दलों ने उन अल्पसंख्यक अधिकारियों की सहायता की जो इस विराट् कार्य को सँभालने में रात दिन लगे थे और जो कभी कभी उन पर हावी हो कर उन्हें पराभूत करने की हालत को पहुँच जाता। ज्यों ज्यों यह कैंप स्थिर होते गए और अधिक संगठित होते गए मनोरंजन और शिक्षा की सुविधाएँ दी गईं और बुनाई, कताई, रँगाई, लकड़ी का काम, साबुनसाज़ी और हस्तकौशल के छोटे छोटे व्यवसायों के कारखाने आरंभ कर दिए।

धीरे धीरे ग्रामीण कार्यकर्ता पूर्वी पंजाब, पेप्सू, दिल्ली, राजस्थान, बंबई और उत्तर प्रदेश सहित भारत के भिन्न भागों में निष्क्रान्त भूमि पर बसाए गए। आरंभिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए उन्हें ऋण दिए गए। इसी प्रकार नगर के लोग यथासंभव नगरों और क़स्बों में स्थापित किए गए और उन्हें उद्योगों, व्यापारिक संस्थाओं, व्यावसायिक शिल्पों में काम दिलाया गया। सब जगह सरकारी काम में शरणार्थियों को प्राथमिकता दी जाती थी, और विस्थापित व्यक्तियों के लिए हर जगह नई बस्तियाँ देश के विभिन्न भागों में बस गईं।

स्वभावत: सब विस्थापित व्यक्तियों के लिए पुन: प्रवास देना और काम तलाश करना संभव नहीं था। लेकिन कुल मिलाकर अधिकारियों, शरणार्थियों और भारत में उनके कुछ अधिक भाग्यशाली देशवासियों के बीच विशाल देशव्यापी सहयोग से जो उपलब्ध हुआ वह प्रभावपूर्ण था और सरकार और जनता को प्रेरित करनेवाली सामुदायिक और स्वावलम्बन की भावना के लिए अभिनन्दनीय था। पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों के विषय में परिणाम उतने प्रभावपूर्ण नहीं थे और पूर्वी भारत में पुनर्वास प्रमुख समस्या बनी हुई है जो दोनों बंगालों के बीच रहकर होनेवाले देशान्तरगमन से गंभीर हो गई है। यह गमन अभी भी जारी है।

किन्तु १९५० के अंत तक यह समस्या नियंत्रण में आ गई और तब से छः वर्ष में

पुनर्वास को राष्ट्रीय महत्व के कार्यों में शीर्षस्थानीय प्राथमिकता से हटाकर बहुत नीचे के स्थान पर लाने में प्रगति काफी महत्वपूर्ण और स्थिर रही है।

नवंबर १९५० में इस संबंध में नेहरू भारी कठिनाइयों के सामने समुचित गर्व और विश्वास के साथ पार्लमेंट को संबोधित कर सके :

हमें इतने परिमाण की शरणार्थियों की समस्या का सामना करना पड़ा कि मुझे संदेह है कि इस प्रकार की किसी चीज़ का सामना संसार के किसी देश को करना पड़ा हो। मैं निवेदन करता हूँ कि——इस समय मैं पश्चिमी पाकिस्तान से आए शरणार्थियों के बारे में बात कर रहा हूँ—अन्य देशों में शरणार्थियों की समस्या का जिस प्रकार सामना किया गया है उसकी तुलना में हमारे परिणाम गौरवपूर्ण रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि वे संतोषजनक हैं; वह अलग चीज है। मैं यही कहता हूँ कि तुलना में वे अच्छे हैं। अतीत में शरणार्थियों की समस्याएँ रही हैं और आज भी युद्ध के बाद जर्मनी, जापान और योरप के बहुत से देशों में शरणार्थी समस्याएँ हैं। पिछली लड़ाई के शरणार्थी अब भी योरप के बहुत से देशों में कैंपों में रह रहे हैं।

भारत के लोगों को धर्म से राजनीति को मिलाने के खतरे को जताने के लिए नेहरू इस दुर्भाग्यपूर्ण अवसर का उपयोग करने से न चूके। उन्होंने बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों ही संप्रदायों से स्वयं शांति से रहने और दूसरे लोगों के रहने देने की अपील की। अप्रैल १९४८ के आरंभ में संविधान सभा में एक वक्तृता में उन्होंने याद दिलाया कि किस प्रकार भारत के लोग राजनीति को नीतिशास्त्र से संबंधित होने की बड़ी बड़ी बातें किया करते हैं लेकिन साथ ही कई धर्म को राजनीति से संबद्ध करने और भ्रम में डालने की कुरूप और महँगी ग़लती भी करते हैं। क्या उन्होंने रक्तरक्त अतीत से कुछ नहीं सीखा है ?

उन्होंने चेतावनी दी, "हमें अपने दिमाग़ में और देश के दिमाग़ में स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि सांप्रदायिकता के रूप में धर्म और राजनीति का संबंध सबसे अधिक भयानक संबंध है और उससे सबसे अधिक असामान्य और अवैध ढंग के मानव उत्पन्न होते हैं।"

संविधान की रचना में, जिसमें तीन वर्ष से कुछ अधिक लग गए, नेहरू ने इसी धर्मनिरपेक्ष भाव पर ज़ोर दिया।

उन्होंने याद दिलाया कि भारत में प्रजातंत्र कोई विदेशी उपज नहीं है और अँग्रेज़ों या मुगलों के आगमन के बहुत पहले स्वायत्त शासन की संस्थाओं पर और संबद्ध जीवन पर ज़ोर दिया जाता रहा है। वैदिक काल में समिति या लोक सभा में लोगों का प्रतिनिधित्व मतदान की एक प्रणाली द्वारा रहता था। यह समिति सर्वोच्च राजनीतिक संस्था रहती थी और उसके साथ साथ सभा अथवा वयोवृद्ध लोगों की संसद होती थी। विधि या न्याय जिसे धर्म कहते थे, सर्वोपरि था और नृप या राजन् समिति द्वारा निर्वाचित होता था। उसमें दंड अथवा प्रशासनिक सत्ता का निवेश माना जाता था जो कि

धर्म को प्रवर्तित और प्रतिस्थापित करता था। शताब्दियों तक जनता जनार्दन और पंचमुखी परमेश्वर कहावतें देश भर में प्रचलित रहीं।

भारत में अत्याचारी और निरंकुश राजा भी बहुत हुए जो तलवार के बल पर शासन करते रहे। उसमें राजे और प्रजातंत्र दोनों रहे, कुछ अशोक के समान प्रबुद्ध हुए और बहुत से क्रूर स्वेच्छाचारी हुए। लेकिन राजा के साथ सदैव बुद्धिमान व्यक्ति संयुक्त रहे जिनकी सलाह को राजा मानता था। विद्वत्ता और प्रामाणिकता के प्रति सम्मान की भारतीय परंपरा का उद्भव बहुत कुछ इसी से है। गाँवों में सामान्य लोगों में भी प्रजातान्त्रिक शासन की अभिव्यक्ति पंचायत में हुई जिसने समाज के व्यवस्थित और संघबद्ध जीवन को सुरक्षित रखा। वास्तव में पंचायतें अँग्रेज़ों के युग और स्वतंत्रता तक बची रहीं।

इन प्रजातांत्रिक आधारों और परंपराओं पर भारत ने अपना स्वतंत्र संविधान खड़ा किया। यद्यपि दिसंबर १९४६ में पहले पहल संविधान सभा दुर्भाग्यपूर्ण समय में आहूत हुई, जब कि मुस्लिम लीग ने उसका बहिष्कार किया, किन्तु एक बार स्वतंत्रता मिल जाने पर उसने चल पड़ने में समय नहीं गँवाया। १४ अगस्त १९४७ को वह भारत सरकार के प्रतिनिधिस्वरूप सत्ता प्राप्त करने के लिए सर्वोपरि परिषद् के रूप में एकत्रित हुई।

स्वतंत्रता के साथ भारत का जो धुँधला रूप प्रगट होनेवाला था वह उसके प्रथम अधिवेशन से व्यक्त है जब कि उसके अध्यक्ष डा० राजेंद्र प्रसाद ने उस वर्गहीन समाज के बारे में बताया जो एक सहयोगी स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में विकसित होगा। यह आदर्श उन उद्देश्यों के प्रस्ताव में समाविष्ट थे जो नेहरू ने ओजस्वी और ज़ोरदार वक्तृत्व के साथ पेश किया। प्रस्ताव ने ऐसे भारत की कल्पना की।

एक बार फिर प्रधान मंत्री के भाषण में धर्मनिरपेक्ष प्रकाश चमक उठा। उन्होंने घोषणा की :

हम में से हर एक को जो एक चीज़ स्पष्ट होना चाहिए वह यह है कि भारत में कोई दल, पार्टी, धर्म, संप्रदाय नहीं है जो उन्नति कर सके, अगर भारत उन्नति नहीं करता है। अगर भारत डूबता है तो हम डूबते हैं, हम सब, चाहे हमारी सीटें ज़्यादा या कम हों, चाहे हमें थोड़ा सा लाभ प्राप्त हो या न हो। लेकिन अगर भारत ठीक रहता है, अगर भारत सजीव, स्वाधीन देश बना रहता है तो हम किसी भी संप्रदाय या धर्म के हों, हमारे लिए वह अच्छा है।

और उन्होंने अपने पहले के संदर्भ के साथ जो बाद में प्रायः आता रहा, अपना भाषण एक चेतावनी के साथ समाप्त किया—वह था अणुबम :

हम ऐटम बम और उससे संबद्ध तरह तरह की शक्ति के बारे में बहुत कुछ सुनते हैं, और वास्तव में आज संसार में इन चीज़ों में द्वंद्व छिड़ा हुआ है—अणुबम और उससे संबंधित चीज़ों में और मानवता की भावना में। मैं आशा करता हूँ कि भारत जब कि

निस्सन्देह सब भौतिक क्षेत्रों में महान् कार्य करेगा वह सदा मानवता की भावना पर ज़ोर देगा और मेरे मन में संदेह नहीं है कि संसार के सामने जो यह द्वंद्व है उसमें अन्त में मानवता की भावना अणुबम पर विजय प्राप्त करेगी। मेरी कल्पना है कि यह प्रस्ताव सफल हो और वह समय आए जब इस प्रस्ताव के शब्दों में यह प्राचीन देश विश्व में अपना न्यायसंगत और सम्मानित स्थान प्राप्त करे और विश्वशांति और जनकल्याण की अभिवृद्धि में अपना स्वेच्छित और पूर्ण अंशदान करे।

सर्वोपरि प्रजातांत्रिक गणतंत्र घोषित करनेवाला भारत का संविधान इस विचार में बद्धमूल है कि यह सर्वोपरिता लोगों को स्वाधीन और निर्बन्ध रूप से अपने प्रतिनिधि चुनने के अधिकार से; किसी मत, संप्रदाय अथवा स्त्री या पुरुष से निरपेक्षता के साथ राज्य के धर्मनिरपेक्ष ढंग से न्यस्त होने से; ऊँच या नीच, ब्राह्मण या अछूत को समानता स्वाधीनता, संपत्ति और संवैधानिक प्रतीकार, धर्म और सांस्कृतिक और शिक्षा के अधिकारों की स्वाधीनता में मूल अधिकारों के निश्चय के साथ, अन्त में जनता में सन्निहित है। यह ऐसा संविधान है जो चूँकि न्याय के शासन की गारंटी करता है, उससे जो भी उपलक्षित हो, एक यथार्थ प्रजातांत्रिक दस्तावेज़ है।

उचित रूप से इसके प्रमुख प्रारूपकारों में डाक्टर भीमराव अम्बेडकर थे। वे अछूत थे और विधिमंत्री की हैसियत से उन्हें प्रारूपित विधेयक को आगे बढ़ाने का सम्मान प्राप्त हुआ। संविधान सभा ने विधेयक पर एक एक अनुच्छेद लेकर विचार किया और २६ नवबंर १९४९ को भारत की जनता के नाम पर उसे स्वीकृत और अधिनियमित किया। जब यह दस्तावेज़ संविधान सभा से निकला तो उसमें ३९५ अनुच्छेद और ८ तालिकाएँ थीं।

भारत प्रजातंत्र होने से उसके संविधान में संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) स्विटज़रलैंड, आयर और फ्रांस के प्रजातांत्रिक संविधानों से मूलतः ग्रहण किया गया। राष्ट्रमंडल के सिद्धान्त से संबंधित होने के कारण उसने संयुक्तराज्य (इंग्लैंड), कनाडा और आस्ट्रेलिया के संविधानों से प्रचुर मात्रा में लिया। जिस ढंग की सरकार को यह प्रकल्पित करता है वह ब्रिटेन की भाँति पार्लमेंटीय सरकार है जिसका प्रशासन व्यवस्थापिका के अधीन और उसके प्रति उत्तरदायी है। यह एक स्वतंत्र न्यायपालिका और अधिकारियों के चुनाव के लिए स्वतंत्र जनसेवा आयोग सुनिश्चित करती है। अमरीकी संविधान की तरह इसमें दृढ़ केंद्र की व्यवस्था है लेकिन राष्ट्रपति को आपत्काल में एक राज्य या राज्यों के अधिकारों को निरस्त करने की अभ्यनुज्ञा देकर संयुक्त राज्य संघ (अमरीका) के संविधान से आगे बढ़ जाता है। भारत में देश भर के लिए एक ही संविधान लागू है, लेकिन अमरीका में राज्यों को अपने स्थानीय संविधान बनाने के अधिकार हैं। इसके सिवा संयुक्त राज्य (अमरीका) में प्रत्येक राज्य को अपने नागरिकों या निवासियों को अनेक विशेषाधिकार स्वीकृत करने की स्वाधीनता है, जिसे वह उन लोगों के लिए अधिक कठोर शर्तों पर स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है जो

वहाँ के निवासी न हों । भारत में यह हालत नहीं है। फिर अमरीका के संविधान की तरह भारत का संविधान लिखित है।

सितंबर १७८७ में जब वह अंतिम रूप से फ़िलाडेल्फ़िया कन्वेंशन से स्वीकृत हुआ तो संयुक्त राज्य (अमरीका) का संविधान सात अनुच्छेदों में विभक्त था, प्रत्येक अनुच्छेद विभागों में उपविभाजित था, और भारत के संविधान की भाँति परिवर्तन का मूल माध्यम संशोधन के द्वारा था, यद्यपि फिलाडेल्फ़िया लेखपत्र भी परिपाटियों के विकास से परिवर्तन और व्यवस्था के अधीन है। और भी समस्याएँ, समानताएँ और असमानताएँ हैं। १७८७ और १९३७ के बीच अपने १५० वर्ष के जीवन में संयुक्त राज्य (अमरीका) का संविधान इक्कीस बार संशोधित हुआ और इनमें से पहले दस संशोधन संविधान में उद्घाटित होने के केवल दो वर्ष बाद सामूहिक रूप से आए। यह दस संशोधन आधारभूत कही जानेवाली धर्म, भाषण, सभा और प्रार्थना की स्वाधीनताओं को दृढ़ करने से संबंधित थीं। इसी प्रकार भारतीय संविधान के लागू होने के पाँच वर्षों के भीतर छः संशोधन हुए उनमें से प्रायः सभी मूलभूत अधिकारों की सीमा को अधिक व्यक्त रूप से स्पष्ट करने से संबंधित थे।

मोटे तौर पर एक ही सिद्धान्त संयुक्त राज्य (अमरीका) और भारत के संविधान के सूत्र संचालित करते हैं। उदाहरण के लिए अमरीकी संविधान का अनुच्छेद २ दृढ़ प्रशासन संस्था की व्यवस्था देता है जो शासन में बल और कुशलता उत्पन्न करता है; अनुच्छेद १ और ३ प्रशासन, व्यवस्थापिका और न्याय-संहति के बीच अधिकारों के पृथक्करण की व्याख्या करते हैं और जाँच पड़ताल की एक प्रणाली प्रकल्पित करते हैं, जब कि हैमिल्टन के मत से प्रस्तावना अधिकारों का पर्याप्त विवेयक था, यद्यपि इसे सुनिश्चित करने के लिए दस संशोधन आवश्यक हुए। यह सिद्धान्त भी भारतीय संविधान के अनुच्छेदों में प्रत्यावर्तित हैं।

भारतीय संविधान की अनोखी विशिष्टता राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों से संबंधित अध्याय है जो साधारण और विशेष रूप से यह आदेश देता है कि यदि प्रजातंत्र यथार्थ और प्रभावशाली होता है तो उसमें आर्थिक और राजनीतिक दोनो ही तत्व होना चाहिए। समानता में केवल आयर का संविधान है जिसमें इसी प्रकार के निदेशक समाविष्ट हैं। भारतीय संविधान का भाग ३ मोटे तौर पर मूल अधिकारों का वर्गीकरण करता है, जैसे समानता, स्वाधीनता, संपत्ति, संवैधानिक प्रतीकार, सांस्कृतिक और शिक्षा संबंधी अधिकार और शोषण के विरुद्ध अधिकार और धर्म की स्वाधीनता।

इन निदेशक सिद्धान्तों के निर्देशन और मसविदे में नेहरू को विशेष रुचि थी क्योंकि उनके लिए यह आस्था का सिद्धान्त था कि बिना सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्र के राजनीतिक प्रजातंत्र अपूर्ण था। विशिष्ट रूप से उद्देश्यों के प्रस्ताव के अपने भाषण में उन्होंने केवल तीन देशों अमरीका, फ्रांस, और सोवियत रूस के क्रांतिकारी दृष्टान्तों का उल्लेख किया।

उन्होंने कहा, "हमारा ध्यान इन तीन महान् दृष्टान्तों पर जाता है और हम उनकी सफलताओं से सीखने और विफलताओं से वचने का प्रयत्न करेंगे।"

वस्तुतः यह निदेशक सिद्धान्त जनता के साथ सरकार का संवंध निश्चित करने के लिए संवैधानिक औचित्य के प्रकल्पित नियमों के रूप में हैं। आर्थिक अधिकारों और सामाजिक सुरक्षा के सिद्धान्तों में जो कि संविधान राज्य को विशेष रूप से उसकी जनता के लिए सुनिश्चित करना चाहता है वे हैं जीवन यापन के पर्याप्त साधन, संपत्ति का उचित वितरण, समान कार्य के लिए समान वेतन, वालक और वयस्क श्रमिक की प्रतिरक्षा, उपयुक्त जीवनस्तर को निश्चित करनेवाली कामकाज की स्थिति, अवकाश का पूरा सहयोग, और सामाजिक और सांस्कृतिक सुयोग, और पोषण तथा स्वास्थ्य के भी स्तर को उन्नत करना। परिगणित जातियों और वर्गों और जनता के अन्य कमज़ोर समुदाय के शैक्षिक और आर्थिक हितों की अभिवृद्धि पर विशेष वल दिया गया है।

निदेशक सिद्धान्त यह भी व्यवस्था देते हैं कि भारत की विश्वशांति की कामना के अनुरूप देश की वैदेशिक नीति अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की अभिवृद्धि करे। इस वात को उसे राष्ट्रों के वीच न्यायपूर्ण और सम्मानपूर्ण संवंध रखकर, संगठित लोगों को एक दूसरे के साथ व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून और संधि के दायित्वों के लिए सम्मान को वढ़ाकर, और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का पंचनिर्णय से निपटारा करना चाहिए।

संविधान का तर्कसम्मत उपसंहार भारत के पहले चुनावों को करना था, जो सौ दिनों में व्यवस्थित थे और फरवरी १९५२ के आरंभ में समाप्त हुए। इसके पहले प्रजातांत्रिक संसार ने १६ करोड़ मतदाताओं को लेकर इतना विराट् चुनाव कभी नहीं देखा था, जिसमें वड़ी भारी वहुसंख्या के लोग अपढ़ थे। उन्होंने २२४००० मत-दाता केंद्रों के लगभग ५०० राष्ट्रीय पार्लमेंट्री ज़िलों में अपने मताधिकार का प्रयोग किया। छपे मतपत्रों की संख्या ६२ करोड़ से अधिक थी। १८०० से ऊपर प्रत्या-शियों ने लोकसभा की ४९७ सीटों के लिए चुनाव लड़ा, जवकि अन्य १५००० प्रत्या-शियों ने राज्य विधान सभाओं में ३२८३ स्थानों को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे से मुक़ावला किया।

सवसे अधिक अणुवीक्षणीय दलों को सम्मिलित कर आरंभ में मैदान में क़रीव ७७ राजनैतिक संगठन थे। लेकिन क्रमशः यह सव कटछँटकर पाँच पार्टियाँ रह गई— कांग्रेस, साम्यवादी, समाजवादी, किसान मज़दूर प्रजापार्टी और जनसंघ, जो चरम हिन्दूमत का प्रतिनिधित्व करता था। समाजवादी और किसान मजदूर प्रजापार्टी असंतुष्ट कांग्रेस दल के थे जिन्हें उस पार्टी की आर्थिक नीति के प्रति असंतोष ने मूल पार्टी से अलग कर दिया था। उस समय आंध्र, केरल* और हैदरावाद के समान

---

* ट्रावंकोर, कोचीन से मिल कर वना हुआ।

कुछ राज्यों में साम्यवादी ग़ैरकानूनी घोषित कर दिए गए थे, जहाँ कि कुछ महीनों उनके हिंसात्मक कार्यों ने स्थानीय सरकार को उन पर रोक लगाने को बाध्य कर दिया था। लेकिन इससे साम्यवादी पार्टी को वामपंथियों का संयुक्त मोर्चा और जनता का प्रजातांत्रिक मोर्चा जैसे विभिन्न नामों से प्रत्याशी खड़ा करने में रुकावट नहीं पड़ी।

२२ नवंबर १९५१ को चुनाव के पूर्व प्रसारण करते हुए नेहरू ने लोगों से अनुशासन और व्यवस्था की प्रार्थना की :

भारत में करोड़ों लोग इस देश के भविष्य का निपटारा करेंगे। वे अपनी पसन्द को व्यक्त करते हुए हज़ारों मतपेटियों में अपने मतपत्र डालेंगे, और ऐसा वे शांतिपूर्वक करेंगे, या यह उन्हें शान्तिपूर्वक करना चाहिए। इन मतपत्रों में से भारत की पार्लमेंट के और राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के सदस्य बनेंगे और हम इन परिणामों को बिना किसी आपत्ति के स्वीकार करेंगे।

यह प्रजातंत्र का सार है। स्वाभाविक है कि हम सब उस उद्देश्य की सफलता चाहते हैं जिसका हम प्रतिनिधित्व करते हैं और हम उसके लिए प्रयत्न कर रहे हैं। प्रजातंत्र में हम जानते हैं कि किस प्रकार जीता जाय और यह भी कि किस प्रकार गौरव के साथ हारा जाय। जो जीतते हैं तो उस जीत से उनका दिमाग़ बिगड़ना नहीं चाहिए, जो हारते हैं उन्हें हताश नहीं होना चाहिए।

जीतने हारने का ढंग परिणामों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। ग़लत ढंग से जीतने से सही ढंग से हारना अच्छा है। यथार्थ में अगर ग़लत सोचे हुए तरीक़े से या ग़लत काम से सफलता प्राप्त होती है तो उस सफलता का मूल्य ही खो जाता है।

भारत में साध्य और साधन के विषय में अन्तहीन बहसें होती रही हैं। क्या ग़लत साधन से सही लक्ष्य उचित हो जाता है ? जहाँ तक हम, भारत के लोगों का, संबंध है हम लोगों ने बहुत पहले निश्चय किया था कि कोई भी उद्देश्य, जिसके लिए ग़लत साधनों का उपयोग हो, सही नहीं हो सकता। अगर हम उस सिद्धान्त का उपयोग चुनावों में करते हैं तो हमें इस परिणाम पर पहुँचना होगा कि यह कहीं अच्छा होगा कि ग़लत लक्ष्य का व्यक्ति उस व्यक्ति की अपेक्षा जीता जाय जिसके उद्देश्य ठीक हों और और जो ग़लत तरीक़ों से जीते। अगर ग़लत तरीक़ों का उपयोग होता है तो सही उद्देश्यों का औचित्य अर्थहीन हो जाता है।

मैं इस बात पर इसलिए ज़ोर देता हूँ कि यह ज़रूरी है और चूँकि चुनाव के अवसर पर आचरण के सभी मानकों की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति रहती है। मैं सच्चाई से आशा करता हूँ कि अपने समर्थकों के साथ प्रत्येक उम्मीदवार याद रखेगा कि कुछ हद तक भारत की प्रतिष्ठा उसकी रक्षा में है और उसके अनुसार आचरण करेगा।

अपने पुराने उत्साह और वेग के साथ नेहरू स्वयं चुनावों में लग गए और उत्तर, दक्खिन, पूरब, पश्चिम जिधर भी वे गए, लाखों लोग उनका भाषण सुनने को आए। उन्होंने पैदल, हवाई जहाज़ से और गमनागमन के सभी साधनों से यात्रा की। अपनी

विजय यात्रा के ७०,००० मील तय करते हुए, एक ओर अपनी अग्निवाणी को साम्यवादियों की ओर, दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी सांप्रदायिकों की ओर केंद्रित करते हुए उन्होंने चुनाव दुहरे स्तर पर लड़ा।

एक केन्द्र पर लाल झंडों के प्रदर्शन के स्वागत में वे गुस्सा हो कर आवाज़ें लगाते हुए हाव-भाव प्रदर्शित करते हुए साम्यवादियों पर टूट पड़े।

"तुम उस देश को क्यों नहीं चले जाते जहाँ का झंडा लिए हुए हो?" उन्होंने पूछा।

उन लोगों ने चिल्लाकर उत्तर दिया, "तुम न्यूयार्क जाकर वाल स्ट्रीट के साम्राज्यवादियों के साथ क्यों नहीं रहते?"

नेहरू ने अपने जिस विरोधी को पराजित किया वह हिन्दू पुनरुत्थानवादी था, और प्रधान मंत्री की बहुत सी अपने क्षेत्र में तथा भारत में अन्यत्र की वक्तृताओं में उस अपील की गूँज थी जो उन्होंने चुनाव के पहले दी थीं।

उन्होंने उस समय कहा था, "अपने अल्पसंख्यक समुदायों तथा जो लोग आर्थिक रूप से या शिक्षा में पिछड़े हैं और जो भारत के निवासियों में सबसे अधिक हैं, उनके प्रति हमारा विशेष कर्तव्य है। हम सब अपने अधिकारों और स्वत्वों के लिए शोर मचाते हैं। लेकिन अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व याद रखना ज़्यादा ज़रूरी है।"

चुनाव कांग्रेस पार्टी की विजय के साथ समाप्त हुए। उसने लोकसभा में ३९९ स्थानों में से ३६४ जीते। उसने विभिन्न राज्यों में २२०० स्थान प्राप्त किए, जिन सब में अन्त में वह कांग्रेस सरकार बनाने में समर्थ हुई।

मोटे अनुमान से कांग्रेस ने समाजवादियों के मतों से चौगुने और साम्यवादियों से प्रायः दस गुने मत प्राप्त किए। साम्यवादी लोग, जिन्होंने केरल राज्य पर अधिकार करने की आशा की थी २५ प्रतिशत स्थानों को जीत कर दूसरे सर्वश्रेष्ठ स्थान पर रहे। नेहरू की अंतिम क्षण की यात्रा ने इस लाल गढ़ का तख्ता पलट दिया। अपने वहाँ के दो दिन के दौरे में उन्होंने प्रमुख गाँव, क़स्बों और शहरों में भारी भीड़ों को संबोधित करते हुए सत्ताइस भाषण दिए।

भारत के पहले चुनाव जनता के प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण और अनुशासन की भावना के अभिनंदन थे। इस तथ्य के रहते कि सब पार्टियों ने चुनाव अभियान जोश से आरंभ किया था, यथार्थ चुनाव व्यवस्थित और शांतिपूर्ण भाव के लिए उल्लेखनीय थे जो उनकी विशिष्टता थी। न केवल भारत के लोगों के लिए किन्तु एशिया और अफ्रीका के बहुत से देशों के लिए वे शासन के लिए प्रमुख शिक्षा थे। कुल २२४,००० मतदान केन्द्रों में से केवल छः मतदान केंद्रों पर स्थानीय घटनाओं के कारण मतदान स्थगित रखना पड़ा। औसत मतदान ५० से ६० प्रतिशत था और कुछ राज्यों में स्त्रियों ने पुरुषों से अधिक मताधिकार का प्रयोग किया। गाँवों ने नगरों से अधिक उत्साह दिखाया। देहाती क्षेत्रों में मतदान ६० प्रतिशत था जिसकी तुलना में नगरों में ४० प्रतिशत था। चुनावों

की एक मनोरंजन विशिष्टता थी कि विभिन्न राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के लिए चौदह रजवाड़े चुने गए और दो लोकसभा के लिए, इनमें से छः कांग्रेस टिकट पर खड़े थे। रजवाड़ों में प्रजातंत्र फैल रहा था।

एकता और स्थायित्व की दिशा की ओर देश की प्रगति में चार मुख्य काम थे। रजवाड़ों की रियासतों का प्रजातांत्रिक संरचना में विलयन, ८०००,००० शरणार्थियों का पुनर्वास, स्वतंत्र भारत के लिए संविधान की रचना और पहला आम चुनाव करना। दो और कार्यो ने इस प्रक्रिया को दृढ़ कर दिया। वे थे ब्रिटिश राष्ट्रसंघ में गणतंत्र की हैसियत से रहने का भारत का निर्णय और देश के भीतर साम्यवादियों के आतंक को कुचल डालने का सरकार का दृढ़ निश्चय।

"अन्त में दो सौं वर्ष बाद ब्रिटेन ने भारत को जीत लिया, "स्वतंत्रता के प्रभात में एक भावुक पत्रकार ने कहा। ब्रिटेन ने वास्तव में भारत को जीत लिया क्योंकि उसके लिए जाने के ढंग से अधिक कुछ भी ऐसा शोभनीय न था।

इसकी एक अभिव्यक्ति भारत के राष्ट्रमंडल में बने रहने के निश्चय में थी। यह सदा ही नेहरू का विचार नहीं रहा, और १९२९ में लाहौर कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने दृढ़तापूर्वक राष्ट्रमंडल के बाहर भारत की पूर्ण स्वतंत्रता का दावा किया था। लगभग बीस वर्ष बाद २७ अप्रैल १९४९ को वे लंदन में राष्ट्रसंघ के प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन के अन्त में एक घोषणा से सहमत हुए कि गणतंत्र की हैसियत से भारत ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के राष्ट्रों में रहेगा।

१६ मई १९४९ को जब उन्होंने इस निर्णय की संपुष्टि का प्रस्ताव किया तो वे संविधान सभा में बोले :

१९ वर्ष पहले उस दिन जब हमने रावी के तट पर आधी रात के समय प्रतिज्ञा ली थी और मैंने २६वीं जनवरी पहली बार याद की और कठिनाई और बाधाओं के रहते हुए वह बार बार दुहराई प्रतिज्ञा याद की, और अंतिम बार उस दिन यहीं खड़े होकर मैंने इस सदन के आगे एक प्रस्ताव रखा। वह इस सम्मानित सदन के आगे रखे हुए आरंभिक प्रस्तावों में से था, वह प्रस्ताव जो उद्देश्यों के प्रस्ताव के नाम से विख्यात है।

वह जब हुआ तब से दो वर्ष और पाँच महीने बीत चुके हैं। उस प्रस्ताव में हमने कमोवेश उस ढंग की स्वतंत्र सरकार या गणतंत्र की व्याख्या की थी जो हम चाहते थे। बाद में दूसरी जगह और प्रसिद्ध अवसर पर यह विषय फिर उठा। वह कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन पर था, क्योंकि न केवल मेरा मन किन्तु बहुतों के मन इस समस्या से संघर्ष कर रहे थे। वे सब भारत के सम्मान, गौरव और स्वतंत्रता के अनुरूप, साथ ही बदलते हुए संसार और वर्तमान तथ्यों के अनुरूप राह खोजने का प्रयत्न कर रहे थे।

कोई चीज़ जो भारत के हित को आगे बढ़ाए वह हमारी सहायता करेगा, कोई चीज़ जो संसार में शांति की अभिवृद्धि करे और कोई भी चीज़ जो हमारी दी हुई प्रत्येक प्रतिज्ञा के सर्वथा निरपेक्ष रूप से अनुरूप हो। मुझे यह स्पष्ट था कि राष्ट्रमंडल या किसी

अन्य समुदाय के संबंध से जो भी लाभ हो, कोई भी लाभ, चाहे वह कितना बड़ा क्यों न हो, अपनी प्रतिज्ञा का लेशमात्र देकर भी नहीं खरीदा जा सकता, क्योंकि कोई भी देश उन सिद्धान्तों के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता जो उसने घोषित किए हों।

स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा से नेहरू ने ब्रिटेन के साथ भारत के संबंध को उस आधार से कुछ भिन्न जारी रखने पर गंभीर रूप से विचार किया जिससे अभीतक राष्ट्रमंडल के अन्य देश संबद्ध थे। भारत के अपने हित में तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के हित में भी उन्होंने यह अनुभव किया कि वह संपर्क बना रहना चाहिए, यद्यपि वह भिन्न स्तर का हो। अभी तक राष्ट्र मंडल में सदस्यों में बन्धन की कड़ी ब्रिटिश सम्राट के प्रति उनकी सामान्य राजनिष्ठा थी,जो एक प्रकार से उनमें सामान्य राष्ट्रीयता उत्पन्न करती थी। किन्तु भारत ने प्रजातंत्र बनने का निश्चय किया था, और राष्ट्रमंडल में रहते हुए ऐसे पद का उपभोग करने की इच्छा की थी जो नेहरू के अनुसार "बिलकुल बाहरी होने और एक राष्ट्रीयता के बीच" का था। वे बहुत दिनों से चर्चिल के युद्धकाल के आंग्ल-फ्रांसीसी संघ के प्रस्ताव से आकृष्ट थे जिसमें फ्रांसीसी और ब्रिटिश लोग अपना अस्तित्व अलग रखें, एक देश सम्राट के अधीन और दूसरा प्रजातंत्र हो, फिर भी क़दम मिलाकर चलें। कृष्ण मेनन के रूप में, जो उत्सुक थे कि भारत राष्ट्रमंडल में रहे, नेहरू को उत्साही साथी प्राप्त हुआ। माउंटबैटन दम्पती ने भी उन्हें इसी दिशा में प्रभावित किया, और वल्लभभाई पटेल के यथार्थवाद ने उसी मार्ग की ओर इंगित किया। कांग्रेस पार्टी के भीतर मतवैभिन्न था, अधिक वामपंथी तत्वों के लोगों ने ऐसे संघ के साथ संबद्ध होने का कड़ा विरोध किया जिसमें दक्षिणी अफ्रीका के समान देश सदस्य हों। निस्संदेह साम्यवादी लोग निन्दा में बहुत उग्ररूप से बोले।

लन्दन से लौटकर नेहरू ने संविधान सभा में और उसके बाहर अपने निश्चय का ज़ोरदार समर्थन किया। १० मई १९४९ को राष्ट्र के नाम एक प्रसारण में उन्होंने पूछा कि एक देश दूसरे देश के साथ संबंध से क्या अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है, और उन्होंने राष्ट्रमंडल के बल को बताया जो उसके लचीलेपन और उसकी पूर्ण स्वाधीनता में रहते हैं।

स्वभावत: मैंने पहले भारत के हित का विचार किया है, क्योंकि वह मेरा प्रथम कर्तव्य है। मैंने सदा उस कर्तव्य की कल्पना विश्व के अधिक कल्याण के रूप में की है। यह वह पाठ है जिसे हमारे गुरु ने हमें सिखाया है और उन्होंने हमें सदैव भारत के गौरव और स्वाधीनता की रक्षा करते हुए दूसरों के साथ शांति और मित्रता के मार्ग का अनुसरण करना भी सिखाया है। आज विश्व कलह से भरा है और भविष्य संकटमय है। लोगों के हृदयों में घृणा और भय और आशंका है जो उनकी दृष्टि को धुंधला किए हुए है। इसलिए हर क़दम जो संसार में इस तनाव को कम करने के लिए उठाया जाय, अच्छा है। मैं समझता हूँ कि भविष्य के लिए यह शुभसूचक है कि भारत और इंग्लैंड के बीच पुराना झगड़ा इस मित्रतापूर्ण ढंग से समाप्त किया जाय जो दोनो देशों के लिए सम्मानजनक है। संसार में हममें फूट डालने के लिए बहुत अधिक विनाशकारी

शक्तियाँ हैं, और पुराने घावों को भरनेवाले और सहयोग के लक्ष्य को आगे बढ़ानेवाले जो भी अवसर मिलें उनका स्वागत करना चाहिए।

एक सप्ताह बाद संविधान सभा में वे इस विषय पर फिर बोले। नेहरू ने समझाया :

स्पष्टतः हम राष्ट्रमंडल में इसलिए सम्मिलित हो रहे हैं कि यह हमारे लिए और संसार में जिन कुछ लक्ष्यों को हम अग्रसर करना चाहते हैं उनके लिए लाभदायक है। राष्ट्रमंडल के कुछ देश चाहते हैं कि हम रहें क्योंकि वे समझते हैं कि यह उनके लिए लाभप्रद है। यह परस्पर समझा जाता है कि यह राष्ट्रमंडल के राष्ट्रों के हित में है और इसलिए वे सम्मिलित होते हैं। साथ ही यह पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया जाता है कि प्रत्येक देश अपने आप में पूरी तौर पर स्वतंत्र है: यह संभव है कि वे कभी ऐसा करें कि राष्ट्रमंडल से अपना संबंध तोड़ दें। आज की दुनिया में जहाँ इतनी फूट डालनेवाली शक्तियाँ काम कर रही हैं, जहाँ हम प्रायः युद्ध के किनारे पर पहुँच जाते हैं, मैं सोचता हूँ कि किसी संबंध को तोड़ने को प्रोत्साहन देना अच्छा नहीं है। उसकी बुराइयाँ दूर कर दो, कोई भी ऐसी चीज को तोड़ दो जो आपकी उन्नति के मार्ग में आए, क्योंकि कोई भी ऐसी बात के लिए राजी नहीं हो सकता जो राष्ट्र की उन्नति में बाधक हो। इसके सिवा, संघ की बुराइयों को दूर करने के अलावा, ऐसे सहयोगी संघ को तोड़ने से जीवित रखना अच्छा है, जो इस दुनिया में भला काम करे।

राष्ट्रसंघ में भारत की सहायता का साम्यवादियों का उग्र विरोध अब भी बना हुआ है लेकिन कुल मिलाकर भारत का मत अब नेहरू के निश्चय को मान्य ठहराता है क्योंकि वह ब्रिटेन और भारत दोनों के परस्पर हित में है।

उस समय भारतीय साम्यवादी पार्टी सरकार की खुल्लमखुल्ला विरोधी थी। सरकार ने साम्यवादियों के रुख को "खुले विद्रोह के समान" बताया। यह नीति जो हिंसा, हड़तालों, तोड़फोड़, हत्या, अग्निकांड और लूटपाट में व्यक्त हुई वह भारतीय साम्यवादी पार्टी के फरवरी १९४८ में कलकत्ता अधिवेशन से उत्पन्न हुई। तब तक साम्यवादी लोगों ने पूरनचन्द जोशी के नेतृत्व में नेहरू की सरकार के साथ संयुक्त मोर्चा बनाए रखा, यद्यपि वह आशंकास्पद था। अब तथाकथित ज़दानोव पद्धति का अनुसरण कर वे लोग हिंसात्मक पार्टी के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने खुल्लमखुल्ला "पहले के नेतृत्व द्वारा की गई संशोधनवादी नीति" को त्याग दिया। अनिवार्यतः अपनी नीति के साथ जोशी अलग कर दिए गए।

अन्न की विकट कमी, बेरोजगारी, मूल्यों में वृद्धि के साथ फैली हुई आर्थिक स्थिति साम्यवादियों के सहारे हो गए। उन्होंने उत्पादन और संचार को ठप करने के मूल उद्देश्य से व्यापक हड़ताल और तोड़फोड़ का अभियान औद्योगिक मोर्चे पर शुरू किया। उन्होंने राजनीतिक स्तर पर भी हिंसा का प्रचार और योजना प्रारंभ की, विशेष रूप से हैदराबाद के भीतर की क्षेत्र की बस्ती तेलंगाना में। वहाँ उन्होंने स्थानीय किसानों को ज़मींदारों के विरुद्ध आतंक का राज्य चलाने के लिए भड़काया, और इस क्षेत्र के कुछ

गाँवों में साम्यवादी लोग कुछ समय के लिए अपना शासन स्थापित करने में सफल हुए। इसके सिवा वे केरल और आंध्र के दक्षिणी भागों में और बंगाल के पूर्व में प्रचंड रूप से सक्रिय थे।

भारत सरकार और राज्य सरकारों पर साम्यवादियों की इस चुनौती की प्रबल प्रतिक्रिया हुई। गृहमंत्री* की हैसियत से वल्लभभाई पटेल ने अपनी स्वाभाविक उग्रता से काम किया और हैदराबाद, केरल और बंगाल में साम्यवादी पार्टी अवैध कर दी गई।

मद्रास राज्य की व्यवस्थापिका में तत्कालीन मुख्यमंत्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने विरोधी पक्ष के साम्यवादियों को चेतावनी दी।

"मैं तुम लोगों का सबसे बड़ा दुश्मन हूँ," उन्होंने खरे खरे कहा, "क्या मैं यह बता दूँ कि तुम मेरे सबसे बड़े दुश्मन हो? यह मेरी नीति आदि से अन्त तक है।"

नेहरू ने, जिन्होंने पार्लमेंट के भाषण में भारत की साम्यवादी पार्टी को "संसार की साम्यवादी पार्टियों में सबसे मूर्ख पार्टी" बताया, न केवल साम्यवादियों के विरुद्ध सरकारी तंत्र की पूरी शक्ति का उपयोग किया, किन्तु जनता से उनकी हिंसा की पुकार का प्रतिरोध करने को कहा। अनेक साम्यवादी नेता सरसरी तौर पर पकड़ लिए गए और बन्द कर दिए गए, और जहाँ आवश्यक हुआ हिंसा और अराजकता को दबाने के लिए सेना ने पुलिस को सहायता पहुँचाई।

जुलाई १९४९ में नेहरू उपद्रव के केंद्र कलकत्ता गए जहाँ साम्यवादियों ने लोगों से उस सभा के बहिष्कार करने को कहा जिसे उन्होंने भाषण देने को संयोजित किया था। लेकिन दस लाख से अधिक लोग उनका भाषण सुनने के लिए एकत्रित हुए। प्रधान मंत्री ने उनसे क़ानून के ख़िलाफ़ कामों को बर्दाश्त न करने, क़ानून तोड़नेवालों से न डरने के लिए कहा। इसके बजाय उन्होंने न्याय और व्यवस्था स्थापित करने में अपने प्रयत्न करने को कहा।

ज्योंही नेहरू ने बोलना आरंभ किया कि भीड़ पर एक बम फेंका गया जिससे एक पुलिसवाला और दो दर्शक मारे गए और बम फेंकनेवाले सहित पाँच अन्य घायल हुए। प्रधान मंत्री ने लोगों से आतंकित न होने को कहा और उनकी बात पर लोग शांत रहे।

कुछ समय बाद संविधान सभा में बोलते हुए नेहरू ने इस घटना की याद दिलाई। उनका भाषण निरोधक नज़रबन्दी विधेयक के दौरान हुआ जिससे सरकार अपने सरसरी तौर पर गिरफ्तारी और नज़रबन्दी के अधिकार को दृढ़ करना चाहती थी। विरोधपक्ष के एक सदस्य ने कलकत्ता के उपद्रवों को "इतिहास का प्रवाह जिसने विशाल जनता को उठ खड़े होने को विवश कर दिया है" कहकर टालने का प्रयत्न किया। इस वाक्य से प्रधानमंत्री एकाएक गुस्से में प्रत्युत्तर के लिए उठ खड़े हुए। वे बोले:

* उन्होंने यह कार्य रियासत मंत्री के साथ सम्मिलित कर लिया था।

कलकत्ता का एक ज़िक्र करते हुए एक और घटना मुझे याद आ गई : यह दो या तीन वर्ष पहले हुई। उस समय कलकत्ता पूर्वी बंगाल से विस्थापित लोगों के आने के कारण गंभीर और अभूतपूर्ण समस्याओं से सामना कर रहा था। शहर में एक प्रकार का भय सा फैला हुआ था और पुलिसवालों, दूकानों और ट्रामों पर बम फेंके जा रहे थे। इसी समय के लगभग था जब मैं कलकत्ता गया और इस "विशाल जनता" के समक्ष भाषण दिया। दस लाख के लगभग लोग मेरी सभा में आए और उस सभा में एक बम फेंका गया, जिससे एक पुलिस इंस्पेक्टर और दो तीन अन्य व्यक्ति मर गए; जिस आदमी ने बम फेंका वह खुद भी घायल हो गया। इस प्रकार की कुछ गड़बड़ का अनुमान कर मैंने शुरू में ही उनसे अनुरोध किया था कि उनके बीच हत्या हो जाने पर भी वे शान्त और अनुशासित रहें। और वे अनुशासित रहे। मैं बोल ही रहा था कि "विशाल जनता" ने बम फेंकनेवाले से समझ लेना चाहा और व्यवस्था स्थापित करनी चाही। स्पष्टतया वे आतंकवादियों के धोखे में आने को प्रस्तुत नहीं थे और उनमें से कुछ लोगों ने ऐसा कहा भी। आखिरकार व्यवस्था क़ायम हुई। "विशाल जनता" उपद्रवियों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई। मुझे "विशाल जनता" के उठ खड़े होने का यह तर्कसंगत उदाहरण लगता है।

अगर प्रजातंत्र के नाम पर आप लोगों को ग़लत काम करने के लिए उभाड़ना चाहते हैं, और हम लोगों ने प्रजातंत्र के जिस ढाँचे का निर्माण किया है उसे नष्ट करना चाहते हैं, तो उसके लिए आपका अभिवादन है। लेकिन मेरी यह प्रजातंत्र की कल्पना नहीं है।

१९५० के मध्य तक साम्यवादी आन्दोलन की कमर टूट गई और प्रत्यक्षतः पार्टी की मानसिक स्थिति भंग हो रही थी। इस बीच साम्यवादी उच्चपदस्थ लोगों में आंतरिक मतभेद बढ़ गए थे और जून १९५० में कोरिया की लड़ाई छिड़ जाने के साथ पार्टी की कार्यरीति में परिवर्तन आ गया। पिछले पाँच वर्षों से भारत के साम्यवादी प्रकट रूप से शांत रहे हैं।

नेहरू की दृढ़ नीति से अच्छे परिणाम निकले हैं। साम्यवादियों के घृणा और हिंसा के अभियान पर उनकी सरकार की दृढ़ प्रतिक्रिया ने दो चीजें प्रदर्शित कर दी हैं। उसने क़ानून और व्यवस्था क़ायम रखने के लिए अपने समस्त साधनों के उपयोग की दृढ़ता प्रदर्शित कर दी है और उसने लोगों के मन में हिंसा के प्रतिरोध की प्रबल इच्छा जमाने में सहायता की है।

१९५२ तक, स्वतंत्रता के पाँच वर्ष बाद, भारत धीरे धीरे एकता और स्थायित्व के ढंग पर स्थिर हो रहा था।

२५

जनकल्याणकारी राज्य

नेहरू गांधीजी के साथ सहमत थे कि स्वतंत्रता पहले विजय करनेवाला और बाद में सहयोग और बन्धुता के ऊँचे आदर्श के लिए भुला देनेवाला आदर्श है। यह उनके आर्थिक और राजनीतिक चिन्तन में स्पष्ट है। इसने भारत को राष्ट्रमंडल में रखने के उनके निश्चय को प्रभावित किया और यह उनकी अति आलोचित वैदेशिक नीति से स्पष्टतः व्यक्त है। आर्थिक स्तर पर वह भारत के जनकल्याणकारी राज्य बनाने के प्रयत्न में अपने को व्यक्त करता है।

१९२७ में सोवियत् रूस की अपनी पहली यात्रा के समय से राष्ट्रीय परियोजन का विचार उनके मन में है। अपनी आत्मकथा में नेहरू उस परिवर्तन के विषय में लिखते हैं जो तीस वर्ष की अनुपस्थिति के बाद उनके योरप के इक्कीस महीने के प्रवास ने उनमें किया :

मेरा दृष्टिकोण विस्तृत था, और निश्चित रूप से राष्ट्रीयता मुझे संकुचित और अपर्याप्त मत लगा। राजनीतिक स्वाधीनता, स्वतंत्रता निस्सन्देह अपरिहार्य हैं, लेकिन वे सही दिशा में केवल डग हैं; बिना सामाजिक स्वाधीनता और समाज और राज्य की समाजवादी संरचना के न तो देश और न व्यक्ति अधिक उन्नति कर सकता है। मैंने न केवल वर्तमान समस्याओं और राजनीति पर बहुत अधिक पढ़ा था बल्कि और दूसरे सांस्कृतिक और वैज्ञानिक विषयों पर भी जिनमें कि मेरी रुचि थी। योरप और अमेरिका में हो रहे विस्तृत राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन मुझे हृदय-ग्राही अध्ययन लगे। कुछ अप्रिय स्वरूपों के होते हुए सोवियत् रूस ने मुझे बहुत आकर्षित किया, और संसार के लिए आशा का सन्देशवाहक लगा।

योरप से लौटने पर और दूसरा विश्व युद्ध छिड़ने के ग्यारह वर्षों में, विशेषतः जेल में ज़बर्दस्ती के अवकाश में, नेहरू को इन मामलों पर गंभीरता से सोचने का अवसर मिला। उन्होंने मार्क्सवाद पढ़ा और ध्यानपूर्वक सोवियत् पंचवर्षीय योजनाओं का अनुसरण किया। १९३८ में जब बंगाल, पंजाब और सिंध के तीन प्रांतों के अतिरिक्त कांग्रेस पार्टी ने भारत के सब प्रांतों की सरकारों पर अधिकार किया तो नेहरू कांग्रेस को योजना समिति की स्थापना के लिए राज़ी कर सके जिसने कांग्रेसी और ग़ैरकांग्रेसी प्रांतों, (हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, ट्रावंकोर और भोपाल सहित) कुछ रजवाड़ों की रियासतों और उद्योगपतियों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधि तथा अर्थशास्त्रियों का सहयोग प्राप्त किया।

आयोजना के इस प्रयत्न में नेहरू की अपनी प्रतिक्रिया उनके तथा उनके सहयोगियों के लिए जानकारी उत्पन्न करनेवाली थी कि व्यापक पैमाने पर राष्ट्रीय आयोजना देश की सामाजिक और आर्थिक संरचना में मूल परिवर्तन करने के लिए तत्पर राष्ट्रीय सरकार के अधीन हो सकती है। फिर भी समिति कृषि और औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि कर तथा सामाजिक सेवाओं में सुधार कर अपनी दस वर्ष की आयोजना में जनता के लिए पर्याप्त जीवनस्तर सुनिश्चित करने के मूल प्रयत्न में निर्देशित रहकर धैर्य के साथ अपने काम में लगी रही।

बाद में स्वतंत्र भारत के प्रधान मंत्री के रूप में जिस पंचवर्षीय योजना को वह प्रेरित और जिसका समारंभ करनेवाले थे, उसको ध्यान में रखते हुए आयोजना के इस प्रयत्न पर नेहरू की प्रतिक्रिया रुचिकर है। वे लिखते हैं :

न केवल अपनी समिति में किन्तु भारत के विशालतर क्षेत्र में हम जिस प्रकार गठित हैं, हम उस समय इस रूप में समाजवाद की योजना नहीं बना पाए। किंतु जैसे जैसे हमारी योजना बढ़ती गई मुझे यह स्पष्ट हो गया कि यह हमें अनिवार्यतः समाजवादी संरचना के कुछ आधारभूत तत्वों की ओर लिए जा रही है। वह समाज में अर्जनशील तत्व को सीमित कर रही थी, विकास की बहुत सी रुकावटों को दूर कर रही थी और इस प्रकार तेज़ी से फैलती सामाजिक संरचना की ओर बढ़ रही थी। वह सामान्य मनुष्य के स्तर को बहुत अधिक ऊँचे उठाती, उसे उन्नति के अवसर प्रदान करती और प्रच्छन्न प्रतिभा और क्षमता की विशाल राशि को मुक्त करती हुई उसके लाभ की योजना पर आधारित थी। और यह सब प्रजातांत्रिक स्वाधीनता के संदर्भ में और बहुत अधिक अंश में कम से कम कुछ ऐसे दलों के सहयोग से करना था जो सामान्य रूप से समाजवादी सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। योजना को किसी प्रकार कमजोर या हल्की करके भी वह सहयोग मुझे ठीक लगा। शायद मैं बहुत आशावादी था। लेकिन जहाँ तक सही दिशा में बड़ा क़दम उठाया गया था मुझे लगा कि परिवर्तन की प्रक्रिया में सन्निहित गतिशील शक्तियाँ ही आगे मेल बिठा देंगी और प्रगति में सहायक होंगी। यदि संघर्ष अनिवार्य होगा तो उसका सामना करना होगा। लेकिन अगर वह बचाया जा सकता है या कम हो सकता है तो वह प्रत्यक्षतः लाभदायक ही होगा।

नेहरू ने अक्सर आग्रहपूर्वक कहा है कि वर्ग संघर्ष मार्क्स की खोज नहीं है। डास-कैपिटल लिखे जाने के बहुत पहले वह समाज में व्याप्त था। लेकिन जैसा कि साम्यवादियों का विचार है हिंसा, दमन और बल प्रयोग ही इस संघर्ष को मिटानेवाले साधन नहीं हैं। नेहरू का कहना है कि विभिन्न सामाजिक आर्थिक संप्रदायों को या व्यक्तियों को एक स्तर पर लाकर मनुष्य को बराबर नहीं कर सकते। महत्वपूर्ण चीज़ तो यह है कि उन्नति के लिए समान अवसरों को दबाना नहीं चाहिए। वे सब लोगों के लिए खुले होना चाहिए। लेकिन यह स्पष्ट है कि एक प्रजातंत्र समाज में कमज़ोर लोग उससे वंचित न कर दिए जायँ इसलिए जाँच पड़ताल की व्यवस्था की ज़रूरत है।

समाजवादी ढंग का कल्याणकारी राज्य वर्षों से, निश्चय ही १९२७ से, नेहरू का भारत के लिए आदर्श रहा है। लेकिन आरंभ से ही उनकी धारणा रही है कि उनके कल्पना का समाजवादी ढंग का समाज ज़ोर ज़बर्दस्ती से नहीं लाना चाहिए बल्कि सहमति से, विचारों के मुक्त आदान प्रदान से लाना चाहिए—संक्षेप में लोगों के लिए लोगों के द्वारा समझा बुझाकर योजना के द्वारा होना चाहिए। उन पंचवर्षीय योजनाओं को चालू करने में उनकी सरकार ने इन प्रजातांत्रिक प्रक्रियाओं का सावधानी से पालन किया है, जिनका जनकल्याणकारी राज्य का आदर्श भारतीय संविधान के उद्देश्यों में समाविष्ट है।

इनमें से प्रथम योजना मार्च १९५० में स्थापित और नेहरू की अध्यक्षता में योजना आयोग से निःसृत हुई। पंद्रह महीने तक इस आयोग ने देश की आर्थिक स्थिति, सामर्थ्य और आवश्यकताओं की जाँच के लिए विभिन्न विभागों की सलाहकारी समितियाँ स्थापित कर सावधानी से उनकी जाँच की। १९५१ में लगभग तीन सौ पृष्ठों की एक पुस्तिका में प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप प्रकाशित हुआ और देश भर में विचार विमर्श और टीका टिप्पणी के लिए इसका व्यापक रूप से वितरण हुआ। अठारह महीने बाद सार्वजनिक आलोचना और विचारों को दृष्टिगत रखते हुए एक संशोधित सारांश प्रकाशित हुआ जिस पर प्रथम पंचवर्षीय योजना आधारित थी। लक्ष्य तिथि १ अप्रैल १९५६ रखी गई।

राष्ट्र के नाम एक प्रसारण में नेहरू ने उस योजना के प्रयोजन और नीति दोनों को समझाया जो लगभग ढाई वर्ष की जाँच, विचार विमर्श और चिन्तन के बाद उपस्थित किया गया था।

योजना में यद्यपि कृषि, उद्योग और समाजसेवा के विभिन्न कार्यों को सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया था, किन्तु कृषि के सुधार पर बल दिया गया था। मूलतः योजना, सार्वजनिक या सरकारी और निजी, दो क्षेत्रों में विभाजित थी, इस प्रकार राष्ट्रीय विकास के सामान्य कार्य में राज्य और निजी उपयोग दोनो को भाग लेने दिया गया था, यद्यपि योजना की सीमाओं में कार्य करते हुए निजी क्षेत्र उस नियंत्रण के अधीन था जिसे प्रधान मंत्री ने "महत्वपूर्ण नियंत्रण" कहा था।

अन्त में आत्म निर्भरता मुख्य लक्ष्य था। उसका उद्देश्य पाँच वर्ष के अन्त में अन्न के उत्पादन में १४ प्रतिशत वृद्धि करना था। दो वर्ष तक लगातार अच्छी वर्षा और उन्नत कृषि की रीतियों से १९५५ में अन्न की उपज २० प्रतिशत अधिक थी। इसी प्रकार १९५४-५५ में कपास की उपज ४३ लाख गट्ठों के स्तर पर पहुँच गई और योजना के लक्ष्य से बढ़ गई थी, जब कि कृषि की जिन्स, विशेष रूप से गन्ना और तेलहन का उत्पादन भी बढ़ गया था।

बहुमुखी परियोजनाओं में नदी घाटी विकास योजनाएँ महत्वपूर्ण हैं जो सिंचाई क्षेत्रों में विस्तार के अतिरिक्त भारत की वैद्युतिक-शक्ति-क्षमता को बढ़ा रही हैं।

जब योजना आरंभ हुई तो कनाडा के ३५३६, स्वीडन के २४०० और संयुक्तराष्ट्र (अमरीका) के २२९० प्रति व्यक्ति किलोवाट घंटों के खर्च की तुलना में भारत में १४ किलोवाट घंटे था। पिछले तीन वर्षों में देश की विद्युत उत्पादन क्षमता २३ लाख किलोवाट से बढ़कर ३० लाख किलोवाट हो गई है। योजना में ५५ प्रतिशत या मोटे तौर पर १० लाख किलोवाट की वृद्धि प्रकल्पित है।

दिसंबर १९५२ में एक प्रसारण में नेहरू ने कहा, "आज बिजली सारी उन्नति की नींव है।"

सबसे बड़ी परियोजना पूर्वी पंजाब में भाखड़ा नंगल परियोजना है जिसमें सतलज से पानी आता है और पूरी हो जाने पर यह पंजाब, पेप्सू, दिल्ली और राजस्थान के कुछ क्षेत्रों की सिंचाई करेगी और उन्हें बिजली पहुँचाएगी। इस योजना में चालीस से अधिक अमरीकी प्राविविज्ञों की देखरेख में लगभग १००,००० आदमी काम कर रहे हैं। इनमें से जी० एल० बेज और हार्वे स्लोकम नामक दो प्राविविज्ञों ने अमरीका के कुछ बड़े से बड़े बाँध बनाए हैं।

स्वतंत्रता के शीघ्र बाद नेहरू ने राष्ट्र को चेतावनी दी थी कि उत्पादन करना है या नाश होना है। भारत की सबसे बड़ी संपत्ति उसकी जनशक्ति है और इसका उसे पूरा उपयोग करना चाहिए।

१९४८ में नेहरू ने अपने देशवासियों से अनुरोध किया :

हमें काम में लगे रहना चाहिए, कड़े काम में। हमें उत्पादन करना चाहिए, लेकिन हम जो उत्पादन कर रहे हैं वह विशेष क्षेत्रों के लिए नहीं, किन्तु राष्ट्र के लिए, लोगों और साधारण आदमी के स्तर को उठाने के लिए। अगर हम यह करते हैं तो हम भारत को शीघ्र ही प्रगति करता पाएँगे और आज जो बहुत से मसले हमारे सामने हैं वह ठीक हो जाएँगे। भारत का पुनर्निर्माण हमारे लिए सरल काम नहीं है। वह बहुत बड़ी समस्या है, यद्यपि हम संख्या में बहुत हैं और भारत में साधनों की कमी नहीं है, क्षमतावाले, समझदार और कड़ी मेहनत करनेवाले लोगों की कमी नहीं है। हमें इन साधनों का और इस जनबल का भारत में उपयोग करना है।

जिस प्रकार से उन्होंने कल्पना की थी कि राजनीतिक रूप से भारत स्थायित्व से प्रगति की ओर बढ़े उसी प्रकार नेहरू ने आर्थिक रूप से प्रक्रिया को उन्हीं ढंगों से सोचा था। प्रथम पंचवर्षीय योजना स्थायित्व की प्रतिरूप थी, द्वितीय प्रगति को उपस्थापित करती है।

१९५२ में प्रथम पंचवर्षीय योजना पर बोलते हुए उन्होंने कहा :

हमारे आदर्श ऊँचे और हमारे लक्ष्य महान् हैं। उनकी तुलना में पंचवर्षीय योजना साधारण शुरुआत लगती है। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि यह अपने ढंग का पहला महान् प्रयत्न है और यह आज की वास्तविकताओं पर आधारित है, न कि हमारी इच्छाओं पर। इसलिए इसे हमारे वर्तमान साधनों से संबंधित रखना होगा, नहीं तो

वह अवास्तविक रहेगी। यह भविष्य में अधिक वड़ी और अधिक अच्छी योजना की नींव सोची गई है। हमें अच्छी तरह नींव डालना है और शेष चीज़ें अनिवार्यत: आएँगी।

उन्होंने कहा कि खेती भारत की सवसे वड़ी सक्रियता रहेगी ही। इसलिए उस पर वड़ा ज़ोर देना चाहिए क्योंकि खेती की समृद्धि से ही भारत औद्योगिक प्रगति कर सकता है।

"लेकिन कृषि को", उन्होंने वताया, "राष्ट्र की विस्तृत अर्थव्यवस्था के अनुकूल होना है। किसी भी आधुनिक राष्ट्र की उन्नति के लिए छोटे वड़े उद्योगों के विकास की अत्यन्त आवश्यकता है। वास्तव में विना औद्योगिक विकास के हमारे लोगों के जीवन स्तर ऊँचे नहीं हो सकते या राष्ट्र को अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए ही काफ़ी वल नहीं प्राप्त हो सकता।"

इसलिए दूसरी पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा में औद्योगिक विकास पर अधिक ज़ोर है। यह रूपरेखा मार्च १९५५ में सार्वजनिक चर्चा के लिए और समीक्षा के लिए प्रकाशित की गई। नेहरू आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर क़दम-क़दम विवेक और प्रयोजनशीलता के साथ चलते हैं, यह देखने योग्य है।

यह वात नहीं है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास की उपेक्षा की गई है। किन्तु वह निश्चित रूप से परिसीमित था, सार्वजनिक पूँजी का १० प्रतिशत से कम इस क्षेत्र में लगाया गया था, जिसमें कुटीर और लघु उद्योग सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त निजी नियंत्रण के लगभग वयालीस उद्योगों ने विकास कार्यक्रममें भाग लिया।

नेहरू कभी औद्योगीकरण के विरुद्ध नहीं रहे। इसके प्रतिकूल उन्होंने सदा इसकी सक्रिय रूप से हिमायत की है। और न इस वात में कांग्रेस पार्टी ने विरोध किया है, यद्यपि गांधीजी के चर्खा धर्म के सैद्धान्तिक व्याख्या करनेवाले लोग हस्तकला और कुटीर उद्योगों के विकास में सर्वज्ञ आर्थिक गुण और मूल्य देखने का प्रयत्न करते हैं। गांधीजी इस रूप में मशीनों के विरोधी नहीं थे। वे वड़ी मशीनों के विरुद्ध थे जिसने कि सत्ता और धन, उनके विचार से, कुछ इने गिने लोगों के हाथों में केंद्रित कर दी है। एक वार महात्माजी ने लिखा था, "मैं जिस वात पर आपत्ति करता हूँ वह मशीनों के लिए दीवानापन है, मशीन जिस रूप में है उसके लिए आपत्ति नहीं है———अगर हम गाँव के हर घर में विजली पा सकें तो गाँववालों को विजली से अपने यंत्र और औज़ार चलाने में मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

औद्योगीकरण के संवंध में नेहरू के विचार और आगे जाते हैं। जिस योजना आयोग का कांग्रेस ने १९३८ में स्वतंत्रता के नौ वर्ष पहले प्रवर्तन किया था, उसके अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने अनुभव किया था कि भारी औद्योगीकरण और कुटीर उद्योगों में केवल मेल विठाने का प्रश्न नहीं है: एक को दूसरे पर हावी होना है। और उन्होंने इस प्रश्न का साहस के साथ सामना किया और उसका उत्तर दिया।

अपने मन में उन्हें इस बात पर कभी संदेह नहीं था कि भारत का तेज़ी से औद्योगीकरण किया जाय, किंतु वे जिस चीज़ को रोकना चाहते हैं वह औद्योगीकरण की बुराइयाँ हैं, विशेषत: भारत ऐसे आर्थिक विकास की रुकावट के देश में, जहाँ नेहरू के अनुसार कुछ उद्योगपतियों और राजनीतिज्ञों ने "योरप में उन्नीसवीं सदी के पूंजीवादी उद्योगों के विकास के संदर्भ में बहुत अधिक सोचा और बीसवीं सदी में जो बहुत सी बुराइयाँ स्पष्ट हैं उनकी उपेक्षा कर दी।" विरुद्ध आर्थिक विकास के कारण भारत में इनका दूरव्यापी प्रभाव हो सकता है।

सीधासादा या मूर्खता का इलाज मशीनों को दूर कर देना और उससे बेकारी दूर करने की आशा करना है। लेकिन नेहरू का यह विचार नहीं है। उनकी दृष्टि में भारत की समस्या पूंजी का अभाव और श्रमिकों का बाहुल्य है। इस जनशक्ति का, जो कुछ भी उत्पादन नहीं कर रही है, इस बेकार श्रम का, किस प्रकार उपयोग किया जाय। नेहरू का विश्वास है कि मशीनों का बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाय बशर्ते वह असल में श्रमिकों को काम में लगाने के उपयोग में आए, न कि नई बेकारी पैदा करने के।

भारत की तरह के विकसित देश में निश्चित प्राथमिकताओं और नियंत्रण और समन्वय के आधार पर योजना बनाना अनिवार्य है। इस प्रकार से कोई भी योजना कृषि की उपेक्षा नहीं कर सकती जो लोगों का मूल आधार है, और न सामाजिक सेवाओं की, जो कि उनकी आवश्यकताओं के लिए इतनी कम हैं कि दुःख होता है। इसी समय जेल की अपनी अंतिम अवधि में लिखते हुए नेहरू ने ज़ोर दिया : "अगर भारत को औद्योगिक रूप से तथा दूसरी तरह से विकसित होना है तो उसकी तीन मूल आवश्यकताएँ हैं : भारी इंजीनियरी और मशीन निर्माण का उद्योग, वैज्ञानिक अनुसंधान की संस्थाएँ और बिजली।"

प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रेरणा के अन्तर्गत कई नए उद्योगों का आविर्भाव हुआ। सरकारी क्षेत्र में इनमें बिहार में सिंदरी का उर्वरक का कारखाना है जो लगभग तीन साल से उत्पादन में लगा है और रोजाना १००० टन अमोनियम सल्फेट उत्पन्न करता है। साथ साथ १९५५ में उर्वरक का उपयोग २००,००० टन अमोनियम सल्फेट की कमी से बढ़कर लगभग ६००,००० टन प्रति वर्ष हो गया है। रेल के इंजनों का एक कारखाना अब पश्चिमी बंगाल के चित्तरंजन में चल रहा है और भारत का इंजन का कारखाना लगभग १०० इंजन प्रतिवर्ष उत्पादन कर रहा है। बहुत हाल में पेनसिलीन और डी० डी० टी० के और अखबारी कागज के कारखानों में भी उत्पादन आरंभ हो गया है। कागज़ के इस कारखाने से भारत की आन्तरिक माँग का लगभग ४० प्रतिशत कागज़ मिल जायगा। १९५५ के अंत में रेल के यात्रियों के डब्बे बनाने का और एक अन्य मशीन के पुर्जे बनाने का कारखाना चालू हो गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सरकारी उद्यम में देश के भीतर का हवाई संचरण का राष्ट्रीयकरण और एक आधुनिक

जहाज़ बनाने के उद्योग का विकास है जिसमें सरकारी और ग़ैरसरकारी दोनो ही उद्योगों का सहयोग है।

अमरीकी और योरप के विकास के संदर्भ में यह प्रयत्न साधारण हैं। १९३८-३९ की राष्ट्रीय योजना समिति के अनुसार प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य भारत के लोगों का जीवन स्तर उठाकर और अधिकाधिक ऊँचा कर भयावह ग़रीबी कम करना और समय रहते दूर करना था। जब योजना का आरंभ हुआ तो भारत की राष्ट्रीय आय २०,०००,०००,००० डालर प्रति वर्ष थी और यह आशा की गई कि पाँच वर्ष की अवधि में उसे ११प्रतिशत बढ़ाया जाय। किन्तु स्थिर मूल्यों के संदर्भ में तीन वर्ष के अन्दर राष्ट्रीय आय १२.४ बढ़ गई है, जो कि दो अच्छी वर्षाऋतु के समान अनुकूल तत्वों को ध्यान में रखकर भी जनसंख्या की वृद्धि की गति से बढ़ जाती है। भारत के योजना बनानेवाले और अर्थशास्त्री अच्छी तरह जानते हैं कि भारत में जापान, जर्मनी और संयुक्तराज्य (अमरीका) से आधी घनी आबादी होने पर भी इससे आत्मसंतोष की गुंजाइश नहीं है। लेकिन सम्य परिकलन के अनुसार अगर खाना देने के लिए ज्यादा शरीर होंगे तो सोचने के लिए ज़्यादा दिमाग़ होंगे और काम करने के लिए ज़्यादा शरीर होंगे।

दिसंबर १९५२ में भारत के प्रधान मंत्री ने इस दिशा में अनुचित आत्मसंतोष के विरुद्ध पार्लमेंट में चेतावनी दी :

हमारा औद्योगीकरण कितना ही तेज़ क्यों न हो उसमें दस, बीस या तीस वर्षों में इस देश की थोड़ी सी आबादी से अधिक संभवतः खप नहीं सकती। लाखों लोग ऐसे रह जायंगे जिन्हें प्रमुखतः खेती में लगाना होगा। इसके सिवा, इन लोगों को कुटीर उद्योग आदि के समान छोटे उद्योगों में काम देना होगा। यही गाँवों और कुटीर उद्योगों का महत्व है। प्रायः बड़े उद्योगों और कुटीर उद्योगों के मुक़ाबले के बारे में जो चर्चा सुनी जाती है वह ग़लत तरीक़े से सोची गई है। मुझे इस बात में सन्देह नहीं है कि इस देश में प्रमुख उद्योगों के विकास से हम लोगों के जीवन का स्तर ऊँचा नहीं कर सकते। मैं वास्तव-में और आगे बढ़कर कहूँगा कि बिना उनके हम स्वतंत्र देश के रूप में भी नहीं बने रह सकते। पर्याप्त प्रतिरक्षा के समान कुछ चीज़ें स्वाधीनता के लिए अनिवार्य हैं और हम इन्हें बिना प्रमुख रूप से उद्योगों के विकास के नहीं रख सकते। लेकिन हमें यह सदा याद रखना होगा कि भारी उद्योगों का विकास ही इस देश में लाखों लोगों की समस्या हल नहीं कर देगा। हमें ग्रामोद्योग और कुटीर उद्योग को बड़े पैमाने पर विकसित करना होगा। साथ ही साथ छोटे बड़े उद्योगों का विकास करने में हमें मानव को नहीं भूल जाना होगा। हमारा उद्देश्य अधिक धन कमाना और अधिक उत्पादन ही नहीं है। हमारा अंतिम लक्ष्य अच्छे इन्सान हैं। अपने देशवासियों के लिए हम बड़े बड़े अवसर चाहते हैं। न केवल आर्थिक या भौतिक दृष्टिकोण से लेकिन अन्य स्तरों पर भी।

सामुदायिक योजनाओं में जो प्रथम पंचवर्षीय योजना का महत्वपूर्ण अंग हैं, नेहरू की प्रबल रुचि इसी चिन्ता के कारण थी। जब तक शिक्षा की प्रगति और समाज सेवाओं से भौतिक उन्नति पक्की नहीं होती उन्हें शंका है कि राष्ट्रीय विकास एकांगी रह जायगा।

उपयुक्त रूप से ही सामुदायिक विकास का गाँवों का कार्यक्रम गांधीजी के जन्म दिन के अवसर पर २ अक्टूबर १९५२ को आरंभ किया गया।

"आज जो काम यहाँ आरंभ हुआ है," नेहरू ने किसानों की भारी भीड़ को संबोधित करते हुए कहा, "यह उस क्रांति का प्रतिफलन है जिसके बारे में लोग इतने दिनों से शोर मचा रहे थे। यह अव्यवस्था और सर फोड़ने पर आधारित क्रांति नहीं है, किंतु ग़रीबी दूर करने के लगातार प्रयत्न पर आधारित है। यह भाषणों का अवसर नहीं है। हमें भारत को अपनी मेहनत से महान् बनाना है।"

यह कहते हुए नेहरू ने एक फावड़ा उठाया और अधिकारियों के आगे आगे स्वेच्छा से सड़क बनाने के पहले प्रयत्न का शुभारंभ किया।

१९५५ की गर्मियों तक ग्रामविकास के कार्यक्रम १०००० गाँवों में छा गए जिनकी जनसंख्या लगभग ८०,०००,००० अर्थात् भारत की जनसंख्या का मोटे तौर पर पाँचवाँ भाग होगी। दूसरे शब्दों में प्रत्येक पाँच ग्रामवासियों में एक को उससे और उसके परिवार से संबंधित विभिन्न विषयों पर कुशल सामुदायिक सलाह मिल रही है। यह हैं अधिक अच्छे खेती के तरीक़े, उर्वरकों का उपयोग, साक्षरता और शिक्षा का महत्व, स्वेच्छा श्रम से स्कूलों और अस्पतालों का निर्माण, जनस्वास्थ्य और सफ़ाई का एक मूलस्तर बनाए रहना, मलेरिया की रोकथाम, और जंगलों की सफाई कर खेती के लिए भूमि निकालना।

जून १९५५ तक ४०,०००० एकड़ से अधिक वनभूमि और परती को खेती के योग्य बनाया गया और ७५०००० एकड़ भूमि की सिंचाई हुई। इसी अवधि में लगभग १२००० मील लम्बाई की सड़कें ६०० मील ज़रूरी नालियों के अतिरिक्त बनीं जिसमें भूमि तथा मिट्टी का काम पूरी तौर पर गाँववालों का था।

सुधरे हुए स्वास्थ्य, बेहतर शिक्षा और समाजसेवा के बढ़ते हुए भाव से भारत धीरे धीरे नवजीवन और विस्तृत दिगन्त की ओर अग्रसर हो रहा है। भूमि समस्या का सार है क्योंकि भूमिहीन या ग़रीब किसान के लिए भूमि नए अवसर और अच्छे जीवन के साधन का प्रतीक है। इन भूमिहीन किसानों में बहुसंख्यक अछूत हैं। यह तथ्य नेहरू के मन में अतिपात रूप से विद्यमान है। सामुदायिक योजना सम्मेलन में मई १९५२ में उन्होंने इसका उल्लेख किया। वे बोले :

वास्तव में जिस बात के लिए हम प्रतिबद्ध हैं वह थोड़े से सामुदायिक केंद्र नहीं हैं, लेकिन भारत के लोगों के सबसे बड़े समुदाय के लिए, विशेषतः उन लोगों के लिए जो फटेहाल हैं, जो पिछड़े हुए हैं। इस देश में बहुत ही अधिक पिछड़े हुए लोग हैं। परिगणित जाति और परिगणित वर्ग के संगठनों के अतिरिक्त पिछड़े हुए वर्गों की लीग नाम

का एक संगठन है। असल में आप आसानी से कह सकते हैं कि भारत के ९६ प्रतिशत लोग आर्थिक रूप से बहुत पिछड़े हुए हैं। सही बात यह है कि मुट्ठीभर आदमियों को छोड़कर बहुसंख्यक लोग पिछड़े हुए हैं। जो भी हो, हमें उन लोगों के बारे में अधिक विचार करना है जो ज्यादा पिछड़े हुए हैं, क्योंकि हमें अवसर और दूसरी चीज़ों में क्रमशः बराबरी उत्पन्न करनेवाला मानदंड सोचना है। आज के आधुनिक संसार में आप उन लोगों के बीच जो ऊपर हैं और जो नीचे हैं बहुत दिनों तक बड़ी दूरी नहीं रख सकते। यह सही है कि आप सबको बराबर नहीं कर सकते। लेकिन कम से कम हम सबको अवसर की समानता तो दे सकते हैं।

भारतीय संविधान में समाविष्ट मूल अधिकारों में संपत्ति का अधिकार है और नेहरू की सरकार संवैधानिक रूप से बिना हर्जाने के भूमि ज़ब्त न कर सकी, और न यह उसके विचार में था। कांग्रेस के ही अन्दर भूमि संबंधित स्वार्थवाले थे जो किसी भी परिवर्तन के विरुद्ध थे; उसके बाहर बड़े बड़े ज़मींदारों ने ऊटपटाँग दर पर हर्जाने की माँग कर सुधार का विरोध किया। इसलिए संविधान में संशोधन आवश्यक हो गया जिससे कि भूमि लेने के संबंध में हर्जाने के ढंग को बदलते हुए कोई ज़मींदार सार्वजनिक हित के अतिरिक्त क़ानूनी ढंग के सिवा अपनी भूमि से वंचित नहीं किया जायगा। लेकिन उचित हर्जाना दिया जाएगा।

यह निश्चित है कि नेहरू की सरकार भूमिसुधार की अपनी नीति में उतनी सफल नहीं हुई जितनी कि उसने आशा की थी। प्रगति धीमी रही। प्रजातंत्र और प्रजातांत्रिक रीतियों को यह मूल्य चुकाना ही होगा, और नेहरू इसका* अनुभव करते हैं।

मोटे तौर पर प्रथम पंचवर्षीय योजना ने अपने कृषि और औद्योगिक लक्ष्य का ९० प्रतिशत उपलब्ध किया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना, जो यह लिखने के समय तक अभी अपनी रचनात्मक अवस्था में है, उसी प्रजातांत्रिक साँचे में ढली है जिसमें कि पहली ढली थी। उसकी रूपरेखा सार्वजनिक चर्चा के लिए मुक्त है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में अधिक औद्योगीकरण पर ज़ोर दिया गया है। उसमें लगी पूंजी का लक्ष्य पहली योजना से बहुत अधिक है।

कांग्रेस के अव्यवस्थित और उलझे हुए चिन्तन के ताने बाने में नेहरू का आर्थिक चिन्तन पक्के धागे की तरह एक सा चलता रहता है। पिछले तीस वर्षों से अधिक से उनके अर्थव्यवस्था संबंधी विचार अपने पथ से अधिक नहीं हटे हैं, यद्यपि कभी कभी उन्होंने अपना ज़ोर व्यापक या संकुचित कर दिया है। गांधीजी के एक मात्र अपवाद के सिवा स्वतंत्रता आने के समय नेहरू ही अकेले ऐसे नेता थे जिसने अपने आप सोचकर एक

---

* सरकार के भूमि सुधार को विधि-व्यवस्था द्वारा पूरा करने के लिए विनोबा भावे का भूदान आंदोलन है जिसका लक्ष्य स्वेच्छापूर्वक भूमि छोड़ देना है। विनोबा अभी भी अपने ५०,०००,००० एकड़ के लक्ष्य से बहुत दूर हैं जो उन्होंने १९५५ के अंत तक जमा करने के लिए बनाया था। अभी तक उन्होंने लगभग ४,०००,००० एकड़ जमा किए हैं।

निश्चित राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दर्शन बना लिया था, जिसे संपन्न करने के लिए सत्ता ने उनको अपूर्व अवसर दिया।

मार्क्सवाद ने उनके आर्थिक चिन्तन पर प्रभाव डाला है किन्तु उस पर अधिकार नहीं कर लिया है। नेहरू यद्यपि अनुभव करते हैं कि अपने कुछ वक्तव्यों में मार्क्स ग़लत हैं किन्तु वे उसकी इस बात की जिसे वे सामाजिक दृष्टिज्ञान बताते हैं और समस्या की वैज्ञानिक समझ की सराहना करते हैं। दूसरी ओर भारत के प्रधान मंत्री ही शायद साम्यवादियों के प्रति अपनी घृणा को छिपाने का कष्ट करते हों चाहें वे भारत के भीतर या बाहर के हों। एंजेल्स की तरह शायद वे भगवान् को धन्यवाद देते हों कि मार्क्स मार्क्सवादी नहीं था।

५ मार्च १९५५ को नेहरू ने फ़ेडरेशन आफ़ इंडियन चेम्बर आफ़ कामर्स ऐंड इंडस्ट्री को संबोधित किया। यह संस्था देशी बड़े व्यवसायों का प्रतिनिधित्व करती है। उन्होंने समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना के लिए अवाड़ी प्रस्ताव के प्रयोजन को उन्हें समझाया :

कल के नारों का आज बहुत कम अर्थ रह गया है, चाहे वे नारे पूंजीवादी, समाजवादी या साम्यवादी हों। इन सबको परमाणु युग के अनुसार बनना होगा। यह बात नहीं है कि वे ग़लत हैं। उनमें सचाई का कुछ अंश है लेकिन उन्हें फिर से सोचना और युग के अनुकूल बनाना होगा। पूंजीवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद सभी औद्योगिक क्रांति की सन्तानें हैं। हम लोग औद्योगिक क्रान्ति, या शायद और बड़ी किसी चीज के पहले हैं। वह उत्पादन, वितरण, चिन्तन, और शेष सभी चीज़ों पर प्रभाव डाल रहा है। इस संदर्भ में समाजवादी ढंग के समाज का निर्णय क्यों लिया गया ? यह लक्ष्य और उसके उपागम के निर्देश के लिए लिया गया। हमें भारत को अणुयुग के अनुकूल बनाना है और ऐसा जल्दी करना है। दूसरे देशों में शिक्षा ग्रहण करते हुए हमें यह भी याद रखना चाहिए कि प्रत्येक देश अपने अतीत पर बना है। भारत को जिन तत्वों ने बनाया है उन सब को याद रखना होगा।

दूसरी जगह पार्लमेंट में एक वक्तृता में नेहरू ने इस अभियोग का खंडन किया कि उनकी सरकार भारत में विदेशी संपत्ति को ज़ब्त कर लेगी।

हम समाजवादी ढंग का समाज बनाना चाहते हैं और यह सुझाना बहुत ही ग़लत समझ है कि ऐसा करने में हम ज़बर्दस्ती दूसरे लोगों की संपत्ति ले लेंगे। हमारे क़ानून ऐसे होना चाहिए कि लोगों में ज्यादा से ज़्यादा समानता आए।

नेहरू यह बताते हैं कि अधिनायक तंत्र में रचनात्मक कार्य में प्रजातंत्र सरकार की अपेक्षा कम समय लग सकता है। लेकिन रूस के समान अधिनायकवादी शासन ने आर्थिक प्रगति लाने में काफी समय लिया है।

"मैं सोचता हूँ," नेहरू" ने एक बार कहा था, कि समय की अवधि में अन्तर इतना बड़ा नहीं है जितना कि लोग समझते हैं। वास्तव में वह होना ही अगर प्रजातांत्रिक

देश के लोग परिवर्तन के लिए आकुल हों और उसके लिए काम करने को तैयार हों"

वे इस खोज से भी प्रभावित थे कि चीन रूस का धुँधला अनुकरण नहीं है किन्तु वह अपनी परिस्थितियों के अनुकूल अपनी योजनाओं को ठीक कर रहा है। "चीन में लोग मार्क्सवादी समझे जाते हैं, किन्तु जिस ढंग से वे मार्क्सवाद की व्याख्या कर रहे हैं वह उससे बहुत भिन्न है जो रूसियों ने की थी? मैं यह नहीं कहता कि उनमें संघर्ष है। यह तो उनके बताने की बात है।"*

नेहरू इस तथ्य से अवगत होकर भी लौटे कि चीन की तरह की नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था में सरकार तेज़ी से काम कर सकती है और संभवतः अधिक तेज़ परिणामों को उपलब्ध कर सकती है। लेकिन वे इस बात पर ज़ोर देने के लिए सचेत थे कि भारत ने प्रजातंत्र का पथ चुना है और अवाडी प्रस्ताव उस प्रजातांत्रिक निश्चय और आस्था की उज्ज्वल ज्योति है। उनकी चीन और बाद में रूस की यात्रा ने उनमें प्रतिस्पर्धा का भाव उत्पन्न कर दिया था। भारत प्रजातंत्र के पक्ष पर और अच्छी तरह बढ़ सकता है।

"अगर वे चाहें तो रातोंरात क़ानून बना सकते हैं," चीन के विषय में एक उल्लेख में उन्होंने कहा, "फिर भी वे कहते जाते हैं कि उनके समाज की समाजवादी नींव रखने में उन्हें बीस वर्ष लगेंगे।"

ख़ुश्चेव और बुल्गैनिन से, जो रूस की "आश्चर्यजनक उपलब्धियों" की शेख़ी बघार रहे थे, उन्होंने हल्के से झिड़कते हुए कहा, "आख़िर सोवियत् रूस की मशीन चालू रखने में चालीस वर्ष लगे। हमें तीस वर्ष का समय दीजिए।"

---

* जनवरी १९५५ में कांग्रेस के अवाडी अधिवेशन में एक भाषण में।

२६

भारत और एशिया

"मैंने सीखा है कि प्रधान मंत्री को संवेदनशील नहीं होना चाहिए," अपना पद सँभालने के कुछ दिनों बाद नेहरू ने एक अमरीकी पत्रकार से कहा था।

वर्षों के बाद जिस प्रकार भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना स्थान प्राप्त कर लिया है नेहरू ने अपने लिए विशिष्ट वैदेशिक नीति से विश्व के राजनीतिज्ञ के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है। इस नीति को एक साथ रोषपूर्ण आलोचना और सराहनापूर्ण अनुमोदन प्राप्त होता है। जो पाठ उन्होंने सीखा है वह सारी संभावनाओं के साथ पक्का हो गया है।

नेहरू की वैदेशिक नीति मूलरूप से उस चीज़ में जमी है जिसे प्रबुद्ध स्वहित का सिद्धान्त कहा जा सकता है। उन्होंने एकाधिक बार खुल्लमखुल्ला ऐसा कहा है, और दिसंबर १९४७ में संविधान सभा में बोलते हुए उन्होंने उसे साहसपूर्वक कहा :

आप जो भी नीति निर्धारित करें किसी देश के वैदेशिक मामलों को संचालित करने की कला इस बात को मालूम करने में है कि देश के लिए सबसे अधिक लाभदायक क्या है। हम शान्ति और स्वाधीनता की बातें कर सकते हैं और जो कुछ कहें उसका सच्चे रूप में वही अभिप्राय हो। लेकिन अन्तिम विश्लेषण में सरकार उस देश के लाभ के लिए काम करती है जिस पर वह शासन करती है और कोई सरकार कोई ऐसा काम नहीं कर सकती जो देर-सवेर देश के लिए अहितकर हो। इस लिए कोई भी देश चाहे वह साम्राज्यवादी हो या साम्यवादी या समाजवादी उसका विदेश-मंत्री मूलतः अपने देश के हित में सोचता है।

भारत के लिए तथा एशिया के अधिसंख्यक नए स्वतंत्र देशों के लिए शांति महत्वपूर्ण अनिवार्यता है, क्योंकि शान्ति के बिना राजनीतिक स्वाधीनता, आर्थिक तत्व और वास्तविकता देना संभव नहीं है। युद्ध पूर्व के योरप के सामने बंदूक और मक्खन के बीच चुनाव हुआ था। युद्धोपरान्त एशिया को बंदूक और रोटी के बीच चुनाव करना है। जब तक एशिया की आर्थिक स्थिति सुधरती नहीं और उसका जीवन स्तर ऊँचा नहीं होता, उसकी स्वतंत्रता के कोई अर्थ नहीं और उसकी कोई यथार्थता नहीं। इस प्रकार से भारत और बहुत से एशियाई देश अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को समझते हैं। उनके निकट प्रगति के अर्थ शांति है जिसके अर्थ स्थायित्व हैं जिसके अर्थ बल हैं जिसके अर्थ क्रमशः वैभव और समृद्धि है।

किन्तु नेहरू की वैदेशिक नीति, यद्यपि अनिवार्यतः भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप थी वह लंबे इतिहास और पृष्ठभूमि से उत्पन्न है। यदि वह भारत की तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुकूल है तो वह भारत के चिंतन और उसकी परंपरा के अनुरूप भी है। पंचशील का सिद्धान्त बुद्ध के काल का दावा कर सकता है जिनके शांति के उपदेश अशोक के शिलालेखों में अंकित हैं और बाद में दो हज़ार वर्षों से अधिक बाद गांधीजी के उपदेशों में प्रतिध्वनित हुए।

फिर भी अपने गुरु की सदाचार और नैतिक शिक्षाओं के प्रभाव को स्वीकार करते हुए नेहरू ने उन्हें विशेष स्थितियों में जैसे का तैसा बरतने में व्यावसायिक कठिनाइयों की ओर निदेश किया है। मार्च १९४९ में एक भाषण में उन्होंने सचेत किया:

किसी समस्या को समझने में महापुरुष और राजनीतिज्ञ में हमेशा एक अन्तर रहता है। हमें महापुरुष और राजनीतिज्ञ मिला था; लेकिन हम न तो महापुरुष हैं न अपनी राजनीतिज्ञता में बहुत महान् हैं। हम यही कह सकते हैं कि जहाँ तक संभव हो हमें उस स्तर तक रहने की पूरी कोशिश करना चाहिए, लेकिन सदा अपनी बुद्धि से किसी समस्या को समझना चाहिए, नहीं तो हम चूक जायँगे। एक ओर महापुरुष के संदेश की उपेक्षा करने का गंभीर खतरा है और दूसरी ओर आँखें बन्द कर उसके अनुसरण करने और उसका महत्व खो देने का भय है। इसलिए हमें इन दोनो के बीच का रास्ता चलना है।

उन्होंने भारत की स्वाधीनता कभी अलगाव के रूप में नहीं सोची और यही कारण है कि उनकी वैदेशिक नीति को "तटस्थता" की नीति कहने से उन्हें चिढ़ होती है। तटस्थता के अर्थ होते हैं कि विशिष्ट प्रश्नों पर स्पष्ट विचार व्यक्त करने से इनकार करना और निश्चित क़दम उठाने में इन विचारों की अभिव्यक्ति के अनुसरण में अनिच्छा। किन्तु संयुक्त राष्ट्र में स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपनी प्रथम उपस्थिति से ही भारत किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर अपना निश्चत दृष्टिकोण व्यक्त करने या उसे कार्यरूप देने में सहायक होने से पीछे नहीं हटा है।

इस तरह से १९४६ में जब भारत स्वतंत्रता की ड्योढ़ी पर ही था तब उसने नेहरू के शब्दों में, "बहुत कुछ स्वतंत्र शिष्टमंडल" संयुक्त राष्ट्र में भेजा था जहाँ उसने पैलेस्टाइन समस्या पर वह रुख लिया जो आरंभ में न तो रूसियों, ब्रिटिश या अमरीकी लोगों ने समर्थित किया, जो या तो विभाजन या एकात्मक राज्य के पक्ष में थे। भारत ने केंद्र में अरब बहुसंख्यक के साथ यहूदी और अरबी क्षेत्रों की स्वायत्तता के साथ संघ राज्य प्रस्तावित किया, यह हल मोटे तौर पर पैलेस्टाइन समिति की अल्पसंख्यक रिपोर्ट में समाविष्ट था। आरंभ में इस प्रस्ताव को दोनो पक्षों ने संदेह की दृष्टि से देखा, लेकिन वादविवाद के अंतिम अड़तालिस घंटों में जब यह लगा कि विभाजन अनिवार्य है, तो जो लोग एकात्मक राज्य को चाहते थे, उन्होंने भारत के प्रस्ताव का

समर्थन किया। उस समय दो तिहाई की बहुसंख्या से विभाजन तय हो गया था, और इस बात का समय बीत चुका था।

इसी प्रकार जब उत्तरी कोरिया के लोगों ने जून १९५० में ३८वाँ अक्षांश पार कर लिया था तो आक्रमण के रूप में उसकी निन्दा करनेवालों में पहले लोगों में भारत था, और उसने तुरत दक्षिणी कोरिया को एक भारतीय सैनिक अस्पताल की टुकड़ी भेज दी। "कोई भी सैनिक सहायता भारत की क्षमता के बाहर की बात है और उससे कोई भी अन्तर नहीं आएगा," नेहरू ने बाद में एक अमरीकी समाचार पत्रिका* की भेंट में समझाया।" भारत की प्रतिरक्षा सेनाएँ मूलतः देश की रक्षा के लिए संगठित की गई हैं और दूरस्थ युद्ध में भाग लेने के लिए नहीं।" उसी भेंट में उन्होंने कहा, "यह बिलकुल स्पष्ट है कि उत्तरी कोरिया ने पूरी पूरी और सुनियोजित चढ़ाई की है और संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार यह सुरक्षा समिति में पहले ही आक्रमण बताया जा चुका है।" बाद में युद्ध विराम की शर्तों को कोरिया में पालन कराने में भारत ने पाँच हज़ार सैनिक भेजे जिन्होंने युद्धबन्दियों को स्वदेश भेजने के कार्य की देखरेख की।

हिन्दचीन में "युद्धरोको" की माँग पहले नेहरू ने फरवरी १९५४ में जेनेवा में सम्मेलन के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करने के उद्देश्य से की। यद्यपि तत्काल इसे असंभाव्य बताकर व्यंग्य किया गया, अन्त में युद्ध-बन्दी रेखा स्थापित की गई, किंतु तभी जब डीन बीन फू की भीषण दुर्घटनाओं से स्तब्ध होकर फ्रांस की फौज़ों को लाल नदी के मुहाने पर सैनिक विनाश का सामना करना पड़ा। उस समय के भारत में अमरीकी राजदूत मि० जार्ज एलेन का यह कहना उल्लिखित है कि जब उन्होंने नेहरू को बताया कि साम्यवादियों ने (डीन बीन फू पर आक्रमण करके) युद्ध को ढीला करने की उनकी अपील के प्रत्यक्ष प्रतिकूल लड़ाई तेज़ कर दी है, तो भारतीय प्रधान मंत्री ने संघर्ष में तेज़ी लाने के लिए साम्यवादियों की सार्वजनिक रूप से आलोचना की। उन्होंने अमरीकियों की भी युद्ध को चीनी मुख्य भूमि में विस्तृत करने की धमकी की आलोचना की। लड़ाईबन्दी करने की घोषणा पर भारत ने संयुक्त राष्ट्र आयोग को युद्ध-विराम की शर्तों के पालन में सहायता के लिए भारत के सेना और असैनिक विभाग के लोगों को हिन्द-चीन भेजा।

इसी प्रकार १९५० के शरद् में इंचान में मैकार्थर की विजय के बाद नेहरू ने ३८ वें अक्षांश पर लड़ाई बंदी करने का आग्रह किया। उन्होंने यह युद्ध को और बढ़ने और आगे व्यर्थ रक्तपात को बचाने के उद्देश्य से किया। चीनी सरकार ने पीकिंग में भारतीय राजदूत को चेतावनी दी थी कि अगर संयुक्त राष्ट्र की सेनाएँ ३८वाँ अक्षांश पार करेंगी तो चीन युद्ध में आ जाएगा। वाशिंग्टन का कहना था कि पीकिंग झाँसा दे रहा है और मैकार्थर ने अपनी सेनाओं को बड़े दिन तक घर भेजने की बात की। तीन वर्ष बाद

---

* यू. एस. न्यूज़ ऐंड वर्ल्ड रिपोर्ट सितंबर १५, १९५०

लगभग ९६००० अमरीकी हताहत होने के वाद संयुक्त राष्ट्र ने लगभग ३८वें अक्षांश के ढंग की ही विरामसंधि स्वीकार कर ली।

यह ठीक है कि जन सेना ने जव यालू नदी पार कर ली थी तव भारत चीन को आक्रामक कहने से विरत रहा। लेकिन चीनियों की दृष्टि में जैसा कि पीकिंग ने नई दिल्ली को चेतावनी दी थी, मैकार्थर का यालू पर आगे वढ़ना, न कि उस पर चीन की प्रतिक्रिया, आक्रामक कार्य था। चीन ने वहुत अरसे से कोरिया को अपने कलेजे की ओर तनी छुरी की तरह समझा था। अपने दरवाज़े की रक्षा करने के लिए ड्योढ़ी पार करना क्या चीन के लिए आक्रमण था ? इसके अतिरिक्त जैसा कि भारत का कहना था, दक्षिण से ३८ वें अक्षांश को पार कर जाना उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिक्रमण था जिन पर राष्ट्रसंघ ने उत्तरी कोरियावालों को तव आक्रामक वताया जव उन्होंने उत्तर से उसे पार किया।

जैसा कि नेहरू ने प्रायः कहा है, भारत कोरिया में आवश्यक रूप से संवद्ध था क्योंकि उसमें एशिया की शांति को खतरा था। उनकी वैदेशिक नीति का यह रूप पश्चिम को अभी भी समझना और पूरी तरह पहचानना है क्योंकि यह उन मूल प्रभावों में से है जो भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों को प्रेरित करते हैं। यद्यपि उन्होंने सदा कड़ाई के साथ भारत को एशिया का नेता वनने की वात का खंडन किया है, नेहरू इस वात के प्रति वहुत अधिक सचेष्ट हैं कि भूगोल ने उनके देश को उस महादेश में केंद्रीय स्थिति प्रदान की है।

उस एशियाई सचेतनता के रहते हुए जो उनकी विदेश नीति के कुछ पक्षों को सक्रिय करती है, नेहरू अव भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने और गांधीजी के एक विश्व के स्वप्न के लिए टटोलते रहते हैं। लेकिन, गांधीजी की अनुगूंज में, भारत की ही तरह वे अपने घर में सव देशों की संस्कृतियों को यथासंभव मुक्तरूप से विखरा देखना चाहते हैं। लेकिन उनमें से किसी से अपने को वहा ले जाने देने से इनकार करते हैं। इसी प्रकार वे एशिया के लोगों को दूसरों के घरों में हस्तक्षेप करनेवालों की तरह, भिखारी या ग़ुलाम की तरह नहीं चाहते।

"हमें उस आदर्श के लिए काम करना चाहिए," उन्होंने कहा, "और किसी गुट के लिए नहीं जो कि इस विशाल संसार के गुट की राह में आता है। इसलिए हमें राष्ट्र संघ की संरचना का समर्थन करना चाहिए जो अपने शैशव से कष्ट के साथ विकसित हो रहा है। लेकिन एक विश्व के लिए हमको एशिया में उस महान आदर्श के लिए एशिया के उन देशों के एक साथ सहयोग की वात भी सोचना चाहिए।"

मार्च १९४७ में, स्वतंत्रता के लगभग पाँच मास पहले प्रथम अखिल एशियाई सम्मेलन इंडियन काउंसिल आफ़ वर्ल्ड अफ़ेयर्स के तत्वावधान में दिल्ली में हुआ और उसमें जापान के अतिरिक्त, किंतु सोवियत् संघ के मध्य एशिया को लेकर यथार्थतः सभी एशियाई देश सम्मिलित हुए। उसका उद्देश्य था स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय

आंदोलन, जातिगत भेदभाव, औद्योगिक विकास तथा सांस्कृतिक सहयोग के समान उन सामान्य समस्याओं पर विचार करना जिनका सामना सभी एशियाई देशों को करना पड़ता था। यद्यपि इस सम्मेलन के कोई निश्चित परिणाम नहीं निकले, किन्तु इतिहास में एशियाई प्रतिनिधियों की प्रथम सभा के रूप में उसका महत्व प्रतिनिधियों पर पड़ने से न रहा। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए नेहरू ने यह आशा व्यक्त की कि अतीत के एशिया को भविष्य के एशिया से अलग करनेवाले प्रतीक के रूप में यह महत्वपूर्ण होगा।

"सारे एशिया पर भयानक आँधियाँ चल रही हैं," नेहरू ने कहा, "हमें उनसे डरना नहीं चाहिए किंतु उनका स्वागत ही करना चाहिए, क्योंकि उनकी ही सहायता से हम अपनी कल्पना के नए एशिया की रचना कर सकते हैं। हमें इन नई महान् शक्तियों और उस स्वप्न में विश्वास रखना चाहिए जो रूप ग्रहण कर रहा है। सबसे अधिक हमें उस मानवीय प्राण में विश्वास रखना चाहिए जो अतीत के उन बड़े युगों का प्रतीक रहा है।

बाद के दो वर्षों के भीतर पाँच एशियाई देशों—भारत, पाकिस्तान, बर्मा, लंका और फ़िलिपाइन्स—ने स्वतंत्रता प्राप्त की। इस बदले हुए संदर्भ में नेहरू ने जनवरी १९४९ में इंडोनेशिया में इस शिशु गणतंत्र के विरुद्ध दूसरी डच "पुलिस कार्यवाही" से उत्पन्न संकट पर विचार करने के लिए एक और एशियाई सम्मेलन बुलाया। आस्ट्रेलिया, जिसने एक प्रतिनिधि भेजा, और न्यूज़ीलैंड जिसका एक पर्यवेक्षक था, इनके अतिरिक्त उन्नीस देशों का प्रतिनिधित्व था। एक ज़ोरदार किंतु संयत भाषण में नेहरू ने समझाया कि सभा का मूल प्रयोजन "यह विचार करना था कि हम किस प्रकार इंडोनेशिया की समस्या के शीघ्र और शांतिप्रद समाधान के लिए सुरक्षा समिति की सहायता कर सकते हैं।" इन लोगों का उद्देश्य राष्ट्रसंघ की संरचना के अंतर्गत काम करना था। "हम राष्ट्रसंघ के प्रयत्नों के पूरक रूप में सम्मिलित हो रहे हैं न कि उस संस्था की जड़ उखाड़ने के लिए। हम किसी राष्ट्र या राष्ट्रों के गुट के प्रति विरोध भावना को लेकर नहीं किन्तु स्वाधीनता के विस्तार के द्वारा शांति की अभिवृद्धि के प्रयत्न में मिल रहे हैं। यह समझ लेना होगा कि स्वाधीनता और शांति दोनों अविभाजनीय हैं।"

इस बीच शीतयुद्ध की तेज़ी बढ़ रही थी और भारत इंडोचीन में युद्ध का अत्यन्त चिन्ता और रुचि के साथ अनुसरण कर रहा था। उस देश में भारत की सहानुभूति अपनी स्वाधीनता के संघर्ष में वियतनामी लोगों के साथ थी। वियत मिन्ह और वियतनाम की दोनों सरकारें जनता की राष्ट्रीय कामनाओं के प्रतिनिधित्व के दावे करती थीं और भारत की नीति के अनुरूप सरकार ने निश्चय किया कि दोनो में से किसी को मान्यता न दी जाय। लेकिन साइगान में एक कांसल-जेनरल नियुक्त किया गया।

देश में कुछ पक्षों द्वारा और विदेश में भी नेहरू की तटस्थना की आलोचना की गई।

मई १९५० में आस्ट्रेलिया सहित कुछ दक्षिण और दक्षिणपूर्वी एशिया के देश फिलिपाइन्स में वगुइयों में सम्मिलित हुए जहाँ यह प्रस्ताव रखा गया कि यह देश मिलकर राष्ट्रसंघ के अंतर्गत एक ग़ैर-साम्यवादी गुट बनाएँ। गुट निरपेक्षनीति से प्रतिवद्ध होने से भारत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। इसके स्थान पर सम्मेलन ने सिफ़ारिश की कि उस क्षेत्र के लोगों के हितों के संवर्द्धन में और दक्षिण और दक्षिणपूर्वी एशिया के लोगों की विशेष समस्याओं के विवेचन में इस क्षेत्र के लोगों का विशेष रूप से ध्यान रखा जाय, इस वात को निश्चित करने के लिए संवंधित देश एक दूसरे से परामर्श करें।

यह नेहरू के इस विचार के अनुरूप था कि एशिया की आवाज़ सुनी जाय और उसकी और अधिक उपेक्षा न हो। भारत की स्वतंत्रता के आरंभ से उनका आग्रह रहा है कि एशिया से संवंधित सभी मामलों में, एशिया के स्वाधीन देशों की आंतरिक सलाह लेकर निश्चय किए जाएँ।

अप्रैल १९५४ में ही दूसरा एशियाई सम्मेलन संयोजित किया गया और इस वार कोलम्वो में वर्मा, लंका, भारत, इंडोनेशिया और पाकिस्तान—तथाकथित पाँच कोलम्वो शक्तियाँ—ऐसे सामान्य हित के विषयों पर सलाह करने के लिए एकत्रित हुईं–जैसे इंडोचीन में शान्ति, राष्ट्रसंघ द्वारा माओत्से तुंग की सरकार को मान्यता, और ट्यूनीशिया और मोरक्को में उपनिवेशवाद की समाप्ति। इस वीच में जून १९५० में आरंभ होनेवाला कोरिया युद्ध पानमुनजान में शांतिवार्ता के आरंभ से जुलाई १९५३ में रुक गया था। इंडो-चीन का संघर्ष ओछे ढंग से समाप्त हो रहा था। १९५४ की फरवरी में अमरीका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता विस्तृत करना स्वीकार किया। पाकिस्तान शीघ्र ही ग्रीस, तुर्की, ईराक और ईरान के साथ मध्य पूर्वी रक्षा संगठन में सम्मिलित हुआ। १९४९ के अंत में भारत ने कोमिन्तांग सरकार की अपनी मान्यता हटा ली और उसके स्थान पर मूलतः इस कारण से कि साम्यवादियों ने समग्र मुल्य भूमि पर दृढ़ और स्थायी शासन स्थापित कर लिया है, नई जनवादी सरकार को मान्यता देने को वह अग्रसर हुआ। भारत सरकार की पीकिंग से इस वात की अपील के वावजूद कि मामला शांतिपूर्वक और वातचीत के द्वारा सुलझाया जाय चीन ने तिव्वत को "मुक्त करने के लिए" उस पर आक्रमण कर दिया था।

इस प्रकार दिल्ली में दूसरे एशियाई सम्मेलन और कोलम्वो सम्मेलन के वीच के पाँच वर्षों में दोनों शक्ति के गुटों ने "शांति क्षेत्र" पर काफी अतिक्रमण किया था।

नेहरू इस राय के थे कि कोलम्वो राष्ट्रों के निर्णय का १९५४ के जेनेवा सम्मेलन पर कुछ प्रभाव पड़ा था, यह विचार वान्दुंग में उपस्थित वहुतेरे प्रतिनिधियों के मन में भी था और राष्ट्रपति सुकार्नो के उस भाषण में भी व्यक्त हुआ था जिन्होंने १८ अप्रैल १९५५ को सम्मेलन का उद्घाटन किया था।

सांस्कृतिक और आर्थिक सहयोग और मानव अधिकारों और आत्मनिर्णय के समान

अहानिकर मसलों पर कोई तीव्र मतभेद न उठा। किन्तु विवाद के दो विषयों पर तीव्र विरोध हुआ। वह थे उपनिवेशवाद, और विश्वशांति की प्रगति तथा सहयोग। एक प्रतिनिधि ने कहा कि भाग लेनेवाले उन्तीस देशों में से कम से कम चौदह देश सैनिक गठबंधन में बँधे हैं। इस बात पर ज़ोर दिया गया कि सामूहिक रक्षा की व्यवस्था बड़ी शक्तियों के विशेष हितों के लिए उपयोग में न लाई जाएँ। प्रस्ताव में तथाकथित बांडुंग शांति घोषणा के दस सिद्धान्त समाविष्ट किए गए जिनमें विशेष रूप से अनुल्लेखित विश्वशान्ति की अभिवृद्धि के लिए नेहरू के पंचशील के सिद्धान्त हैं।

यह पाँच सिद्धान्त पहले पहल अप्रैल १९५४ में भारत-चीन व्यापार समझौते में प्रतिपादित हुए थे। बाद में १९५४ के जून में वे नेहरू और चाउ एन-लाई द्वारा हस्ताक्षर किए गए संयुक्त वक्तव्य में सम्मिलित थे, जब चीनी प्रधान मंत्री उस महीने दिल्ली आए थे। यह पाँच सिद्धान्त हैं :(१) एक दूसरे की क्षेत्रीय अखंडता और प्रभुसत्ता के लिए परस्पर लिहाज़; (२) अनाक्रमण (३) एक दूसरे के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप; (४) समानता और पारस्परिक लाभ; और (५)शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व। वक्तव्य में कहा गया था,"यदि यह सिद्धान्त विभिन्न देशों के बीच ही लागू नहीं होते किन्तु सामान्यतः आन्तरिक मामलों में भी लागू होते हैं तो वे शांति और सुरक्षा का ठोस आधार भी बनेंगे और आज जो भय और आशंका व्याप्त हैं वे विश्वास की भावना को जन्म देंगे।"

जनता और शासकों के हृदय और मस्तिष्क के द्वारा "शांति का क्षेत्र" विस्तृत करने का यह एक और ढंग था। मानव की अच्छाई और नैतिक मूल्यों में अपने अन्तर्निहित विश्वास के साथ पंचशील सुरक्षा समझौतों और व्यवस्थाओं के लिए नेहरू का उत्तर था। नैतिक संकल्प सामूहिक और प्रतिशोध का प्रत्युत्तर था। तब से इंडोनेशिया, उत्तरी वियतनाम, यूगोस्लाविया, मिस्र, कम्बोडिया, सोवियत रूस, पोलैंड, लाओस और नेपाल--इन नौ देशों ने भारत के साथ पंचशील घोषणा पर हस्ताक्षर किए हैं जबकि बर्मा उन देशों में है जिन्होंने इसे "सार्वभौमिक सम्मान के योग्य" कहकर सराहा है।

बान्डुंग में चाउ एन-लाई ने नेहरू से अधिक चतुरता से अवसर का लाभ उठाया। जब कि भारतीय नेता खीझ के क्षणों में अपने स्वभाव के अनुसार आवेश और क्रोध में पड़ जाते थे—जो भारत में समझा और क्षमा कर दिया जाता है लेकिन विदेशों में कम सरलतापूर्वक क्षमा किया जाता है—चाउ ने विनम्र सौम्यता और विवेकशील भाव प्रदर्शित किया। वे साम्यवादी चीन को सम्मान-जनक बनाने के लिए कटिबद्ध थे, और इसमें बहुत हद तक सफल रहे। उन्होंने कहा कि एशिया के छोटे राष्ट्रों को अपने बड़े पड़ोसी चीन से किसी बात का डर नहीं है, और उन्होंने सम्मेलन में उपस्थित सभी सदस्य मंडलों, विशेषतः चीन के पड़ोसी देशों, थाईलैंड और फिलीपाइन्स को पीकिंग आने के लिए निमंत्रित किया। जहाँ कि चीन और किसी पड़ोसी देश के बीच

सीमारेखा तब तक निश्चित नहीं हुई थी, चाउ ने शांतिपूर्ण ढंग से ऐसा करने की अपने देश की इच्छा की घोषणा की। उन्होंने बहुत से दक्षिणपूर्वी एशिया के देशों के विशाल चीनी अल्पसंख्यकों के "शांतिपूर्ण इरादों" को—सम्मेलन के दौरान इंडोनेशिया के साथ उनके चीनी अल्पसंख्यकों पर एक समझौते पर हस्ताक्षर कर—नाटकीय रूप से प्रदर्शित किया।

चाउ ने ताइवान के प्रश्न को शांतिपूर्ण ढंग से तै करने के लिए संयुक्त राज्य (अमरीका) सरकार को आमंत्रित कर अंतर्राष्ट्रीय तनाव कम करने का प्रयत्न किया। इस बात में भी वे अस्थायी रूप से सफल रहे। मिस्टर डलेस ने विचार व्यक्त किया कि "फ़ारमोसा में पिछले कई महीनों की अपेक्षा स्थिति कम संकटापन्न हो रही थी—वहाँ युद्ध की कम आशंका थी।" संयुक्त राज्य (अमरीका) के सेक्रेटरी आफ़ स्टेट ने यह बताया कि "वह कई कारणों का परिणाम था, सबसे महत्वपूर्ण बांदुंग सम्मेलन है जहाँ एशियाई राष्ट्रों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उन्हें नहीं लगता कि फ़ारमोसा का प्रश्न एक या दूसरे पक्ष द्वारा युद्ध से निर्णीत होना चाहिए।"

इस भाव से नेहरू कम से कम शांति का क्षेत्र नहीं तो शान्ति का वातावरण विस्तृत करने में सफल रहे। चाउ एन-लाई ने चतुरता से अवसर का लाभ उठाया हो, किन्तु यह नेहरू थे जिन्होंने इसे संभव बनाया। ठीक जिस प्रकार कोलम्बो सम्मेलन ने तनाव कम किया, जेनेवा सम्मेलन कराया और इंडोचीनमें युद्ध को समाप्त करने में सहायता की, उसी प्रकार बांदुंग के बाद जेनेवा में शीर्ष सम्मेलन हुआ जब ख़ुश्चेव और बुल्गानिन ने मास्को से बाहर प्रजातांत्रिक संसार में निकलने का साहस किया। नई दिल्ली में मार्च १९४७ में मूलतः उनके उपक्रम पर एशियाई प्रतिनिधियों के प्रथम बार एकत्रित होने के बाद से, भारत के प्रधान मंत्री की अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के लिए संवेदनशीलता और उनकी उपयुक्त समय की समझ अधिक नाटकोचित रूप से या अधिक अच्छे लाभ के लिए इन तीन एशियाई सम्मेलनों से अधिक कभी प्रदर्शित नहीं हुई।

प्रायः यही लगता है कि अंतर्राष्ट्रीय मामलों में नेहरू अपने एशियाई और योरोपीय समसामयिक लोगों से एक पग आगे की सोचते हैं। संभवतः इसीलिए उन लोगों को लगता है कि वे क़दम मिला कर नहीं चलते।

२७

दो संसारों के बीच

१९५४ के अक्टूबर के अंतिम मासार्ध में नेहरू ताजे ताजे चीन की यात्रा कर वान्दुंग आए। यह सफल यात्रा थी और नेहरू चीनी लोगों के ओज और उत्साह से प्रभावित होकर भारत लौटे। २७ अक्टूबर को उन्होंने साम्यवादियों के लंबे अभियान का उल्लेख किया था और उसकी भारत की स्वाधीनता के लिए लम्बे कूच से तुलना की थी।

चीन एशिया का एक अंग, बड़ा सा अंग था। भारत की भाँति उसने बहुत पीढ़ियों तक पश्चिम के शोषण से कष्ट उठाया था और इस तथ्य ने दोनों के बीच एक संबंध जोड़ दिया था। चीन भारत से भिन्न मार्ग द्वारा स्वतंत्रता तक पहुँचा था। किसी को साम्यवादी शासन अच्छा लगे या न लगे, वहाँ स्थायी सरकार थी जो समस्त मुख्य भूखंड पर अधिकार रखती थी।

नेहरू ने एक बार कहा था, "एशिया में साम्यवाद का जन्म बहुत अधिक उसके विदेशी शासन से स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करनेवाले राष्ट्रीय आंदोलनों से संबंधित रखने के कारण है।···एशियाई राष्ट्रीय आन्दोलनों की साम्यवादी पार्टी के नेतृत्व का अनुगमन करने की प्रवृत्ति उस मात्रा पर निर्भर है जिससे उनकी गहरी मूलबद्ध उपनिवेशवाद विरोधी भावनाओं की पश्चिमी शक्तियों ने उपेक्षा की।"

क्या यह महत्वपूर्ण नहीं है कि जब इंडो-चीन के समान अधीन देशों में साम्यवाद मजबूत है, वह भारत, पाकिस्तान और लंका के समान स्वतंत्र देशों में अपेक्षाकृत कमज़ोर है।

स्वतंत्रता के लगभग दो सौ वर्ष पहले भारत एक साम्राज्यवादी शक्ति का शिकार रहा, लेकिन चीन एक के बाद एक कई साम्राज्यवादी शक्तियों का शिकार रहा। वह ब्रिटिश, फ्रेंच, जर्मन और पुर्तगाली लोगों द्वारा लूटा गया, जापानवालों का तो कुछ कहना ही नहीं।

दोनों देशों की राजनीतिक विचारधारा और प्रणालियाँ प्रबलरूप से विपरीत रहीं। किंतु गांधीजी की उदार शिक्षा में बढ़े नेहरू के लिए उस विश्वास में कुछ बेडौल न था कि साम्यवाद और प्रजातंत्र एक दूसरे के साथ शांतिपूर्वक रह सकते हैं। क्या गांधीजी ने युद्धकाल में रूज़वेल्ट और हिटलर से साथ ही साथ प्रार्थना नहीं की थी? वह शिष्ट उपागम था। चीन और भारत को अच्छे पड़ोसियों की तरह क्यों नहीं रहना चाहिए?

स्वतंत्र भारत के साम्यवादी चीन से मतभेद रहे थे, विशेषतः तिब्बत पर। भारत की तिब्बत संबंधी नीति पुरानी अँग्रेज़ों की नीति के आधार पर थी; वह चीन के ऐतिहासिक अधिराजत्व (आधिपत्य नहीं) और तिब्बत की स्वायत्तता दोनों को मान्यता देता था। मार्च १९४७ में एशियाई संपर्क सम्मेलन में भारतीय संस्थापकों ने दिल्ली में एशिया का एक बड़ा मानचित्र श्रोतृभवन में लगाया था जिसमें तिब्बत की सीमाएँ चीन से स्पष्ट रूप से अलग अंकित थीं। कोमिन्तांग के प्रतिनिधि ने ज़ोरदार रूप से इसका विरोध किया, और उनकी संवेदनशीलता को आघात न पहुँचे इसलिए मानचित्र में प्रदर्शित चीन-तिब्बत की सीमाएँ यथार्थतः मिटा दी गई थीं। इस प्रकार यह ज्ञात होगा कि साम्यवादी चीन का तिब्बत के संबंध में कोमिन्तांग से उतना ही दाय-रूप में है जैसा कि भारत का अँग्रेज़ों से।

जब १९५० में शरद् में चीन की जनवादी सरकार ने तिब्बत को मुक्त करने के लिए अपने इरादे को प्रगट किया तो नई दिल्ली ने संयत किन्तु दृढ़ रुख अख्तियार किया। उसने आग्रहपूर्वक चीनियों को तिब्बतवालों के साथ शांतिपूर्ण समझौते के द्वारा समझौता करने की सलाह दी। महीनों तक ल्हासा के अधिकारियों ने शांतिपूर्ण बातचीत करने के उद्देश्य से पीकिंग के साथ राजनयिक संपर्क स्थापित करने का विफल प्रयत्न किया। १९५० में भारत में प्रथम चीनी साम्यवादी राजदूत के आगमन ने उन्हें यह अवसर प्रदान किया, और दिसंबर में सात व्यक्तियों का तिब्बती प्रतिनिधिमंडल जो कलिम्पोंग में दिल्ली से बुलाने की प्रतीक्षा में पडा था, चीनी दूत के संपर्क में आया। वार्तालाप असफल हुआ, और पीकिंग ने माँग की कि प्रतिनिधिमंडल चीनी राजधानी आए। हाँगकांग के लिए वीसा मिलने की कठिनाई से और तिब्बती प्रतिनिधिमंडल की अनुभवहीनता के कारण भी उनके जाने में बहुत अधिक देर हो गई, जिसे पीकिंग ने विरोधी विदेशी षड्यंत्र और हस्तक्षेप के कारण समझा।

२५वीं अक्टूबर को प्रतिनिधिमंडल दिल्ली से चला और लगभग उसी समय समाचार आए कि "जनवादी सेनाओं की टुकड़ियों को तिब्बत में बढ़ने का आदेश दे दिया गया है।" भारत ने इसका कड़ा विरोध किया।

पीकिंग की इस पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई, जो यथार्थ में भारत से यह कहना था कि वह अपने काम से मतलब रखे।

इसके शीघ्र बाद नेहरू ने घोषणा की कि भारत-तिब्बत सीमा के किसी भी अतिक्रमण का प्रतिरोध किया जायगा। यही सिद्धान्त नेपाल-तिब्बत सीमा के विषय में लागू होंगे। भारत ने हिमालय के सीमावर्ती राज्यों नेपाल, सिक्किम और भूटान की अखंडता की गारंटी करते हुए ऐसा करने के अपने निश्चय की घोषणा की। अतिक्रमण करनेवाला केवल एक—चीन—हो सकता था।

तिब्बत की तरह नेपाल अँग्रेज़ों के समय से एक दाय था, और तिब्बत की तरह वह अंतर्राष्ट्रीय हित का था क्योंकि वह भारत में साम्यवादी घुसपैठ के मार्ग में आता था।

इसके होते हुए नेपाल को वैदेशिक संबंधों के विकास को प्रोत्साहित करने में भारत पुरानी ब्रिटिश सरकार ने जितना किया था उससे आगे बढ़ गया। अब नेपाल के संबंध संयुक्त राज्य (अमरीका), ब्रिटेन और फ्रांस के साथ हैं। किन्तु भूगोल के कारण नेपाल के भारत के साथ विचित्र संबंध हैं, क्योंकि उत्तर में तिब्बत को जानेवाले ऊँचे पर्वतीय दर्रों से घिरे इस भूवेष्टित राज्य को जाने का मार्ग भारत होकर है।

पीढ़ियों से नेपाल स्वेच्छाचारी राणाओं या छोटे-छोटे राजाओं के शासन के अधीन रहा है जो शासक जाति के थे। राजा केवल उपाधिधारी अधिकारी होता, सारी सत्ता प्रधान मंत्री में केंद्रित होती जो राणा लोगों का शीर्षस्थ रहता। भारत के सान्निध्य से नेपाल में नए और प्रजातांत्रिक विचारों की स्फूर्तिदायक हवा बही, और जब भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की तो इन विचारों ने विक्षोभ उत्पन्न कर राजाओं के विरुद्ध विद्रोह की भावना उत्पन्न कर दी। नेहरू की स्थिति कठिन थी। भारत नेपाल को स्वतंत्र देश के रूप में मानना चाहता था, लेकिन साथ ही वह इस बात से अवगत था कि जब तक शासन को प्रजातांत्रिक बनाने के लिए कुछ कार्यवाही नहीं की जाती तब तक कठिनाइयाँ और असमंजस बढ़ते जाएँगे जिससे नेपाल के उत्तर के पड़ोसी अवश्य लाभ उठाएँगे।

नेहरू के मन में यह विचार सबसे ऊपर थे और उन्होंने उसे छिपाया नहीं। तिब्बत पर चीन के आक्रमण के शीघ्र बाद उन्होंने अपना भय और आशंका स्पष्टरूप से व्यक्त किए :

हमारी सीमा के उस पार की घटनाओं, स्पष्टतः चीन और तिब्बत की घटनाओं से नेपाल की आंतरिक स्थिति के बारे में हमारी दिलचस्पी और भी गंभीर और व्यक्तिगत हो गई है। नेपाल के विषय में हमारी सहानुभूति पूर्ण रुचि के अतिरिक्त हम अपने देश की सुरक्षा के विषय में भी चिन्तित थे। स्मरणातीतकाल से हिमालय हमारी भव्य सीमा रहे हैं। यह ठीक है कि अब वे उतने दुर्गम नहीं रहे जितने पहले थे, लेकिन फिर भी काफी काम के हैं। हिमालय अधिकतर नेपाल की उत्तरी सीमा पर स्थित है। हम उस रोक को प्रवेश्य नहीं बनने देना चाहते क्योंकि वह भारत की भी प्रमुख रोक है। इसलिए हम नेपाल की स्वतंत्रता की चाहे जितनी कामना करें, हम नेपाल में कोई गड़बड़ नहीं होने देना चाहते या उस रोक को पार करने या कमज़ोर बनने की अनुमति नहीं दे सकते, क्योंकि वह हमारे देश की रक्षा के लिए भी खतरनाक होगा। हाल की घटनाओं ने हमें नेपाल की स्थिति पर उससे अधिक गंभीरता से सोचने को बाध्य कर दिया जितना कि हमने पहले सोचा था। किन्तु अभी तक हमने मित्रतापूर्ण ढंग से सलाह देते हुए और स्थिति में सन्निहित कठिनाइयों की ओर सहयोग की भावना से निर्देश करते हुए, अपने विशिष्ट धैर्यपूर्ण ढंग से काम लिया है।

बूर्बन लोगों की तरह राणा लोग न तो कुछ सीखने और न कुछ भूलने के लिए दृढ़ थे। दूसरी ओर उस समय के नेपाल के राजा, नरेश त्रिभुवन, राणाओं के विरुद्ध संघर्ष में सम्मिलित हो गए, और १९५० के अन्त में राणाओं से अलग हो काट-

मांडू में भारतीय दूतावास में शरण लेकर उन्होंने स्थिति को अप्रत्याशित रूप दे दिया। उनके दो मंत्रियों के साथ नेपाल नरेश हवाई जहाज़ से दिल्ली लाए गए, और उसके तुरत वाद राणाओं के विरुद्ध जनता का विद्रोह नए शिखर पर पहुँच गया, जिससे उनका शताब्दी का शासन जनवरी १९५१ में समाप्त हो गया।

१०१ दिन की अनुपस्थिति के वाद त्रिभुवन नरेश प्रजातांत्रिक आंदोलन को स्थिर ढंग पर चलाने के इरादे और आशा से नेपाल लौटे। इसमें वे सफल नहीं हुए। इसका कारण प्रमुखतः मातृका प्रसाद और वी० पी० कोइराला वन्धुओं के वीच झगड़े थे जिसने नेपाली कांग्रेस पार्टी को निर्वल कर दिया और दक्षिणपंथी में गोरखा और वामपंथियों में साम्यवादियों को वल प्रदान किया।

१३ मार्च १९५५ को त्रिभुवन नरेश का देहान्त हो गया। अपने पिता से अधिक योग्य उनके उत्तराधिकारी नरेश महेंद्र ने शासन में अधिक प्रत्यक्ष अधिकार के साथ राजनीतिक संतुलन की अधिक मात्रा लाने का प्रयत्न किया है, किन्तु नेपाल की अस्थिर राजनीति इसमें कठिनाई उपस्थित कर रही है। क्रांति के वाद ही अवैध की गई साम्यवादी पार्टी वल पकड़ती लग रही है; और उसके नेता के आई० सिंह के जिन्होंने तिव्वत में भागकर शरण ली थी लौटने ने पहले से ही पेचीदा और डाँवाडोल तथा संभाव्य विस्फोटक स्थिति में अनिश्चितता ला दी है।

दुर्भाग्यवश नेपाल स्थिर प्रजातांत्रिक स्थिति में आने के कोई चिह्न नहीं दिखा रहा है। कुछ नेपालियों का कहना है कि भारत उनके देश को "उपनिवेश" वनाना चाह रहा है; यह ऐसा अभियोग है जो वर्तमान स्थितियों में संभवतः अनिवार्य किन्तु अनुचित है। जैसा कि नेहरू ने स्पष्ट किया है, नई दिल्ली का मूल हित नेपाल में गड़वड़ी रोकने में यह सुनिश्चित करने में है कि नेपाल को तिव्वत से अलग करनेवाली रोक पार न की जाय या कमज़ोर न की जाय "क्योंकि वह हमारी सुरक्षा के लिए ख़तरा होगा।"

उस एशियाई संवंध से अलग जो कि वहुत से भारतीयों को चीन का एशियावाद याद रखने और उसके साम्यवाद को भूलने को प्रेरित करता है, दूसरा वन्धन पीकिंग के उस उपनिवेशवाद के स्पष्ट विरोध से है जो एशिया और अफ्रीकावाले समझते हैं। यह विलकुल स्पष्ट है कि सोवियत के साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद की कल्पना एशियावालों के मन पर कोई आघात नहीं करती। उसने उपनिवेशवाद को सदा काले गोरे रंग से संवंधित समझा है। एशिया और अफ्रीका के लिए उपनिवेशवाद के अर्थ गोरी सत्ताओं का पृथ्वी के काले देशों पर आधिपत्य है। यह सही है कि भारत ने जापानियों की भी चीन में उपनिवेशवादी होने की निन्दा की। किंतु युद्धपूर्व का जापान एशियावालों के विचार के अनुसार उत्पादन और सत्ता की पश्चिमी रीतियों से ऐसा संवंधित था कि राजनीतिक स्तर पर उसका साम्राज्यवाद समानान्तर प्रक्षेपित था। इसके अतिरिक्त उपनिवेशवाद की परंपरागत धारणा सस्ते कच्चे माल और सस्ती और प्रभूत जन शक्ति के उद्गम की प्रेरणा के उद्देश्य में रही है।

एशियाई लोगों की दृष्टि में इनमे कोई भी एक कसौटी सोवियत साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद में उपयुक्त नहीं होती। सोवियत एशियाई गणतंत्रों के अतिरिक्त जो सं०सो०स० गणतंत्र की बराबरी और स्वायत्त इकाइयों का दावा करते हैं, लोहे की दीवार के पीछे के देश योरपीय और गोरे हैं। इस प्रकार के साम्राज्यवाद में वह वर्णभेद नहीं घुसता जो अधिकांश एशियावाले राजनीतिक या आर्थिक आधिपत्य के लिए योरोपीय देशों के पुराने युद्धों और झगड़ों से समझते थे। और न लोहे की दीवार के राष्ट्र सस्ते जनशक्ति के या सस्ते कच्चे माल के स्रोत हैं, उदाहरण के लिए चेकोस्लोवाकिया ऐसे देश जो सोवियत् रूस की तुलना में ऊँचे औद्योगिक स्तर का उपभोग करते हैं।

औसत एशियावादी का कहना है कि अगर मास्को से ६०० मील दूर हेलसिंकी में रूस का अड्डा बनाना साम्राज्यवाद है तो लंदन से ८००० मील दूर सिंगापुर में अड्डा रखना क्या ब्रिटेन के लिए साम्राज्यवाद नहीं है? एक ही की निन्दा कर दूसरे को क्यों क्षमा किया जाय?

यहीं पर वर्णभेद और उपनिवेशवाद (उस अर्थ में जिसे एशिया और अफ्रीकावासी समझते हैं) का वर्ग विरोधी साम्यवाद पश्चिमी देशों पर सफल होता है जिनका रुख दोनों के प्रति प्रश्नास्पद है। विशेषतः गोआ के डलेस-कुन्हा वक्तव्य के दुर्भाग्यपूर्ण संदर्भ में गोआ को "पुर्तगाल का प्रांत" के समान गोआ पर मि० डलेस के वक्तव्यों से निर्णय करते हुए कम से कम भारत यही सोचता है। कानून के हिसाब से यह लिस्बन का दृष्टिकोण है लेकिन इस वाक्यांश को स्वीकार करने के अर्थ उस दृष्टिकोण का समर्थन होता है। और वाशिंग्टन की बाद की पच्चीकारियों से बात बनी नहीं है।

डलेस के संकट पर चीन और रूस दोनों ने भारी लाभ उठाया, दोनो ही देशों ने गोआ पर पुर्तगाली आधिपत्य के जारी रहने का प्रबल विरोध किया। जब कि फ्रांस वाले लम्बे समझौते के बाद १९५१ के आरंभ में पश्चिमी बंगाल में चन्द्रनगर छोड़कर और कराईकल के साथ पांडिचेरी, यनाम और माही तीन वर्ष बाद हस्तांतरित कर गौरवपूर्ण ढंग से हट गए, पुर्तगालवालों ने दृढ़ता के साथ हठपूर्ण रुख अख्तियार किया। वे गोआ, दमन और दीव पर मुख्य भूमि पुर्तगाल के भाग का दावा करते थे और इसलिए उसे लिस्बन का आंतरिक मामला बताते थे।

पहले के फ्रांसीसी अधिकृत क्षेत्रों की तरह भारत में पुर्तगाली क्षेत्रों का आर्थिक या सैनिक महत्व नहीं है, लेकिन मोर्मुगाओ सब ऋतुओं का विकासक्षम बन्दरगाह है। भारत के मानचित्र पर उस उपनिवेशपद के चिह्न, जिससे भारत निकला था, इन फुंसियों का निरंतर बने रहना राष्ट्रीय भावनाओं के लिए अपमान समझा गया। फ्रांस मान गया था, लेकिन पुर्तगाल दुराग्रही बना है।

१५ अगस्त १९५५ की घटनाओं में परिणत होने वाले सत्याग्रह में, जब पुर्तगाली सिपाहियों ने निरंकुशतापूर्वक निश्शस्त्र भारतीय सत्याग्रहियों पर गोली चलाई और

उनमें से लगभग तीस को मार डाला; अगर नेहरू ने हस्तक्षेप कर अभियान को रोक न दिया होता, तो हिंसा आसानी से भड़क उठती। शांति और व्यवस्था स्थापित करने में उनकी आवाज़ अविकारपूर्ण थी। इसके स्थान पर भारत और गोआ के बीच आर्थिक नाकाबन्दी और ज़मीन के और रेल के संबंध बंद कर देने के अन्य उपाय किए गए।

नेहरू की वैदेशिक नीति के विशालतर लक्ष्य के संदर्भ में भारत के पास और कोई विकल्प नहीं था। १५वीं अगस्त की घटनाओं के शीघ्र बाद जैसा कि प्रधान मंत्री ने पार्लमेंट में बताया कि यदि क्रोध के प्रवाह में भारत ही शांतिपूर्ण ढंग को छोड़ देता है तो उसके कोई अर्थ नहीं होते। अपने कुछ आलोचकों को, जिन्होंने सुझाया कि सैनिक रूप से गोआ हैदराबाद से अधिक छोटी समस्या है, नेहरू ने पलट कर जवाब दिया, "यह तथ्य कि कोई युद्ध छोटा है उसे युद्ध से कुछ कम नहीं बना देता।" भारत अहिंसा से सैद्धान्तिक रूप से नहीं चिपटा हुआ है और अपने क्षेत्र पर आक्रमण या शांति और सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न करनेवाली स्थिति में काश्मीर और हैदराबाद में बल प्रयोग पर उतरा है। लेकिन उसका विश्वास है कि बल प्रयोग के लिए शांति का प्रत्येक प्रयत्न कर लेना चाहिए।

अगर लिस्बन का यह दावा असली है कि गोआ पुर्तगालका भाग है तो भारत का कहना है कि १९४७ में लिस्बन किस प्रकार एक तय की हुई रक़म के लिए उसे हैदराबाद को हस्तान्तरित करने की बातचीत के लिए तैयार था? और वास्तव में गोआ के प्रशासन में हैदराबाद को सम्मिलित करने को तैयार था? हैदराबाद के उस समय के दीवान या प्रधान मंत्री सर मिर्ज़ा इस्माइल का यह उद्घाटन पुर्तगाल के दावे का खंडन करता है। और न जैसा कि लिस्बन के हिमायती दावा करते हैं गोआ के विलयन से उसकी २०,००० कैथलिक निवासियों की अल्पसंख्यक की हैसियत खतरे में पड़ जायगी। आज भारत में लगभग ८,०००,००० ईसाई शांतिपूर्वक रहते हैं जिनमें ४,५००,००० कैथलिक हैं। ईसाइयत प्रसंगतः * इस्लाम से बहुत पहले भारत में आई, ५२ ई० में टॉमस दि अपासल मलाबार तट पर उतरे थे।

सोवियत प्रवक्ताओं, विशेषतः ख़ुश्चेव और बुल्गानिन ने १९५५ के जाड़ों में भारत यात्रा के समय से बार बार कहा है कि पुर्तगाल को भारत छोड़ देना चाहिए और काश्मीर में भारत की कार्यवाही उचित और न्याय्य थी। इन दोनो प्रश्नों पर पश्चिम के गोलमोल रहने पर नेहरू की अपनी चिढ़ एक भाषण में व्यक्त की गई थी जिसमें उन्होंने बहुत विचार के बाद यह कहा कि सोवियत् घोषणाओं से संकोच में पड़ने से अलग वे उनसे सहमत हैं और उनका अनुमोदन करते हैं। उनकी खीझ एक और वक्तव्य में प्रतिबिम्बित हुई कि भारत सब देशों के प्रति मैत्रीपूर्ण है किंतु उनके प्रति अधिक मैत्रीपूर्ण है जो उसके अधिक मित्र हैं।

क्या इससे यह अर्थ निकलता है कि वे ब्रिटेन और संयुक्त राज्य (अमरीका) से

---

* इस पुस्तक का लेखक कैथलिक है।

अधिक रूस और चीन की ओर झुकते हैं ? ऐसा समझने में उनके वक्तव्य के ग़लत अर्थ निकालना है; इसके अतिरिक्त नेहरू इस बात से भलीभाँति अवगत हैं कि उनकी विदेश नीति को दोनो गुटों में से किसी एक से भारत को जोड़ने से इनकार करने से बल प्राप्त होता है। सालों साल उन्होंने अपना रास्ता कुशलता से बना लेने की काफी सूक्ष्मदृष्टि और हिसाब किताब का विकास कर दिया है, कभी इस ओर झुकते हैं और कभी उस ओर, लेकिन सदा दोनो विश्व के बीच में रहते हैं जो सर्वोपरि रहने के लिए और सत्ता के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

उपनिवेशवाद और वर्णभेद के अतिरिक्त साम्यवाद का बड़ा खिंचाव उसकी शान्ति की तथाकथित उत्कंठा में है, वह लक्ष्य जो भारत के अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के उद्देश्य से मेल खाता है। अमरीकी और पश्चिमी समाचारपत्रों में बहुत अधिक प्रचारित और पश्चिम की समाचार एजेंसियों द्वारा विश्व के उपयोग के लिए प्रकाशित शीतयुद्ध के ऊँचे स्वर प्रायः प्रजातंत्रों को बीच बीच में झगड़ालू मनोभाव में युद्ध का सा शोर करते दिखाते हैं। पीकिंग की तरह मास्को कपोत शिशु की तरह कोमल शब्द कर सकता है और बहुत से एशियाई देशों के साथ भारत अचेसन, लिलिएंथल और बरूक के समान अमरीकी स्रोतों से प्राप्त अणुनियंत्रण की योजनाओं को भूल जाता है, जबकि ऊँची आवाज़ की अधिक निशस्त्रीकरण और अणुयुद्ध पर रुकावट की सोवियत् की माँगों को याद रखता है। भारत सहित एशिया अमरीकी राजनीति के तंत्र को नहीं समझता जो कि बाहर-वालों को आश्चर्य में डाल देती है कि वास्तव में अमरीका की आवाज़ का प्रतिनिधित्व कौन करता है, और जो नागरिक और सरकारी सेवकों को बिना क्रम के बोलने देती है। यह आइज़नहावर या डलेस हैं या नोलैंड और रैडफ़ोर्ड ?

युद्ध ऐसा विलास है जिसे विकासशील राजनीति और अर्थव्यवस्थावाले देश वहन नहीं कर सकते। लेकिन कुछ अमरीकी राजनीतिज्ञों के युद्धोत्तर युद्धप्रिय उद्‌गारों से निर्णय करते हुए युद्ध न केवल अतिपाती किन्तु आवश्यक लगता है। यह ऐसी बात थी जो भारत को समझना कठिन लगता था, विशेषतः जब कि वह ऐसे सुरक्षा और सैनिक समझौतों से समर्थित हुआ जिन्होंने "शांति क्षेत्र" निर्मित किया और युद्ध को भारत के द्वार पर ला खड़ा किया। फरवरी १९५४ में अमरीका द्वारा पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने के निर्णय ने एक निश्चित मोड़ पैदा कर दिया। इसने भारत को दो निर्णय लेने पर विवश किया जो दोनों ही अप्रिय और प्रतिकूल थे। इससे वह कठिन समय में सैनिक व्यय बढ़ाने और साथ ही साथ अपने योजनाबद्ध आर्थिक विकास की गति जारी रखने में भूखा रहने पर विवश हो गया।

चीन और रूस से दोस्ती बढ़ाने की नई प्रावस्था इस समय से आरंभ होती है। नेहरू अक्टबर १९४९ में अमरीका गए थे। प्रायः ठीक पाँच वर्ष बाद वे चीन और कुछ महीनों बाद जुलाई १९५५ में सोवियत रूस गए। १९५५ के जाड़ों में उन्होंने भारत में खुश्चेव और बुलगानिन का स्वागत किया। इसके बीच में यूगोस्लाविया में

टीटो ने उनका सोत्साह सम्मान किया था और भारत में उनका सम्मान किया गया। पंचशील के सिद्धान्त का समर्थन एक एक कर चीन, यूगोस्वालिया और रूस द्वारा किया गया। सामूहिक प्रतिहिंसा के लिए नेहरू का उत्तर एशिया में युद्ध और भारत के द्वार पर शीतयुद्ध ले आया। यही लगता था कि पश्चिम का विश्वास था कि एशिया ध्वंस के योग्य है।

नेहरू खोज की भावना में अमरीका गए थे। "सार्वजनिक कार्य में लगा कोई भी व्यक्ति अमरीका को बिना समझे संसार को नहीं समझ सकता," यह उन्होंने उस समय कहा था, और उसके पहले भी अहमदनगर में अपने कारावास की अन्तिम अवधि में उन्होंने लिखा था, "दूरस्थ अमरीका से भी हम निकट संबंध चाहते हैं, क्योंकि हम अमरीका और सोवियत् संघ से भी बहुत कुछ सीख सकते हैं।"

उन्होंने अमरीका में जो बहुत सी चीज़ें देखीं उनसे उन्होंने बहुत आनन्द उठाया—इलिनोइस में किसानों की उत्साहपूर्ण आत्मीय मित्रता, समाचारपत्र विक्रेताओं की वाचालता, न्यूयार्क के टैक्सी ड्राइवरों की निषेधहीन बातचीत, सड़कों पर काम के लिए चलते फिरते लोगों का उत्साह और उनकी सजीवता। विशेषरूप से जो एक चीज़ वे अमरीका में देखना चाहते थे वे यूनिवर्सिटियाँ थीं। वे प्रिंसटन गए जहाँ वे डाक्टर अल्बर्ट आइंस्टीन से मिले। उनकी वे सदा सराहना किया करते थे और वे ऐटम भौतिक विज्ञान शास्त्री डा० रोबर्ट ओपेनहीम से मिले। उन्होंने दिवंगत डा०जान डिवी से मिलने को समय निकाला, जो तब नव्वे वर्ष के थे और उनकी वर्षगाँठ के भोज में भी सम्मिलित हुए। कोलम्बिया में जेनरल आइज़नहावर ने उनका स्वागत किया जो उस समय यूनिवर्सिटी के अध्यक्ष थे और जिन्होंने उन्हें डाक्टर आफ़ लॉज़ की सम्मानजनक पदवी से विभूषित किया। नेहरू ने विशेष रूप से अपनी कोलंबिया यात्रा में आनंद प्राप्त किया और आइज़नहावर से प्रभावित हुए। उन्हें लगा कि बहुत से राजनीतिज्ञों से वे अधिक विचारशील और चिन्तनशील हैं। लेकिन उन्हें ट्रूमन की बेतकल्लुफ़ी और असली भ्रातृभाव पसन्द आया। राजनीतिक प्रशासकों में वे सेक्रेटरी आफ़ स्टेट डीन अचेसन से विशेषरूप से प्रभावित हुए।

उन्हें अमरीका के तकनीकी और भौतिक विकास में भी रुचि थी, जिनके विशाल परिमाणों ने उन्हें अचंभे में डाल दिया। लेकिन उन्हें तब अच्छा नहीं लगा जब न्यूयार्क के व्यवसाइयों के एक समूह के भोज में उनमें से एक ने उनकी ओर मुड़कर सरलता से कहा, "मिस्टर प्राइम मिनिस्टर, क्या आपको यह अनुमान है कि आज रात आप २०,०००,०००,००० डालर वालों के साथ भोज खा रहे हैं?" नेहरू ने इस बात को आवश्यक रूप से उद्धत और गँवार, और अमरीका के भौतिकवाद से अनुचित व्यस्तता के ढंग का समझा।

वाशिंग्टन में भारतीय प्रधानमंत्री से नेशनल प्रेस क्लब में पूछा गया कि उन्हें सांस्कृतिक, दार्शनिक और सामाजिक प्रगति के कोई चिह्न अमरीका में मिले। उन्होंने प्रश्न को टाल दिया।

उन्होंने उत्तर दिया, "संयुक्त राज्य (अमरीका) द्वारा किए गए बड़े तकनीकी विकास मेरी समझ में बिना सांस्कृतिक, दार्शनिक या सामाजिक क्षेत्र में प्रगति के बहुत आगे या स्थायी नहीं हो सकते।"

संयुक्त राज्य अमरीका जाने में नेहरू के तीन तरह के विचार थे—अमरीका के प्रति भारत की मित्रता प्रगट करना, साथ ही भारत के स्वतंत्रता संग्राम में अमरीका की सहानुभूति के लिए उसकी कृतज्ञता ज्ञापित करना; और विश्व के मामलों में भारत को एक अवयव के रूप में अमरीका को अधिक सचेत करना।

नेहरू का कहना था कि जो कुछ अमरीका और रूस के लिए अच्छा है यह जरूरी नहीं है कि वह भारत के लिए भी अच्छा हो। इसके अतिरिक्त इन दोनों देशों की विदेशी नीति ऐसी सफल नहीं थी कि भारत इच्छा-अनिच्छा पूर्वक उसका अनुसरण करे। आनेवाले महीनों में वे प्राय: कहा करते कि अधिनायकवाद को नाश करने के जोश में अमरीका अचेतन रूप से अपने को अपने विरोधियों और बदनाम करनेवालों के रूप का बनाता जा रहा है।

जुलाई १९५५ तक, जबकि भारत के प्रधान मंत्री रूस यात्रा पर गए, वे अंतर्राष्ट्रीय ऊँचाई में बहुत बड़े हो गए थे और विश्वव्यापी चर्चा के केन्द्र बन गए थे। पाकिस्तान को सैनिक सहायता का अमरीका का प्रस्ताव साल भर से कुछ ऊपर का था, और उसके प्राय: शीघ्र बाद जून १९५४ में चीन से हस्ताक्षरित पंचशील का समझौता हुआ जब चाउ एन-लाई जेनेवा से पीकिंग को जाते हुए नई दिल्ली की यात्रा पर आए। नेहरू की अपनी पीकिंग यात्रा अक्टूबर में हुई। रूस में उनका जबर्दस्त, कोलाहलपूर्ण और सुचित्य रूप से व्यवस्थित स्वागत चीन के समान ही हुआ। यह उनके पहले संयुक्त समाजवादी सोवियत संघ जाने के लगभग अट्ठाईस वर्ष बाद था।

रूस से नेहरू जुलाई १९५५ में बिना किसी भ्रम के किंतु कुछ विचारों को लेकर लौटे।

एक बातचीत में उन्होंने कहा, "रूसियों के बारे में तुम्हें एक बात याद रखना है कि उन्होंने प्रजातंत्र कभी नहीं जाना। लगभग चालीस वर्ष पहले जब बोल्शेविकों के हाथों सत्ता आई तो वे एक निरंकुश शासन से दूसरे—जारशाही से साम्यवाद—में कूदे। वास्तव में रूसियों ने अपने सारे इतिहास में प्रजातंत्र को उस प्रकार कभी नहीं समझा जैसा कि पश्चिमी योरप समझता है। इसलिए उनसे प्रजातंत्र की और व्यक्तिगत स्वाधीनता की बात करना अंधे को यह समझाना है कि सफेद रंग के क्या मतलब होते हैं। एक बार यह समझ लेने पर आप रूसी लोगों का दिमाग समझने लगेंगे, चाहे आप उससे सहमत न हों।"

यह पूछने पर कि उनकी राय में स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत क्रान्ति का क्या रुख होगा, नेहरू ने कहा, "स्तालिन अधिनायक थे और रूस को अधिनायकवाद का एक और अनुभव दिया। लेकिन वे भी अपने लक्ष्य में टेढ़ी मेढ़ी गति से चले, कभी

अत्याचारी और कभी उदार बन जाते। जब अपने देश में अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न आया तो वे चर्चिल की तरह शैतान से हाथ मिलाने को तैयार थे। उन्होंने चर्चिल तक से हाथ मिलाए।"

नेहरू अनुभव करते हैं कि रूस का वर्तमान नेतृत्व एक आदमी के हाथ में नहीं है कि जिसका हुक्म देश भर में चले। यद्यपि ख्रुश्चेव के हाथ में सत्ता दिखाई देती है, वे एक छोटे से दल में से हैं। और जब लोग साथ मिलकर काम करते हैं तो चाहे वे अत्याचारी हों चाहे प्रजातंत्रवादी, समझौते होंगे ही। इसलिए जब तक सत्ता का वर्तमान तंत्र कार्य करता है सोवियत शासन समझौते के द्वारा ही चलेगा। देश विदेश में रूस की वर्तमान राजनीतिक कार्यपद्धति प्रत्यक्षतः समझौते की है। लक्ष्य रह गया है किन्तु साधन बदलते हैं।

क्रेमलिन की मान्यता से प्रवृत्त सोवियत् कूटरचना की नई प्रावस्था को नेहरू समझाते हैं कि वह सारे विश्व पर साम्यवाद लादने की और अब आशा नहीं कर सकता है और इसलिए उसे कौशलपूर्ण ढंग से पीछे हटना होगा। भारतीय प्रधान मंत्री के विचार में शीत युद्ध को समाप्त करने के लिए दो तत्वों का निर्माण हो रहा है, पहला तो आणविक अस्त्रों की विनाशक शक्ति और दूसरा पूर्व-पश्चिम के आर्थिक अन्तर को कम करना। इस प्रकार से नई सोवियत कूट पद्धति वर्तमान विश्व स्थिति के अधिक यथार्थ समझने पर आधारित लगती है।

भारत के प्रधान मंत्री के अनुसार अंतिम रूप से सच्चे वर्गविहीन समाज या राज्य को जगह देने के लिए सर्वहारा के शासन को अन्त में हटने के साथ शुद्ध मार्क्सवादी भाव के साम्यवाद को अभी रूस और चीन में भी प्राप्त करना है।

उन लोगों के जाने के बाद नेहरू ने बताया था, "सोवियत नेताओं ने मुझसे कहा कि उनके देश में साम्यवाद लाने में दस से पंद्रह वर्ष तक लग जाएँगे।"

नेहरू मास्को से इस दृढ़ विश्वास के साथ लौटे कि रूस जो चालीस वर्ष में कर सका है उसे भारत उससे कम में कर सकेगा। यही भावना इसके पहले उनमें चीन में स्फुरित हुई थी।

देश लौटने की राह में वे यूगोस्लाविया गए जहाँ उन्होंने रूस के विषय में अपने मत की टीटो के मत से तुलना की। विचारों का यह आदान-प्रदान विशेष उपादेय था।

बाद में उन्होंने बताया, "टीटो अपने रूस को बहुतेरे ग़ैर-रूसियों से अधिक अच्छी तरह जानते हैं। वे बहुत वर्ष वहाँ रहे हैं। वे उन लोगों के दिमाग़ को जानते हैं।"

नेहरू की तरह टीटो सहअस्तित्व के गुणों में विश्वास करते हैं यद्यपि भारतीय प्रधान मंत्री की भाँति उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि आक्रमण जिधर से भी हो, उसका प्रतिरोध किया जायगा।

नेहरू के मास्को से विदा होने के बाद क्रेमलिन ने शायद हिसाब लगाया था कि कुछ चतुर चालों के बाद वह भारत को साम्यवाद-प्रधान खेमे में ला सकेगा। इसमें

रूसियों की भूल थी, क्योंकि जैसा कि नेहरू जानते हैं, मास्को के साथ एकात्म उनकी विदेश नीति को अस्वीकृत कर देगा और उसे निरर्थक बना देगा। इसके सिवा जैसा कि भारतीय प्रधान मंत्री भी समझते हैं कि इस तरह की कोई भी चाल रूस को चीन और भारत के बीच निर्णायक तत्व बना देगी जिससे मास्को एशिया के दो प्रमुख देशों को समभार कर तराजू के काँटे का काम करेगा जिस पर भारत और चीन एक के बाद एक ऊपर नीचे हो सकें। नेहरू जानते हैं कि एशिया का संघर्ष रूस और अमरीका में न होकर भारत और चीन के बीच है।

भारत को अपनी कक्षा में खींचने की रूसी चाल असफल रही, जैसा कि उसे असफल होना था, किन्तु उसके यह अर्थ नहीं है कि उससे भारत पश्चिम के समीप आ गया है। नेहरू अब भी भारत को अपनी विदेशी नीति की असिधार पर रखे हुए हैं। उनका कहना है कि मूल लक्ष्य शान्ति के साथ इस प्रकार की नीति भारत की परम्परा और चिन्तन के अनुरूप उसके हित में है। एक बार संसद के वाद विवाद में उन्होंने अक्खड़पन के साथ कहा, "मैं और किसी के पक्ष में नहीं अपने ही पक्ष में हूँ।"

यह नीति १९२० के इतने पहले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा प्रकल्पित विदेश नीति के अनुरूप भी है। उस वर्ष दूसरे राष्ट्रों के साथ सहयोग करने की भारत की इच्छा को अभिपुष्ट करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया गया था। सात वर्ष बाद मद्रास में यह घोषणा करते हुए कि भारत साम्राज्यवादी युद्ध में भाग नहीं ले सकता, और अपनी जनता की अनुमति के बिना उसे किसी युद्ध में सम्मिलित नहीं करना चाहिए एक और प्रस्ताव पारित किया। यह स्वतंत्रता के बीस वर्ष पहले और जापान के मंचूरिया पर आक्रमण और हिटलर के सत्ता में आने के पहले था।

नेहरू ने बहुधा इस प्रस्ताव को भारत की विदेश नीति का आधार कहा है। जनवरी १९५५ में इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, "भारत की समस्त राष्ट्रों के साथ गुट निरपेक्षता और मैत्रीपूर्ण संबंधों की विदेश नीति समस्त देशों की स्वाधीनता और उपनिवेशवाद विरोधी हमारा सामान्य दृष्टिकोण उस काल से आरंभ हुआ। यह याद रखना उचित है क्योंकि हमारी विदेश नीति सहसा नहीं उत्पन्न हो गई, किन्तु वह हमारे अतीत के वर्षों के चिन्तन का फल है।"

इस नीति से वे हटे नहीं हैं, और दिखाई पड़नेवाले दोनो शक्ति के गुटों के बीच के घूम घुमाव, जिन पर वे गए हैं, एक या दूसरे के कार्यों से प्रभावित हैं। पीछे की ओर देखने पर उनका अपना मार्ग उनकी नीति के अनुरूप है।

अपनी प्रजातांत्रिक पृष्ठभूमि के कारण और इस तथ्य से कि उसने प्रजातांत्रिक पग अपनाया है भारत लंबे और महत्वपूर्ण पथ पर पश्चिमी प्रजातंत्रों के साथ चल रहा है। इसका भाग्य प्रजातंत्र में और प्रजातंत्र के साथ है।

२८

जवाहरलाल

"उन्हें कितना सूना लगता होगा !"

जब गांधीजी की हत्या का समाचार जेनेवा पहुँचा तो जवाहरलाल के कुछ मित्रों के मन में यह विचार सबसे ऊपर था।

यह सही है कि उस समय नेहरू बयान से बाहर सूनेपन से भर उठे थे। लेकिन सूनापन तो उनका प्रायः जीवन भर का साथी रहा है—उनके बचपन के दिनों से जब एक दशक तक घराने के इकलौते बालक के रूप में उन्होंने अपने से बड़ों में साथी खोजे—इनमें उनकी माँ, चाची और उनसे बड़े चचेरे भाई और सफेदवालों और दाढ़ीवाले मुस्लिम गुमाश्ते मुबारक अली थे।

सूनापन उनके बाद के जीवन में साथ लगा रहा। हैरो और कैम्ब्रिज में विदेश के सात वर्ष विकास और रुचिकर वर्ष रहने पर भी अपेक्षाकृत निर्वासन के वर्ष थे। भारत लौटकर वे राजनीति के शोरशराबे, उल्लास और उदासी, आनन्द और दुःख, बाधाएँ, निराशाओं और कष्ट, जेल में बन्द रहने के लंबे वर्षों के साथ स्वतंत्रता संघर्ष की बड़ी लहर में पड़ गए।

स्वतंत्रता आने और उनके प्रधान मंत्री पद ग्रहण करने के साथ नेहरू के सूनेपन का भाव बढ़ गया है। वे अपने निकटवर्ती सहयोगियों से अलग और ऊँचे हैं, देश के साथ उनका मुख्य संपर्क उसकी विशाल जनता से है जिससे वे हिलमिल कर बातें करना चाहते हैं। अपने राजनीतिक जीवन के बिलकुल आरंभ से वे भीड़ों में सुखपूर्वक रहते हैं, उनसे शक्ति, उल्लास यहाँ तक कि आह्लाद भी प्राप्त करते हैं, और बदले में यही भावनाएँ उन तक पहुँचाते हैं। उन्हें याद पड़ता है कि जब वे बच्चे थे तो उन्हें धर्मनिष्ट हिन्दू की कोई भी धार्मिक भावुकता का अनुभव नहीं बल्कि "भीड़ के साथ साथियों का सा" अनुभव हुआ। अपनी इस भावना को नेहरू "भावुकता का व्यापार" कहते हैं। भीड़ के साथ मिलने की यह भूख क्या अपने भीतर के सूनेपन का प्रत्यावर्तन नहीं है ? जब आंतरिक या पसन्द के लोगों के साथ हों तो बीच बीच में उनका युवकोचित उल्लास का बाहुल्य शायद इसी प्रेरणा से उत्पन्न होता हो और उस सूनेपन की भावना को छिपाने का ढंग हो।

बहुत दिनों पहले नेहरू ने बताया, "भारतीय जनसमूह में हर चीज ऊपर से हो जाने की आशा की आदत अन्तर्भूत है। इसलिए शायद कार्यवाही ऊपर से ही करना

होगी। लेकिन हमारी चेष्टा लोगों को अपने आप काम करने की शिक्षा देना होगा। गाँव और उसकी पंचायतें आरंभस्थल होंगे।" शायद सालों में उन्होंने अपने समूह से व्यक्तिगत स्तर के इस चिन्तन को समीकृत किया है। सबसे ऊँचे के प्रशासकीय स्तर पर थोड़े से ही लोग उनके विश्वासभाजन होने का दावा कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के आगे वे अपने मन का एक भाग खोल कर रखेंगे और प्रत्येक को अपनी पसन्द की खिड़की से देखेंगे। किसी के भी आगे वे अपना पूरा मन कभी नहीं खोलेंगे।

अपनी दोनों बहनों को वे बहुत अधिक प्यार करते हैं। उनमें से एक ने बताया, "मुझसे उन्होंने एक क्षण के लिए भाई की तरह और दूसरे ही क्षण भारत के प्रधान मंत्री की तरह बात की।"

उनके आँखों की ज्योति, यह सही है कि उनकी पुत्री इन्दिरा है, जो नई दिल्ली में प्रधान मंत्री के निवास में अपने पिता की आतियेयी के रूप में है। शांति-निकेतन में टैगोर के विश्वविद्यालय, स्विट्ज़रलैंड और बाद में आक्सफ़ोर्ड में शिक्षा प्राप्त उसका मार्च १९४२ में धर्म से पारसी[1] और कहीं से भी जो महात्माजी के संबंधी नहीं थे उन फ़ीरोज गांधी से विवाह हुआ। उनके दो बेटे राजीव और संजय हैं, जिनकी वय क्रमशः तेरह और ग्यारह है, और उनके लिए प्रधान मंत्री दुलार करनेवाले और समझदार नाना हैं। वे उनके साथ छोटे बच्चों के उत्साह के साथ खेलकूद करते हैं लेकिन उनके लालन-पालन और शिक्षा पर चिन्तातुर दृष्टि रखते हैं।

इंदिरा में अपने मातापिता के गुण हैं जो वास्तव में बहुत अधिक समान थे—जीवन के प्रति उनका सजीव उपागमन, बोलने में ऋजुता, समर्पित सेवा का भाव, चंचल स्वभाव, मैत्रीभाव और अमिलनशीलता। सार्वजनिक रूप में वह कभी कभी निष्ठुर प्रायः हिमनद सी ठंडी हो जाती है जिससे उसके व्यवहार में एक से अधिक आत्म-सजगता के संकेत मिलते हैं। इससे उसमें भ्रमात्मक उद्धतता लगती है। लेकिन निजी ढंगपर, संबंधियों, मित्रों और अंतरंग लोगों के बीच वह कुछ अपनी माता के भाव और पिता की मोहकता के साथ विश्राम करती है। वह मुश्किल से चार वर्ष की रही होगी जब नेहरू पहली बार गिरफ़्तार हुए थे और क़िस्सा यों है कि यह सुनकर वह अपनी खिलौना-घर की मेज़ पर चढ़ कर गुड़ियों को भाषण करने लगी और उनसे अपने पिता के साथ जेल जाने को कहा।

क्या नेहरू आदमियों के अच्छे पारखी हैं? कुछ लोगों को शिकायत है कि वे अपने निकट के लोगों से बहुत अधिक प्रभावित हो सकते हैं और कहा जाता है कि स्वातंत्र्य पूर्व के दिनों में वे पश्चिमी शिक्षादीक्षावाले भारतीयों से उन लोगों की अपेक्षा अधिक आसानी से प्रभावित हो जाते थे जिनकी सामाजिक, सांस्कृतिक और शिक्षा की जड़ें देशी धरती में थी। अगर सही भी हो तो यह दोष अब ठीक नहीं रहा है। दो दशक

---

१ मूलभूतफ़ारस के पारसी लोग पैग़म्बर जरदुश्त के अनुयायी हैं और १००,००० से कुछ ऊपर हैं,

या अधिक तक अपने प्रिय बहनोई (नेहरू की बहिन विजयलक्ष्मी के पति) रणजीत पंडित की मूल प्रेरणा से जवाहरलाल अपने भारतीय संपर्क से अधिक निकट आ गए हैं, और जेल में लिखी गई और मार्च १९४६ में प्रथम बार प्रकाशित उनकी पुस्तक **भारत की खोज** इस नई सचेतन जागरूकता का प्रमाण है।

कुल मिलाकर नेहरू के इर्दगिर्द रहनेवाले लोग प्रतिभा और योग्यता के व्यक्ति हैं, इनमें कुछ ऐसे हैं जो सदा से कांग्रेस से सम्बद्ध नहीं रहे या हाल ही में संबद्ध हुए हैं। इनमें अर्थ मंत्री, योग्य सर चिन्तामणि देशमुख हैं जो पहले रिजर्व बैंक के गवर्नर और भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य थे, और व्यवसाय मंत्री टी० टी० कृष्णमाचारी, एक व्यवसायी कांग्रेस के साथ संबंध कुछ पुराने होने पर भी हाल के हैं। किन्तु नेहरू सदा प्रजातांत्रिक रीति का पालन करने में सचेत हैं और कांग्रेस संसदीय दल जिसके वे नेता हैं उनकी नीतियों और योजनाओं में सदा नियमनिष्ठा के साथ निर्देशित रहता है।

अपनी पार्टी और सरकार के अन्दर प्रधान मंत्री ब्यौरों पर और मोटे झगड़ों पर और अच्छाई बुराई के वाग्जाल पर समझौते के लिए तैयार रहते हैं, लेकिन बड़े बड़े प्रश्नों और मौलिक सिद्धान्तों पर वे अगर कभी झुकने को तैयार होते हैं तो बहुत कम। इसके प्रायः दो ही उदाहरण हैं--हिन्दू विवाह बिल और १९५५ की राज्य पुनर्गठन रिपोर्ट, जिनमें से दोनों में ही भारी संशोधन हुए हैं।

शायद वे अपने नाम के जादू पर बहुत अधिक अनुचित लाभ उठाने में प्रवृत्त हैं जिससे उन्हें उन कामों के करने की आशा है जो कुछ लोगों को स्वीकार्य नहीं हैं। राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना के प्रोत्साहन में उन्होंने भारी ग़लती की। उसके द्वारा उन्हें कुछ भाषावार प्रान्तों की कुछ कामनाओं को संतुष्ट करने की और इस प्रक्रिया में देश की एकता और अखंडता को बल प्रदान करने की आशा थी। इसके बदले में सितंबर १९५५ में पेश की गई आयोग की सिफारिशों ने भाषावार इकाइयों के लिए प्रतिक्रिया की एक शृंखला उत्पन्न कर दी जिससे कुछ क्षेत्रों, विशेषतः बंबई, उड़ीसा और पूर्वी पंजाब में विस्फोटक अभिव्यक्ति उत्पन्न कर दी। इससे निश्चय ही नेहरू को आश्चर्य हुआ। उन्होंने यह आग्रह कर कि सरकार के निश्चय के पूर्व सिफ़ारिशों को सब पार्टियों और लोगों की राय के प्रजातांत्रिक तरीक़े से चलने को प्रचारित कर अपनी शुरू की भूल को और भी तीव्र कर दिया। यदि वे सिफारिश को सीधे मान लेते तो कहीं अच्छा होता, क्योंकि वे उस पक्षहीन आयोग की सुविचारित सिफारिशें थीं जिसमें तीन प्रसिद्ध व्यक्ति थे जिनका किसी पार्टी से संबंध नहीं था।

इसी में उनके शानदार अलगाव का ख़तरा है। अगर वल्लभभाई पटेल जीवित होते, जिन्होंने राजाओं की रियासतों के चटपट समावेश में से स्वतंत्र भारत की एकता की आधारशिला स्थापित की, तो संभव है वे रोकथाम और निर्देश करते। लेकिन आज भारत में नेहरू को रोकने या निर्देश करनेवाला कोई नहीं है। वे सीज़र हैं। और सीज़र की अपील सीज़र से ही हो सकती है।

गांधीजी की मृत्यु के कुछ दिनों वाद, १९३२ में गांधीजी की लंदन में आतिथेयी अँग्रेज़ महिला मिस मूरियल लेस्टर ने पूछा, "वापू का लवादा अब कौन ओढ़ेगा ?" और उत्तर मिला, "कोई ख़ास व्यक्ति नहीं—हम सब ही।"

जवाहरलाल जोश के साथ महात्माजी के और अपने संबंध में इस उत्तर का अनुमोदन करेंगे। उन्हें आशा है कि उनका लवादा भारत के लोग ओढ़ेंगे।

फिर भी उनकी निर्विरोध राजनीतिक श्रेष्ठता ने जब कि मुसीवत के प्रारंभिक दिनों में भारत की अच्छी सेवा की, अपने पीछे एक चिन्तनीय प्रश्न छोड़ दिया है। कहा जाता है कि कोई बड़ा वृक्ष अपने इर्दगिर्द की धरती को सुखा डालता है। नेहरू का उत्तराधिकारी कौन होगा ? और उनके अभिभूत करनेवाले अधिकार, ओज और वाणी के विना भारत कैसा रहेगा ?

इन प्रश्नों का उत्तर नेहरू के राजनीतिक रंगस्थली से हटने के समय और रीति पर निर्भर करता है। सामान्य परिस्थितियों में यह संभव है कि सत्ता कांग्रेस पार्टी के पास रहे लेकिन उस दल द्वारा प्रयुक्त होगी जो संभवतः बाएँ से मध्य के दाहिने रहेगा। यदि परिस्थिति असाधारण हुई तो तात्कालिक संभावना चरम दक्षिण की ओर झुकाव की होगी किन्तु इसमें सहज प्रवृत्ति से चरम बाएँ की ओर चले जाने का यथार्थ भय है। न केवल भारत की एकता और स्थायित्व की रक्षा के लिए किन्तु उनके बने रहने के लिए नेहरू को कम से कम सात वर्ष और शासन सूत्र के प्रधान पद पर बने रहना महत्वपूर्ण है।

सणसठ वर्ष के होने पर प्रधान मंत्री में अभी भी शरीर और मस्तिष्क की आश्चर्यजनक लोच है। चौबीस घंटों में वे काम काज के हैरान कर देनेवाले विस्तार को ठूँसे रहते हैं। उषःकाल के कुछ वाद उठकर वे अपने कार्यकाल में कोड़ियों तार, फ़ाइलों और चिट्ठियों में लगे रहते हैं, बीच बीच में मुलाक़ातों, भाषणों और सभाओं-समितियों, जब सत्र चलता रहे तो विधानसभा, सहकर्मियों और अधिकारियों के साथ सम्मेलनों, विदेशी राजनयिकों के साथ वातचीत, निर्धारित हो तो मंत्रिमंडल की वैठक, अपने उत्तरदायित्व के विभिन्न सामान्य कामकाज के लिए समय निकाल लेते हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल वे पाँच से दस मिनट तक अपने प्रिय शीर्षासन का अभ्यास करते हैं, और जब कभी अवसर और ऋतु अनुकूल हो तो अपने घोड़े पर तेज़ सरपट चाल से सवारी कर लेते हैं। अपने निवास से संलग्न तालाब में तैरना उनका दूसरा प्रिय व्यायाम है। यह कभी ही हो कि प्रधान मंत्री एक वजे के पहले सोने जाते हों, क्योंकि यह उनका अभ्यास है कि रोज़ रात को खाने के बाद मेज़ पर वैठकर काम करेंगे। वे लगभग पाँच घंटे सोते हैं। आजकल मनोरंजन के लिए पढ़ने को उन्हें जो प्रायः समय मिलता है वह सोने के पहले पंद्रह या बीस मिनट होते हैं। उनकी प्रिय पुस्तकें राजनीति, दर्शन, खोज और आधुनिक विज्ञान के आश्चर्यों पर रहती हैं।

नेहरू में पांडित्य और कलाकार गुण का प्राधान्य है, वे फूलों बच्चों और पशुओं को प्यार करते हैं, खुले आकाश और नक्षत्रों, जलप्रपातों, बहते सोतों वृक्षों और पर्वतों

से उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। चित्रकला में उनकी ऐसी निपुण गति नहीं है, लेकिन वे संगीत और गायन के शौक़ीन हैं और लोकनृत्य से मुग्ध हो जाते हैं।

अपने लेखन में नेहरू अपने मन के दो विशिष्ट गुणों को प्रतिबिंबित करते हैं, लालित्य और शक्ति जैसा कि भारत की खोज के कुछ लंबे लंबे अंशों में दृष्टिगत होता है, इसमें भी वे उबा देनेवाले हो जाते हैं; किंतु जब वे अपने श्रेष्ठ ढंग में होते हैं, जैसा कि अपनी आत्मकथा में सबसे अधिक हैं, विशेषतः विचारशील, राजनीतिक दार्शनिक स्थलोंपर, तो नेहरू की शैली सुनने और समझने में ओज, और प्रसाद में आनन्द और आकर्षण प्राप्त होता है। उनकी वक्तृता और लेखन में गहरी निष्ठा रहती है। दोनों ही में निष्ठा प्रमुख गुण है।

नई पद्धतियों की खोज चलती ही रहेगी। गांधीजी के जीवन काल में नेहरू पर गांधीवादियों को अपने समाजवाद से डराने का और समाजवादियों को गांधीवाद से आघात पहुँचाने का दोषारोपण किया जाता था। न तो बुद्धिवादी और न नैतिक रूप से दोनों खेमों में उन्हें चैन मिलता था, क्योंकि उनके हिसाब से सही रास्ता इन दोनों के बीच था। भारत को अपनी ही स्थितियों के अनुरूप जीवन का विशिष्ट ढंग अपनाना होगा, जो एक ओर न तो मार्क्सवाद या समाजवाद के प्रायोगिक सिद्धान्तों को स्वीकार करता है और न दूसरी ओर गांधीजी के सम्पत्ति के ट्रस्टीरूप को।

किंतु स्वातंत्र्य पूर्व भारत की परिस्थितियों में वही मार्ग संभव था जिसकी ओर महात्माजी ने निर्देश किया था, और उसी का अनुसरण करना था। स्वतंत्रता के बाद भी, अनिच्छापूर्वक ही सही, नेहरू ने वल्लभभाई पटेल के श्रमिक और पूँजीपतियों के बीच पाँच वर्ष के युद्धविराम या मुहलत को स्वीकार कर लिया था। इस काल में दोनों ही को अपना श्रेष्ठ आचरण दिखाना था। यदि पटेल दस वर्ष और रह जाते तो वे निजी उद्योग की स्थिति को सँभाल लेते जिससे स्वतंत्रता के पूर्व उन्होंने पार्टी के लिए धन का बड़ा सहारा लिया था। पटेल वृद्ध थे और प्रत्यक्षतः मुमूर्ष थे। सौराष्ट्र में अपने ही गिरवन के घायल सिंह की भाँति वे विरोध में धीरे से दहाड़ सकते थे लेकिन इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते थे।

निजी उद्योग के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला आक्रमण जनवरी १९५५ में नेहरू के लालचीन से लौटने के थोड़े ही बाद अवाड़ी सम्मेलन में हुआ। लेकिन उसके भी पहले ज़मींदारों और बड़े उद्योगपतियों के विरुद्ध हमला शुरू हो गया था। स्वतंत्रता के बहुत पहले से जवाहरलाल महात्माजी के आर्थिक दृष्टिकोण के आलोचक रहे थे। अपनी आत्मकहानी में वे अपने अधैर्य और झुंझलाहट से अधिक इंगित के साथ पूछते हैं:

पददलित और अत्याचारपीड़ित लोगों के सुधार के लिए अपने (गांधीजी की) सारी बुद्धि और उत्साह के रहते वे ऐसी प्रणाली का समर्थन क्यों करते हैं, वह प्रणाली जिसका प्रत्यक्षतः विनाश हो रहा है, जो यह विपत्ति और विनाश उत्पन्न करता है? यह सही है कि वे रास्ता खोजते हैं किन्तु क्या वह अतीत की ओर का रास्ता रुक नहीं

गया और बन्द नहीं हो गया है ? और इस बीच वे प्राचीन व्यवस्था के उन सारे अवशेषों को आशीर्वाद देते हैं जो प्रगति के मार्ग में बाधाएँ बने हैं—वे हैं सामन्ती रियासतें, बड़ी ज़मींदारियाँ और ताल्लुक़दारियाँ, वर्तमान पूंजीवादी प्रणाली। क्या ट्रस्टीशिप (न्यासधारिता) के सिद्धान्त में आस्था रखना विवेकशीलता है—एक व्यक्ति को बेरोकटोक अधिकार और संपत्ति दे देना और उससे उसको लोककल्याण के लिए उपयोग की अपेक्षा करना ? क्या हममें से सबसे अच्छे लोग इस प्रकार के विश्वास के लिए पूर्ण हैं ?

प्रतिवाद के इस विस्फोटक भाव से बहुत लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि नेहरू केवल बोलने के अभ्यास में व्यस्त हैं। जब गांधीजी का ध्यान इधर आकर्षित किया जाता तो वे भी मज़े से मुस्करा देते। पटेल की प्रतिक्रिया अपने भारी पलकों को झुकाकर उपेक्षा की हल्की जाड़े की सी ठंडी मुस्कराहट रहती। जो भी हो, कांग्रेस पार्टी की थैली के नियंत्रक होने के नाते वे जानते थे कि धन कहाँ से आता है।

यथार्थ में गांधीजी और पटेल की यह धारणा थी कि अगर वे वर्तमान और अतीत के बीच झगड़ा शुरू कर देते हैं तो वे भविष्य को खो बैठेंगे। नेहरू ने पूरी तौर पर कभी भी इस दावे को स्वीकार नहीं किया। जैसा कि उन्होंने नवम्बर १९४६ में प्रथम एशियाई सम्मेलन में उपलक्षित रूप से निर्देश किया था, जब तक वर्तमान और अतीत के बीच ऐतिहासिक परंपरा को याद रख कर उन्हें जोड़नेवाली रेखा न खींची जाय, उनके मन में भविष्य केवल दोनों के हाथ बन्धक रखा हुआ अतीत और वर्तमान का प्रक्षेपण मात्र होगा।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग के झगड़े जब बहुत बढ़ गए थे तो उन्होंने, अपनी हठवादिता का प्रदर्शन करते हुए यह कह कर बहुत लोगों को चौंका दिया और कुछ लोगों को घबरा दिया था कि : "मिस्टर जिन्ना को शिकायत है कि मैं नई स्थितियाँ पैदा कर देता हूँ। मैं ज़रूर नई स्थितियाँ पैदा कर देता हूँ।"

गांधीजी के जीवन काल में जवाहरलाल इस बात पर खीझते थे कि वे बौद्धिक रूप से गांधीवाद का समाजवाद के साथ सामंजस्य नहीं कर सके। अब अपने साम्य समाज के लक्ष्य को गांधीजी के न्याय राज्य के आदर्श के साथ एकात्म करते हुए, और इस बीच अपनी प्रणाली या साधन को समझाने या वैधानिक विवशता तक सीमित करते हुए, किन्तु कभी भी परिभाषित रूप से बिना हर्जाने के संपत्तिहरण न कर उन्होंने एक सीधे समीकरण द्वारा स्वयं को तथा अपनी सरकार को ऐसा करने में सक्षम किया है।

इस संबंध में गांधीजी की समझाने की प्रणाली पर नेहरू की आत्मकहानी में दी गई आलोचना स्मरण करने योग्य है, और बिना विडम्बना के नहीं। यह प्रणाली उन्हें प्रायः भयंकर रूप से विवशता के समान लगती थी :

तब से (उनके दक्षिण अफ्रीका के समय से) उनके सारे विचारों का निश्चित आधार बन गया और उनका दिमाग़ मुश्किल से खुला दिमाग़ रह गया है। वे अधिक से अधिक धैर्य के साथ और ध्यानपूर्वक उन लोगों की बातें सुनेंगे जो उन्हें कुछ नए सुझाव देना

चाहें, लेकिन उनकी विनम्रता के पीछे यह लगता है कि आप बन्द किवाड़ के आगे बोल रहे हों। वे कुछ विचारों से ऐसे बँध गए हैं कि और सब कुछ महत्वहीन लगता है। दूसरी ओर गौण बातों पर आग्रह करना बड़ी योजना से हटना और उसे विकृत करना है।

इस आलोचना का प्रत्येक शब्द नेहरू के उन्मुक्त व्यवसाय के लिए आज सही सही प्रयुक्त किया जा सकता है।

वर्षों पहले भारत ने इस व्यक्ति को मापा और उसे प्यार करना सीखा। उसकी देशभक्ति का आधार गर्व है और भारत प्रवृत्ति रूप से उस प्रेरणा पर चलता है। लेकिन नेहरू के स्वभाव में भावुकता और विनम्रता की भी प्रबल रेखा है।

बहुत वर्ष पहले कांग्रेस वर्किंग कमेटी की एक मीटिंग में वातावरण गर्म हो रहा था और लोगों के मिज़ाज तेज़ हो रहे थे, जवाहरलाल का नहीं, जिन्होंने विरोध में कांग्रेस के प्रधान सचिव पद से त्यागपत्र दिया था। किंतु मीटिंग के समाप्त होनेपर अपने विरोधियों में से एक के पास जाकर वे सोच में पड़कर बोले, "हम लोग एक दूसरे के हृदय इतनी आसानी से और निरंतर न तोड़ें तो अच्छा है।"

वह वाक्यांश आज उपयुक्त रूप से अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर धीरे से उच्चारित हो सकता है।

टैगोर ने एक बार नेहरू की तुलना वसन्त की आत्मा ऋतुराज से की थी जो अनन्त यौवन के देवता हैं। और नेहरू सदैव भारत को, विशेषत: गांधीजी के स्थापित भारत को और स्वयं टैगोर की गीतांजलि की कल्पना के भव्य रूप को निर्मित कर रहे हैं:

जहाँ मन निर्भय रहे और मस्तक ऊँचा रहे;
जहाँ ज्ञान मुक्त है
जहाँ विश्व संकुचित दीवारों से टुकड़े टुकड़े नहीं कर दिया गया है;
जहाँ शब्द सत्य की गहराई से उद्भूत होते हैं;
जहाँ अनर्थक अध्यवसाय पूर्णता की ओर अग्रसर होता है;
जहाँ विवेक की निर्मल धारा रूढ़ि के सूखे मरुस्थल में जाकर खो नहीं गई है;
जहाँ मन को तुम सदा विस्तृत चिन्तन और कर्म में प्रवृत्त करते हो—
उस स्वाधीनता के स्वर्ग में, हे पिता, मेरा देश जाग उठे।